राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त

[PRINCIPLES OF POLITICAL SCIENCE]

[राजस्थान एवं अजमेर विश्वविद्यालयों द्वारा निर्धारित नवीनतम
पाठ्यक्रम के अनुरूप]

एव

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान की सीनियर हायर सैकण्डरी
(अकादमिक) परीक्षा, 1989 (एक-वर्षीय पाठ्यक्रम)
(कक्षा 12 के लिए) हेतु स्वीकृत पाठ्य-पुस्तक

लेखक

डॉ पुखराज जैन

अध्यक्ष, स्नातकोत्तर राजनीतिशास्त्र विभाग
राजकीय बांगड महाविद्यालय, पाली

1988

साहित्य भवन : आगरा

भूमिका

लेखक की पुस्तक 'राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त' पिछले 17 वर्षों से विभिन्न विद्यालयों के राजनीति विज्ञान के विद्यार्थियों द्वारा पढ़ी जाती रही है। पुस्तक यह संस्करण राजस्थान एवं अजमेर विश्वविद्यालयों द्वारा निर्धारित नवीनतम क्रम को दृष्टि में रखकर तैयार किया गया है। परिवर्तित पाठ्यक्रम को दृष्टि रखते हुए पुस्तक में एक नवीन अध्याय 'शक्ति, सत्ता और उनके सम्बन्ध' जोड़ा या है, कुछ अध्याय लगभग पूर्णतया नये सिरे से लिखे गये हैं और इस सबके थ पुस्तक को अनावश्यक विषय सामग्री से मुक्त कर दिया गया है। इस बात की री चेष्टा की गयी है कि नवीनतम पाठ्यक्रम के अनुसार भी पुस्तक विद्यार्थियों के लिए एक श्रेष्ठतम पुस्तक की स्थिति में बनी रहे।

राजनीति विज्ञान के अध्ययन विषय का तीव्र गति से विकास हो रहा है और विषय में नवीन प्रवृत्तियां प्रवेश कर रही हैं, जिनका सामान्य परिचय राजनीति विज्ञान के प्रारम्भिक विद्यार्थियों को भी प्राप्त होना चाहिए। इस बात को दृष्टि में रखते हुए सभी अध्यायों में नवीन प्रवृत्तियों की यथास्थान स्पष्टता और आवश्यक विस्तार के साथ विवेचना की गयी है। 'भारत में लोकतन्त्र' जैसे विषयों की समीक्षा में 1988 के मध्य तक की स्थिति को दृष्टि में रखा गया है। शासन के प्रकार, राजनीतिक दल और दबाव समूह तथा अन्य अनेक विषयों की विवेचना में देश-विदेश की नवीनतम घटनाओं के उदाहरण देकर विषय को रोचक बनाने का प्रयास किया गया है।

मैं इस अवसर पर बंसल बन्धुओं को धन्यवाद देना चाहूंगा, जिनके प्रयत्नों से पुस्तक आज अपने सोलहवें संस्करण में प्रवेश कर रही है।

आशा है अपने वर्तमान स्वरूप में यह पुस्तक पाठकों की इस विषय सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगी। पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए प्राप्त सुझावों का सदैव ही स्वागत किया जायगा।

—पुखराज जैन

राजस्थान एवं अजमेर विश्वविद्यालय

राजनीति विज्ञान

पाठ्यक्रम

नोट—पाठ्यक्रम और प्रश्न पत्र तीन खण्डो म विभाजित होगा । प्रश्न पत्र मे कुल 9 प्रश्न होगे प्रत्येक खण्ड से तीन प्रश्न । परीक्षार्थियो को एस पाँच प्रश्नो का उत्तर देना होगा जिसमे प्रत्येक खण्ड स एक प्रश्न अवश्य ही सम्मिलित हो ।

खण्ड अ

राजनीति विज्ञान परिभाषा प्रकृति और क्षेत्र राजनीति विज्ञान क अध्ययन उपागम—निगमनात्मक या आदर्शो ऐतिहासिक और व्यवहारवादी उपागम राजनीति विज्ञान का अन्य समाजशास्त्रो से सम्बन्ध राज्य समाज राष्ट्र राज्य की प्रवृत्ति—आदर्शवादी और आंगिक सिद्धान्त ।

खण्ड ब

राज्य की उत्पत्ति समझौतावादी और ऐतिहासिक सिद्धान्त राज्य का कार्यक्षेत्र—अहस्तक्षेपवादी और कल्याणकारी सिद्धान्त ।

सम्प्रभुता एकत्ववादी और बहुलवादी सिद्धान्त ।

धारणाएँ कानून स्वतन्त्रता समानता न्याय शक्ति सत्ता और उनके सम्बन्ध धर्म निरपेक्षता ।

खण्ड स

राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार लोकतन्त्र और अधिनायकतन्त्र, ससदीय और अध्यक्षात्मक व्यवस्था एकात्मक और सघात्मक व्यवस्था ।

सरकार का सगठन—शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त व्यवस्थापिका—कार्यपालिका और न्यायपालिका—ढाँचा कार्य और आपसी सम्बन्ध, दलीय व्यवस्था और दबाव समूह लोकमत और स्थानीय स्वशासन प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त ।

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ संख्या

1

राजनीति विज्ञान की परिभाषा, क्षेत्र तथा स्वरूप

[DEFINITION, SCOPE AND NATURE OF POLITICAL SCIENCE]

"समाज द्वारा सुसंस्कृत मनुष्य सब प्राणियों मे श्रेष्ठतम होता है। परन्तु जब वह बिना कानून तथा न्याय के जीवन व्यतीत करता है, तो वह निकृष्टतम हो जाता है। यदि कोई मनुष्य ऐसा है जो समाज मे न रह सकता हो अथवा जिसे समाज की आवश्यकता ही न हो, क्योंकि वह अपने आप में पूर्ण है, तो उसे मानव समाज का सदस्य मत समझो, वह जंगली जानवर या देवता ही हो सकता है।"[1]

—अरस्तू

राजनीति विज्ञान की परिभाषा

अरस्तू अपने उपर्युक्त कथन मे एक सामान्य सत्य का ही प्रतिपादन करता है। समाज मे रहने वाले व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पक्ष होते हैं और मानव जीवन के इन विभिन्न पक्षो का अध्ययन विभिन्न समाज विज्ञानो द्वारा किया जाता है। समाजशास्त्र मानव के सामाजिक जीवन, अर्थशास्त्र मानव के आर्थिक जीवन और नीतिशास्त्र मानव जीवन के नैतिक पक्ष का अध्ययन करता है। इन शास्त्रो के समान ही राजनीति विज्ञान द्वारा मानव जीवन के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन किया जाता है।

राजनीति विज्ञान विषय के विद्वानो द्वारा इस विषय की विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी हैं, जिन्हें प्रमुख रूप से निम्नलिखित तीन वर्गों मे रखा जा सकता है :

राजनीति विज्ञान केवल 'राज्य के अध्ययन' के रूप मे,
राजनीति विज्ञान केवल 'सरकार के अध्ययन' के रूप मे, तथा
राजनीति विज्ञान 'राज्य और सरकार दोनो के अध्ययन' के रूप मे।

---

[1] "Men when perfected is best of animals, but when separated from law justice, is the worst of all, He who is unable to live in society, or who has no need because he is sufficient for himself, must be either a beast or God." —*Aristotle*

राजनीति विज्ञान 'राज्य का अध्ययन'

मानव के राजनीतिक जीवन का अध्ययन करने के लिए उन संस्थाओ का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है, जिसके अन्तर्गत मानव ने अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया और जिनके माध्यम से वह अपने राजनीतिक जीवन को विकसित करने के लिए प्रयत्नशील है। इस प्रकार राजनीतिक संस्थाओ मे राज्य सबसे प्रमुख है। 'राजनीति' का पर्यायवाची आग्ल शब्द 'पॉलिटिक्स' (Politics) यूनानी भाषा के 'Polis' शब्द से ही बना है, जिसका अर्थ उस भाषा मे नगर अथवा राज्य होता है। यूनान छोटे-छोटे नगर राज्यों मे विभक्त था और इस कारण यूनानवासियो के लिए नगर तथा राज्य मे कोई भेद नहीं था। धीरे-धीरे राज्य का स्वरूप बदला और आज इन राज्यो का स्थान राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया है। स्वाभाविक रूप से राज्य के इस विकसित और विस्तृत रूप से सम्बन्धित विषयों को 'राजनीति विज्ञान' कहा जाने लगा। इस दृष्टिकोण के आधार पर राजनीति विज्ञान विषय के कुछ विद्वानो ने इस विषय की परिभाषा केवल राज्य के अध्ययन के रूप मे की है।

ब्लटशली के अनुसार, "राजनीति विज्ञान वह विज्ञान है जिसका सम्बन्ध राज्य से है और जो यह समझने का प्रयत्न करता है कि राज्य के आधारभूत तत्व क्या हैं, उसका आवश्यक स्वरूप क्या है, उसकी किन विविध रूपो मे अभिव्यक्ति होती है तथा उसका विकास कैसे हुआ है।"

प्रसिद्ध विद्वान डॉ गार्नर के अनुसार, "राजनीति विज्ञान विषय के अध्ययन का प्रारम्भ और अन्त राज्य के साथ होता है।"[1] गैरिज गुडनोव, एक्टन, डॉ बरारिया के द्वारा भी राजनीति विज्ञान को राज्य का ही अध्ययन बतलाया गया है।

राजनीति विज्ञान 'सरकार का अध्ययन'

वर्तमान समय मे राजनीति विज्ञान के कुछ विद्वान उपर्युक्त परिभाषाओं को स्वीकार नहीं करते। ये राज्य के स्थान पर सरकार के अध्ययन पर बल देते हैं। उनका कथन है कि राज्य तो एक अमूर्त संस्था है और प्रभुत्व शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में इस संस्था का मूर्त रूप सरकार ही वह यन्त्र अथवा साधन है जिसके माध्यम से राज्य की इच्छा कार्य रूप मे परिणित की जाती है। इसलिए सीले और लीकॉक आदि विद्वानों ने राजनीति विज्ञान को सरकार का ही अध्ययन कहा है। सीले के शब्दों मे, 'राजनीति विज्ञान उसी प्रकार सरकार के तत्वो का अनुसन्धान करता है जैसे सम्पत्तिशास्त्र सम्पत्ति का, जीवशास्त्र जीवन का, बीजगणित अकों का तथा ज्यामितिशास्त्र स्थान एवं लम्बाई चौड़ाई का करता है।" इसी प्रकार लीकॉक का भी कहना है कि "राजनीति विज्ञान सरकार से सम्बन्धित विद्या है।"[2]

[1] "Political Science begins and ends with the state." —Garner

[2] "Political Science deals with Government." —Leacock, *Elements of Political Science*, p 3

राजनीति विज्ञान 'राज्य और सरकार' का अध्ययन

उपर्युक्त सभी विद्वानों द्वारा दी गयी राजनीति विज्ञान की परिभाषाएँ वस्तुत· एकांगी हैं और जहाँ तक राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध है, इसमे राज्य और सरकार इन दोनों क ही अध्ययन किया जाता है। राज्य के बिना सरकार की कल्पना ही नहीं की जा सकती, क्योंकि सरकार राज्य के द्वारा प्रदत्त प्रभुत्व शक्ति का ही प्रयोग करती है और सरकार के बिना राज्य एक अमूर्त कल्पना मात्र है। राज्य की क्रिया· त्मक अभिव्यक्ति के लिए सरकार का और सरकार के अस्तित्व की किसी कल्पना के लिए राज्य का अस्तित्व अनिवार्य है। ऐसी स्थिति मे राज्य के बिना सरकार और सरकार के बिना राज्य का कोई अध्ययन पूर्ण नही हो सकता और राज्य एव सरकार दोनो ही राजनीति विज्ञान के अध्ययन का विषय बन जाते हैं। फ्रांसीसी विचारक पॉल जैनेट ने इसी विचार को व्यक्त करते हुए कहा है कि

"राजनीति विज्ञान समाज विज्ञानों का वह अग है जिसमे राज्य के आधार और सरकार के सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है।"[1] डिमॉक ने भी राजनीति विज्ञान को इसी प्रकार परिभाषित करते हुए कहा है कि "राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध राज्य तथा उसके साधन सरकार से है।"[2] इस सम्बन्ध मे गिलक्राइस्ट की परिभाषा कुछ अधिक स्पष्ट है जिसमें उसने कहा है कि 'राजनीति विज्ञान राज्य और सरकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है।'[3] लॉस्की, गैटल और आधुनिक युग के अन्य सभी लेखकों ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

मानवीय तत्व—लेकिन राजनीति विज्ञान की यह परिभाषा भी पूर्ण नहीं है, क्योंकि इसमें विषय के मानवीय पक्ष की अवहेलना की गयी है। यह बात निर्विवाद रूप से सत्य है कि किसी भी समाज विज्ञान और इसलिए राजनीति विज्ञान का अध्ययन उसके प्रसग म मानवीय तत्व के अध्ययन के बिना पूर्ण नही हो सकता। राजनीति विज्ञान मे तो राज्य और सरकार के सम्पूर्ण अध्ययन मे मानवीय पक्ष सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और राज्य तथा सरकार का व्यापक अध्ययन केवल इसलिए किया जाता है कि ये सस्थाएँ मानव जीवन को बहुत अधिक प्रभावित करती हैं। यदि केवल राज्य और सरकार पर ही दृष्टि रखी जाय, तो राजनीतिक विश्लेषण स्थिर, नितान्त औपचारिक और सस्थागत होकर रह जायगा। इस सम्बन्ध मे 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज (Encyclopaedia of Social Sciences) मे हरमन हैलर ने तो यहाँ तक कहा है कि "राजनीति विज्ञान के सम्पूर्ण स्वरूप का निर्धारण उसकी मानव विषयक मौलिक मान्यताओं द्वारा ही होता है।"

---

1 'Political Science is that part of Social sciences which treats of the State and the principles of government.' —*Paul Janet*

2 "Political Science is concerned with the state and its instrumentality —Government" —*Dimock*

3 "Political Science deals with the general problems of the state and Government" —*Gilchrist*

वस्तुत राज्य और सरकार का अध्ययन निरपेक्ष रूप से नहीं वरन् मानवीय सन्दर्भ में ही किया जा सकता है। अत राजनीति विज्ञान की न्यायसंगत परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि

"राजनीति विज्ञान समाज विज्ञान का वह अंग है जिसके अन्तर्गत मानवीय जीवन के राजनीतिक पक्ष का और जीवन के इस पक्ष से सम्बन्धित राज्य, सरकार तथा अन्य सम्बन्धित संगठनों का अध्ययन किया जाता है।"

राजनीति विज्ञान की परिभाषा के सम्बन्ध में आधुनिक दृष्टिकोण
(DEFINITION OF POLITICAL SCIENCE—A MODERN APPROACH)

परम्परागत रूप में राजनीति विज्ञान के अध्ययन को व्यक्तियों के राजनीतिक क्रियाकलापों तक ही सीमित समझा जाता था और यह अध्ययन संस्थात्मक था अर्थात् इसमें राज्य, सरकार और अन्य राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन को ही अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था। लेकिन द्वितीय महायुद्ध के बाद ज्ञान के क्षेत्र में जिन नवीन प्रवृत्तियों का विकास हुआ, उनके परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान के अध्ययन की समस्त स्थिति के सम्बन्ध में असन्तोष का उदय हुआ। 'इस असन्तोष ने क्षोभ को जन्म दिया और क्षोभ के परिणामस्वरूप स्थिति में परिवर्तन आया।'[1]

द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों में राजनीतिक विज्ञान की परिभाषा के सम्बन्ध में जिस नवीन दृष्टिकोण का उदय हुआ, वह निश्चित रूप से अधिक व्यापक और यथार्थवादी है। इन वर्षों में राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में जो 'व्यवहारवादी क्रान्ति' हुई, उसमें इस बात पर बल दिया गया कि वर्तमान समय में समस्त मानव जीवन ने एक इकाई का रूप धारण कर लिया है और मानव जीवन के विविध पक्षों (राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक) को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए राजनीति विज्ञान को ऐसा विषय नहीं समझा जाना चाहिए जो मनुष्य के केवल राजनीतिक क्रियाकलापों का अध्ययन करता है। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित होगा कि राजनीति विज्ञान मूलत मनुष्य के राजनीतिक जीवन तथा क्रियाकलापों का तथा इनके सन्दर्भ में मानव जीवन के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा अन्य पक्षों का अध्ययन करता है।

आधुनिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत राजनीति विज्ञान को एक ऐसा व्यापक रूप प्रदान करने की चेष्टा की गयी है जिसमें राज्य को ही नहीं वरन् समाज को भी सम्मिलित किया जा सके। यह समाजपरक दृष्टिकोण है जिसकी मान्यता यह है कि व्यक्ति के राजनीतिक जीवन को सामाजिक जीवन के सन्दर्भों में ही उचित रूप में समझा जा सकता है और राजनीतिक अध्ययन में 'अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण' (Inter-disciplinary Approach) को अपनाया जाना चाहिए। केटलिन तो इस

1 Avon M Kirkpatrick - The Impact of the Behavioural Approach on Traditional Science, in Austin Ranny (ed.) *Essays on the Behavioural Study of Politics*, pp 10-11.

विचार का इतना प्रबल समर्थक है कि कुछ स्थानों पर तो वह राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र मे कोई भी भेद स्वीकार करने के लिए तैयार नही है।[1]

राजनीतिक विज्ञान की परिभाषा के सम्बन्ध मे एक और दृष्टि से भी महत्वपूर्ण अन्तर आया है। इस विषय की परम्परागत परिभाषाएँ सस्थागत हैं और इनमे राजनीति विज्ञान के अध्ययन को राज्य, सरकार तथा अन्य राजनीतिक सस्थाओ के साथ जोड़ा गया है। लेकिन राजनीति विज्ञान के आधुनिक लेखक इस सस्थात्मक दृष्टिकोण को अनुचित और अपर्याप्त समझते हैं। परम्परागत अध्ययन की इस सस्थात्मकता के कारण ही आर्थर बेण्टले ने इसे 'बजर और औपचारिकतापूर्ण, प्राणहीन, रूढ़िगत और स्थिर' बतलाया है।[2] आधुनिक लेखकों का विचार है कि राजनीतिक सस्थाओं के घोषित उद्देश्य चाहे कुछ भी क्यों न हों, उनके पीछे दृश्य और अदृश्य राजनीतिक प्रक्रिया कार्य करती है और यथार्थवादी राजनीतिक अध्ययन की दृष्टि से यह प्रक्रिया ही अधिक महत्वपूर्ण है। अत आधुनिक लेखक राजनीतिक सस्थाओं की अपेक्षा उन साधनो और प्रक्रियाओ को अधिक महत्व देते हैं जिनके आधार पर राजनीतिक सस्थाएँ कार्य करती हैं। इसी आधार पर आधुनिक लेखकों (जो ई जी केटलिन, मैक्स वेबर, एच डी लासवैल, डेविड ईस्टन और हरमन हैलर आदि) के द्वारा राजनीति विज्ञान को 'शक्ति', 'प्रभाव', 'सत्ता' 'नियन्त्रण', 'निर्णय', और 'मूल्यो' का अध्ययन बतलाया गया है। इन विद्वानो के अनुसार 'राजनीति विज्ञान अन्य समाज विज्ञानो से इसी रूप मे भिन्न है कि यह समाज के अन्तर्गत शक्ति या नियन्त्रण के तत्व का अध्ययन करता है।[3] कैटलिन राजनीति विज्ञान को 'शक्ति का विज्ञान' (Science of power) मानते हैं तथा लासवेल और केपलान प्रतिपादित करते हैं कि "एक आनुभाविक खोज के रूप मे राजनीति विज्ञान शक्ति के निर्धारण और सहभागिता का अध्ययन करता है।[4] राब्सन ने राजनीति विज्ञान को समाज मे शक्ति का अध्ययन' कहा है और डेविड ईस्टन ने इसे 'मूल्यों का सत्तात्मक आवंटन[5] कहा है। इसी प्रकार डॉ हसजार और स्टीवेन्सन लिखते हैं कि "राजनीति विज्ञान अध्ययन का वह क्षेत्र है जो प्रमुखतया शक्ति सम्बन्धो का अध्ययन करता है। इन शक्ति सम्बन्धो के कुछ प्रमुख रूप हैं व्यक्तियो मे परस्पर, व्यक्ति और राज्य के मध्य शक्ति सम्बन्ध और राज्यो मे परस्पर शक्ति सम्बन्ध।'[6]

---

1 George E G Catline 'Political Theory What It Is ?'
2 Arthur Benteley The Process of Government, p 162.
3 S L Verma Modern Political Theory, p 4
4 'Political Science as an empirical inquiry is the study of the shaping and sharing of Power '—Harold D Lasswell and Abraham Kaplan *Power and Society A Framework for Political Inquiry* p XIV
5 'Science which deals with the authoritative allocation of values "
—Pennock and Smith *Political Science An Introduction* p 6.
6 'Political Science is the field of study concerned primarily with the power relationships among men between men and the state and among states "
—Dr Huszar and Stevenson *Political Science*, p. 1.

उपर्युक्त विद्वानों, प्रमुखतया कैटलिन, लासवैल और केपलान के द्वारा 'शक्ति' शब्द को बहुत व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। उनके अनुसार शक्ति का अर्थ 'सैनिक शक्ति' नहीं है। कैटलिन ने तो यहाँ तक कहा है कि शक्ति का अर्थ प्रभुत्व भी नहीं है, जैसा मानने की गलती मार्गेन्थो ने की है। सहयोग भी शक्ति अर्जित करने का एक रूप हो सकता है जो शायद प्रभुत्व से अधिक स्थायी हो, यद्यपि उसका प्रयोग अधिक सूक्ष्म और कठिन होता है। इन विचारकों द्वारा शक्ति को जो इतना अधिक व्यापक रूप प्रदान किया गया है, उससे 'शक्ति' की धारणा उन दुर्भावनाओं से मुक्त हो गयी है जो परम्परागत रूप मे शक्ति के साथ जुडी रही है। कैटलिन के अनुसार, "राजनीति विज्ञान में शक्ति और नियन्त्रण का वही स्थान है, जो अर्थशास्त्र मे मांग, पूर्ति और प्रतिस्पर्द्धी मूल्य का होता है।"[1] अर्थात ये समस्त राजनीतिक जीवन और अध्ययन के निर्धारक तत्व हैं।

राजनीति विज्ञान की परिभाषा के सम्बन्ध मे अपनाया गया यह आधुनिक दृष्टिकोण भी एकांगी ही है। इस सम्बन्ध मे हमे यह स्मरण रखना होगा कि शक्ति राजनीति विज्ञान के विभिन्न परिवर्त्यों (Variables) में से केवल एक है, एकमात्र नहीं। अतः राजनीति विज्ञान के कुछ विद्वानों, विशेषतया वी ओ की (V O Key), के पोलॅण्ड, पिनॉक, डेविड जी स्मिथ आदि के द्वारा इस विषय की परिभाषा के सम्बन्ध मे परम्परागत और आधुनिक दृष्टिकोण मे समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गयी है। पिनॉक और स्मिथ पूर्णतया सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाते हुए लिखते हैं कि 'इस प्रकार राजनीति विज्ञान किसी भी समाज मे उन सभी शक्तियों, संस्थाओं तथा संगठनात्मक ढांचों से सम्बन्धित होता है जिन्हें उस समाज में सुव्यवस्था की स्थापना और सधारण, अपने सदस्यों के अन्य सामूहिक कार्यों के सम्पादन तथा उनके मतभेदों का समाधान करने के लिए सर्वोच्च अन्तर्भावी (Inclusive) अ अन्तिम माना जाता है।'[2]

राजनीति विज्ञान का क्षेत्र
(SCOPE OF POLITICAL SCIENCE)

एक विषय के क्षेत्र से हमारा आशय इस बात से होता है कि उस विषय अन्तर्गत किन किन बातों का अध्ययन किया जाता है अर्थात् उसकी विषय वस्तु है। राजनीति विज्ञान की परिभाषा की भाँति ही इस विषय के क्षेत्र के सम्बन्ध कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है।

---

1 George E G Catlin Political Theory What Is It ?

2 "Political refers to all that has to do with the forces, institutions and organizational forms in any society that are recognized as having the inclusive and final authority existing in that society for the establish and maintenance of order the effectuation of other conjoint purposes of members and the reconciliation of their differences"

—Pennock and Smith, Political Science, An Introduction,

प्रसिद्ध लेखक गार्नर ने राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को तीन भागों में विभाजित किया है :—

(1) राज्य की प्रकृति तथा उत्पत्ति की खोज,
(2) राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप, उनके इतिहास तथा विभिन्न रूपों की गवेषणा, एवं
(3) उक्त खोज तथा गवेषणा के आधार पर राजनीतिक विकास के नियमों का यथासम्भव अनुमान।

प्रो. गैटल के मतानुसार भी राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत मुख्यत तीन बातें सम्मिलित हैं :

(1) राज्य की उत्पत्ति और राजनीतिक संस्थाओं व सिद्धान्तों का विकास,
(2) विद्यमान राजनीतिक संस्थाओं और सिद्धान्तों का अध्ययन, एवं
(3) राज्य का भावी अर्थात् आदर्श स्वरूप निश्चित करना।

प्रो. विलोबी के अनुसार, "राजनीति विज्ञान जिन-जिन महान् विषयों की व्याख्या करता है वे हैं राज्य, सरकार और कानून।"

इस प्रसग मे उल्लेखनीय है कि सन् 1948 में संयुक्त राष्ट्रसंघीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सास्कृतिक संगठन (UNESCO) के तत्वावधान मे समस्त विश्व के राजनीति विज्ञान के पण्डितो का एक सम्मेलन हुआ था जिसमे यह निर्णय लिया गया कि राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय सम्मिलित समझे जाने चाहिए .

(1) राजनीति के सिद्धान्त—राजनीतिक सिद्धान्त तथा राजनीतिक विचारों का इतिहास।

(2) राजनीतिक संस्थाएँ—संविधान, राष्ट्रीय सरकार, प्रादेशिक तथा स्थानीय शासन और तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएँ।

(3) राजनीतिक दल, समूह एवं लोकमत—राजनीतिक दल, समूह तथा समुदाय, नागरिकों का सरकार व प्रशासन में भाग लेना और लोकमत।

(4) अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध—अन्तरराष्ट्रीय राजनीति, अन्तरराष्ट्रीय विधि, अन्तरराष्ट्रीय संगठन और प्रशासन।

क्षेत्र के सम्बन्ध मे यूनेस्को सम्मेलन द्वारा अपनाया गया उपर्युक्त दृष्टिकोण निश्चित रूप से अधिक महत्वपूर्ण है।

विभिन्न विद्वानो तथा यूनेस्को सम्मेलन द्वारा राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये गये हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत प्रमुख रूप से निम्न बातें आती हैं :

(1) मानव का राजनीतिक जीवन, (2) राज्य, (3) सरकार, (4) स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय समस्याएँ, (5) राजनीतिक विचारों का इतिहास और

राजनीतिक विचारधाराएँ, तथा (6) अन्तरराष्ट्रीय विधि एवं सम्बन्धों और संगठन का अध्ययन।

मानव का अध्ययन—राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत सम्पूर्ण मानव जीवन का अध्ययन नहीं किया जाता, वरन् राज्य संस्था के सन्दर्भ में ही मानव का अध्ययन किया जाता है। नागरिकों से ही राज्य का निर्माण होता है और नागरिकों के लिए ही राज्य जीवित रहता है। राज्य के नागरिक समाज द्वारा स्वीकृत और राज्य द्वारा लागू किये जाने वाले अधिकारों का ही उपभोग करते हैं तथा राज्य के नागरिक होने के नाते व्यक्ति के राज्य के प्रति कुछ उत्तरदायित्व भी होते हैं। वस्तुत व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध की समस्या अत्यन्त जटिल रही है और राज्य के प्रारम्भिक चरण से लेकर अब तक इस समस्या पर विचार किया जाता रहा है। अत राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत व्यक्ति के अधिकार, राज्य के प्रति उसके कर्तव्य और व्यक्ति एवं राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का संचालन करने वाले आधारभूत सिद्धान्तों और तथ्यों का अध्ययन किया जाता है।—कैटलिन के शब्दों में, 'राजनीति विज्ञान नियन्त्रक एवं नियन्त्रित के व्यापक सम्बन्धों का अध्ययन है।'

राज्य का अध्ययन—व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वोत्तम विकास और समाज के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु राज्य सर्वोच्च इकाई है। अरस्तू ने राज्य के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि 'राज्य की उत्पत्ति जीवन के लिए हुई और सद्जीवन के लिए उसका अस्तित्व बना हुआ है।"[1] मानव जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप ही भिन्न-भिन्न समयों पर राज्य के [illegible] रूप रहे हैं और राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज्य के इन सभी रूपों का अध्ययन किया जाता है। गैटेल के शब्दों में कहा जा सकता है कि

> "राजनीति विज्ञान, 'राज्य कैसा रहा है' की ऐतिहासिक खोज, 'राज्य कैसा है' का विश्लेषणात्मक अध्ययन और 'राज्य कैसा होना चाहिए' की राजनीतिक व नैतिक परिकल्पना है।"[2]

राज्य के अतीत का अध्ययन—राज्य के वर्तमान स्वरूप का ज्ञान उसके भूतकाल के अध्ययन के आधार पर ही किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत हम राज्य की उत्पत्ति का अध्ययन करते हैं और यह देखते हैं कि राज्य का विकास कैसे हुआ तथा राजनीतिक संस्थाओं और विचारधाराओं ने क्या क्या स्वरूप धारण किये। राज्य को अपना वर्तमान रूप प्राप्त करने में सदियाँ लगी हैं। प्रारम्भ में राज्य परिवारों

---

१ "State came into being for the sake of life and it continues for the sake of good life." —*Aristotle*

२ "Political Science is thus a historical investigation of what the state has been, an analytical study of what the state is and a politico-ethical discussion of what the state should be."

—Gettell, *Introduction to Political Science*, p. 4

का समूह मात्र था, जो आगे चलकर कुलों और जनपदों मे विकसित हुए। यूनानी इतिहास मे इन्ही को नगर-राज्य कहा गया है। धीरे-धीरे ये नगर राज्य परस्पर मिलकर सघो मे सगठित होने लगे। यूनान के 'एथिनियन लीग' और 'एकियन लीग' इस प्रकार के सघ राज्यो के ही उदाहरण हैं। प्राचीन भारत मे इसी प्रकार के नगर राज्यो ने परस्पर सगठित होकर 'वज्जि सघ' और 'अन्धकवृष्णि सघ' का निर्माण किया। इसके पश्चात् विजय और पराजय के चक्र ने हमे वर्तमान राष्ट्रीय राज्यो के युग मे लाकर खडा कर दिया और वर्तमान समय मे हम 'विश्व सघ' की कल्पना करने लगे हैं।

राज्य के इन बदलते हुए रूपो के साथ ही साथ मनुष्य के राज्य विषयक विचारो मे भी परिवर्तन हो रहा है। प्राचीनकाल मे राज्य और उसकी आज्ञाओं को ईश्वरीय समझा जाता था, लेकिन वर्तमान राजनीतिक विचारो के अनुसार राज्य की शक्ति किसी एक व्यक्ति या किसी एक श्रेणी मे निहित न होकर सर्वसाधारण अध्ययन मे निहित होती है। राजनीति विज्ञान इस बात की भी विवेचना करता है कि रूप से तिक विचारों का विकास कैसे हुआ और इस विकास ने राज्य के स्वरूप को लोक-प्रकार प्रभावित किया।

लोक —राज्य के वर्तमान का अध्ययन—ऐतिहासिक विकास के परिणामस्वरूप र्तमान समय मे राज्य एक विशेष स्वरूप को प्राप्त कर चुका है जिसे 'राष्ट्रीय राज्य' कहा जाता है। आज की स्थिति में यह राष्ट्रीय राज्य मनुष्यो का सर्वोपरि व सर्वोत्कृष्ट समुदाय है और अन्य कोई भी समुदाय राज्य से प्रतिस्पर्द्धा नही कर सकता। राजनीति विज्ञान वर्तमान समय मे राज्य के स्वरूप, प्रयोजन, उद्देश्य और कार्यक्षेत्र पर विचार ... अध्ययन करता है। राज्य के कार्यक्षेत्र के दो रूप हैं—आन्तरिक और नही कर सकता है। ... और सुव्यवस्था की स्थापना, देशवासियो की चतुर्मुखी विज्ञानो के सन्दर्भ में स्थानीय स्वशासन का कार्य सचालन, राज्य के आन्तरिक उदाहरणार्थ, कार्ल और राज्य के बाह्य कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत राष्ट्रीय सम्बन्ध, है और मैक्डूगल, यह तथा विश्वशान्ति से सम्बन्धित समस्याओ का अध्ययन किया मनोविज्ञान की ओर

'राजनीति विज्ञान, क्षेत्र का अध्ययन—राज्य का अस्तित्व मानव जीवन को श्रेष्ठ रखता था, आज अपने क्योकि मानव जीवन की श्रेष्ठता की कोई सीमा नही है, भौगोलिक आधारों की स्वरूप को अन्तिम नही कहा जा सकता है। वर्तमान समय राजनीति द्वारा राज्य के स्वरूप, उद्देश्य और कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे आज राजनीति प्रतिपादन किया जा रहा है। उदाहरणार्थ, समाजवादी विचार-भौतिक जीवन की राज्य द्वारा आर्थिक जीवन को भी नियन्त्रित किया जाना चाहिए इस क्रम मे राजनीति अराजकतावादी विचारधारा के अनुसार राज्यहीन समाज की स्थापना ये तो वे सस्थाएँ हैं व्यक्तिवादी राज्य के कार्यों को सीमित करने के पक्ष में हैं तो भी मानव निर्मित अन्य समुदायो के समान ही समझते हैं। इन सबसे

अलग अन्तरराष्ट्रीयता के प्रतिपादक युद्धों के मूल कारण इन राष्ट्रीय राज्यों का अन्त कर एक विश्व संघ की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। सामान्य धारणा यही है कि भविष्य में राज्य का रूप लोकतन्त्रात्मक, लोककल्याणकारी और विश्व-बन्धुत्व की धारणा पर आधारित होना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान में हम राज्य का सर्वकालीन अध्ययन करते हैं।

सरकार का अध्ययन—राज्य अपनी सम्प्रभुता का प्रयोग सरकार के माध्यम से ही करता है और इसलिए सरकार के बिना राज्य के किसी अध्ययन को पूर्ण नहीं कहा जा सकता है। एक समय था जबकि सरकार ही राज्य होता था और लुई चौदहवें जैसे शासक 'मैं ही राज्य हूँ' (I am the State) जैसी गर्वपूर्ण बात कहते थे। राजतन्त्रात्मक शासन में राजा के हाथ में ही शक्ति का समस्त केन्द्रीकरण होने के कारण इस प्रकार की बात कही जाती थी। किन्तु कुछ समय बाद इस राजतन्त्रात्मक शासन के स्थान पर कुलीनतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था स्थापित हुई और वर्तमान समय में इसके स्थान पर जनता के प्रतिनिधि शासन की स्थापना हो गयी है। इन परिवर्तनों के साथ ही साथ सरकार के व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका तीन स्पष्ट अंग हो गये हैं और वह इन अलग-अलग अंगों के माध्यम से शासन व्यवस्था का कार्य करती है। वर्तमान समय में इस बात पर विचार किया जा रहा है कि शासन को जनता के प्रति और अधिक उत्तरदायी कैसे बनाया जा सकता है। अतः राजनीति विज्ञान में हम सरकार के अंग, उसके प्रकार, उसके संगठन आदि का भी अध्ययन करते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसके अन्तर्गत मानव के उन सम्पूर्ण कार्यों का [illegible]ोज, राज्य कैसा जिनका सम्बन्ध राज्य नाम[illegible] संगठन के अतीत, वर्तमान एवं [illegible] राजनीतिक व इसमें सरकार [illegible] अध्ययन भी किया जाता है।

स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं का [illegible] ज्ञान उसके विज्ञान स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र की राजनीति[illegible]गत हम राज्य समस्याओं का भी अध्ययन करता है। आज के प्रजातान्त्रिक यु[illegible]ास कैसे हुआ का विशिष्ट महत्व है। गाँव, नगर और शहर सभी क्षेत्रों की [illegible]रण किये। राज्य निराकरण वहाँ के लोगों के सहयोग से ही किया जा सक[illegible] राज्य परिवारों की कार्यप्रणाली का अध्ययन और उसमें नागरिकों का सहयोग [illegible]r the sake of विज्ञान के महत्वपूर्ण अंग हैं। अतः स्थानीय संस्थाओं की कार्यप्र[illegible] —Aristotle समस्याओं का अध्ययन हमारे विषय की प्रमुख विवेच्य वस्तु है। [illegible] state has

आधुनिक राज्य मूलतः राष्ट्रीय इकाई है और [illegible] co-ethical dis- समस्याओं का अध्ययन राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में ही किया जा सकता [illegible]ience, p. 4.

समस्याएँ भी हमारे अध्ययन का प्रमुख अग हैं। राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य की व्यावहारिक रूप मे प्राप्ति वर्तमान समय की एक प्रमुख राष्ट्रीय समस्या है और इस सम्बन्ध मे राजनीति विज्ञान का निर्देश है कि स्थानीय दृष्टिकोण की अपेक्षा राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्रमुखता दी जानी चाहिए। साम्प्रदायिक विद्वेष, भाषावाद और क्षेत्रीयतावाद की समस्याओ का भी राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है।

वैज्ञानिक प्रगति के कारण आज सम्पूर्ण विश्व एक इकाई बन गया है और अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं का राष्ट्रीय स्थिति पर प्रभाव पड़ता है। आज के राजनीतिशास्त्रियो द्वारा इस बात पर निरन्तर विचार किया जा रहा है कि अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर आतकवाद से उत्पन्न सकट और इसी प्रकार की अन्य समस्याओ के हल के लिए कौन-से उपाय अपनाये जाने चाहिए।

शासन प्रबन्ध का अध्ययन—राज्य और सरकार राजनीति विज्ञान के प्रमुख अध्ययन विषय हैं और इनके विशेषतया सरकार के सन्दर्भ मे लोक प्रशासन निश्चित रूप से एक महत्वपूर्ण तत्व है। यद्यपि लोक-प्रशासन एक पृथक् विषय है परन्तु लोक-प्रशासन से सम्बन्धित मूल बातो का अध्ययन राजनीति विज्ञान का भी अग है। लोक-सेवको का मन्त्रियो से सम्बन्ध तथा प्रशासन को अधिकाधिक कुशल एव लोकहितकारी और उत्तरदायी बनाने के उपायो का अध्ययन राजनीति विज्ञान मे किया जाता है।

अन्य समाज विज्ञानों का प्रासंगिक अध्ययन—वर्तमान समय में इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया है कि मानव के राजनीतिक विचारो को अन्य सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक, मनोवैज्ञानिक आदि तत्वों के द्वारा प्रभावित किया जाता है और राजनीति विज्ञान अन्य समाज विज्ञानो से परे हटकर अपनी समस्याओ का अध्ययन नही कर सकता है। अत राजनीति विज्ञान के विभिन्न विद्वानो द्वारा अन्य समाज विज्ञानों के सन्दर्भ मे ही राजनीति विज्ञान के अध्ययन पर बल दिया गया है। उदाहरणार्थ, कार्ल मार्क्स ने राजनीति विज्ञान के लिए आर्थिक आधार को अपनाया है और मैक्डूगल, ग्राहम वालस, आदि ने राजनीतिक सस्थाओ को समझने के लिए मनोविज्ञान की ओर सकेत किया है। अत. हसजार और स्टीवेन्सन के शब्दों मे, "राजनीति विज्ञान, जो एक समय अपने अध्ययन के लिए राजकीय तत्वों का ही ध्यान रखता था, आज अपने प्रशासनिक तत्वों के अध्ययन में आर्थिक, सामाजिक और भौगोलिक आधारों की भी विवेचना करता है।"

राजनीतिक दलों तथा अन्य दबाव गुटों का अध्ययन

आज राजनीति विज्ञान राजनीति के सतही अध्ययन से आगे बढकर राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओ का अध्ययन करने मे सलग्न है और अध्ययन के इस क्रम मे राजनीतिक दल व दबाव गुट सबसे अधिक प्रमुख रूप मे आते हैं। वस्तुत ये तो वे सस्थाएँ हैं जिनके द्वारा समस्त राजनीतिक जीवन को परिचालित किया

जाता है। वर्तमान समय मे तो संविधान और शासन के औपचारिक संगठन की अपेक्षा भी राजनीतिक दल और दबाव गुट के अध्ययन को अधिक महत्व दिया जाने लगा है।

राजनीतिक विचारों का इतिहास और आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ

राजनीतिक विचारो के इतिहास की पृष्ठभूमि मे ही आज की राजनीतिक स्थिति को सही रूप मे समझने का कार्य किया जा सकता है अत राजनीति विज्ञान मे सुकरात और प्लेटो से लेकर बर्ट्रेण्ड रसल तथा मनु से लेकर महात्मा गाँधी तक विभिन्न विद्वानों द्वारा राजनीति के क्षेत्र मे व्यक्त किये गये विचारो का अध्ययन किया जाता है। राजनीति मे हमारा आदर्श क्या होना चाहिए, इस विषय को लेकर व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद, गाँधीवाद, आदि अनेक राजनीतिक विचारधाराओ का प्रतिपादन किया जा चुका है। राजनीति विज्ञान मे इन सभी विचारधाराओ के तुलनात्मक गुण दोषो का अध्ययन कर इस बात पर विचार किया जाता है कि एक देश-विशेष की परिस्थितियों मे इनमें से किस विचारधारा को अपनाना अधिक उपयुक्त हो सकता है।

अन्तरराष्ट्रीय विधि, सम्बन्धों और संगठनों का अध्ययन

अन्तरराष्ट्रीय विधि, सम्बन्धों और संगठनो का अध्ययन भी राजनीति विज्ञान का विषय है। राजनीति विज्ञान मे हम इन बातों पर विचार करते है कि अन्तरराष्ट्रीय विधि का विकास कब और कैसे हुआ ? अन्तरराष्ट्रीय विधि का वतमान स्वरूप क्या है और उनके पीछे कौन सी शक्ति है ? राजदूतों, युद्धबन्दियों, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार सन्धि तथा युद्ध से सम्बन्धित नियमो मे कौन-से सुधार किये जायें। 1970 और उसके बाद विमानों के बलात् अपहरण की बढ़ती हुई घटनाओं को देखकर इस बात पर विचार किया जा सकता है कि वायु यातायात को सुरक्षित बनाने के लिए क्या उपाय अपनाये जायें ? राजनीति विज्ञान विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करता है और अब तक स्थापित अन्तरराष्ट्रीय संगठनों—राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ—के संगठन और कार्यों का अध्ययन करता है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है और इसके अन्तर्गत राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त, सम्प्रभुता, कानून, स्वतन्त्रता, अधिकार, शासन के प्रकार और अंगों, प्रतिनिधित्व, राज्य के कार्यों, राजनीतिक दलों, दबाव समूह, जनमत, व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि राजनीतिक विचारधाराओं तथा अन्तरराष्ट्रीय विधि, सम्बन्धों और संगठन का अध्ययन किया जाता है।

राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि

उपर्युक्त सीमाओं तक तो राज्य का क्षेत्र परम्परागत रूप से विस्तृत है ही किन्तु राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय गतिशील है और इसमे निरन्तर वृद्धि हो रही है। वर्तमान समय में कुछ नवीन प्रवृत्तियों का उदय हो जाने के कारण राज-

नीति विज्ञान का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो गया है। इन प्रवृत्तियों मे प्रमुख रूप से जीवन की विविधता, प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली का उदय, जनकल्याणकारी राज्य की धारणा, नियोजित आर्थिक विकास (Planned Economic Development) और वैज्ञानिक विकास के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण विश्व का एक इकाई के रूप में परिणित हो जाना है।

वर्तमान समय में मानव-जीवन बहुत अधिक विविधतापूर्ण हो गया है और राज्य तथा सरकार के अतिरिक्त दूसरे समुदायों ने जन्म ले लिया है जो मानव के राजनीतिक जीवन को बहुत प्रभावित करते हैं। अत राजनीति विज्ञान मे राजनीतिक समुदायों और सस्थाओ का प्रमुख रूप से तथा सामाजिक जीवन के अन्य समुदायों का प्रासगिक रूप से अध्ययन किया जाता है।

राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र के अन्तर्गत राजनीति कुछ गिने चुने व्यक्तियों के विचार का विषय थी किन्तु शासन व्यवस्था के रूप मे प्रजातन्त्र के उदय के साथ ही राज्य और राजनीति सर्वसाधारण के विचार की वस्तु बन गयी है। इसके अतिरिक्त राजनीति विज्ञान के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय राज्य का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होता जा रहा है। 'आज पुलिस राज्य' का स्थान 'लोककल्याणकारी राज्य' ने ले लिया है और यह कहा जा सकता है कि 'पालने से लेकर श्मशान' (from cradle to grave) तक व्यक्ति के जीवन का कोई भी कार्य राज्य के क्षेत्र से बाहर नहीं रहा है। आज अधिकाश प्रजातन्त्रात्मक राज्यों द्वारा नियोजित आर्थिक विकास' के मार्ग को अपना लिया गया है जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक क्षेत्र की अनेक गतिविधियाँ राजनीति विज्ञान का प्रतिपाद्य विषय बन गयी हैं।

इन सबके अतिरिक्त वैज्ञानिक विकास के कारण सम्पूर्ण मानव समाज ने एक इकाई का रूप धारण कर लिया है और विश्व के एक कोने मे घटने वाली घटना का प्रभाव पूरे विश्व पर पड़ता है। अमरीकन राजनीतिज्ञ वैण्डेल विल्की (Wendell Wilkie) ने अपनी पुस्तक 'एक विश्व' (One World) मे सम्पूर्ण मानव समाज की जो एकरूपता दिखायी है वह एक तथ्य है और इससे राजनीति विज्ञान के क्षेत्र मे स्वाभाविक रूप से बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि सभ्यता के विकास के साथ साथ राजनीति विज्ञान का क्षेत्र दिन प्रतिदिन अधिकाधिक व्यापक होता जा रहा है और आज हम कह सकते हैं कि "राजनीति विज्ञान विषय का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितना कि समय और प्रदेश।"[1]

राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध में आधुनिकतम दृष्टिकोण

परम्परागत रूप मे यह समझा जाता है कि व्यक्तियों का राजनीतिक जीवन, राज्य और अन्य राजनीतिक सस्थाएँ ही राजनीति विज्ञान के अध्ययन विषय हैं लेकिन

1 "The scope of Political Science is co existensive with time and space."

युद्धोत्तरकाल (1945 के बाद) विशेषतया अभी हाल ही के वर्षों में इस दृष्टिकोण की कटु आलोचना हुई है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व भी ग्राहम वालस, ए. एफ. बैण्टले, कैटलिन, लासवेल, आदि विचारकों ने इस बात का प्रतिपादन किया था कि हमारे विषय का अध्ययन केन्द्र राजनीतिक संस्थाओं की अपेक्षा इन संस्थाओं की चालक शक्ति मानवीय व्यवहार को बनाया जाना चाहिए। युद्धोत्तर वर्षों में इस प्रवृत्ति ने एक व्यापक और क्रान्तिकारी रूप ग्रहण कर लिया और इस प्रवृत्ति के एक प्रमुख प्रणेता डेविड ईस्टन ने इसे 'व्यवहारवादी आन्दोलन' की संज्ञा दी।

राजनीति विज्ञान का अध्ययन बहुत कुछ सीमा तक इन मान्यताओं के साथ आरम्भ हुआ था कि 'मानव एक विवेकशील प्राणी है' और 'राज्य मानव को श्रेष्ठ जीवन प्रदान करने वाली सर्वोच्च संस्था है' लेकिन बीसवीं सदी के दो भीषण युद्धों में जो जन संहार देखा गया, उसने मानव की विवेकशीलता और राज्य संस्था की श्रेष्ठता पर से राजशास्त्रियों का विश्वास हिला दिया और अब उन्होंने यह सोचना शुरू किया कि मानव एक विवेकशील प्राणी होने के स्थान पर भावनाशील प्राणी है, जिसके अपने संस्कार, भावनाएँ, लालसाएँ तथा दृष्टिकोण हैं और ये सब कुछ स्थिर नहीं, वरन् परिस्थितियों और वातावरण के अनुसार परिवर्तनशील होते हैं। अत यदि हम मानवीय व्यवहार को समझना चाहते हैं, तो हमारे द्वारा उसके व्यवहार को प्रभावित करने वाला मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन किया जाना चाहिए। व्यवहारवादी आन्दोलन में इस बात पर बल दिया गया है कि व्यक्ति अपना राजनीतिक जीवन शून्य में व्यतीत नहीं करता, वरन समाज के अन्तर्गत रहते हुए ही व्यतीत करता है और समस्त सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में ही उसके राजनीतिक जीवन को समझा जा सकता है। अत राज्य और राजनीतिक संस्थाओं की परिधि के बाहर के मानव व्यवहार और राजनीतिक समुदायों का भी राजनीति विज्ञान में अध्ययन किया जाना चाहिए।

इस प्रकार राजनीति विज्ञान के अध्ययन की नवीन प्रवृत्तियों ने इस विषय के अध्ययन क्षेत्र को और व्यापकता प्रदान की है और मानव जीवन के अराजनीतिक पक्षों तथा समुदायों को इसमें सम्मिलित कर दिया है। आज की स्थिति के सम्बन्ध में रॉबर्ट ए डहल (Robert A Dahl) ने लिखा है कि "राजनीति आज मानवीय अस्तित्व का अपरिहार्य तत्व बन चुकी है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में किसी न किसी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था से अवश्य ही सम्बद्ध होता है।"

राजनीति विज्ञान की परिभाषा और क्षेत्र के सम्बन्ध में परम्परागत और आधुनिक दृष्टिकोण : एक तुलनात्मक अध्ययन

(TRADITIONAL AND MODERN VIEW-POINT A COMPARATIVE STUDY)

राजनीति विज्ञान की परिभाषा और क्षेत्र के सम्बन्ध में परम्परागत दृष्टिकोण का प्रतिपादन ब्लटशली, गैरिस, गार्नर, सीले, लीकॉक, गैटल और लॉस्की आदि

विद्वानों के द्वारा किया गया है, आधुनिक दृष्टिकोण के प्रमुख प्रतिपादक हैं · डेविड ईस्टन, रॉबर्ट ए डहाल, जी ई जी केटलिन, मैक्स वेबर और एच डी लासवैल आदि। विषय की परिभाषा, प्रकृति और क्षेत्र के सम्बन्ध मे आधुनिक दृष्टिकोण निम्न रूपो मे परम्परागत दृष्टिकोण से भिन्न है

(1) परम्परागत दृष्टिकोण राजनीतिक सस्थाओ अर्थात् राज्य, सरकार आदि के अध्ययन पर बल देता है, लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण की मान्यता यह है कि राजनीतिक सस्थाएँ व्यक्तियों से चालित होती हैं और व्यक्तियो के व्यवहार के माध्यम से ही राजनीतिक जीवन को समझा जा सकता है, अत वह व्यक्तियो के व्यवहार के अध्ययन को सर्वोपरि महत्व देता है। इस दृष्टि से आधुनिक राजनीतिक अध्ययन मे मानव के मनोवेगो, इच्छाओ, प्रेरणाओ और आकाक्षाओ का अध्ययन किया जाता है।

(2) परम्परागत दृष्टिकोण मे राजनीति विज्ञान का अध्ययन अलगाव के रूप मे किया जाता है और यह अपने आपको मात्र राजनीतिक क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ तक सीमित कर लेता है लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण की मान्यता यह है कि व्यक्ति के राजनीतिक जीवन को सामाजिक जीवन के सन्दर्भों मे ही उचित रूप मे समझा जा सकता है और राजनीतिक अध्ययन मे 'अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण' (Inter disciplinary Approach) को अपनाया जाना चाहिए।

(3) परम्परागत दृष्टिकोण मूल्यो से युक्त और मूल्यो पर आधारित है, इसलिए उसमे व्यक्तिनिष्ठता आ गयी है और विचार भेद की स्थिति बहुत अधिक प्रबल रूप मे है, लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण का उद्देश्य राजनीति विज्ञान मे लगभग पदार्थ विज्ञानो की सीमा तक वस्तुनिष्ठता (Objectivity) लाना है, अत इसमे 'मूल्य सापेक्षता' के स्थान पर मूल्य-मुक्त दृष्टिकोण अपनाने की चेष्टा की गयी है। इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि 1960 के बाद यह स्पष्ट होने लगा कि पूर्णतया मूल्य मुक्त दृष्टिकोण अपनाने पर राजनीति विज्ञान के अध्ययन की कोई सार्थकता नहीं रहेगी, अत राजनीति विज्ञान के आधुनिकतम अध्ययन मे पुन मूल्यों को उनका उचित स्थान दिया जाने लगा है।

(4) परम्परागत दृष्टिकोण मे राजनीति विज्ञान के आदर्शात्मक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। इसमे इस बात पर अधिक ध्यान दिया गया है कि 'क्या होना चाहिए' और यह दृष्टिकोण राजनीतिक अध्ययन को नीतिशास्त्र के बहुत अधिक समीप ला देता है, लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण आदर्श पक्ष की अपेक्षा यथार्थवादी पक्ष पर अधिक बल देता है, और इस प्रकार राजनीति विज्ञान को पदार्थ विज्ञानों के निकट लाने का प्रयत्न करता है।

(5) परम्परागत दृष्टिकोण राजनीतिक सस्थाओं के अध्ययन पर बल देता है और इस दृष्टि से मात्र औपचारिक अध्ययन बन कर रह गया है, लेकिन आधुनिक लेखक राजनीतिक सस्थाओं की अपेक्षा उन साधनों तथा प्रक्रियाओ को अधिक महत्व देते हैं जिनके आधार पर राजनीतिक सस्थाएँ कार्य करती हैं। इस दृष्टि से आधुनिक

राजनीतिक अध्ययनों मे एक वास्तविकता आ गयी है। वस्तुत आधुनिक अध्ययनों को 'सत्य की प्राप्ति के अधिक गम्भीर प्रयत्न' कहा जा सकता है।

(6) परम्परागत दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए परम्परागत ऐतिहासिक, तुलनात्मक, और दार्शनिक पद्धतियों का प्रयोग करता है, लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण का सर्वप्रथम उद्देश्य राजनीति विज्ञान को अधिक वैज्ञानिकता प्रदान करना है। इस दृष्टि से आधुनिक दृष्टिकोण मे मनोवैज्ञानिक प्रयोग एव पर्यवेक्षण की पद्धतियो तथा साख्यिकी और नमूना सर्वेक्षण (Sample Surveys) आदि प्रविधियों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है।

(7) परम्परागत दृष्टिकोण अनुमान, सम्भावना और कल्पना पर आधारित होने से उसके निष्कर्षों में प्रामाणिकता और निश्चयात्मकता का अभाव है, लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण ठोस तथ्यो पर आधारित होने के कारण निष्कर्षों की निश्चयात्मकता और प्रामाणिकता की खोज मे है। यह सामान्यीकरण को जन्म देने या सामान्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने की चेष्टा मे लगा हुआ है, यद्यपि इस कार्य में अभी तक आशिक सफलता ही प्राप्त की जा सकी है और भविष्य मे भी बहुत आशाएँ नहीं की जा सकती हैं।

राजनीति विज्ञान की परिभाषा, प्रकृति और क्षेत्र के सम्बन्ध मे परम्परागत और आधुनिक दृष्टिकोण मे उपर्युक्त विभिन्नताओं के बावजूद इन दोनों को परस्पर विरोधी नहीं समझा जाना चाहिए। द्वितीय महायुद्ध के बाद जिस व्यवहारवादी आन्दोलन का उदय हुआ, उसने इस विषय के परम्परागत अध्ययन की कमियों को उजागर किया और इसे नवीन तथ्य, नवीन अध्ययन सामग्री, शैलियाँ और पद्धतियाँ प्रदान कीं। लेकिन 1960 ई. के बाद यह स्पष्ट होने लगा कि व्यवहारवादी आन्दोलन की अपनी कमियाँ तथा सीमाएँ हैं। अत अध्ययन के परम्परागत दृष्टिकोण के स्थान पर पूर्णतया आधुनिक दृष्टिकोण अपनाये जाने के बजाय आधुनिक दृष्टिकोण के प्रकाश में परम्परागत दृष्टिकोण की कमियो को दूर कर विषय को यथासम्भव वैज्ञानिकता की दिशा में आगे बढ़ाये जाने की आवश्यकता है। वस्तुत राजनीति विज्ञान के अध्ययन मे ये दो दृष्टिकोण—परम्परागत और आधुनिक एक दूसरे के पूरक हैं और इन्हें इसी रूप मे ग्रहण किये जाने की आवश्यकता है।

नाम विभेद
(TERMINOLOGICAL DISTINCTION)

जैलीनेक ने एक स्थान पर लिखा है कि "राजनीति विज्ञान के अतिरिक्त और कोई ऐसा विज्ञान नहीं है जिसे पारिभाषिक शब्दों की उसके समान आवश्यकता हो।"[1] जैलीनेक का यह कथन इस विषय के नाम के सम्बन्ध में भी बहुत अधिक ठीक एवं सही है। वर्तमान काल में मनुष्य के राजनीतिक क्रियाकलापों और

[1] "There is no Science, which is so much in need of a good terminology as in Political Science."
—Jellineck

सस्थाओं से सम्बन्धित विषय को राजनीति विज्ञान कहा जाता है, तथापि इसे अब तक 'राजनीति' (Politics), 'राजनीतिक दर्शन' (Political Philosophy), आदि कई नाम दिये जा चुके हैं। वर्तमान समय में हमारे लिए इन विविध नामों का तात्पर्य और इनका पारस्परिक अन्तर समझना उपयोगी होगा।

राजनीति (Politics)—राजनीतिक शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अरस्तू ने अपनी 'नगर राज्य' सम्बन्धी पुस्तक के शीर्षक रूप में किया था। 'राजनीति' शब्द की व्युत्पत्ति यूनानी शब्दों 'Polis' और 'Politicus' से हुई है और यूनानियों के लिए 'राजनीति' शब्द के साथ राज्य का अध्ययन तथा वह सब कुछ जुड़ा हुआ था, जिनका सम्बन्ध तत्कालीन नागरिक जीवन के साथ होता था। अरस्तू के बाद जैलीनेक, सिजविक, हॉल्टजनडार्फ आदि लेखकों के द्वारा भी 'राजनीति विज्ञान' (Political Science) के स्थान पर राजनीति' (Politics) शब्द को ही अपनाया गया है। लास्की ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम 'ग्रामर ऑफ पालिटिक्स' (Grammar of Politics) रखा है और विल्सन ने भी 'राजनीति के सिद्धान्त' (Principles of Politics) शीर्षक से रचना प्रस्तुत की है। इन लेखकों का विचार है कि राज्य और सरकार से सम्बन्धित समस्त विषय-सामग्री 'राजनीति' के अन्तर्गत आ जाती है। सर फ्रेडरिक पोलक ने भी इस विषय के लिए 'राजनीति' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु 'राजनीति' शब्द को सकुचित अर्थ में प्रयुक्त होते देखकर इसे स्पष्ट ही दो वर्गों में बाट दिया जाता है—सैद्धान्तिक राजनीति (Theoretical Politics), और व्यावहारिक या प्रयोगात्मक राजनीति (Practical or Applied Politics)।

सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक राजनीति के क्षेत्र में अलग अलग निम्नलिखित विषय आते हैं

सैद्धान्तिक राजनीति	प्रयोगात्मक राजनीति
(अ) राज्य के सिद्धान्त (उत्पत्ति, शासन रूपों का वर्गीकरण और प्रभुसत्ता)	(अ) राज्य (सरकार के वर्तमान रूप)
(ब) सरकार के सिद्धान्त (सस्थाओं के प्रकार, कार्यपालिका विभाग, व्यवस्थापिका विभाग, कानून का क्षेत्र और उसकी सीमाएँ)	(ब) सरकार (सवैधानिक कानून और परम्पराएँ, ससदीय शासन, सेना, पुलिस, मुद्रा चलन, बजट और व्यापार)
(स) विधि निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त (विधि निर्माण के उद्देश्य और विधि निर्माण की प्रक्रिया, विधि का स्वरूप और स्वीकृति, व्यवस्था सम्बन्धी विवरण)	(स) कानून और उनका निर्माण (विधि निर्माण की प्रणाली, न्यायालय और न्याय व्यवस्था, न्याय-सम्बन्धी दृष्टान्त तथा न्यायाधिकरण)

(द) कृत्रिम व्यक्ति के रूप में राज्य का सिद्धान्त (दूसरे राज्यों और मानवीय सिद्धान्तों से सम्बद्ध अन्तरराष्ट्रीय कानून)	(द) व्यक्ति के रूप में राज्य (कूटनीति, युद्ध और शान्ति सम्मेलन, सन्धियाँ और अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन)

इस नामकरण पर आपत्तियाँ—'राजनीति' के इस नामकरण पर निम्न आपत्तियाँ उठाते हुए इसे अस्वीकार किया जाता है।

(1) अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से—फ्रेडरिक पोलक द्वारा 'राजनीति' का जो वर्गीकरण किया गया है, वह निःसन्देह उपयोगी है और राज्य से सम्बन्धित सभी प्रश्न इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। 'राजनीति' शब्द का प्रयोग यदि इतने व्यापक अर्थ में किया जाय तो इस विषय के लिए 'राजनीति' नाम अपनाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु वर्तमान समय में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त व्यापक अर्थों में न किया जाकर संकुचित अर्थ में किया जाता है। आधुनिक लेखकों (जैनेट, सीलियस तथा अलेक्जेण्डर बेन) ने 'राजनीति' का तात्पर्य प्रयोगात्मक अथवा व्यावहारिक (applied or Practical) राजनीति से ही समझा है। मैकेनी ने भी 'राजनीति' शब्द को कला के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। इस प्रकार राजनीति का राज्य के सैद्धान्तिक पक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है और उससे राज्य के केवल क्रियात्मक पक्ष, व्यावहारिक राजनीति या शासन कला का बोध होता है। गार्नर ने कहा है कि "राजनीति शब्द राज्य के क्रियाकलापों के उस भाग तक सीमित है जो दैनिक गतिविधि के संचालन से सम्बन्ध रखता है।"[1]

तात्पर्य यह है कि आजकल राजनीति का अभिप्राय शासन के दिन प्रतिदिन के कार्यों और नीतियों से ही होता है, राज्य के मौलिक सिद्धान्तों से नहीं। जहाँ तक हमारे अध्ययन विषय का सम्बन्ध है, इसके अन्तर्गत दिन-प्रतिदिन की राजनीतिक क्रियाओं का तो गौण रूप से ही अध्ययन किया जाता है, प्रमुख रूप से तो राज्य की उत्पत्ति और उसका विकास, प्रकृति और उद्देश्य, आदि शाश्वत समस्याओं एवं सिद्धान्तों का ही क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। इसलिए हमारे अध्ययन विषय के लिए 'राजनीति' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि "आधुनिक प्रयोग के कारण इसका एक नया अभिप्राय हो गया है, जिससे हमारे विज्ञान के नाम के रूप में यह निरर्थक हो गया है।"[2]

---

1 "The meaning of the term 'Politics' is confined to that part of the business and activity which has to do with the actual conduct of the affairs of the state." —Garner

2 "Modern usage has given it a new content which makes it unless as a designation for our state."—Gilchrist, *Principles of Political Science*, p 2.

(2) राजनीति में शास्त्रीय एकरूपता का अभाव—'राजनीति' शब्द का प्रयोग किसी राजनीतिक संस्था या स्थान विशेष के सन्दर्भ में ही किया जाता है जैसे भारत राज्य की राजनीति, आन्ध्र प्रदेश की राजनीति या ग्रामीण राजनीति आदि। इस सम्बन्ध मे यह महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक देश की राष्ट्रीय या स्थानीय राजनीति अन्य देशों की राष्ट्रीय या स्थानीय राजनीति से भिन्न होती है और इस प्रकार राजनीतिक अध्ययन मे एकरूपता का नितान्त अभाव है। ऐसी स्थिति मे शास्त्रीय महत्व के विषय 'राजनीति विज्ञान' के लिए 'राजनीति' नाम प्रयुक्त नहीं हो सकता।

(3) अप्रतिष्ठित शब्द—इसके अतिरिक्त आधुनिक युग मे तो 'राजनीति' शब्द का प्रयोग विकृत एव भ्रष्ट अर्थ मे किया जाने लगा है। दैनिक जीवन मे हम घरेलू राजनीति, समूह राजनीति, कॉलेज राजनीति, गाँव की राजनीति, आदि शब्दों का प्रयोग इन क्षेत्रों मे पायी जाने वाली मानवीय बुराइयों के लिए ही करते हैं और साधारण बोलचाल मे भ्रष्ट तथा कपटी व्यक्ति के लिए 'राजनीतिज्ञ' शब्द का प्रयोग किया जाता है। आग्ल भाषा मे कहावत है—"राजनीति दुष्ट पुरुष का अन्तिम आश्रय-स्थल है।"[1]

अत वर्तमान युग मे राज्य से सम्बन्धित ज्ञान की इस शाखा को 'राजनीति' की सज्ञा देना नितान्त भ्रमपूर्ण एव असगत होगा।

राजनीतिक दर्शन
(POLITICAL PHILOSOPHY)

हमारे अध्ययन विषय को कुछ लेखक 'राजनीतिक दर्शन' का नाम प्रदान करते हैं और अपने पक्ष के समर्थन मे निम्न तर्क देते हैं

(1) विषय की सैद्धान्तिक प्रवृत्ति के अनुरूप—इनका तर्क है कि हमारे विषय की प्रकृति सैद्धान्तिक एव दार्शनिक है, व्यावहारिक नहीं। अपने अध्ययन विषय के अन्तर्गत हम प्रमुख रूप से राजनीतिक संस्थाओ से सम्बन्धित आधारभूत तथ्यों का ही अध्ययन करते हैं, उनके क्रियाकलापो का नही। इस विषय के अन्तर्गत हम राज्य की उत्पत्ति, उसका विकास, प्रकृति, उद्देश्य, मानव अधिकार एव कर्तव्य और राजनीतिक धारणाओ का अध्ययन करते हैं, क्योकि राज्य सम्बन्धी अध्ययन का मुख्य भाग ये सिद्धान्त ही हैं, इसलिए इसे राजनीतिक दर्शन ही कहा जाना चाहिए।

(2) राजनीतिक दर्शन राजनीति विज्ञान का पूर्वगामी—इस सज्ञा के पक्ष मे यह तर्क भी दिया जाता है कि राजनीतिक दर्शन राजनीति विज्ञान का पूर्वगामी है और इस विषय ने अपने अधिकाश सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन से ही लिये हैं। गिलक्राइस्ट के शब्दों मे, "राजनीतिक दर्शन का एक प्रकार से राजनीति से पूर्व जन्म हुआ क्योंकि राजनीति विज्ञान राजनीतिक दर्शन की मौलिक मान्यताओं पर ही आधारित है।"

[1] "Politics is the last resort of a scoundrel."

(3) प्रतिष्ठित शब्द—'दर्शन' अपने आप में एक प्रतिष्ठित शब्द है, जिसका प्रयोग उच्चस्तरीय ज्ञान के लिए किया जाता है। उनका कथन है कि स्थानीय एवं शाश्वत महत्व के विषयों से सम्बन्धित होने के कारण इन विषयों को 'राजनीतिक दर्शन' जैसा सम्मानजनक नाम ही दिया जाना चाहिए।

इस नामकरण पर आपत्तियाँ—इस नामकरण के सम्बन्ध में निम्न आपत्तियाँ हैं .

(1) अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से—यद्यपि राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत विषय का सम्पूर्ण सैद्धान्तिक अध्ययन आ जाता है लेकिन उसमें विषय का वह भाग छूट जाता है जिसे सर फ्रेडरिक पोलक के विभाजन में 'व्यावहारिक राजनीति' का नाम दिया गया है। जहाँ तक हमारे अध्ययन विषय का सम्बन्ध है, इसके लिए सैद्धान्तिक राजनीति के साथ-ही साथ व्यावहारिक राजनीति का अध्ययन भी समान रूप से महत्वपूर्ण है और समकालीन विद्वान तथा राजनीतिज्ञ तो आदर्श की अपेक्षा वास्तविकता की खोज में ही अधिक लगे हैं। इस सम्बन्ध में जे एल हैलोवेल ने ठीक ही कहा है कि "राजनीतिक दर्शन का सम्बन्ध राजनीतिक संस्थाओं में निहित विचारों और आकांक्षाओं से है और इस कारण राजनीतिक दर्शन विषय का अपूर्ण अध्ययन ही है।"

(2) प्रकृति की दृष्टि से—'राजनीतिक दर्शन' शब्द से विषय की प्रकृति के सम्बन्ध में ऐसा बोध होता है कि यह विषय एक कला मात्र ही है, विज्ञान नहीं। यह निष्कर्ष अध्ययन विषय की सही प्रकृति के अनुकूल नहीं है।

(3) 'दर्शन' शब्द अनिश्चितताओं और अवास्तविकताओं का प्रतीक—वर्तमान समय में दर्शन शब्द अनिश्चितताओं तथा अवास्तविकताओं का प्रतीक हो गया है और व्यवहार में साधारणतया उस व्यक्ति के लिए दार्शनिक शब्द का प्रयोग किया जाता है जो जीवन की यथार्थताओं से दूर अपने ही कल्पनालोक में निवास करता है। 'राजनीतिक दर्शन' शब्द के प्रयोग का तात्पर्य यह होगा कि इस विषय में राज्य की समस्याओं पर केवल कल्पना के आधार पर विचार किया जाता है जो वास्तविकता से दूर रहती है। यह निश्चित रूप से एक सुखद स्थिति नहीं होगी। अतः हमारे अध्ययन विषय के लिए 'राजनीतिक दर्शन' शब्द को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

राजनीति विज्ञान—सर्वाधिक उपयुक्त संज्ञा

हमारे विषय के लिए 'राजनीति विज्ञान' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम गाडविन और मेरी वुलस्टोनेक्राफ्ट (Mare Wollstonecraft) द्वारा किया गया। बाद में इस शब्द का प्रयोग विलो, ह्यूम और सर जॉन सीले द्वारा किया गया तथा आज यह हमारे विषय का सर्वमान्य शब्द बन गया है। वस्तुतः हमारे विषय के नाम के लिए 'राजनीति विज्ञान' शब्द ही सर्वाधिक उपयुक्त है।

(1) अध्ययन क्षेत्र के अनुरूप—'राजनीति विज्ञान' शब्द हमारे अध्ययन

विषय के अनुरूप है, क्योंकि इस शब्द के अन्तर्गत हमारा सम्पूर्ण अध्ययन विषय आ जाता है। 'राजनीति' शब्द के अन्तर्गत पोलक के विभाजन की व्यावहारिक राजनीति ही आ सकती है और 'राजनीतिक दर्शन' के अन्तर्गत केवल सैद्धान्तिक राजनीति। लेकिन हमारा अध्ययन विषय राजनीति के सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दोनो ही पक्षो से समान रूप से सम्बन्धित है। यह ठीक ही कहा गया है कि राजनीति विज्ञान एक वास्तविक विज्ञान (Positive Science) भी है और आदर्शात्मक विज्ञान (Normative Science) भी। उदाहरणार्थ, इस विषय के अन्तर्गत हम केवल राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप और कार्यक्षेत्र से सम्बन्धित विभिन्न विचारधाराओं का ही अध्ययन नही करते, वरन् इसके साथ-ही-साथ यथार्थ राज्यो और सरकारो के सगठन एव उनके कार्यों का भी अध्ययन करते हैं। सम्पूर्ण अध्ययन विषय की व्याख्या करने के कारण 'राजनीति विज्ञान' नाम ही स्वीकार्य हो सकता है।

(2) विषय की प्रकृति के अनुकूल—'राजनीति विज्ञान' शब्द विषय की प्रकृति को भी नितान्त स्पष्ट कर देता है। राजनीति या 'राजनीतिक दर्शन' शब्द से 'राजनीति विज्ञान' का यथार्थ रूप प्रकट नही होता, लेकिन जब हम इसके लिए 'राजनीति विज्ञान' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत विषय एक विज्ञान और कला दोनो ही है।

(3) सम्मानप्रद सज्ञा—इसके अतिरिक्त वर्तमान समय मे विज्ञान का अर्थ एक क्रमबद्ध, तर्कपूर्ण और विकसित ज्ञान से लिया जाता है, इसलिए स्वाभाविक रूप मे राजनीति विज्ञान प्रस्तुत विषय के लिए अधिक सम्मानप्रद सज्ञा हो जाती है। आधुनिक समय मे अधिकाश लेखक यथा सीले, बर्गेस, विलोबी, गैटल, गार्नर, लीकॉक और गिलक्राइस्ट इस विषय के नाम के रूप मे राजनीति विज्ञान शब्द को ही सर्वाधिक उपयुक्त समझते हैं। 1948 में यूनेस्को के तत्वावधान में हुए एक सम्मेलन मे एकत्रित राजनीति विज्ञान के विद्वानो ने 'राजनीति विज्ञान' शब्द को ही अधिक मान्य ठहराया था। अत उपर्युक्त सभी बातो को दृष्टि मे रखते हुए गिलक्राइस्ट के शब्दो मे कहा जा सकता है कि "विवेक तथा प्रयोग के दृष्टिकोण से राजनीति विज्ञान ही सर्वाधिक उचित नाम है।"[1]

राजनीति विज्ञान (The Political Science)

अनेक लेखक, विशेष रूप से इस विषय के फ्रांसीसी विद्वानो द्वारा इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि आधुनिक राज्य का सगठन बहुत अधिक जटिल है और राज्य के सगठन की इस जटिलता के अनुसार हमारे अध्ययन विषय की अनेक शाखाएँ हैं यथा लोक प्रशासन (Public Administration), अन्तरराष्ट्रीय कानून, स्वशासन, समाज कल्याण और जन विधि, आदि। क्योंकि हमारा विषय इन सभी शाखाओ का समूह है, इसलिए हमारे अध्ययन विषय के लिए 'राजनीति विज्ञान' के

[1] "Both reason and usage therefore, justify the name of Political Science."
—Gilchrist, *Political Science*, p. 3.

स्थान पर राजनीति विज्ञानो यथा 'अनेक राजनीति विज्ञान' अर्थात् एक वचन के स्थान पर बहुवचन को अपनाना अधिक न्यायोचित है। वानमोहल, हाल्टजेनडार्फ, लेविस और गिडिन्स ने राजनीति विज्ञान का बहुवचन के रूप मे प्रयोग किया है। वानमोहल ने 1855 मे प्रकाशित अपने एक ग्रन्थ "अनेक राजनीतिक विज्ञानों" का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है—(1) सामान्य राजनीतिक सिद्धान्त, (2) राजनीति के विशेष विज्ञान जैसे लोक विधि, राजनीतिक आचारशास्त्र, राजनीति कला, (3) ऐतिहासिक राजनीति विज्ञान।

किन्तु फ्रेंच और कुछ दूसरे लेखकों का उपर्युक्त दृष्टिकोण उचित नहीं प्रतीत होता है। राजनीति की जिन शाखाओ का फ्रेंच लेखकों द्वारा उल्लेख किया गया है उनमे से कुछ ने ज्ञान की अलग और स्वतन्त्र शाखा का रूप ग्रहण कर लिया है और कुछ इस मार्ग की ओर अग्रसर हैं। उदाहरणार्थ, लोक प्रशासन ने स्वतन्त्र विषय का रूप प्राप्त कर लिया है और अन्तरराष्ट्रीय कानून इस स्थिति को प्राप्त करने के करीब पहुँच गया है। वैसे तो सभी समाजशास्त्र एक-दूसरे से निकट सम्बन्धित हैं परन्तु इसके साथ-ही-साथ वे अलग-अलग और स्वतन्त्र भी हैं। इसलिए किसी एक विषय के नाम का बहुवचन के रूप मे प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। मुनरो, स्मिथ, बर्गेस, जैलीनेक, सीवर, सिजविक, सीले, विलोबी आदि अनेक लेखक राजनीति विज्ञान का एकवचन में प्रयोग ही शुद्ध मानते हैं और स्वय अपने विचार से भी अपने अध्ययन विषय के लिए 'राजनीति विज्ञान' सज्ञा ही सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।

राजनीति विज्ञान का स्वरूप
(NATURE OF POLITICAL SCIENCE)

क्या राजनीति विज्ञान 'विज्ञान' है?

यद्यपि हमारे अध्ययन के विषय को 'राजनीति विज्ञान नाम से सम्बोधित किया जाता है, लेकिन इस विषय को विज्ञान मानने के विषय मे राजनीति विज्ञान के विद्वानों मे ही बहुत अधिक मतभेद है। एक ओर बकल, काम्टे, मेटलैण्ड, एमास, बियर्ड, केटलिन, मोस्का, ब्रोगन, बर्क आदि विद्वान हैं जो राजनीति विज्ञान को विज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं करते, तो दूसरी ओर अरस्तू इसे सर्वोच्च विज्ञान (Master Science) और बर्नार्ड शॉ इसे मानवीय सभ्यता को सुरक्षित रख सकने वाला विज्ञान कहते हैं। अरस्तू के अतिरिक्त बोदां, हाब्स, माण्टेस्क्यू, ब्राइस, ब्लटशली, जैलीनेक, डॉ फाइनर, लास्की आदि अन्य विद्वान भी इसे विज्ञान के रूप में स्वीकार करते हैं।"

राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता के विरुद्ध तर्क

बकल, काम्टे, आदि विद्वानों के अनुसार, विज्ञान, ज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत कार्य और कारण में सदैव निश्चित सम्बन्ध पाया जाता है और जिसके निष्कर्ष निश्चित एवं शाश्वत होते हैं। विज्ञान की इस परिभाषा के आधार

पर ये विद्वान राजनीति विज्ञान को विज्ञान के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नही हैं। कॉम्टे के शब्दो मे "राजनीति विज्ञान के विशेषज्ञ उसकी अध्ययन विधियों, सिद्धान्तों एव निष्कर्षों के सम्बन्ध मे एकमत नहीं हैं। इसमे विकास की निरन्तरता का अभाव है। इसमें उन तत्वों का अभाव है जिनके आधार पर भविष्य के लिए ठीक निष्कर्ष निकाले जा सकें।"

इन विद्वानो द्वारा अपने कथन के पक्ष मे निम्नलिखित तर्कों का प्रयोग किया जाता है

(1) सर्वमान्य तथ्यों का अभाव—राजनीति विज्ञान मे गणित के दो और दो 'चार' या भौतिक विज्ञान क गुरुत्वाकर्षण के नियम' (Law of Gravitation) की भाँति ऐसे तथ्यो का नितान्त अभाव है, जिन पर सभी विद्वान सहमत हों। यदि एक ओर आदर्शवादी राज्य की सर्वोच्च सत्ता का प्रतिपादन करते हैं, तो दूसरी ओर अराजकतावादी राज्य की अनावश्यकता का। बेंजामिन फ्रेंक्लिन, एबे सीज और लास्की जैसे अनेक विद्वान एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के समर्थक हैं तो लैकी, सिजविक, ब्लटश्ली आदि एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के नितान्त विरोधी हैं। अन्य बातों के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार के मतभेद विद्यमान हैं।

(2) कार्य और कारण में निश्चित सम्बन्ध का अभाव—भौतिक एव रसायन विज्ञान मे कार्य और कारण म निश्चित सम्बन्ध पाया जाता है, किन्तु राजनीतिक क्षेत्र मे घटित होने वाली घटनाएँ अनेक पेचीदे कारणो का परिणाम होती हैं और क्रिया प्रतिक्रिया के इस चक्र मे अमुक घटना किन कारणों के परिणामस्वरूप हुई, यह कहना बहुत कठिन हो जाता है। 1917 की सोवियत क्रान्ति साम्यवादी विचारधारा के परिणामस्वरूप हुई या उस समय के विशेष अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के कारण, इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

(3) पर्यवेक्षण एव परीक्षण का अभाव—पदार्थ विज्ञानो में एक प्रयोगशाला मे बैठकर यन्त्रों की सहायता से मनचाहे प्रयोग किये जा सकते हैं किन्तु राजनीति विज्ञान मे इस प्रकार के पर्यवेक्षण एव परीक्षण सम्भव नहीं हैं, क्योंकि राजनीति विज्ञान के अध्ययन विषय मानव के क्रियाकलाप हमारे नियन्त्रण मे नहीं होते हैं। इस सम्बन्ध म ब्राइस ने कहा है कि ' भौतिक विज्ञान में एक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बार-बार प्रयोग किया जा सकता है लेकिन राजनीति में एक प्रयोग बार-बार नहीं दोहराया जा सकता है क्योंकि उसी प्रकार की दशाएँ दुबारा नहीं पैदा की जा सकतीं जैसे कोई नदी के एक ही प्रवाह में दुबारा प्रवेश नहीं कर सकता।"

(4) मानव स्वभाव की परिवर्तनशीलता—प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन विषय निर्जीव होते हैं, लेकिन राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय मानव एक जीवित, जाग्रत और चेतना सत्ता है। अलग अलग व्यक्तियों के स्वभाव में अन्तर होता ही है और एक समान परिस्थितियों मे रहने वाले व्यक्ति भी भिन्न भिन्न रूप से आचरण करते हैं। ऐसी स्थिति में राजनीति विज्ञान, जो कि मनुष्य और

उससे सम्बन्धित संस्थाओं का अध्ययन करता है, प्राकृतिक विज्ञान की तरह नहीं हो सकता।

(5) अचूक माप की कमी—शुद्ध माप विज्ञान की एक विशेषता है लेकिन राजनीति विज्ञान में शुद्ध माप सम्भव नहीं है। मनुष्यों का आवेग, उत्तेजना, भावना, अभिलाषा, क्रोध, प्रेम आदि राजनीति को प्रभावित करने वाले तत्व नितान्त अस्पष्ट और अदृश्य हैं, जिन्हें ताप या गैस के दबाव की भांति मापा नहीं जा सकता।

(6) भविष्यवाणी की क्षमता का अभाव—पदार्थ विज्ञान के नियम निश्चित होने के कारण किसी भी विषय के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकती है। उदाहरणार्थ, यह सही-सही बतलाया जा सकता है कि किस दिन और किस समय चन्द्र ग्रहण और सूर्य ग्रहण लगेगा। लेकिन राजनीति विज्ञान में यह नहीं बतलाया जा सकता कि किसी निश्चित विचार का जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा या चुनाव में किस पक्ष को विजय प्राप्त होगी। जून, 1970 के ब्रिटिश आम चुनाव तथा मार्च 1971, मार्च 1977 और जनवरी 1980 के भारतीय लोकसभा के चुनाव परिणाम अप्रत्याशित रहे हैं। बर्क तो कहते हैं कि "राजनीति में भविष्यवाणी करना मूर्खता है।"

(7) परिभाषा, शब्दावली तथा अध्ययन पद्धतियों के सम्बन्ध में मत-वैभिन्य—विज्ञान की एक विशेषता यह मानी जाती है कि उसमें परिभाषा, शब्दावली तथा अध्ययन पद्धतियों के सम्बन्ध में निश्चितता तथा एकमतता हो, लेकिन हमारे अध्ययन विषय के सम्बन्ध में स्थिति विपरीत ही है। स्वयं इस विषय के नाम के सम्बन्ध में मत वैभिन्य है और राजनीति विज्ञान की उतनी ही परिभाषाएँ हैं, जितने इसके लेखक। इस विषय के अन्तर्गत प्रजातन्त्र और समाजवाद जैसी अनेक बहुअर्थी धारणाएँ भी हैं। इसी बात की ओर संकेत करते हुए लास्वेल ने लिखा है कि "राज-नीति विज्ञान में आधुनिक विज्ञान की प्रथम आवश्यकता की कमी है। इसमें शिक्षित व्यक्तियों के लिए बोधगम्य पारिभाषिक शब्दों का अभाव है।"

(8) अध्ययन विषय आत्मपरक (Subjective) है, वस्तुपरक (Objective) नहीं—विज्ञान वस्तुपरक होता है और इसकी अध्ययन वस्तु निर्जीव होने के कारण वैज्ञानिक मानवीय भावनाओं से दूर रहते हुए तटस्थता के साथ इनके अध्ययन में संलग्न रहता है। लेकिन राजनीति विज्ञान के अध्ययन में वस्तुपरक दृष्टिकोण अपनाया अर्थात् अध्ययन में तटस्थ रहना कठिन है। चाहे कश्मीर का प्रश्न हो या महाशक्तियों के शीतयुद्ध का प्रश्न, राजनीतिक विषयों का अध्ययन पदार्थ विज्ञानों की भांति वैज्ञानिक ढंग नहीं से सकता।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर बकल कहते हैं कि "ज्ञान की वर्तमान अवस्था में राजनीति को विज्ञान मानना तो बहुत दूर रहा, यह कलाओं में भी सबसे पिछड़ी हुई

कला है।"[1] इसी बात को मैटलैण्ड ने अपनी व्यंगमयी भाषा मे इस प्रकार कहा है कि "जब मैं राजनीति विज्ञान शीर्षक के अन्तर्गत परीक्षा-प्रश्नों को देखता हूँ तो मुझे प्रश्नों के प्रति नहीं, वरन् शीर्षक के प्रति खेद होता है।"[2]

राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता

उपर्युक्त विचारो मे सत्य का कुछ अश अवश्य है, किन्तु इसके साथ ही बकल काम्टे आदि विद्वानो का दृष्टिकोण विज्ञान की सकुचित एव त्रुटिपूर्ण धारणा पर आधारित है। इन विद्वानो द्वारा पदार्थ विज्ञानो की परिभाषा को राजनीति विज्ञान जैसे सामाजिक विज्ञान पर लागू करने की भारी भूल की गयी है। सर्वमान्य तथ्यो और कारण तथा कार्य के बीच निश्चित सम्बन्ध पाये जाने वाले विषय को ही विज्ञान कहा जाय, इस प्रकार का दृष्टिकोण उचित नही है। गार्नर के शब्दो मे, विज्ञान की ठीक परिभाषा देते हुए कहा जा सकता है कि "एक विज्ञान किसी विषय से सम्बन्धित उस ज्ञान राशि को कहते हैं जो विधिवत पर्यवेक्षण, अनुभव एव अध्ययन के आधार पर प्राप्त की गयी हो और जिसके तथ्य परस्पर सम्बद्ध, क्रमबद्ध तथा वर्गीकृत किये गये हो।"[3] चैम्बर्स डिक्शनरी तथा हर्नशॉ और थामसन, आदि विद्वानो द्वारा भी विज्ञान की परिभाषा इसी प्रकार से दी गयी है।

उपर्युक्त परिभाषाओ के सन्दर्भ मे जब राजनीति विज्ञान पर विचार किया जाता है, तो यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है। राजनीति विज्ञान के विज्ञान होने के पक्ष मे निम्न तथ्य दिये जा सकते हैं.

(1) राजनीति विज्ञान का ज्ञान क्रमबद्ध एव व्यवस्थित—विज्ञान का सर्वप्रथम लक्षण यह होता है कि उसका समस्त ज्ञान क्रमबद्ध रूप में होना चाहिए। यह लक्षण राजनीति विज्ञान मे पूरे पूरे तौर पर विद्यमान है। राजनीति विज्ञान राज्य, सरकार, अन्य राजनीतिक सस्थाओ, धारणाओ व विचारों का क्रमबद्ध ज्ञान प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए, राजनीति विज्ञान मे राज्य के भूतकालीन स्वरूप के आधार पर ही वर्तमानकालीन स्वरूप का अध्ययन किया जाता है। इसी प्रकार राजनीतिक विचारधाराओ का अध्ययन उनकी प्रवृत्तियो के आधार पर विभिन्न वर्गों मे वर्गीकृत करके किया जाता है। विषय के अन्तर्गत पाये जाने वाले क्रमबद्ध एव व्यवस्थित अध्ययन के ये निश्चित प्रमाण हैं।

(2) अध्ययन सामग्री की प्रकृति मे स्थायित्व एवं एकरूपता—अध्ययन सामग्री के आधार पर भी राजनीति विज्ञान को विज्ञान मानने से इन्कार नही किया

---

1 "Politics so far from being a science, is one of the most backward of all the arts" —Buckle, *History of Civilization*, p 301.

2 "When I see a good set of Examination Questions, headed by the word 'Political Science' I regret not the questions, but the title" —Maitland *Collected Papers*, Vol III, p. 302.

3 Garner *Political Science and Government*, p. 11.

जा सकता है, क्योंकि इसकी अध्ययन सामग्री में कुछ सीमा तक स्थायित्व एवं एकरूपता विद्यमान है। यद्यपि मानव व्यवहार में जड़ पदार्थ जैसी एकरूपता नहीं पायी जाती, फिर भी यह कहा जा सकता कि कुछ विशेष परिस्थितियों में मनुष्य का राजनीतिक आचरण एक निश्चित प्रकार का ही होगा। लार्ड ब्राइस के शब्दों में, "मानव प्रकृति की प्रवृत्तियों में एकरूपता तथा समानता पायी जाती है, जिसकी सहायता से हम यह पता लगा सकते हैं कि एक ही प्रकार के कारणों से प्रभावित होकर मनुष्य बहुधा एक प्रकार के कार्य करता है।"

(3) सर्वमान्य तथ्य—राजनीति विज्ञान में कुछ सर्वमान्य तथ्य अवश्य ही हैं। आचार्य कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में इसी प्रकार के सर्वमान्य तथ्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा है, "यदि दण्ड शक्ति का दुरुपयोग किया जाय, तो गृहस्थों की तो बात ही क्या, वानप्रस्थी और सन्यासी लोग भी क्रुद्ध हो जाते हैं और विद्रोह कर बैठते हैं। इसके विपरीत, दण्ड शक्ति का ठीक रूप में प्रयोग करने पर जनता में सर्वत्र धर्म का राज्य रहता है।"[1] इसी प्रकार कुछ अन्य बातों पर भी सभी सहमत हैं यथा—लोकसेवाओं के सदस्य स्थायी आधार पर नियुक्त किये जाने चाहिए तथा व तटस्थ और निष्पक्ष होने चाहिए न्यायपालिका स्वतन्त्र और निष्पक्ष होनी चाहिए, असमानता, जातिवाद, निरक्षरता और अत्यधिक निर्धनता प्रजातन्त्र के लिए बुरी है। इसके अतिरिक्त राजनीति विज्ञान में मतैक्य का जो अभाव है उसका कारण विषय का अवैज्ञानिकत्व नहीं, वरन् देश काल के अनुसार परिवर्तित होने वाली मानवीय प्रकृति और सम्बन्धित विचारकों की भावनाओं का भेद है।

(4) कार्य और कारण में पारस्परिक सम्बन्ध—कार्य और कारण के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में की गयी आपत्ति भी विशेष महत्व नहीं रखती है। इसमें सन्देह नहीं कि पदार्थ विज्ञानों की तरह राजनीति विज्ञान में कारण तथा कार्य में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, फिर भी विशेष घटनाओं के अध्ययन से कुछ सामान्य परिणाम तो निकाले ही जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, जनता का असन्तोष, शासक वर्ग का शासित वर्ग के प्रति अपमानजनक व्यवहार और आर्थिक असमानता सदैव ही विद्रोह के सामान्य कारण रहे हैं, शक्तियों के विकेन्द्रीकरण से जनता में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाती है और शासकों को बिना किन्हीं प्रतिबन्धों के शासन शक्ति प्रदान कर दी जाय, तो वे भ्रष्ट हो जाते हैं।

(5) पर्यवेक्षण तथा परीक्षण सम्भव—राजनीति विज्ञान में पर्यवेक्षण तथा परीक्षण भी सम्भव है, यद्यपि इस विषय के अन्तर्गत इनका रूप पदार्थ विज्ञानों से भिन्न होता है। पर्यवेक्षण की पद्धति के आधार पर लोकतन्त्रवाद और दूसरी शासन पद्धतियों का अध्ययन करते हुए हम यह सामान्य परिणाम निकाल सकते हैं कि दूसरी शासन पद्धतियों की अपेक्षा लोकतन्त्र लोकहित के प्रति अधिक सजग रहता

---

[1] कौटिल्य अर्थशास्त्र, 9/1

है। इसी प्रकार विविध राज्यों के कार्यक्षेत्र के अध्ययन के आधार पर यह परिणाम निकाला जा सकता है कि राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित रखने की विचारधारा के स्थान पर लोककल्याणकारी राज्य की नीति ही उपयुक्त है। लार्ड ब्राइस ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक प्रजातन्त्र' (Modern Democracies) और माण्टेस्क्यू ने अपनी पुस्तक 'Spirit of Laws' की रचना में इसी पद्धति का प्रयोग किया है।

राजनीति विज्ञान में यद्यपि पदार्थ विज्ञानों की भाँति प्रयोगशालाओं में बैठकर पूर्ण निश्चितता एवं सरलता से तो प्रयोग नहीं किये जा सकते, फिर भी राजनीति विज्ञान में प्रयोग होते ही रहते हैं और एक प्रकार से सम्पूर्ण मानव जगत इसकी प्रयोगशाला ही है। इस सम्बन्ध में गार्नर ने ठीक ही लिखा है कि "प्रत्येक नये कानून का निर्माण, प्रत्येक नयी संस्था की स्थापना और प्रत्येक नयी बात का प्रारम्भ एक प्रयोग ही होता है क्योंकि उस समय तक वह अस्थायी या प्रस्ताव रूप में ही समझा जाता है जब तक कि परिणाम उसके स्थायी होने की योग्यता सिद्ध न कर दें।" भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत अपनाया गया सत्याग्रह, 1959 में राजस्थान में अपनायी गयी 'लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण' की योजना और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर स्थापित राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ, इस प्रकार के राजनीतिक प्रयोगों के ही उदाहरण हैं।

(6) भविष्यवाणी की क्षमता—जहाँ तक भविष्यवाणी की क्षमता का सम्बन्ध है, राजनीति विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति तो भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है, पर इतना मानना होगा कि इस विषय में भी भविष्यवाणी सम्भव है चाहे वह भविष्यवाणी सदैव सत्य न हो। डॉ. फाइनर के शब्दों में, "हम निश्चिततापूर्वक भविष्यवाणियाँ नहीं कर सकते, लेकिन सम्भावनाएँ तो व्यक्त कर ही सकते हैं।"[1] इसके अतिरिक्त यदि सही रूप में भविष्यवाणी की क्षमता ही विज्ञान की कसौटी मान ली जाय, तो फिर ऋतु विज्ञान जैसे अनेक विषय भी विज्ञान नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनके द्वारा की गयी भविष्यवाणियाँ अनेक बार गलत सिद्ध होती हैं।

वस्तुतः राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में बकल, काम्टे और मेटलैण्ड द्वारा उठायी गयी आपत्तियाँ बहुत अधिक सीमा तक निराधार हैं और पदार्थ विज्ञानों से आधारभूत रूप में भिन्न होने पर भी राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है। अरस्तू, बोदां, हाब्स, माण्टेस्क्यू, कार्नवाल, लेविस, सिजविक, ब्राइस, ब्लटशली, बर्गेस, विलोबी, जैलीनेक, गार्नर आदि सभी विद्वान, इसे एक विज्ञान मानने के पक्ष में हैं।

राजनीति विज्ञान एक अनिश्चित विज्ञान

यद्यपि राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है किन्तु वह पदार्थ विज्ञानों की भाँति

---

[1] "We can become the prophets of the probable, if not the seers of the certain." —*Dr. Herman Finer.*

पूर्णतया निश्चित नहीं है और इसे अनिश्चित विज्ञानों की श्रेणी में ही रखा जा सकता है। इस अनिश्चितता के कारण निम्नलिखित हैं

(1) राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की जटिल समस्याओं से होता है, भौतिक विज्ञानों के समान पदार्थों से नहीं।

(2) राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य के विवेकशील और परिवर्तनशील स्वभाव से है, भौतिक विज्ञानों के समान स्थायी प्रकृति वाले तत्वों से नहीं।

(3) राजनीति विज्ञान के यन्त्र के रूप में प्रयुक्त होने वाली मानवीय इन्द्रियाँ भौतिक यन्त्रों के समान निरपेक्ष निर्णायक नहीं होती हैं। एक रसायन-शास्त्री अणु या मौलीकूल के प्रति कोई घृणा अथवा प्रेम का प्रदर्शन नहीं करता किन्तु राजनीति शास्त्री पर अचेतन रूप में उसके व्यक्तिगत विचारों एवं द्वेषों का प्रभाव पड़ता ही है।

(4) राजनीति के अध्ययनकर्ता को अपने विषय के नैतिक पहलू की ओर भी ध्यान देना होता है, लेकिन भौतिक विज्ञान के सम्मुख नैतिक औचित्य की कोई समस्या नहीं होती है।

राजनीति विज्ञान एक कला के रूप में

कुछ व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि कोई भी अध्ययन या तो विज्ञान की श्रेणी में आता है या कला की, लेकिन वस्तुतः ऐसा सोचना त्रुटिपूर्ण है। विलियम एमलिगर ने ठीक ही लिखा है कि 'विज्ञान और कला का परस्पर विरोधी होना जरूरी नहीं है। कला विज्ञान पर आधारित हो सकती है।" राजनीति विज्ञान के सम्बन्ध में यह बात पूर्णतया लागू होती है।

राजनीति विज्ञान के कला होने के सम्बन्ध में विचारकों में बहुत अधिक मतभेद नहीं है। कला ऐसे ज्ञान को कहा जा सकता है, जिसका उद्देश्य मानव जीवन को सुन्दर बनाना हो। एक विचारक के शब्दों में, 'सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की साधना ही कला है।' इस अर्थ में राजनीति विज्ञान एक कला भी है और ब्लंटशली जैसे अनेक विचारकों का तो कथन है कि "राजनीति से विज्ञान की अपेक्षा कला का ही अधिक बोध होता है। राज्य का संचालन किस रूप में हो, क्रियात्मक दृष्टि से वह कैसा व्यवहार करे—राजनीति में इन समस्त बातों का प्रतिपादन होता है।"

राजनीति विज्ञान में राज्य के भूतकालीन और वर्तमान स्वरूप का अध्ययन करने के साथ साथ राज्य के भावी आदर्शात्मक स्वरूप का अध्ययन किया जाता है और यह बतलाया जाता है कि भविष्य में राज्य और राजनीतिक व्यवस्था कैसी होनी चाहिए। राजनीति विज्ञान में इस बात का प्रतिपादन किया जाता है कि विश्व शान्ति के हित में राष्ट्रीय राज्यों का अन्त कर एक विश्व संघ की स्थापना की जानी चाहिए। वर्तमान समय में लगभग सभी पक्षों द्वारा जनकल्याणकारी राज्य की धारणा

को अपना लिया गया है और यह भी माना जाता है कि एक राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को अधिकाधिक स्वतन्त्रता और अधिकार दिये जाने चाहिए। एक श्रेष्ठ राज्य और सुसंस्कृत आदर्श समाज की स्थापना राजनीति विज्ञान के अध्ययन का ध्येय और लक्ष्य है और इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान एक उच्चकोटि की कला है जो समाज का यथार्थ चित्र भी प्रस्तुत करती है और पथ-प्रदर्शन भी। वर्तमान समय मे मानव जीवन और राज्यो का पारस्परिक जीवन बहुत अधिक आत्मनिर्भर हो गया है और ऐसी परिस्थितियो मे राजनीति विज्ञान का कला रूप ही विश्व को विनाश के गर्त से बचा सकता है।

वस्तुत राजनीति विज्ञान एक विज्ञान और कला दोनों ही है। केटलिन राजनीति का अर्थ विस्तार करते हुए उसे कला, दर्शन और विज्ञान तीनो मानता है।[1] लासवेल ने भी इसे 'कला, विज्ञान और दर्शन का संगम' कहा है।

प्रश्न

1. राजनीति विज्ञान की परिभाषा कीजिए और इसका 'राजनीति' तथा 'राजनीतिक दर्शन' से भेद स्पष्ट कीजिए। आप इस विषय के लिए कौन सा नाम सबसे उपयुक्त समझते हैं और क्यो ?
2. "राजनीति विज्ञान प्राचीन राज व्यवस्था का ऐतिहासिक अनुसन्धान, वर्तमान राज्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा आदर्श राज्य की राजनीतिक एव नैतिक विवेचना है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा राजनीति विज्ञान का क्षेत्र स्पष्टतया समझाइए।
3. ज्ञान की वर्तमान अवस्था मे राजनीति विज्ञान, विज्ञान होने से तो दूर रहा यह तो बहुत अधिक पिछड़ी हुई कलाओ मे से एक है।" (बक्ल) व्याख्या कीजिए और राजनीति विज्ञान के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
4. "राजनीति विज्ञान समाज विज्ञान का वह अग है जो राज्य के अधिकारो और शासन के सिद्धान्तो पर विचार करता है।" विवेचना कीजिए।

---

1 G. E. C. Catlne, *Systematic Politics*, pp. 48-51.

2

राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध

[RELATION OF POLITICAL SCIENCE WITH OTHER SOCIAL SCIENCES]

"राजनीति विज्ञान एक समाज विज्ञान के रूप में झगड़ालू परिवार का एक सदस्य है। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र मानवशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास तथा मानवीय भूगोल इस परिवार के अन्य सदस्य हैं। स्वयं राजनीति विज्ञान की भाँति ही इस परिवार का अन्य प्रत्येक सदस्य इस परिवार में अपने स्थान और भविष्य के अन्तर्गत एक विज्ञान के रूप में अपनी स्थिति के प्रति आश्वस्त नहीं है। किसी भी सदस्य को निजी कक्ष प्राप्त नहीं है और प्रत्येक सदस्य अन्य सदस्यों की पोशाकों को पहनने की आदत रखता है।"[1]

—एलफ्रेड ग्रेजिया

मनुष्य का जीवन सामाजिक है और उसके इस सामाजिक जीवन के विविध पक्ष हैं—राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, आदि। सामाजिक जीवन के इन विविध पक्षों का अध्ययन विभिन्न समाज विज्ञानों द्वारा किया जाता है। राजनीति विज्ञान मानव जीवन के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करता है तो अर्थशास्त्र आर्थिक पक्ष का। इतिहास भूतकालीन जीवन का अध्ययन करता है तो नीतिशास्त्र इस बात पर विचार करता है कि मानव जीवन को आदर्श किस प्रकार बनाया जा सकता है। समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के आधार पर समाज का

---

1 "Political Science, as one of the social sciences is a member of a rather quarrelsome family Psychology, Sociology, Anthropology, Economics, History and Human Geography are other members Each one of these like Political Science itself is not very sure of its place in the family or its future as a science None has a private room and each has a habit of wearing of the other's party dresses."

—Alfred de Grazia, *The Elements of Political Science*, p. 59.

अध्ययन करता है तो मनोविज्ञान मानव जीवन के प्रेरक मानसिक तत्वों का। लेकिन मानव जीवन एक पूर्ण इकाई है और जीवन के इन विविध पक्षों को एक-दूसरे से अलग करके इनका पूर्ण अध्ययन नहीं किया जा सकता है। वास्तव में सभी समाज विज्ञान एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखाओं की भांति हैं जिनकी जड़ एक ही है—मनुष्य का सामाजिक जीवन। एक समाज विज्ञान पर दूसरे समाज विज्ञान की निर्भरता और प्रभाव इतना अधिक है कि निरपेक्ष रूप से किसी समाज विज्ञान का अध्ययन नहीं किया जा सकता। गार्नर ने राजनीति विज्ञान की अन्य समाज विज्ञानों पर निर्भरता दर्शाते हुए लिखा है कि, "हम दूसरे सहायक विज्ञानों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किये बिना राजनीति विज्ञान एवं राज्य का पूर्ण ज्ञान ठीक उसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते, जिस प्रकार गणित के बिना यन्त्र विज्ञान और रसायनशास्त्र के बिना जीव विज्ञान का यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।"[1] प्रो रौक[2] पॉल जेनेट और अन्य विद्वानों द्वारा भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये गये।

समाज विज्ञानों को परस्पर सम्बन्धित तो पहले से ही समझा जाता रहा है, लेकिन प्रथम महायुद्ध के बाद जिस व्यवहारवादी आन्दोलन का उदय हुआ और जिसने युद्धोत्तरकाल (1945 के बाद) तथा अभी हाल ही के वर्षों में एक व्यापक क्रान्ति का रूप ग्रहण कर लिया है, उसमें तो इस बात पर बल दिया गया है कि मानव का सामाजिक जीवन एक सम्पूर्ण इकाई है और जीवन के विभिन्न पक्षों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। वर्तमान समय में राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत 'अन्तर-अनुशासनात्मकता' (Inter-disciplinary approach) पर बहुत अधिक बल दिया जाता है और इसके परिणामस्वरूप ज्ञान की जिन नवीन शाखाओं का उदय हुआ है, उनमें कुछ प्रमुख हैं राजनीतिक समाजशास्त्र (Political Sociology), राजनीतिक मनोविज्ञान (Political Psychology), राजनीतिक अर्थमिति (Political Econometrics) आदि। आज अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में स्थापित 'समाज विज्ञान शोध परिषद' (The Social Science Research Council) सभी समाज विज्ञानों का एक ही इकाई के रूप में अध्ययन कर रही है। इस प्रकार राजनीति विज्ञान के अध्ययन में जिन नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ है, उन्होंने राजनीति विज्ञान की अन्य समाज विज्ञानों से घनिष्ठता को और बहुत अधिक बढ़ा दिया है।

राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र

समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज और सामाजिक व्यवस्था का शास्त्र है। यह व्यक्तियों के समूह के रूप में समाज तथा व्यक्ति के सभी प्रकार के सम्बन्धों का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय राज्य भी स्वयं समाज का ही एक अंग है और राज्य एक राजनीतिक संस्था होने के साथ-साथ सामाजिक संस्था भी है। विद्वान रेटजन् हॉफर ने ठीक ही कहा है कि "राज्य अपने विकास के

1 Garner, *Political Science and Government*, pp. 26-27.
2 J S Roucek & Others, *Introduction to Political Science*, p 6.

प्रारम्भिक चरणों में तो एक सामाजिक संस्था ही थी।" अत राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र एक-दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। प्रो केटलिन ने तो यहाँ तक कहा है कि "राजनीति और समाजशास्त्र अखण्ड हैं और वास्तव में एक ही तस्वीर के पहलू हैं।" इन दोनों के सम्बन्धों का अध्ययन निम्न रूपों में किया जा सकता है .

समाजशास्त्र राजनीति के आधार रूप में—समाजशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक परिस्थितियों और सम्बन्धों का अध्ययन करता है और यह बताता है कि सामाजिक परिवर्तन तथा विकास के क्या नियम हैं। राजनीतिक सिद्धान्तों और संगठन का उदय सामाजिक पृष्ठभूमि के आधार पर ही हुआ है। अत राजनीति विज्ञान के उचित अध्ययन के लिए समाजशास्त्र का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। प्रो गिडिंग्स का मत है कि "समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ व्यक्ति को राजविज्ञान पढ़ाना वैसा ही है जैसा कि न्यूटन के गति सम्बन्धी नियमों से अपरिचित व्यक्ति को खगोल विद्या (Astronomy), उष्णता और यन्त्र विद्या (Thermodynamics) से सम्बन्धित विज्ञान को शिक्षा देना।"

यही नहीं वरन् समाजशास्त्र के अध्ययन ने राजनीति विज्ञान से सम्बन्धित ज्ञान को आधुनिक युग में पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। यही कारण है कि मार्लेस ने कहा है कि राजनीतिक सिद्धान्त तथा समाजशास्त्र के बारे में सर्वाधिक विशेष बात यह है कि राजनीतिक सिद्धान्तों में गत चालीस वर्षों में जो भी परिवर्तन हुए हैं, जो भी विकास दशाएँ दिखलायी गयी हैं, उन सबकी ओर समाजशास्त्र ने ही संकेत किया है। दोनों विज्ञानों का इतना निकट सम्पर्क है कि गार्नर के शब्दों में, "राजनीति सामाजिकता में गड़ी हुई है और यदि राजनीति विज्ञान समाजशास्त्र से भिन्न है तो इसका कारण क्षेत्र का विस्तार है, न कि इस कारण कि उसे समाजशास्त्र से पृथक करने के लिए किसी प्रकार की निश्चित सीमाएँ हैं।"

राजनीति विज्ञान की समाजशास्त्र को देन—राजनीति विज्ञान भी समाजशास्त्र को सहायता प्रदान करता है। समाजशास्त्र में राज्य की उत्पत्ति, संगठन, ध्येय और कार्यों आदि का भी अध्ययन किया जाता है और समाजशास्त्र राज्य सम्बन्धी यह विशिष्ट ज्ञान राजनीति विज्ञान से ही प्राप्त करता है। गेटल ने ठीक ही लिखा है कि "राजनीति विज्ञान समाजशास्त्र को समाज की सामान्य रूपरेखा के तौर पर व घटनाएँ प्रदान करता है जिनका सम्बन्ध राज्य के संगठन और कार्यों से होता है। राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध का एक प्रमाण यह है कि मौरिस गिन्सबर्ग, आगस्त काम्टे, लेस्टर वार्ड, विलियम प्राइस, समनर आदि समाजशास्त्रियों ने राज्य की प्रकृति और उद्देश्यों में इतनी रुचि दिखायी है, मानो ये समाजशास्त्र की मुख्य समस्याएँ हों।

राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र में अन्तर—राजनीति विज्ञान तथा समाजशास्त्र में घनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी उनमें क्षेत्र, अध्ययन सामग्री और उद्देश्य की दृष्टि से अन्तर है। समाजशास्त्र का क्षेत्र राजनीति विज्ञान की अपेक्षा

कही अधिक व्यापक है। इसके अतिरिक्त समाज शास्त्र एक वर्णनात्मक विज्ञान ही है किन्तु राजनीति विज्ञान एक 'आदर्शपरक विज्ञान' (Normative Science) भी है।

राजनीति विज्ञान और इतिहास

इतिहास मे व्यक्ति, समाज और राज्य के भूतकालीन जीवन का लेखा-जोखा होता है और राजनीति विज्ञान मे राज्य के भूत वर्तमान और भविष्य का अध्ययन। अत स्वाभाविक रूप से ये विज्ञान एक दूसरे से बहुत अधिक सम्बन्धित हैं और सीले तो इन दोनो विज्ञानो का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाते हुए लिखता है कि "राजनीति विज्ञान के बिना इतिहास का कोई फल नहीं, इतिहास के बिना राजनीति विज्ञान का कोई मूल नहीं।"[1] सभी विचारक राजनीति विज्ञान और इतिहास के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं और इन दोनो के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण निम्नलिखित रूपो मे किया जा सकता है

इतिहास की राजनीति विज्ञान को देन—इतिहास ने राजनीति विज्ञान को निम्नलिखित रूपो मे सहायता प्रदान की है

(क) राजनीति विज्ञान इतिहास पर निर्भर है—राज्य और राजनीतिक सस्थाएँ एक विशेष समय पर निर्मित न होकर विकास का परिणाम होती है और उन्हे पूर्णतया समझने के लिए इतिहास के आधार पर उनके विकास क्रम का ज्ञान प्राप्त किया जाना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त राजनीति विज्ञान मे जिन समस्याओ का अध्ययन किया जाता है उनका भी अपना इतिहास होता है और इतिहास से परिचित हुए बिना न तो इन समस्याओ को ठीक रूप मे समझा जा सकता है और न ही हल किया जा सकता है। वस्तुत वर्तमानकालीन राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन और भविष्य के लिए आदर्श व्यवस्था का चित्रण ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर ही किया जा सकता है।

(ख) इतिहास राजनीति की प्रयोगशाला या पथ प्रदर्शक के रूप में—मानवीय इतिहास मे विभिन्न समयो पर राजनीतिक क्षेत्र मे अनेक कार्य किये गये जिनके परिणाम और सफलता असफलता का वर्णन इतिहास से प्राप्त होता है। राजनीतिक क्षेत्र के ये भूतकालीन कार्य एक प्रयोग के समान ही होते हैं और ये भूतकालीन प्रयोग भविष्य के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य करते हैं। भारतीय इतिहास के अध्ययन से इस बात का ज्ञान प्राप्त होता है कि धार्मिक सहिष्णुता की नीति के आधार पर अकबर ने एक विशाल और सुदृढ साम्राज्य की स्थापना की, लेकिन औरगजेब द्वारा अपनायी गयी धार्मिक पक्षपात की नीति का परिणाम यह हुआ कि यह साम्राज्य पतन की ओर उन्मुख हो गया। भारतीय सविधान के निर्माताओ ने इतिहास के ज्ञान का पूरा लाभ उठाते हुए धर्मनिरपेक्ष राज्य तथा सघात्मक शासन होते हुए भी शक्तिशाली केन्द्र की व्यवस्था को अपनाया। इस प्रकार ऐतिहासिक अनुभव के आधार

1 "History without Political Science has no fruit Political Science without History has no root." —Seeley, *Introduction to Political Science*, p 1.

पर वर्तमान राजनीतिक जीवन में सुधार करते हुए भविष्य के लिए मार्ग निश्चित किया जा सकता है। इस प्रसंग में विलोबी ने कहा है कि "इतिहास राजनीति विज्ञान की तीसरी दिशा दर्शाता है।"[1] लार्ड एक्टन के शब्दों में कहा जा सकता है कि "राजनीति विज्ञान इतिहास की धारा में उसी भाँति संचित है जैसे कि नदी की रेत में सोने के कण।"[2]

राजनीति को इतिहास पर आधारित करने की परम्परा बड़ी प्राचीन है। कौटिल्य ने ऐतिहासिक उदाहरणों के आधार पर ही राजाओं को राजधर्म की शिक्षा दी थी और अरस्तू ने अपने अध्ययन में इतिहास का व्यापक रूप में प्रयोग किया था। यही बात मैकियावेली, माण्टेस्क्यू, हीगल, कार्ल मार्क्स, वेबर, काम्टे, हरबर्ट स्पेन्सर, मार्गन, आदि के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

राजनीति विज्ञान को इतिहास की देन—राजनीति विज्ञान तो इतिहास पर निर्भर है ही, इसके साथ ही इतिहास भी राजनीति विज्ञान के प्रति निम्न रूपों में बहुत अधिक ऋणी है

(क) इतिहास को अध्ययन सामग्री प्रदान करना—इतिहास सम्पूर्ण भूतकालीन जीवन का विवरण होने हुए भी, इसमें प्रमुख रूप से मानव की राजनीतिक गतिविधियों का ही अध्ययन किया जाता है। अमरीका के इतिहास में जार्ज वाशिंगटन, अब्राहम लिंकन, मुनरो सिद्धान्त, ट्रूमैन सिद्धान्त और आइजनहॉवर योजना को नहीं निकाल सकते हैं। भारत के इतिहास में से यदि हम अशोक, चन्द्रगुप्त, बाबर, अकबर, शाहजहाँ जहाँगीर, नूरजहाँ तथा औरंगजेब के राजनीतिक कार्यों और उपलब्धियों को निकाल दें तो उसमें रह ही क्या जाता है? इसी प्रकार यदि हम 20वीं सदी के भारतीय इतिहास का अध्ययन करना चाहें तो राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना, साम्प्रदायिक निर्वाचन का प्रारम्भ और मुस्लिम लीग का उदय, 1909, 1919 और 1935 के भारतीय शासन अधिनियम, द्वैध शासन, साइमन कमीशन, नेहरू रिपोर्ट, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, गोलमेज सम्मेलन, क्रिप्स कमीशन, भारत छोड़ो आन्दोलन, केबीनेट मिशन, अन्तरिम सरकार की स्थापना, भारत की स्वतन्त्रता, भारत के वर्तमान संविधान का निर्माण और भारतीय संविधान के अन्तर्गत हुए आठ आम चुनावों का अध्ययन सबसे अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। सीलीक ने इस बात को लक्ष्य करते हुए ही कहा है—"इतिहास का बहुत कुछ भाग राजनीति विज्ञान है।" इस प्रकार की सामग्री के अतिरिक्त राजनीति विज्ञान इतिहास को वह दृष्टिकोण प्रदान करता है जिसके आधार पर घटनाओं को उनके वास्तविक अर्थों में समझा जा सकता है।

---

1 "History offers the third dimension of Political Science." —Willoughby

2 "The science of political is the one Science, that is deposited by the stream of history like grains of gold in the sand of a river." —Lord Acton

(ङ) ऐतिहासिक घटनाएँ राजनीतिक विचारधाराओं के परिणाम—इतिहास पर राजनीति के प्रभाव का एक रूप यह भी है कि राजनीतिक विचारधाराएँ ऐतिहासिक घटनाओं को जन्म देती हैं। रूसो और माण्टेस्क्यू के विचारों का फ्रांस की राज्यक्रान्ति पर, कार्ल मार्क्स के विचारों का सोवियत रूस की राज्यक्रान्ति पर तथा महात्मा गांधी के विचारों का भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन पर निर्णायक प्रभाव पड़ा। स्वतन्त्रता, समानता और सामाजिक न्याय जैसे राजनीतिक विचारों ने भूतकाल में ऐतिहासिक घटनाओं को प्रभावित किया है और आज भी ऐसा कर रहे हैं।

इस प्रकार इतिहास और राजनीति विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों की पारस्परिक निर्भरता के सम्बन्ध में सीले ने लिखा है कि "राजनीति उच्छृंखल हो जाती है, यदि इतिहास द्वारा उसे उदार नहीं बनाया जाता और इतिहास कोरा साहित्य रह जाता है, यदि राजनीति से उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।"[1] इसी प्रकार बर्गेस ने भी लिखा है कि 'यदि राजनीति विज्ञान और इतिहास का सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाय तो उसमें से एक मृत नहीं तो पंगु अवश्य हो जायगा और दूसरा केवल आकाश-कुसुम बन कर रह जायगा।"[2]

अन्तर—राजनीति विज्ञान और इतिहास, घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होते हुए भी इनमें अध्ययन पद्धति, क्षेत्र और उद्देश्य का अन्तर है। इतिहास की अध्ययन पद्धति वर्णनात्मक है, किन्तु राजनीति विज्ञान में पर्यवेक्षणात्मक और विचारात्मक पद्धति के आधार पर अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त इतिहास का अध्ययन क्षेत्र राजनीति विज्ञान की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है।

निष्कर्षत: इतिहास तथा राजनीति विज्ञान में अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है, वे पारस्परिक रूप में इतने जुड़े हुए हैं कि उनके वृत्त क्षेत्र कहीं एक-दूसरे को छूते और कहीं एक-दूसरे का अतिक्रमण करते हैं फिर भी दोनों विषय पृथक-पृथक हैं।

राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र

राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र में इतना गहरा सम्बन्ध है कि प्रारम्भिक लेखक अर्थशास्त्र को राजनीति विज्ञान की ही एक शाखा मानते थे। यूनानी उसे 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' (Political Economy) कहते हैं और प्राचीन भारतीय राजनीतिज्ञ कौटिल्य ने राजनीति पर जो प्रसिद्ध पुस्तक लिखी है, उसका नाम 'अर्थशास्त्र' ही है। इसी प्रकार राजनीति विज्ञान के कई मान्य ग्रन्थों जैसे अरस्तू की 'राजनीति' तथा लॉक की 'नागरिक प्रशासन पर द्वितीय लेख' (*Second Treatise*

---

1. 'Politics is vulgar when liberalized by History and History fades into mere literature when it loses sight of its relation to Politics.'
— Seeley Quoted by Garner, *Political Science and Government*, p. 37.

2. Separate them and the one becomes a cripple if not corpse the other a will of the wisp."
—Burgess, American Historical Association, *Annual Report*, Vol. I, p. 211.

on Civil Government) मे उन विषयों का विवेचन मिलता है, जिन्हें आजकल अर्थशास्त्र में सम्मिलित किया जाता है। किन्तु वर्तमान समय मे विशेषीकरण के परिणामस्वरूप अर्थशास्त्र को ज्ञान की एक पृथक शाखा के रूप मे मान्यता प्राप्त हो गयी है।

अर्थशास्त्र द्वारा ज्ञान की एक पृथक शाखा का रूप ग्रहण कर लेने पर भी अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं और इनके सम्बन्ध का अध्ययन निम्नलिखित रूपों मे किया जा सकता है

समान उद्देश्य—दोनों ही विज्ञानों का मुख्य उद्देश्य मानव कल्याण ही है। एक का लक्ष्य राजनीतिक कल्याण है तो दूसरे का आर्थिक कल्याण। मनुष्य के आर्थिक कल्याण की सिद्धि अराजकता और अशान्ति के वातावरण मे सम्भव नहीं हो सकती, इसलिए शान्ति और व्यवस्था की स्थापना राज्य का एक आवश्यक कार्य हो जाता है।

अर्थशास्त्र की राजनीति विज्ञान को देन—अर्थशास्त्र ने राजनीतिक ज्ञान और जीवन को निम्न रूपों मे अत्यधिक प्रभावित किया है .

(क) राजनीतिक संस्थाओं का उदय व विकास आर्थिक अवस्थाओं का परिणाम—राज्य के विकास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य का विकास आर्थिक परिस्थितियों का ही परिणाम रहा है। मानव समूह द्वारा कृषि को जीवनयापन के प्रमुख साधन के रूप में अपना लेने पर ही सर्वप्रथम सुव्यवस्थित राज्य की स्थापना हुई और वर्तमान समय के विशाल राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना का मूल कारण भी आर्थिक गतिविधियाँ ही रही हैं। इस सम्बन्ध मे कार्ल मार्क्स ने तो यहाँ तक कहा है कि "किसी युग के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के स्वरूप का निश्चय आर्थिक परिस्थितियाँ ही करती हैं।" वर्तमान मे तो सरकार के स्वरूप भी आर्थिक व्यवस्था के आधार पर ही निर्धारित किये जाते हैं। पूँजीवादी प्रजातन्त्र और साम्यवादी प्रजातन्त्र के दो रूप आर्थिक व्यवस्था पर ही आधारित हैं। शासन तथा राजनीतिक संस्थाओं की दृढ़ता आर्थिक परिस्थितियों पर ही निर्भर करती है और इस बात को सभी पक्ष स्वीकार करते हैं कि 'आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता असम्भव है।"

(ख) राज्य की नीति आर्थिक अवस्थाओं पर निर्भर—न केवल राज्य का स्वरूप वरन् समय समय पर राज्य द्वारा अपनायी जाने वाली नीति आर्थिक अवस्थाओं का ही परिणाम रही है। 18वीं सदी मे इंगलैण्ड और यूरोप के अन्य देशों में जो औद्योगिक क्रान्ति हुई, उसके परिणामस्वरूप ही यूरोप के इन देशों ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की नीति अपनायी। इस सम्बन्ध मे बिस्मार्क और जोजफ चेम्बरलेन के कथन महत्वपूर्ण हैं। बिस्मार्क का कथन था, "मुझे यूरोप के बाहर नये राज्यों की नहीं, वरन् व्यापारिक केन्द्रों की आवश्यकता है।"[1] इसी प्रकार

1 "I want outside Europe .. . not provinces but commercial enterprises"
—Bismark

चेम्बरलेन ने कहा था कि "हम नये देशो में वस्तुओ का बाजार बनायेंगे तथा पुराने बाजारों का विकास करेंगे। अत वर्तमान साम्राज्य की रक्षा करना हमारी आवश्यक्ता भी है और कर्तव्य भी।"

वर्तमान समय मे आर्थिक समानता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ही भारत और अन्य देशो द्वारा समाजवाद तथा आर्थिक क्षेत्र मे नियन्त्रित अर्थ व्यवस्था की नीति को अपनाया गया है।

(ग) राजनीतिक घटनाएँ आर्थिक गतिविधियों के परिणाम—राजनीतिक क्षेत्र की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ आर्थिक गतिविधियो के परिणामस्वरूप ही घटित हुई हैं। 1935 मे जब स्पेन की गणतन्त्रीय सरकार ने श्रमिक वर्ग के हित मे कानून निर्माण का प्रयत्न किया तो सामन्त वर्ग, चर्च के पादरी और सेना ने जनरल फ्रेंको के नेतृत्व मे सगठित होकर गणतन्त्रीय सरकार का तख्ता उलट दिया। 1922 मे मुसोलिनी के द्वारा भी लगभग इसी प्रकार की परिस्थितियों मे सत्ता प्राप्त की गयी थी। 1930 की विश्वव्यापी मन्दी ने हिटलर के उदय और द्वितीय विश्वयुद्ध की भूमिका तैयार की थी। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा साम्यवाद जैसी विचारधाराओ की उत्पत्ति का मूल कारण आर्थिक गतिविधियाँ ही रही हैं। राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा आर्थिक क्षेत्र में अपनायी गयी 'नव निर्माण नीति' (New Deal Policy) की सफलता के परिणामस्वरूप ही लगातार चार बार सयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए और आज की प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था मे शासक दल की शक्ति आर्थिक समस्याओं के सफलतापूर्वक हल पर ही निर्भर है। भारतीय गणतन्त्र के सम्बन्ध में तो यह बात विशेष तौर पर कही जा सकती है।

वर्तमान समय की अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत विकसित देशो द्वारा अफ्रीका और एशिया के अल्प विकसित और अविकसित देशों को आर्थिक सहायता देकर इन देशों की राजनीति को प्रभावित करने का जो प्रयत्न किया जा रहा है वह राजनीति पर अर्थ के प्रभाव और राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध का ही एक उदाहरण है।

राजनीति विज्ञान की अर्थशास्त्र को देन—राजनीति विज्ञान भी अपने ढग से अर्थशास्त्र और आर्थिक क्रियाओ को प्रभावित करता है

(क) अर्थ व्यवस्था प्रशासनिक स्तर पर निर्भर—अर्थ व्यवस्था भी बहुत अधिक सीमा तक राजनीतिक और प्रशासनिक स्तर पर निर्भर करती है। आर्थिक विकास और सम्पन्नता के लिए एक समुचित, प्रभावशील तथा स्वस्थ प्रशासनिक व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। भारत के धीमे आर्थिक विकास का एक प्रमुख कारण प्रशासनिक यन्त्र की अकुशलता और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न नौकरशाही की प्रवृत्ति रहा है।

(ख) अर्थ-व्यवस्था राजकीय नीतियों पर निर्भर—एक देश के अन्तर्गत प्रचलित शासन-व्यवस्था के रूप और राजनीतिक नीतियों का आर्थिक व्यवस्था पर

बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। धन का विनिमय, वस्तुओं का उत्पादन एवं उपभोग, करारोपण, विदेशी मुद्रा, आयात तथा निर्यात और उद्योगों की स्थापना शासन-व्यवस्था द्वारा अपनायी गयी नीतियों पर ही निर्भर करते हैं। व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुयायी राज्यों में प्रमुख उद्योग धन्धे तथा किसी सीमा तक देश का आर्थिक जीवन स्वतन्त्र रूप से व्यक्तियों के हाथ में रहता है, लेकिन समाजवादी और साम्यवादी राज्यों में आर्थिक जीवन पर राज्य का नियन्त्रण रहता है। कुछ समय पूर्व भारत के शासक दल (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) द्वारा समाजवादी ढंग के समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना का प्रस्ताव स्वीकार कर लिए जाने के कारण ही प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण, राजाओं के विशेषाधिकारों का उन्मूलन, शासन द्वारा गेहूं के थोक व्यापार के अधिग्रहण, आदि कदम उठाये गये थे और भारतीय संघ के कुछ राज्यों में 'शहरी सम्पत्ति का सीमाकरण' किया जा रहा है। भारत की आर्थिक उन्नति न हो सकने का एक प्रमुख कारण भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद था।

(ग) युद्ध का प्रभाव—इसी प्रकार युद्ध एक सैनिक राजनीतिक क्रिया है, परन्तु वस्तुओं के मूल्य और अर्थ-व्यवस्था पर उसका प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। अमरीका की आर्थिक स्थिति में अपेक्षाकृत गिरावट उत्पन्न होने का एक प्रमुख कारण वियतनाम युद्ध था और 1962 में भारत-चीन युद्ध तथा 1965 और 1971 के भारत पाक युद्धों का भारत की आर्थिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ा। इस प्रकार अक्टूबर, 1971 के पश्चिमी एशिया युद्ध के परिणामस्वरूप समस्त विश्व में पेट्रोल की उपलब्धता और आर्थिक स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ा।

समान अध्ययन विषय—वर्तमान समय में समाजवाद और पूंजीवाद जैसी विचारधाराओं और सार्वजनिक राजस्व (Public Finance) जैसे विषयों का अध्ययन अर्थशास्त्र एवं राजनीति विज्ञान दोनों में ही समान रूप से किया जाता है और इस क्षेत्र में इन दोनों विज्ञानों के समान अध्ययन विषय दोनों विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का श्रेष्ठ उदाहरण है।

वर्तमान समय में लोककल्याणकारी राज्य और समाजवादी विकास की जो धारणाएं विकसित हुई और अधिकांश प्रजातान्त्रिक राज्यों के द्वारा अपनायी गयी हैं उनसे राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र के बीच नवीन, गहरा और दोनों के लिए लाभकारी सम्बन्ध स्थापित हो गया है।

वास्तव में ये दोनों विषय एक-दूसरे के पूरक हैं और चार्ल्स बियर्ड के शब्दों में कहा जा सकता है कि "अर्थशास्त्र के बिना राजनीति विज्ञान अवास्तविक एवं सारहीन ढांचा मात्र है।"[1] इन दोनों शास्त्रों की घनिष्टता को देखते हुए ही सन् 1952 में यूनेस्को के तत्वावधान में गठित *'Cambridge Round Table'* ने यह

---

1 "Political Science with Economic left out is an unreal and ghostly formalism." —*Charles Beard*

आग्रह किया था कि 'राजनीति विज्ञान के पाठ्यक्रम मे अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो को सम्मिलित किया जाना चाहिए। यूनेस्को के ही तत्वावधान मे गठित अर्थशास्त्रियों की समिति ने भी अर्थशास्त्र के साथ राजनीतिक सिद्धान्तो के अध्ययन पर जोर दिया था। विद्वान एसलिंगर ने ठीक ही विचार व्यक्त किया है कि इन दोनों शास्त्रो के बीच आवश्यक तालमेल स्थापित किया जाना चाहिए। वस्तुत राजनीति विज्ञान अर्थशास्त्र से जितने अधिक घनिष्ठ रूप म सम्बन्धित है उतने घनिष्ट रूप म अन्य किसी भी विषय से नहीं।

अन्तर—राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र मे घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी इनमे अध्ययन की विषय वस्तु एव प्रकृति की दृष्टि से अन्तर है। राजनीति विज्ञान का प्रमुख अध्ययन विषय राज्य और व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध है। इसके विपरीत अर्थशास्त्र का मुख्य अध्ययन विषय धन है। इसके अतिरिक्त राजनीति विज्ञान एक आदर्शात्मक विज्ञान है, किन्तु अर्थशास्त्र एक वर्णनात्मक विज्ञान है।

राजनीति विज्ञान और नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र मानवीय आचरण के सत असत तथा शुभ अशुभ का ज्ञान प्रदान करने वाला विज्ञान है। डीवी (Dewey) के अनुसार, 'नीतिशास्त्र आचरण का वह विज्ञान है जिसमे मानवीय आचरण के औचित्य व अनौचित्य तथा अच्छाई व बुराई पर विचार किया जाता है। राजनीति विज्ञान राज्य के भूत एव वर्तमान रूप के साथ साथ भविष्य के आदर्शात्मक रूप का भी अध्ययन करता है और राज्य का आदर्श रूप नीतिशास्त्रीय धारणाओ पर ही आधारित होता है। अत यह कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान और नीतिशास्त्र दोनो का अध्ययन विषय मानवीय आचरण का मूल्यांकन है। इसलिए इतिहास म य दोनो विषय परस्पर सम्बन्धित रहे हैं और आज भी य दोनो विषय परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। यह सम्बन्ध निम्न रूपो से स्पष्ट किया जा सकता है

नीतिशास्त्र की राजनीतिशास्त्र को देन—नीतिशास्त्र ने राजनीति विज्ञान को निम्नलिखित रूपों में प्रभावित किया है

(क) राजनीति की नीतिशास्त्र पर निर्भरता—राजनीति के अनेक प्राचीन लेखकों ने राज्य को एक नैतिक सस्था माना है जिसका उद्देश्य मनुष्य का अधिकाधिक कल्याण करना है। प्लेटो ने राजनीति को नीतिशास्त्र की एक शाखा ही माना और कहा है कि 'राज्य का सबसे बड़ा उद्देश्य नागरिकों को सदाचारी व सच्चरित्र बनाना है। इसी प्रकार अरस्तू न कहा है कि 'राज्य जीवन के लिए अस्तित्व मे आया और अब वह सदजीवन के लिए विद्यमान है।' सद्जीवन से अरस्तू का तात्पर्य नैतिक जीवन से ही है। राज्य के द्वारा इस नैतिक जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति नीतिशास्त्र की सहायता से ही की जा सकती है। इसी बात के आधार पर लार्ड एक्टन लिखते हैं कि नीतिशास्त्र के बिना राजनीति का अध्ययन विफल है। समस्या यह

नहीं है कि सरकारें क्या करती हैं वरन् यह है कि उन्हें क्या करना चाहिए।"[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नीतिशास्त्र राजनीतिक व्यवहार को उसका स्तर तथा उद्देश्य प्रदान करता है।

यद्यपि मैकियावेली और हॉब्स जैसे राजनीतिक विचारकों द्वारा राजनीति को नीति से पृथक करने का प्रयत्न किया गया है और वर्तमान समय में हेराल्ड लासवेल ने राजनीति को मूल्यों से स्वतन्त्र विज्ञान बनाने की चेष्टा की है। लासवेल का दृष्टिकोण है कि राजनीति में मूल्य का प्रवेश विशुद्ध वैज्ञानिक अध्ययन में बाधा पहुँचायेगा। किन्तु वर्तमान समय के ही अन्य प्रसिद्ध लेखक तथा जेक्वास मरीटेन वागलीन (Jacques Maritain Vogelin) और अल्फ्रेड वेबर (Alfred Weber) लासवेल के दृष्टिकोण को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं और वे काण्ट, हीगल, ग्रीन, ब्रेडले और बोसांके के साथ स्वर मिलाकर राज्य को एक नैतिक संस्था मानते हैं। वस्तुतः राजनीति विज्ञान में मैकियावेली की विचारधारा को कभी भी मान्यता प्राप्त नहीं हुई और फाय ने ठीक ही कहा है कि "जो बात नैतिक दृष्टि से गलत है, वह राजनीतिक दृष्टि से कभी सही हो ही नहीं सकती।"[2] बीसवीं सदी में महात्मा गांधी ने स्वयं नैतिकतापूर्ण राजनीतिक जीवन का साकार उदाहरण उपस्थित करते हुए कहा है कि "धर्मविहीन कोई राजनीति नहीं है। धर्म से पृथक राजनीति मृत्यु जाल है जो आत्मा का हनन करती है।" आज विश्व के लगभग सभी देशों के सार्वजनिक जीवन में तीव्र असन्तोष की जो स्थिति है उसका एक बहुत बड़ा कारण राजनीतिज्ञों द्वारा नैतिक मूल्यों को तिलांजलि दे देना है और इन व्याधियों को दूर करने के लिए राजनीति में नैतिक मूल्यों को पुनर्प्रतिष्ठित करना होगा।

(ख) कानून नैतिक मान्यताओं पर आधारित—एक और रूप में नीति विषयक विचार राजनीति को प्रभावित करते हैं। राज्य कानून निर्माण के आधार पर कार्य करता है और कानून निर्माण का यह कार्य प्रचलित नैतिक मान्यताओं के आधार पर ही किया जा सकता है। किसी भी कानून का निर्माण करते समय या सामाजिक हित के किसी भी कार्यक्रम को प्रभावित करते समय राज्य को अपने सामने नैतिक धारणाओं को अवश्य ही रखना होता है। गैटिल ने लिखा है कि "जब नैतिक विचार स्थायी और प्रचलित हो जाते हैं तो वे कानून का रूप ले लेते हैं।" वस्तुतः कानून का पालन तभी सम्भव है जब वह नैतिक औचित्य या न्याय की कसौटी पर खरा उतरे।

राजनीति विज्ञान की अनेक शाखाएँ तो अब तक नीतिशास्त्र की नींव पर ही खड़ी हैं जैसे आज की अन्तरराष्ट्रीय विधि अन्तरराष्ट्रीय नैतिकता पर ही आधारित है। नीति विषयक विचार विभिन्न देशों के संविधानों को भी प्रभावित करते हैं।

---

[1] "The great question is to discover, not what Goverament prescribe but what they ought to prescribe." —Lord Acton

[2] "If a thing is morally wrong it can never be politically right." —Foy

आयरलैण्ड तथा भारतीय संविधान के 'नीति निर्देशक तत्व इसके सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसी प्रकार भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री नेहरू द्वारा 'पंचशील' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन नैतिक आदर्शों द्वारा अन्तरराष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने का एक प्रयत्न है।

राजनीतिशास्त्र की नीतिशास्त्र को देन—राजनीतिशास्त्र ने भी नीतिशास्त्र को निम्न रूपों मे प्रभावित किया है

(क) राज्य द्वारा नैतिक जीवन को सम्भव बनाना—नीतिशास्त्र मनुष्यों को सद् आचरण की शिक्षा देता है, लेकिन समाज के सभी मनुष्यों पर इन शिक्षाओं का वांछित प्रभाव नही पडता। राजनीतिशास्त्र उस व्यावहारिक वातावरण और परिस्थितियों को जन्म देने का प्रयत्न करता है जिसमे कि समाज के सभी मनुष्य नैतिक जीवन व्यतीत कर सकें। राज्य शान्ति-व्यवस्था और सुरक्षा की स्थापना करता है और समाज विरोधी व्यक्तियों के अनाचार से सामाजिक व्यक्तियों के हितों की रक्षा करता है। यदि राज्य इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न न करे, तो नैतिक जीवन बिताना असम्भव ही हो जाय। इस प्रकार राजनीतिशास्त्र और उसकी प्रमुख संस्था राज्य नीतिशास्त्र के लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायक होते हैं। क्रोशे का मत है कि "नैतिकता अपनी पूर्णता और उच्चतम स्पष्टता राजनीति मे ही पाती है।"

(ख) राज्य द्वारा वास्तविक नैतिक मूल्यों की स्थापना—राज्य आदर्शों के साथ साथ यथार्थ को दृष्टि में रखते हुए वास्तविक नैतिक मूल्यों की स्थापना करता है। राज्य के कानून नैतिकता को परिमार्जित करते हैं और नैतिक आदर्शों को क्रियात्मक रूप प्रदान करना राज्य के कानून का ही काम है। भारत सरकार ने मद्यपान, सती प्रथा, बाल विवाह तथा दहेज प्रथा को कानून द्वारा रोकने का प्रयास किया है और इसमे आंशिक सफलता भी प्राप्त हुई है।

वस्तुत राजनीति और नीति परस्पर घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित हैं और आइवर ब्राउन ने कहा है कि "राजनीति नैतिकता का ही विकसित रूप है। राजनीतिक सिद्धान्तों के अभाव मे नैतिक सिद्धान्तवाद अपूर्ण रह जाता है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज के बिना नहीं रह सकता। नैतिक सिद्धान्तों के अभाव मे राजनीतिक सिद्धान्त निरर्थक रह जाते हैं क्योंकि उनका अध्ययन और उनके परिणाम मूलत हमारे नैतिक मूल्यों की व्यवस्था पर, हमारी सही और गलत की धारणाओं पर निर्भर करते हैं।

हमारे देश में तो नीति और राजनीति सदैव से ही घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित रहे हैं और इन दोनो के समन्वय की दिशा मे वर्तमान समय में महात्मा गांधी ने बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण योग दिया है। महात्मा गांधी की महानता इसी बात में है कि उन्होंने राजनीति का नीति से समन्वय कर राजनीति का आध्यात्मीकरण किया।

अन्तर—राजनीति विज्ञान और नीतिशास्त्र परस्पर घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित होते हुए भी इनमें क्षेत्र और अध्ययन वस्तु का भेद है। राजनीति विज्ञान की अपेक्षा

नीतिशास्त्र का क्षेत्र पर्याप्त रूप से व्यापक है। नीतिशास्त्र समस्त मानवीय आचरण का अध्ययन करता है, राजनीति विज्ञान केवल राजनीतिक कार्य और आचरण का ही अध्ययन करता है।

अध्ययन वस्तु की दृष्टि से—राजनीति विज्ञान राजनीतिक क्षेत्र से सम्बन्धित है लेकिन नीतिशास्त्र आचरण से सम्बन्धित है। राजनीति विज्ञान प्रमुख रूप से यथार्थात्मक एवं व्यावहारिक विज्ञान है, नीतिशास्त्र प्रमुख रूप से आदर्शात्मक एवं सैद्धान्तिक है।

राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान

मानव शरीर का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग मस्तिष्क है और मानसिक जीवन से अलग मानवीय जीवन वस्तुतः कुछ नहीं है। मनोविज्ञान जीवन के इसी महत्वपूर्ण अंग का अध्ययन करता है। इसमें विचार, भावनाएँ, स्मृतियाँ, प्रवृत्तियाँ, कल्पनाएँ, आवेग आदि ये सब बातें सम्मिलित हैं जिनके आधार पर व्यक्ति क्रियाशील होता है। स्काउट के शब्दों में, "मनोविज्ञान मनुष्य की उन आन्तरिक शक्तियों का अध्ययन करता है जो मनुष्य को अपने जीवन में अनुभव करने, विचार करने तथा इच्छा करने की सामर्थ्य प्रदान करती हैं।"

मनोविज्ञान की राजनीति विज्ञान को देन—मनोविज्ञान ने राजनीति विज्ञान को निम्न रूपों में प्रभावित किया है

(क) राजनीति की मनोविज्ञान पर निर्भरता—व्यक्तियों से ही राज्य का निर्माण होता है और व्यक्तियों के राजनीतिक कार्य उनकी मानसिक गतिविधियों से ही प्रेरित होते हैं। जेम्स ब्राइस के शब्दों में, "राजनीति की जड़ें मनोविज्ञान में ही निहित हैं।"[1]

राजनीति की मनोविज्ञान पर निर्भरता का प्रमाण यह है कि व्यवहार के अन्तर्गत राजनीतिक क्षेत्र में केवल वे ही व्यक्ति सफलता प्राप्त कर सके हैं, जिन्होंने अपने देशवासियों के मन, मस्तिष्क को भली भाँति समझ लिया था। टर्की में मुस्तफा कमालपाशा, भारत में महात्मा गाँधी, अफगानिस्तान में अब्दुल्ला खाँ और जर्मनी में हिटलर ऐसे व्यक्तियों के प्रमुख उदाहरण हैं। 1969 में कांग्रेस के विभाजन के बाद अपने विरोधियों की तुलना में श्रीमती गाँधी की सफलता का एक प्रमुख कारण यह था कि श्रीमती गाँधी ने भारतीय जनता की मनोस्थिति को अधिक अच्छे रूप से समझा।

हमें मानवीय व्यवहार को भली प्रकार समझने के लिए तर्क और विवेक के स्थान पर आदत, प्रवृत्ति, अनुकरण और संकेत, आदि के महत्व को जानना आवश्यक है। निर्वाचन के समय विभिन्न दल जनमत और मतदाताओं को अपने पक्ष में करने के

1 "Politics has its root in Psychology"
—Lord Bryce, *Modern Developments*, Vol I, p. 7.

लिए चुनाव चिन्हो, नारो व झण्डो आदि का जो प्रयोग करते हैं वह राजनीति मे मनोवैज्ञानिक तत्वो के महत्व का ही परिचायक है।

वर्तमान समय के राजनीतिक जीवन की एक महत्वपूर्ण शक्ति राष्ट्रीयता है जो पूर्णतया एक मनोवैज्ञानिक धारणा ही है। राष्ट्रीयता के निर्माण में भावनाओ और सवेगो का बडा हाथ होता है। इसी कारण आज हमारे नेताओ द्वारा 'भारत के भावात्मक एकीकरण (Emotional Integration of India) पर बल दिया जा रहा है।

(ख) क्रान्ति से सुरक्षा के लिए मनोवैज्ञानिक ज्ञान आवश्यक—यदि राजनीतिज्ञ मनोविज्ञान का यथोचित रूप से प्रयोग करें तो वे क्रान्तियो जैसी अनेक विपत्तियो से स्वय को सुरक्षित रख सकते हैं। यदि फ्रास के बोअर बोन शासक लुई 14वें को मनोविज्ञान का थोडा-सा भी ज्ञान होता, तो फास की राज्य क्रान्ति जैसा भयानक विप्लव नही हो सकता था। विभिन्न राजनीतिक सस्थाओ की सफलता व्यक्तियो के स्वभाव पर निर्भर करती है। बेजहॉट ने ग्रेट ब्रिटेन के शासन की सफलता का आधार उसका ब्रिटिश निवासियो के स्वभाव के अनुकूल होना ही बताया है। इस सम्बन्ध मे डॉ गार्नर ठीक कहते हैं कि "सरकार को स्थिर और यथार्थ मे लोकप्रिय होने के लिए अपने अधीन व्यक्तियों के मानसिक विचारो और नैतिक भावों को अभिव्यक्त तथा प्रतिबिम्बित करना चाहिए। सक्षेप मे ली बॉन के कथनानुसार सरकार को जाति की मानसिक प्रकृति के लिए अनुरूप होना चाहिए।"

(ग) राजनीतिक क्षेत्र मे मनोवैज्ञानिक पद्धति का बढ़ता हुआ उपयोग—वर्तमान समय मे राजनीति विज्ञान पर मनोविज्ञान का प्रभाव और अधिक बढ गया है। आधुनिक राजनीतिक विचारकों मे राजनीतिक घटनाचक्र को मनोवैज्ञानिक ढग से वर्णित करने की गहरी प्रवृत्ति दिखायी पडती है। विचारको का एक वर्ग, जिसमे बेजहॉट (Bagehot), ग्राहम वालस (Graham Wallas), मैकडूगल (McDougall), एमिल टार्डे (Emile Tarde), दुर्खिम (Durkheim), ली बॉन (Le Bon), आदि के नाम लिये जा सकते हैं, का विचार है कि राजनीति को मन के सापेक्ष मे ही समझा जाना चाहिए और इन विचारको द्वारा राजनीतिक समस्याओ के मनोवैज्ञानिक हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। बार्कर कहते हैं *"मानवीय क्रियाओ की उलझनो को सुलझाने के लिए मनोवैज्ञानिक कुंजी का प्रयोग* आज के दिन का चलन बन गया है। यदि हमारे पूर्वज प्राणिवैज्ञानिक दृष्टि से सोचते थे तो हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से।"[1]

इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि राजनीति विज्ञान जन मनोविज्ञान से ही घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित है, व्यक्तिगत मनोविज्ञान से नही।

---

1 "The application of psychological clues to the riddles of human activity has indeed become the fashion of the day If our forefathers thought biologically, we think psychologically." —*E Barker*

राजनीति विज्ञान की मनोविज्ञान को देन—यदि एक ओर राजनीति विज्ञान मनोविज्ञान पर निर्भर है तो दूसरी ओर वह मनोविज्ञान को निम्न रूपों में प्रभावित भी करता है

(क) मनोविज्ञान को सामग्री प्रदान करना—राजनीति विज्ञान मनोविज्ञान को सामग्री प्रदान करता है। राजनीतिक तथ्यों का मानसिक अवस्थाओं के प्रसग मे विश्लेषण करता है। राजनीति विज्ञान से प्राप्त सामग्री मनोविज्ञान के लिए पर्याप्त रुचिकर है और इससे मनोविज्ञान समृद्धि को प्राप्त करता है।

(ख) राजनीति मन मनोविज्ञान को प्रभावित करती है—एक देश मे शासन व्यवस्था का जो रूप और सरकार का जो संगठन होता है, उसका व्यक्तियों के सोचने, विचारने और व्यवहार के ढग पर प्रभाव पड़ता है। राजतन्त्र और प्रजातन्त्र के अन्तर्गत रहने वाले व्यक्तियो के सोचने के ढग मे आवश्यक रूप से अन्तर होता है। अत राजनीतिक सस्थाओ के ज्ञान के अभाव मे मनोविज्ञान का अध्ययन अधूरा ही रह जाता है।

निष्कर्षत राजनीति विज्ञान तथा मनोविज्ञान मे अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अन्तर—ये दोनो शास्त्र एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हुए भी इनमे अध्ययन क्षेत्र और प्रकृति की दृष्टि से भेद है। मनोविज्ञान समस्त मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है चाहे उनका सम्बन्ध आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक किसी भी क्षेत्र से हो। किन्तु राजनीति विज्ञान मनुष्यों की विशेषतया केवल राजनीतिक क्रियाओं का ही अध्ययन करता है। प्रकृति की दृष्टि से मनोविज्ञान मानव व्यवहार और स्वभाव की यथार्थ स्थिति से ही सम्बन्ध रखता है, मूल्यों एव आदर्शों से नहीं। राजनीति विज्ञान यथार्थ स्थिति के साथ साथ आदर्श का भी विवेचन करता है।

इस प्रकार राजनीतिक ज्ञान प्राप्त करने में मनोविज्ञान ने पर्याप्त सहायता प्रदान की है, लेकिन इसके साथ ही राजनीति मे मनोवैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग की सीमाएँ है।

प्रश्न

1 राजनीति विज्ञान का समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास और मनोविज्ञान के साथ सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
2 राजनीतिशास्त्र उन समस्त शास्त्रो से सम्बन्धित है, जो सगठित समाज मे मनुष्यों से सम्बन्ध रखते हैं।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
3 "राजनीति यदि इतिहास द्वारा उदार न बनायी जाय तो वह अशिष्ट हो जाती है और यदि इतिहास राजनीति से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले, तो वह कोरा साहित्य रह जाता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4 "आर्थिक जीवन का निर्माण राजनीतिक सस्थाओं और विचारों से होता है, राजनीतिक आन्दोलनों पर आर्थिक कारणों का गहरा प्रभाव पड़ता है।" इस कथन के प्रसग में राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र का सम्बन्ध बताइए।

3

राजनीति विज्ञान के अध्ययन के उपागम

[APPROACHES TO THE STUDY OF POLITICAL SCIENCE]

"जीव विज्ञान के लिए जो महत्व सूक्ष्मदर्शी यन्त्र (Microscope) का है और ज्योतिष विज्ञान के लिए जो उपयोग और महत्व दूर दर्शक यन्त्र (Telescope) का है, वही उपयोग और महत्व सामाजिक विज्ञानों के लिए वैज्ञानिक पद्धति का है।"[1] —एलवुड

राजनीति विज्ञान के अध्ययन में ऐतिहासिक और वर्तमान जीवन के तथ्यो एवं आदर्शी चिन्तन, दोनो को ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान के अध्ययन उपागमो को प्रमुखतया दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है :

(1) आगमनात्मक उपागम (Inductive Approach)

(2) निगमनात्मक या आदर्शी उपागम (Deductive or Normative Approach)

आगमनात्मक उपागम के अन्तर्गत कतिपय ऐसे तथ्यो से अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है जिनका स्वरूप या तो ऐतिहासिक होता है अथवा जो प्रयोग, तुलना या निरीक्षण के परिणाम होते हैं और इन तथ्यो के आधार पर परिणाम निकाले जाते हैं। इस उपागम को अपनाते हुए हम विशिष्ट तथ्यो से सामान्य सिद्धान्त की ओर बढते हैं।

निगमनात्मक उपागम मे किन्ही सामान्य सिद्धान्तो के सत्य होने की कल्पना पहले ही कर ली जाती है और इन सामान्य सिद्धान्तो को विशिष्ट परिस्थितियो मे क्रियान्वित कर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इस उपागम को अपनाते हुए हम सामान्य सिद्धान्त से विशिष्ट तथ्य की ओर बढते हैं।

राजनीति विज्ञान के अध्ययन मे, इस प्रकार के आगमनात्मक और निगमनात्मक, दोनो ही प्रकार के उपागमो का प्रयोग किया जाता है। अध्ययन के प्रारम्भिक

---

1 "What microscope is to Biology, or the telescope to Astronomy; a scientific method is to the Social Sciences" —*Elwood*

काल में निगमनात्मक उपागम का अधिक प्रयोग किया जाता था, लेकिन वैज्ञानिक प्रभाव के कारण वर्तमान समय में आगमनात्मक उपागम का अधिक प्रयोग किया जाता है।

राजनीति विज्ञान के उपागमों या पद्धतियों की व्याख्या करने वाले लेखकों में आगस्ट काम्टे, मिल, ब्लटशली, ब्राइस तथा आधुनिक फ्रांसीसी विद्वान दुसलेंड्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। काम्टे ने राजनीतिक अनुसन्धान की तीन पद्धतियाँ—पर्यवेक्षणात्मक, प्रयोगात्मक तथा तुलनात्मक मानी हैं। मिल ने चार पद्धतियों का उल्लेख किया है—(1) रासायनिक या प्रयोगात्मक, (2) अमूर्त, (3) भौतिक या निष्कर्षात्मक, तथा (4) ऐतिहासिक। मिल ने इनमें से प्रथम दो को त्रुटिपूर्ण और अन्तिम दो को उपयुक्त माना है। लॉर्ड ब्राइस ने पर्यवेक्षणात्मक पद्धति को विशेष महत्व दिया है। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि शासन प्रणालियों और राजनीतिक संस्थाओं के कार्यों का अध्ययन बहुत निकट से ही किया जाना चाहिए। आधुनिक फ्रांसीसी विद्वान दुसलेंड्र ने 6 पद्धतियाँ मानी हैं—(1) समाजशास्त्रीय, (2) तुलनात्मक, (3) सैद्धान्तिक, (4) न्यायिक या वैधिक, (5) सहज बुद्धि, तथा (6) ऐतिहासिक।

इस सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा व्यक्त किये गये विचारों के आधार पर राजनीति विज्ञान के उपागमों या अध्ययन पद्धतियों का उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है

1. आगमनात्मक उपागम
   1. पर्यवेक्षणात्मक उपागम
   2. ऐतिहासिक उपागम
   3. तुलनात्मक उपागम
   4. प्रयोगात्मक उपागम
2. निगमनात्मक या आदर्शी उपागम
   1. दार्शनिक उपागम
3. अन्य पद्धतियाँ या उपागम
   1. सादृश्य पद्धति
   2. न्यायशास्त्रीय या वैधानिक पद्धति
   3. सांख्यिकीय पद्धति
   4. जीवशास्त्रीय या वैज्ञानिक पद्धति
   5. समाजशास्त्रीय पद्धति
   6. मनोवैज्ञानिक पद्धति
   7. आनुभविक वैज्ञानिक पद्धति

राजनीति विज्ञान में इन अन्य पद्धतियों या उपागमों का प्रयोग सीमित रूप में ही किया जाता है, लेकिन द्वितीय महायुद्ध के बाद राजनीति विज्ञान और अन्य समाज विज्ञानों के अध्ययन में जो विकास हुआ, राजनीति विज्ञान को वैज्ञानिक स्थिति प्रदान करने का जो प्रयास किया गया, उसने व्यवहारवाद के रूप में एक नवीन उपागम को जन्म दिया है।

आगमनात्मक उपागम
(INDUCTIVE APPROACH)

पर्यवेक्षणात्मक उपागम (Observation Approach)

इस उपागम के अन्तर्गत मानवीय इन्द्रियो की सहायता से सम्बन्धित तथ्यो का निकटता से अध्ययन किया जाता है। इस उपागम का सर्वाधिक प्रयोग तो प्राकृतिक विज्ञानो मे ही किया जाता है लेकिन वास्तविकता पर आधारित होने के कारण वर्तमान समय मे राजनीति विज्ञान मे भी इस उपागम का अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा है। प्रेसीडेण्ट लॉवेल ने राजनीति विज्ञान म इस उपागम की उपयोगिता बतात्ते हुए कहा है कि 'राजनीति पर्यवेक्षणात्मक विज्ञान है प्रयोगात्मक नहीं। राजनीतिक सस्थाओ की वास्तविक कार्यविधि की प्रयोगशाला पुस्तकालय नहीं वरन् राजनीतिक जीवन सम्बन्धी बाहरी विश्व है।'[1]

इस उपागम का जेम्स ब्राइस ने अधिक प्रयोग किया है और उन्होंने अपने महान ग्रन्थ 'अमरीकन सघ' (American Commonwealth) और 'आधुनिक प्रजातन्त्र' (Modern Democracies) की रचना प्रमुख रूप मे इसी पद्धति के आधार पर की है। माण्टेस्क्यू ने भी अपनी पुस्तक 'Spirit of Laws' की रचना इसी पद्धति के आधार पर की। वेब दम्पत्ति (सिडनी और वेट्रिक वेब) ने रूस का भ्रमण किया और रूसी राजनीति, प्रशासन एव आर्थिक सगठन का प्रत्यक्ष रूप मे देखकर 'Soviet Communism' की रचना की। इसी प्रकार जॉन गन्थर ने एशिया, अफ्रीका और यूरोप के विभिन्न देशो का भ्रमण कर Inside Asia', 'Inside Africa', 'Inside Europe आदि पुस्तको के रूप मे अपने पर्यवेक्षणात्मक अनुभवो को लेखबद्ध किया। इस प्रकार राजनीति विज्ञान मे इस पद्धति का व्यापक प्रयोग किया गया है।

इस पद्धति का विशेष गुण यह है कि स्वय के पर्यवेक्षण और चिन्तन पर निर्भर होने के कारण यह सत्य की प्राप्ति के सर्वप्रमुख साधन के रूप मे कार्य करती है। इस उपागम के आधार पर किये जाने वाले अध्ययन का वास्तविकता से सीधा सम्बन्ध होता है और इसके ऊपर भावशून्य या सिद्धान्तवादी होने का आरोप नही लगाया जा सकता है।

सीमाएँ—अपनी समस्त उपयोगिता के बावजूद इस पद्धति को बहुत अधिक सीमित क्षेत्र मे ही अपनाया जा सकता है। प्रथमत विभिन्न देशो म स्वय जाकर अध्ययन करने के अवसर सभी राजनीतिक अध्ययनकर्ताओ को नही, वरन् विशेष साधन सम्पन्न व्यक्तियों को ही प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार यह सर्वसुलभ पद्धति नही है। द्वितीयत इस पद्धति की उपयोगिता इस तथ्य से सीमित हो जाती है कि

---

1 "Politics is an observational and not an experimental science—The main laboratory for the actual working of political institution is not a library but the outside world of politics" —Lowell, *Philosophy of Politics* p 8

इसके आधार पर किसी संस्था के भूत या भविष्य का ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता, तब तक कि अन्य पद्धतियों का भी साथ-साथ प्रयोग न किया जाय।

सावधानियाँ—इस पद्धति को अपनाते समय निम्नलिखित बातों को आवश्यक रूप से दृष्टि में रखा जाना चाहिए

(1) अध्ययनकर्ता को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसका अध्ययन वास्तविक तथ्यों और घटनाओं पर आधारित हो, सामान्य अनुमानों पर नहीं।

(2) अध्ययनकर्ता का दृष्टिकोण पक्षपातरहित तथा उदार होना चाहिए तथा उसे अपने व्यक्तित्व को अवलोकन से अलग रखकर निष्पक्षतापूर्वक निष्कर्ष निकालने चाहिए। अपनी रुचि की चीजें देख लेने और अपनी रुचि के विपरीत चीजों की ओर से आँखें बन्द कर लेने की आशंका सदैव ही रही है।

(3) अवलोकन एकांगी तथा क्षणिक नहीं होना चाहिए। जीवन के अन्तर्गत क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र चलता रहता है और इस सम्पूर्ण चक्र को ध्यान में रखकर ही अध्ययन किया जाना चाहिए। पहले सभी सम्बन्धित और जरूरी तथ्यों को इकट्ठा कर लिया जाना चाहिए और इसके उपरान्त पैनी तथा सूझ-बूझपूर्ण दृष्टि के आधार पर इनकी व्याख्या की जानी चाहिए।

2 ऐतिहासिक उपागम (*Historical Approach*)

राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण नहीं किया जाता वरन् वे विकास का परिणाम होती हैं। अत प्रत्येक राजनीतिक संस्था का एक अतीत होता है और उसके अतीत से परिचित होकर ही उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है इसलिए राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के लिए ऐतिहासिक पद्धति का बहुत अधिक महत्व है। इस सम्बन्ध में गिलक्राइस्ट ने लिखा है, "इतिहास न केवल संस्थाओं की व्याख्या करता है, वरन् यह भविष्य के पथ प्रदर्शन हेतु निष्कर्ष प्राप्त करने में भी सहायक होता है। यह वह धुरी है जिसके चारों ओर राजनीति विज्ञान की आगमनात्मक और निगमनात्मक दोनों ही प्रक्रियाएँ कार्य करती हैं।"

ऐतिहासिक उपागम की इस उपयोगिता के कारण ही अरस्तू के समय से इस उपागम का प्रयोग किया जाता रहा है और लास्की, मैकियावेली, माण्टेस्क्यू, हीगल, कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, काम्टे, हरबर्ट स्पेन्सर और मार्गन सभी ने किसी न किसी रूप में इस उपागम का उपयोग किया है।

यह उपागम हमें अतीत में झाँकने में सहायता प्रदान करता है और अतीत के इस आलोक में हम भविष्य के पथ प्रदर्शन के लिए निष्कर्ष निकाल सकते हैं। लास्की इस अर्थ में कहते हैं कि "सम्पूर्ण राजनीति इतिहास का ही दर्शन है।" यह उपागम हमें बतलाता है कि राजनीतिक घटनाएँ असम्बद्ध रूप से घटित नहीं होतीं, वरन् एक न टूटने वाली शृंखला के रूप में आती हैं। यह महान् राजनीतिक आन्दोलन और विचारों की खोज करता है और पूर्व ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं और विचारों की खोज करती हैं एवं वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं

और विचारो की प्रामाणिकता का परीक्षण करने के योग्य बनाता है। इस सम्बन्ध मे जिमर्न कहते हैं कि "यह भूत का सम्पर्क ही है जो मनुष्यों और समाजों को वर्तमान कार्यों के लिए तैयार करता है। वर्तमान जितना ही भौतिक चिन्ताओं और जटिलताओ के कारण तनावपूर्ण होता जायेगा, उतनी ही भूत से प्रेरणा प्राप्त करने की आवश्यकता बढ़ती जायेगी।

सीमाएँ—किन्तु ऐतिहासिक उपागम की अपनी कुछ सीमाएँ हैं तथा इसी कारण सिजविक, ब्राइस, बार्कर और सीले इस पद्धति को गौण स्थान ही प्रदान करने के पक्ष मे हैं। प्रथमत, उनके अनुसार प्रत्येक समस्या कुछ विशेष तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम होती है और प्रत्येक समस्या का हल उस समय की परिस्थितियो के अनुसार ही निकाला जा सकता है, इसलिए ऐतिहासिक उपागम वर्तमान एव भविष्य की समस्याओ को हल करने मे विशेष सहायक नही हो सकती। द्वितीयत, इतिहास घटनाओ का विवरण मात्र होता है और इसके अन्तर्गत नैतिक मूल्यो या महत्वो पर विचार नहीं किया जाता है लेकिन राजनीति विज्ञान एक आदर्शात्मक विज्ञान है जिसका कार्य राजनीतिक संस्थाओ के नैतिक मूल्यो का परीक्षण करना है। अत इस क्षेत्र मे ऐतिहासिक उपागम की उपयोगिता बहुत अधिक सीमित हो जाती है।

सावधानियाँ—यदि निम्नलिखित सावधानियाँ बरती जायें तो ऐतिहासिक पद्धति का अच्छा प्रयोग हो सकता है

(1) *ऊपरी समानताओ और सादृश्यो* (*superficial resemblances and parallels*) के चक्कर में नही पड़ना चाहिए। सोवियत रूस और चीन की साम्यवादी शक्ति मे ऊपरी समानता के बावजूद मौलिक अन्तर है।

(2) अपने पूर्वकल्पित विचारो का इतिहास द्वारा समर्थन ढूँढने के प्रलोभन से बचना चाहिए। अध्ययनकर्ता का दृष्टिकोण वैज्ञानिक एव निष्पक्ष होना चाहिए।

(3) वर्तमान और भविष्य की प्रत्येक समस्या का हल अतीत के आधार पर ही करने का प्रयत्न नही करना चाहिए। कोई बात पहले किसी एक खास ढग मे हो चुकी है तो इसका तात्पर्य यह नही कि वर्तमान मे भी वह उसी ढग से होगी। इस बात का सदैव ध्यान रखा जाना चाहिए कि "इतिहास की पुनरावृत्ति होती है' (History repeats itself) वाली कहावत अर्द्ध सत्य ही है और इसके अनेक अपवाद होते हैं।

3 तुलनात्मक उपागम (Comparative Approach)

तुलनात्मक उपागम ऐतिहासिक उपागम का पूरक है। इस उपागम के अन्तर्गत अध्ययनकर्ता विभिन्न राज्यो, उनके सगठन, उनकी नीतियों एव कार्यों का तुलनात्मक अध्ययन करता है और इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर सामान्य राजनीतिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जाता है। इस उपागम का प्रयोग सर्वप्रथम राजनीति विज्ञान के जनक अरस्तू ने किया था और वर्तमान समय मे

माण्टेस्क्यू, सर हेनरी मेन, डी टाकविल, ब्राइस आदि विद्वानों ने इस उपागम का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। कहा जाता है कि अरस्तू ने लगभग 158 संविधानों का अध्ययन किया और उनकी तुलना के बाद क्रान्ति के कारणों की विवेचना की तथा सर्वोत्तम विधान के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाले। माण्टेस्क्यू ने फ्रांसीसी संविधान की ब्रिटिश संविधान से तुलना करते हुए अपने 'शक्ति पृथक्करण' के प्रसिद्ध सिद्धान्त की रचना की और ब्राइस ने भी पर्यवेक्षणात्मक उपागम के साथ साथ तुलनात्मक उपागम का प्रयोग करते हुए प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक सामान्य परिस्थितियों का वर्णन किया है। डॉ हरमन फाइनर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आधुनिक सरकारों के सिद्धान्त व व्यवहार' (Theory and Practice of Modern Governments) की रचना इस उपागम के आधार पर की है। भारतीय संविधान के निर्माताओं को इस उपागम से बहुत सहायता मिली थी। उन्होंने विभिन्न देशों की राजनीतिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन कर अपने निष्कर्षों को भारतीय संविधान में संजो दिया। इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान में तुलनात्मक उपागम की उपयोगिता असंदिग्ध है।

सीमाएँ—किन्तु तुलनात्मक उपागम की भी सीमाएँ हैं और कई बार भ्रमवश असमान संस्थाओं के बीच तुलना की जाती है। इसके अतिरिक्त यदि तुलना करते समय सम्बन्धित सामाजिक और आर्थिक वातावरण तथा मानव स्वभाव का ध्यान न रखा जाय, तो तुलना के परिणामस्वरूप भ्रमपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। माण्टेस्क्यू के साथ वस्तुतः ऐसा ही हुआ। उसके द्वारा इंगलैण्ड के नागरिकों की स्वतन्त्रता का कारण शक्ति विभाजन सिद्धान्त बतलाया गया, जबकि वास्तविक स्थिति यह है कि इंगलैण्ड में शक्ति विभाजन सिद्धान्त को कभी भी नहीं अपनाया गया। इन्हीं कारणों से गार्नर इस प्रणाली की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि "तुलनात्मक प्रणाली से व्यावहारिक रूप में गलती होने का भय है, क्योंकि सामान्य नियमों की खोज करने का प्रयत्न करते हुए विभिन्न परिस्थितियों (जैसे लोगों का स्वभाव और प्रतिभा, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ, नैतिक तथा वैधानिक स्तर, राजनीतिक प्रशिक्षण तथा अनुभव आदि) के भेद को भुला देने की भूल की जा सकती है।"[1]

इस पद्धति का सफलतापूर्वक प्रयोग करने के लिए निम्न बातों का आवश्यक रूप से ध्यान रखा जाना चाहिए

(1) तुलनात्मक पद्धति को अपनाते समय समानताओं के साथ-साथ असमानताओं का भी ध्यान रखा जाना चाहिए और परिणाम निकालने में जल्दबाजी नहीं की जानी चाहिए।

(2) अध्ययनकर्ता को मानव स्वभाव एवं समय विशेष की सामाजिक, आर्थिक

1 Dr Garner *Introduction to Political Science*, p 27.

और राजनीतिक परिस्थितियो का भी ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि किन्ही विशेष सस्थाओ का स्वरूप और सफलता इन पर ही निर्भर करती है।

(3) तुलनात्मक अध्ययन के लिए ऐसे राज्या और सस्थाओं को ही चुना जाना चाहिए, जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि समान रही हो तथा जिनमे अधिक अन्तर न हो।

(4) तुलनात्मक अध्ययन निष्पक्षता एव तटस्थ वैज्ञानिक भावना के आधार पर किया जाना चाहिए।

4 प्रयोगात्मक उपागम (Experimental Approach)

राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय मानव होने के कारण इस विषय म प्रयोगो के लिए वैसा स्थान नहीं है जैसा कि पदार्थ विज्ञानो में होता है लेकिन फिर भी राजनीति विज्ञान मे प्रयोग किये ही जाते हैं और इस विषय के अन्तर्गत किये जाने वाले प्रयोगो की एक विशिष्ट प्रकृति होनी है। इसे लक्ष्य करते हुए गिलक्राइस्ट ने कहा है कि "भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्र मे जो प्रयोग विधि है वह यद्यपि राजनीतिशास्त्र में पूरी तरह लागू नहीं हो सकती किन्तु फिर भी राजनीतिशास्त्र में अपने विशिष्ट प्रकार के प्रयोगों के लिए काफी गुन्जाइश है।"

यदि 'प्रयोग' शब्द को व्यापक अर्थों मे लिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान म निरन्तर रूप से प्रयोग होते रहते हैं। राजनीति वैज्ञानिक के लिए सम्पूर्ण विश्व एक प्रयोगशाला ही है और राजनीतिक क्षेत्र मे दिन-प्रतिदिन जो परिवर्तन होते हैं, वे राजनीति विज्ञान के प्रयोग ही हैं। काम्टे के शब्दा मे, 'राज्य के अन्तर्गत किया गया प्रत्येक परिवर्तन एक प्रयोग ही होता है।" इसी प्रकार गिलक्राइस्ट ने कहा है कि 'शासन के ढाँचे में किया गया कोई भी परिवर्तन, प्रत्येक नया कानून और प्रत्येक युद्ध राजनीति विज्ञान में एक प्रयोग ही होता है।"[1] प्रो मैरियम का तो विचार है कि राज्य के पास अन्य किसी भी सस्था की अपेक्षा प्रयोग के लिए बहुत अधिक सामग्री होती है। सेना विद्यालय, सार्वजनिक सेवाएँ और सार्वजनिक सस्थाओं की एक लम्बी कतार प्रत्यक्ष रूप मे उसके नियन्त्रण मे होती है और उसकी इच्छानुसार प्रयोग क कार्य मे लायी जा सकती है।

राजनीति के क्षेत्र मे किये गये इस प्रकार के प्रयोगो के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। 1919 के 'भारतीय शासन अधिनियम' के अन्तर्गत प्रान्तों मे "द्वैध शासन" की स्थापना की गयी थी, जिसकी असफलता को देखकर 1935 के कानून द्वारा उसका अन्त कर दिया गया। इसी प्रकार अक्टूबर, 1959 मे सर्वप्रथम भारतीय सघ के राजस्थान राज्य मे "लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण" की योजना को अपनाया गया जिसकी सफलता को देखकर भारतीय सघ के अन्य राज्यों द्वारा भी

1 "Every change in the form of Government every new law passed and every war is an experiment in Political Science." —Gilchrist

इसे अपना लिया गया है। फ्रांस में जब संसदीय शासन के परिणामस्वरूप निरन्तर राजनीतिक अस्थिरता रही तो इसमें अध्यक्षात्मक शासन से कुछ तत्व मिलाकर एक प्रयोग किया गया जो बहुत अधिक सीमा तक सफल रहा।

सीमाएँ—राजनीति विज्ञान में प्रयोगात्मक पद्धति को अपनाया तो जाता है लेकिन इस पद्धति को अपनाने की निम्न सीमाएँ हैं

सर्वप्रथम, पदार्थ विज्ञानों में प्रयोगकर्ता का परिस्थितियों पर पूर्ण नियन्त्रण होता है और वह मनचाही परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है लेकिन राजनीति विज्ञान में देशकाल की परिस्थितियों का इच्छानुसार निर्धारण सम्भव नहीं है और प्रयोगकर्ता को पूर्व-निश्चित परिस्थितियों के अन्तर्गत रहते हुए ही कार्य करना होता है।

द्वितीयत, राजनीति विज्ञान में पूर्णतया प्रामाणिक मापन व्यवस्था का भी अभाव है। मानवीय प्रकृति की परिवर्तनशीलता के कारण पूर्णतया प्रामाणिक मापक व्यवस्था को अपनाना सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में लार्ड ब्राइस कहते हैं, "मत, संवेग और अन्य बातें जो राजनीति को प्रभावित करती हैं, मापन करने योग्य नहीं हैं।"

तृतीयत पदार्थ विज्ञानों में प्रयोगों को उस समय तक दोहराया जा सकता है जब तक कि अन्तिम परिणाम न निकल जाय लेकिन राजनीति विज्ञान में प्रयोगों की पुनरावृत्ति सम्भव नहीं है।

सावधानियाँ—प्रयोगात्मक पद्धति को अपनाते समय निम्न बातें अवश्य ही ध्यान में रखी जानी चाहिए

(1) प्रयोगकर्ता के व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा भावना को प्रयोग से अलग रखा जाना चाहिए, अन्यथा बहुत अधिक त्रुटिपूर्ण निष्कर्ष निकाले जाने की आशंका रहती है।

(2) प्रयोगकर्ता द्वारा प्रयोग से सम्बन्धित विशेष परिस्थितियों का पूर्ण ध्यान रखा जाना चाहिए। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के प्रयोग का स्विटजरलैण्ड में सफल होना और अमरीका में असफल होना, प्रयोग की सफलता में परिस्थितियों की प्रभावशीलता का ही प्रमाण है।

निगमनात्मक या आदर्शी उपागम (Deductive or Normative Approach)

उपर्युक्त उपागम आगमनात्मक हैं और उनमें तथ्यों के आधार पर अध्ययन किया जाता है, किन्तु दार्शनिक उपागम निगमनात्मक है और उसके अन्तर्गत तर्क एवं कल्पना का अधिक आश्रय लिया जाता है। उपर्युक्त सभी उपागम विशेष अवस्थाओं के आधार पर अपने-अपने नियमों की प्रतिष्ठा करते हैं परन्तु दार्शनिक उपागम अपने प्रतिष्ठित नियमों के प्रकाश में विशेष अवस्थाओं की व्याख्या करता है। यह उपागम राज्य के सदाण अथवा उद्देश्य के सम्बन्ध में कुछ पूर्व-निश्चित धारणाओं को

लेकर चलता है इसके बाद निश्चित करता है कि उन उद्देश्यों की सिद्धि के लिए किस प्रकार के कानून अधिक उपयुक्त होंगे तथा कैसी संस्थाएँ अधिक उचित होंगी। तत्पश्चात् ही इस आदर्श स्थिति के प्रकाश मे विद्यमान कानून और संस्थाओं का मूल्यांकन किया जाता है।

राजनीतिक चिन्तन मे प्लेटो, थामस मूर, रूसो, मिल, सिजविक, ब्रेडले, बोसाके, आदि के द्वारा इस उपागम को प्रमुख रूप से अपनाया गया है। प्लेटो की 'रिपब्लिक' (Republic) और थामस मूर की 'यूटोपिया' (Utopia) तो इस उपागम के अनुपम उदाहरण हैं। प्लेटो द्वारा दार्शनिक शासन और आदर्श राज्य की कल्पना, मूर के स्वर्गिक राज्य की धारणा, लॉक के प्राकृतिक नियम और प्राकृतिक अधिकार की धारणा और रूसो द्वारा सामान्य इच्छा की धारणा का प्रतिपादन दार्शनिक उपागम के आधार पर ही किया जाता है। इस उपागम का विशेष गुण यह है कि इसके द्वारा राजनीतिक चिन्तन मे आदर्शों का निर्धारण कर राजनीति को नैतिकता के समीप लाने का कार्य किया जाता है। इसके अतिरिक्त क्योंकि इस उपागम में तर्क और विवेक का आश्रय लिया जाता है अत यह पद्धति अध्ययनकर्ता की बुद्धि का पर्याप्त विकास करता है।

दार्शनिक पद्धति की त्रुटि या सीमा—दार्शनिक पद्धति की सबसे बड़ी सीमा या इसकी सबसे गम्भीर त्रुटि यह है कि अनेक बार विचारक इस पद्धति को अपनाकर कल्पना की उडान भरते हुए वास्तविकता से सम्बन्ध तोड लेते हैं और इसी कारण उनके द्वारा प्रतिपादित विचार व्यावहारिक राजनीति से बहुत दूर होते हैं। उदाहरणार्थ, प्लेटो के ग्रन्थ 'रिपब्लिक' (Republic) और मूर की 'यूटोपिया' (Utopia) मे ऐसे आदर्श राज्यो का चित्रण किया गया है जिनका इतिहास और मानव स्वभाव के तथ्यो से तनिक भी सम्बन्ध नही है। इस प्रकार की आदर्शवादिता और दार्शनिकता के परिणाम उपयोगी नही होते और इसलिए ब्लटशली कहता है कि 'यह पद्धति कोरी सैद्धान्तिक है जिसका तथ्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।" सीले और जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी इसी आधार पर इस पद्धति को अशुद्ध और त्याज्य माना है।

सावधानी—उपर्युक्त त्रुटि के बावजूद दार्शनिक पद्धति को सीमित रूप मे अपनाना लगभग अनिवार्य ही है। यह सत्य है कि हमारा मुख्य आदर्श—आदर्श राज्य की प्राप्ति है, किन्तु ऐसा करने समय हमे यथासम्भव 'क्या होना चाहिए' या 'क्या हो सकता है' के साथ समन्वय रखना चाहिए। बीसवीं सदी के लेखकों विट्गैन्सटीन (Wittgenstein), अयेर (Ayer) और राइल (Ryle) ने ठीक रूप से विचार व्यक्त किया है कि यह उपागम उपयोगी हो सकता है, यदि हम केवल आदर्शों मे ही उलझकर न रह जायें।

7 वैधानिक प्रणाली (Juridical Method)

विश्लेषणवादी न्यायविदो (विलोबी, डिग्विट लेबाण्ड, जेल्लाण्डर्स, काम्बो-

बेकर आदि) के द्वारा राजनीतिक अध्ययन में वैधानिक प्रणाली को अपनाने पर जोर दिया गया है। यह प्रणाली राज्य को एक वैधानिक इकाई (निगम या व्यक्ति) मानती है, जिसका कार्य कानून बनाना और उन्हें लागू करना है। इस प्रणाली के अनुसार राज्य वैधानिक अधिकारों और कर्तव्यों का समूह है। परन्तु इस प्रणाली में यह दोष है कि इसके द्वारा इन सामाजिक शक्तियों को भुला दिया जाता है जो संविधान, कानून तथा मानवीय सम्बन्धों के आधार रूप में कार्य करती हैं।

8 सांख्यिकीय पद्धति (Statistical Method)

सांख्यिकीय या आँकड़े सम्बन्धी पद्धति भी राजनीति विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होती है। मतदान, जनसंख्या, राष्ट्रीय आय, बहुसंख्यक और अल्प-संख्यक वर्ग की शक्ति, जनमत, प्रचार आदि विषयों का इस पद्धति के आधार पर बहुत अधिक श्रेष्ठ ढंग से अध्ययन किया जा सकता है। इस पद्धति के अन्तर्गत किसी विषय विशेष के सम्बन्ध में आँकड़े तैयार किये जाते हैं और विभिन्न परिस्थितियों के सन्दर्भ में इन आँकड़ों के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

राजनीति विज्ञान में सांख्यिकीय पद्धति का प्रयोग एक नितान्त स्वतन्त्र पद्धति के रूप में नहीं, वरन् ऐतिहासिक, तुलनात्मक या दार्शनिक पद्धति के सहायक रूप में ही किया जा सकता है। आँकड़े तभी सहायक सिद्ध हो सकते हैं जबकि उनके साथ विवेक और तर्क का सही रूप में प्रयोग किया जाय।

9 जीवशास्त्रीय उपागम (Biological Method)

इस पद्धति के समर्थक राज्य को एक सावयव मानते हैं और राज्य के संगठन तथा विकास के साथ एक प्राणिवैज्ञानिक इकाई की समानता स्थापित करते हैं। इस पद्धति को प्रमुख रूप से हरबर्ट स्पेन्सर, ब्लन्शली, शैफल, डरविन और गमप्लाविज के द्वारा अपनाया गया है।

इस पद्धति की मुख्य त्रुटि यह है कि इस पद्धति के अन्तर्गत अपनायी जाने वाली मनोरंजक सदृश्यताएँ हमें किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचातीं। वस्तुतः प्राणिवैज्ञानिक तुलना वास्तविक होने की अपेक्षा सतही ही हो सकती है और इससे भ्रमपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

10 समाजशास्त्रीय उपागम (Sociological Method)

समाजशास्त्रीय उपागम के अन्तर्गत राज्य को एक सामाजिक इकाई माना जाता है जिसमें समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों जैसे गुण होते हैं। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के जीवन की तरह राज्य के जीवन का भी विकास के नियमों के आधार पर अध्ययन किया जाता है। यह वास्तव में एक स्वतन्त्र पद्धति नहीं वरन् एक दृष्टिकोण मात्र है और इसमें भी प्राणिवैज्ञानिक उपागम के दोष निहित हैं।

11. मनोवैज्ञानिक उपागम (Psychological Method)

इस पद्धति के अन्तर्गत व्यक्तिगत स्वभाव और सामूहिक स्वभाव की प्रवृत्तियों

view Method), सोशियोमेट्री (Sociometry), जनमत मतदान (Public Opinion Poll) और अंकशास्त्रीय प्रणाली (The Statistical Method) आदि।

यद्यपि राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धति को अधिकाधिक सीमा तक अपनाने की निरन्तर चेष्टाएँ की जा रही हैं, लेकिन इस विषय में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किये जाने की सीमाएँ और इस सम्बन्ध में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। व्यवहारवाद और राजनीतिशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति के एक प्रवक्ता डेविड ईस्टन ने अपने उत्तर व्यवहारवादी लेखन में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग की सीमाओं को स्वीकार किया है।

इन कठिनाइयों के बावजूद राजनीति विज्ञान को अधिकाधिक वैज्ञानिक रूप प्रदान करने के प्रयास किये गये हैं और इन प्रयासों के परिणामस्वरूप अनेक सिद्धान्त सामने आये हैं यथा अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त, निर्णय प्रक्रिया से सम्बन्धित सिद्धान्त, मतदाताओं के व्यवहार से सम्बन्धित सिद्धान्त और संयुक्त सरकार बनाने से सम्बन्धित सिद्धान्त आदि। इसके अतिरिक्त इन सिद्धान्तों की रचना करते समय 'मॉडलों' (Models) का भी प्रयोग किया जाता है।

वस्तुस्थिति यह है कि राजनीति विज्ञान के सिद्धान्तों में वैज्ञानिकता अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। इसे प्राप्त करने के लिए अनेक प्रयास करने होंगे।

निष्कर्ष : उत्तम पद्धति

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए उपर्युक्त सभी उपागम उपयोगी हैं। यह समझना नितान्त गलत होगा कि इन उपागमों में कोई पारस्परिक विरोध है। वास्तव में ये परस्पर विरोधी होने के स्थान पर एक दूसरे के पूरक हैं और वे एक-दूसरे की भूलों को सुधारने तथा कमियों को दूर करते हैं। ये सभी उपागम अन्योन्याश्रित हैं और इन उपागमों का उसी समय सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है जबकि इन उपागमों का प्रयोग साथ साथ किया जाय। सिद्धान्तों को जीवन के यथार्थ तथ्यों की कसौटी पर कसना आवश्यक है और जीवन के तथ्यों का सही मूल्यांकन सिद्धान्तों के प्रकाश में ही सम्भव है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए यथार्थ तथा आदर्श का मधुर सम्मिश्रण आवश्यक है। प्रो गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि "सच्चे इतिहासवेत्ता को दर्शनशास्त्र का महत्व समझना चाहिए और एक सच्चे तत्ववेत्ता को इतिहास से परामर्श लेना चाहिए। इतिहास के प्रयोग तथा घटनाओं को आदर्शों के प्रकाश से चमत्कृत किया जाना चाहिए। इसलिए सबसे उत्तम पद्धति में ऐतिहासिक तथा दार्शनिक विधियों का सम्मिश्रण होना आवश्यक है।"[1]

---

[1] "The genuine historian must recognize the value of philosophy and the true philosopher must equally take the course of history. The experience and phenomena of history must be illuminated with the light of ideas. The best method thus arises out the blending of the philosophical and historical methods." —Gilchrist, *Political Science*, p. 14.

4

व्यवहारवादी उपागम या व्यवहारवाद
[BEHAVIOURAL APPROACH OR BEHAVIOURALISM]

> "व्यवहारवाद का प्रयोग अनिवार्यतः, मूल्य सम्बन्धी नीतियों के सन्दर्भ में ही किया जा सकेगा, जिसका समर्थन केवल व्यवहारवादी तकनीकों के द्वारा सम्भव नहीं है।"[1] —मलफोर्ड जी सिबली

व्यवहारवादी उपागम या व्यवहारवाद
(BEHAVIOURAL APPROACH OR BEHAVIOURALISM)

व्यवहारवाद या व्यवहारवादी उपागम राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या और विश्लेषण का एक विशेष तरीका है, जिसे द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीकी राजवैज्ञानिकों द्वारा विकसित किया गया यद्यपि इसकी जड़ें प्रथम महायुद्ध के भी पूर्व ग्राहम वालस और बेंटले आदि की रचनाओं मे देखी जा सकती हैं। यह उपागम राजविज्ञान के सन्दर्भ में मुख्यतया अपना ध्यान राजनीतिक व्यवहार पर केन्द्रित करता है और इस बात का प्रतिपादन करता है कि राजनीतिक गतिविधियों का वैज्ञानिक अध्ययन व्यक्तियों के राजनीतिक व्यवहार के आधार पर ही किया जा सकता है। व्यवहारवाद अनुभवात्मक (Empirical) और क्रियात्मक है तथा इसमें व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों और कल्पनाओं आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। व्यवहारवाद इस दृष्टि से परम्परावादियों के नितान्त विरुद्ध है कि यह राजविज्ञान को राज्य की कानूनी एवं दार्शनिक सीमाओं में बाँधने के लिए तैयार नहीं है। व्यवहारवाद के अनुसार राज्य के बाहर भी सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र की जो संस्थाएँ और समस्याएँ और इन सबको प्रेरित करने वाला जो मानसिक व्यवहार है उसका अत्यधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है। राबर्ट ए डहल (Robert A Dhal) के

---

[1] "Behaviouralism will inevitably be used within a framework of value judgments, which cannot be supported through behavioural techniques alone"—Mulford Q Sibley in *Limitations of Behaviouralism* in James C. Charlesworth (ed) *Contemporary Political Analysis*, p 34.

अनुमार, 'व्यवहारवादी क्रान्ति परम्परागत राजनीतिक विज्ञान की उपलब्धियों के प्रति असन्तोष का परिणाम है, जिसका उद्देश्य राजनीति विज्ञान को अधिक वैज्ञानिक बनाना है।"

व्यवहारवाद का विकास—व्यवहारवाद का ऐतिहासिक विकास सयुक्त राज्य मे राजविज्ञान के यथार्थवादी एव अनुभववादी अध्ययनो के साथ जुडा हुआ है। इसका प्रारम्भ 1908 मे ग्राहम वालस की 'Human Nature in Politics' और ए. एफ बेन्टले की 'The Process of Government' पुस्तको से हुआ। वालस ने राजनीति क अध्ययनकर्ताओ द्वारा सस्थाओ का विश्लेषण करने और मानव का विश्लेषण करने मे बचने की प्रवृत्ति के प्रति असन्तोष व्यक्त किया। स्पष्टतया ही यह अनुभववादी या व्यवहारवादी अध्ययन को अपनाने के लिए एक आग्रह था। इसके बाद 1925 मे प्रकाशित चार्ल्स मेरियम की रचना 'New Aspects of Politics' को व्यवहारवाद की दिशा मे एक महत्वपूर्ण चरण कहा जा सकता है। अमरीका मे, मेरियम की प्रेरणा से यथार्थवादी एव परिमाणात्मक अध्ययन किये गये और सुप्रसिद्ध 'शिकागो सम्प्रदाय' व्यवहारवाद का प्रमुख गढ बन गया। नव स्थापित 'पालिटीकल साइन्स एसोशियेशन' और सोशल साइन्स रिसर्च कौंसिल, तथा 'फोर्ड' कारनेगी और रॉकफेलर जैसे निजी सस्थाओ से इसे सहायता तथा शक्ति मिली, जिससे व्यवहारवादी दृष्टिकोण सर्वव्यापक हो गया।

अब अमरीका मे व्यवहारवाद एक बौद्धिक प्रवृत्ति के रूप मे एक प्रभावशाली आन्दोलन का रूप धारण कर चुका है। इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक शोध पत्र प्रकाशित होते हैं जैसे 'Public Opinion, Quarterly World Politics, American Behavioural Science और Behaviour Science' आदि। वहाँ की 'समाज विज्ञान शोध समिति' (Social Science Research Council) ने 'राजनीतिक व्यवहार' तथा 'तुलनात्मक राजनीति' पर दो समितियो का गठन किया है। इसे अब सभी प्रमुख राजवैज्ञानिक डेविड ईस्टन, लासवेल, आमण्ड कोलमैन हींज यूलाउ, डॉयस, एडवर्ड शील्स, पोवेल आदि अपना चुके हैं।

व्यवहारवाद का स्वरूप और व्याख्या

व्यवहारवाद आज बहुत अधिक प्रचलित और व्यापक हो गया है, किन्तु इसके अर्थ के सम्बन्ध मे सभी का दृष्टिकोण समान नहीं है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह केवल एक 'मनोदशा' (mood) या मनोवृत्ति है, तो कुछ विचारको की दृष्टि मे इसके अपने निश्चित विचार, सिद्धान्त और कार्यविधियाँ है। द्वितीय महायुद्ध और 1960 के बीच व्यवहारवाद एक साथ ही एक उपागम और एक चुनौती, एक अभिनवीकरण और एक सुधार आन्दोलन, एक विशेष प्रकार का अनुसन्धान और एक जमघट जमाने वालो की पुकार के रूप मे माना जाता रहा है। लेकिन व्यवहारवाद ने अनिश्चितता की स्थिति को पार कर लिया है और अब इसके अर्थ पर्याप्त निश्चित हो गये हैं। किर्क पैट्रिक (Kirk Patrick) ने व्यवहारवाद के स्वरूप का

स्पष्टता और विशदता के साथ विवेचन किया है, इसके अनुसार व्यवहारवाद की निम्न चार विशेषताएँ हैं

(1) यह इस बात पर बल देता है कि राजनीतिक अध्ययन और शोध कार्य में विश्लेषण की मौलिक इकाई संस्थाएँ न होकर व्यक्ति होना चाहिए। (2) यह सामाजिक विज्ञानों को व्यवहारवादी विज्ञान के रूप में देखता है और राजनीति विज्ञान की अन्य सामाजिक विज्ञान के साथ एकता पर बल देता है। (3) यह तथ्यों के पर्यवेक्षण, वर्गीकरण और माप के लिए अधिक परिशुद्ध प्रविधियों के विकास और उपयोग पर बल देता है और इस बात का प्रतिपादन करता है कि जहाँ तक सम्भव हो, सांख्यिकीय या परिमाणात्मक सूत्रीकरणों का उपयोग किया जाना चाहिए। (4) यह राजनीति विज्ञान के लक्ष्य को एक व्यवस्थित आनुभाविक सिद्धान्त के रूप में परिभाषित करता है।

व्यवहारवाद का अधिकारी विद्वान डेविड ईस्टन को कहा जा सकता है। उसने अपने लेख 'The Current Meaning of Behaviouralism' में व्यवहारवाद के आधार एवं लक्ष्यों को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है

(1) नियमन (Regularization)—व्यवहारवादी मानते हैं कि राजनीतिक व्यवहार में सामान्य तत्व ढूँढे जा सकते हैं, उन्हें राजनीति व्यवहार के सामान्यीकरणों अथवा सिद्धान्तों के रूप में व्यक्त किया जा सकता है और इनके आधार पर मानवीय व्यवहार की व्याख्या और भविष्य के लिए सम्भावनाएँ व्यक्त की जा सकती हैं।

(2) सत्यापन (Verification)—मानवीय व्यवहार के सम्बन्ध में एकत्रित सामग्री को दुबारा जाँचने और उसकी पुष्टि करने की क्रिया को सत्यापन कहते हैं। व्यवहारवादी अध्ययन पद्धति की एक विशेषता यह है कि उसके अन्तर्गत एकत्रित की गयी सामग्री का सत्यापन किया जाता है।

(3) तकनीकों प्रयोग (Use of Techniques)—आधार सामग्री प्राप्त करने एवं उसकी व्याख्या करने के साधनों को स्वयंसिद्ध नहीं माना जा सकता। वे समस्यात्मक होते हैं और स्वयं अध्ययनकर्ता द्वारा उन्हें सावधानी से शुद्ध एवं परीक्षित किये जाने की आवश्यकता है। मानवीय व्यवहार का पर्यवेक्षण करने और उसका विश्लेषण कर परिणामों को अंकित करने के लिए कठोर शुद्धीकरण के साधनों को अपनाया जाना चाहिए। शुद्धीकरण की प्रक्रिया ज्ञान को विश्वसनीयता प्रदान करती है और इसके आधार से नये तथ्य प्राप्त किये जाने पर पुरानी सामग्री को अप्रमाणित ठहराया जा सकता है।

(4) परिमाणनीकरण (Quantification)—उपलब्धियों के विवरण तथा आधार सामग्री को लेखबद्ध करने तथा उसमें स्पष्टतया लाने के लिए मापन और परिमाणनीकरण किया जाना चाहिए। मापन और परिमाणनीकरण का यह कार्य उनके अपने लिए नहीं, वरन् अन्य प्रयोजनों के प्रकाश में किया जाना चाहिए।

(5) मूल्य निर्धारण (Value Determination) व आदर्श निर्माण (Model Building)—सामान्यतया व्यवहारवादी मूल्यों की दृष्टि से तटस्थ रहना चाहते हैं, फिर भी नैतिक मूल्यांकन के कुछ मूल्यों व आदर्शों का प्रतिपादन और प्रयोग आवश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध में अपनाये गये मूल्यों व आदर्शों को अध्ययनकर्ता के मूल्यों व आदर्शों से अलग रखा जाना चाहिए और सामान्य मूल्य व आदर्श अध्ययनकर्ता के मूल्यों व आदर्शों से अप्रभावित रहने चाहिए।

(6) व्यवस्थाबद्धीकरण (Systematization)—अनुसन्धान आवश्यक रूप से क्रमबद्ध होना चाहिए अर्थात् सिद्धान्त एवं अनुसन्धान को सम्बद्ध और क्रमबद्ध ज्ञान के दो ऐसे भाग समझना चाहिए जो परस्पर गुँथे हुए हैं। सिद्धान्त से अशिक्षित (Untutored) अनुसन्धान निरर्थक हो सकता है और आँकड़ों से असमर्थित सिद्धान्त निरर्थक रहेगा। वस्तुतः सिद्धान्त और तथ्य एक दूसरे से अपृथक्करणीय होते हैं।

(7) विशुद्ध ज्ञान (Pure Science)—ज्ञान का प्रयोग वैज्ञानिक उद्यम का भी उतना ही अंग है जितना कि सिद्धान्तात्मक बोध (theoretical understanding) का। लेकिन तार्किक रूप से राजनीतिक व्यवहार का बोध और व्याख्या पहले ही आते हैं और एक ऐसा आधार प्रदान करते हैं जिसके बल पर समाज की महत्वपूर्ण व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की जा सकती है।

(8) समग्रता (Integration)—व्यवहारवादियों की एक प्रमुख मान्यता यह है कि समस्त मानव व्यवहार एक ही पूर्ण इकाई है और इसका अध्ययन खण्डों में नहीं होना चाहिए। व्यवहारवाद के अनुसार मानव व्यवहार में एक मूलभूत एकता पायी जाती है तथा इसी कारण विभिन्न समाज विज्ञान परस्पर अत्यन्त समीप हैं। अतः राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन जीवन के अन्य पक्षों के सन्दर्भ में ही किया जाना चाहिए।

इन सूची में व्यवहारवादी पथ के सभी प्रमुख आधार आ गये हैं। उपर्युक्त सूत्र अनुसन्धान के परम्परागत और व्यवहारवादी ढंग के प्रमुख अन्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं और लगभग सभी व्यवहारवादी कम अधिक रूप में उन्हें स्वीकार करते हैं।

व्यवहारवाद की उपलब्धियाँ या महत्व और व्यवहारवाद का राजनीति विज्ञान पर प्रभाव (Achievements of Behaviouralizm and its impact on Political Science)—व्यवहारवादी क्रान्ति के प्रारम्भिक दौर में परम्परागत विचारकों और व्यवहारवादी विचारकों के बीच शीतयुद्ध के जिस वातावरण को जन्म दिया था, वह आज समाप्त हो चुका है और हमने एक ऐसी स्थिति में प्रवेश कर लिया है, जिसमें व्यवहारवाद का उचित मूल्यांकन सम्भव है। व्यवहारवाद की निश्चित रूप से अपनी कुछ उपलब्धियाँ और महत्व हैं, जिनका उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) राजनीति विज्ञान की विषय-वस्तु को नवीन रूप में प्रस्तुत करने का

प्रयास—व्यवहारवाद केवल मात्र एक उपागम या दृष्टिकोण मात्र नहीं है, वरन् यह तो राजनीति विज्ञान की समस्त विषय-वस्तु को नवीन रूप में प्रस्तुत करने का एक साधन है। व्यवहारवाद केवल सुधार ही नहीं, वरन् पुनर्निर्माण क्रिया है तथा इसने राजविज्ञान को नये मूल्य, नयी भाषा, नयी पद्धतियाँ, उच्चतर प्रस्थिति, नवीन दिशाएँ और सबसे बढ़कर 'अनुभवात्मकता वैज्ञानिकता' प्रदान की है।

(2) राज वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण को व्यापकता प्रदान करना—व्यवहारवाद ने राजवैज्ञानिकों के दृष्टिकोण को व्यापक बनाया है और उन्हें इस बात के लिए प्रेरित किया गया है कि एक समाज विज्ञान का अध्ययन दूसरे समाज विज्ञान के सन्दर्भ में ही किया जाना चाहिए। व्यवहारवादियों के इस विचार को 'अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण' (Inter disciplinary approach) कहा जा सकता है। डहल (Dahl) के मतानुसार व्यवहारवाद "राजनीतिक अध्ययनों को आधुनिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और अर्थशास्त्रों के सिद्धान्तों, उपलब्धियों और दृष्टिकोणों के निकट सम्पर्क में लाने में सफल हुआ है।"

(3) राजनीति विज्ञान को यथार्थवादी धरातल प्रदान करना—राजवैज्ञानिक अब तक सामान्यतया ऐसे दार्शनिकों के रूप में कार्य करते रहे हैं, जो केवल नैतिक मूल्यों व आदर्शों से ही सम्बन्ध रखते थे। व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान को यथार्थ के धरातल पर खड़ा करने का कार्य किया है। उसने इस बात पर जोर दिया है कि राजवैज्ञानिक का सम्बन्ध 'क्या है' से है न कि 'क्या होना चाहिए' से। व्यवहारवाद ने संस्थाओं के स्थान पर व्यक्ति को राजनीतिक विश्लेषण की इकाई बनाने पर जोर देने की बात कही है, यह इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास है। इस प्रकार उसने राजविज्ञान को एकता और आधुनिकता प्रदान की है।

(4) आनुभविक वैज्ञानिकता (Empirical Scienticism)—व्यवहारवाद ने अपने वैज्ञानिक अनुभववाद के माध्यम से नवीन दृष्टि, नवीन पद्धतियाँ, नये मापक और नूतन क्षेत्र प्रदान किये हैं। व्यवहारवाद के परिणामस्वरूप ही राजनीति विज्ञान साक्षात्कार प्रणाली, मूल प्रश्नावली प्रणाली और सोशियोमैट्री आदि अपनाने की ओर प्रवृत्त हुआ है। राजनीति के अन्तर्गत अब न केवल 'मतदान व्यवहार' (voting behaviour), वरन् राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्थाओं का अध्ययन भी इस इस पद्धति के आधार पर किया जाने लगा है।

सेला पूल (Ethiel de Sala Pool) के शब्दों में, "अब हमारा अनुशासन एक नये सामञ्जस्य, एक सुदृढ़ एकता और आत्मविश्वासपूर्ण अभिमान का अनुभव करता है जो कि स्वस्थ और सम्वर्द्धन के अनुकूल है।"

व्यवहारवाद की आलोचना अथवा सीमाएँ
(CRITICISM OR LIMITATIONS OF BEHAVIOURALISM)

व्यवहारवादी उपागम का अपना महत्व है और व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान के अध्ययन को पर्याप्त प्रभावित किया है, लेकिन इसके साथ ही व्यवहारवाद

की अपनी सीमाएँ और दुबलताएँ हैं। सिबली ने अपने लेख Limitation of Behaviouralism मे व्यवहारवाद की सीमाओं का उल्लेख किया है। आनल्ड वेंस्ट स्ट्रिऔस्ट्रास रेमनी किक पट्रिक डल और डायस आदि ने भी व्यवहारवाद की आलोचना की है। व्यवहारवाद की आलोचना और उसकी सीमाओं का उल्लेख निम्न रूपों म किया जाना है

1 मूल्य निरपेक्षता को अपनाना न तो सम्भव है और न ही वाछनीय—व्यवहारवाद अपने आपको मूल्य निरपक्ष मानता है लेकिन स्वय व्यवहारवादी का व्यक्तित्व, उसका आचरण उनके ज्ञान की सीमाएँ साधन राग-द्वेष झुकाव और पक्षपात आदि ऐसे तत्व हैं जो उसके व्यवहारात्मक अध्ययन को प्रभावित करते हैं। अध्ययन कर्ता के द्वारा विषयों का जो चयन किया जाता है वह भी उसके अपने मूल्यों और विचारों से ही प्रभावित होता है।

मूल्य निरपेक्षता व्यवहारवाद की सबसे बडी कमजोरी है, जिसके फलस्वरूप राजनीति विज्ञान नीति निर्माण सक्रिय राजनीति समाज की तात्कालिक और दूरगामी समस्याओं आदि से पूर्णतया पृथक हो गया है। यदि मूल्य निरपेक्षता ही हमारा ध्येय है तो फिर लोकतन्त्र और तानाशाही सभी व्यवस्थाएँ बिलकुल समान हो जाती हैं और एक ऐसी स्थिति [illegible] हो जाती है जिसे आनल्ड वेंस्ट ने 'बीसवीं सदी की दुखान्त घटना कहा है' [illegible] स्ट्रास के अनुसार मूल्य निरपेक्षता का परिणाम नगर की विजय ही हो सकता है [illegible] यही हुआ। इस सम्बन्ध मे जेम्स ए गो ड एव विंसण्ट वी यर्वी नितान्त प्रासंगिक रूप म पूछते हैं कि, बिना किसी उद्देश्य के किया गया कोई काय राजनीतिक कैसे हो सकता है। मूल्यों से बचने का प्रयत्न तो मूल्यहीनता (Value nihilism) को खुली छूट देने के समान है।

2 व्यवहारवादी अध्ययन अपूर्ण—जैसे ही व्यवहारवादी उपागम को अपनाकर राजनीतिक अन्वेषण का श्रीगणेश किया जाता है वैसे ही व्यवहारवादी अध्ययन से प्राप्ति की निश्चित सीमाएँ सामने आने लगती हैं जैसे (i) राजनीति मे मानव व्यवहार की व्याख्या नियन्त्रित परिस्थितियों तथा विशिष्ट मान्यताओं के अन्तगत ही की जा सकती है (ii) मनुष्य भविष्य म किस प्रकार आचरण करेंगे यह पूर्व कथन समान परिस्थितियों के होने पर ही किया जा सकता है (iii) ऐसी समान अवधारणाओं को प्राप्त करना कठिन है जो कि पयवेक्षक और पर्यवेक्षित दोनों के लिए अर्थपूर्ण हों।

3 राजनीति विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञानों में मूल अन्तर—दुर्भाग्यवश व्यवहारवादी इस बात को भुला देते हैं कि प्राकृतिक विज्ञानों और राजनीति विज्ञान के तथ्यों म बडा गम्भीर अन्तर है। राजनीति विज्ञान के तथ्य प्राकृतिक विज्ञानों के तथ्यों की तुलना म बहुत अधिक जटिल अत्यधिक परिवर्तनशील, न्यून मात्रा मे प्रत्यक्षत परिवेक्षणीय कम समरूप और अधिक उद्देश्यपूर्ण होते हैं। इन कारणों से

राजनीति विज्ञान को प्राकृतिक या भौतिक विज्ञानों के समकक्ष बनाने का प्रयत्न न केवल कठिन, वरन् लगभग निरर्थक है। इसी स्थिति के कारण व्यवहारवादी अब तक मानव व्यवहार का विज्ञान प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं।

4 नीति-निर्माण में सहायता करने मे असमर्थ—नीति-निर्माण सम्बन्धी मामलों में राजनीति के लिए व्यवहारवाद और व्यवहारवादियों का उपयोग बहुत अधिक सीमित हो जाता है, क्योंकि नीति निर्माण मे एक नही, वरन् अनेक तत्व अपना महत्व रखते हैं। व्यवहारवाद के आधार पर किया गया अध्ययन अध्येता को सम-सामयिक राजनीति के उपादानों से अलग कर देता है।

5 पद्धति पर अत्यधिक बल और सार तत्व की उपेक्षा—व्यवहारवाद की एक गम्भीर कमजोरी विषय वस्तु की अपेक्षा अध्ययन की 'प्रविधि' (technique) पर अधिक बल देना है। इस स्थिति से राजनीति विज्ञान का विषय पिछड़ गया है।

6. काल्पनिक अध्ययन—क्रिश्चियन बे के मतानुसार, इसकी विज्ञान स्थापना की धुन का परिणाम राजनीति से बचने के रूप मे निकला है। कटु शब्दों का प्रयोग करते हुए अल्फ्रेड कॉबन ने कहा है, 'व्यवहारवाद राजनीति के खतरनाक सत्त्व से बचने के लिए विश्वविद्यालय के शिक्षकों द्वारा आविष्कृत युक्ति है।' सिबली के अनुसार, व्यवहारवादी 'हस्तिदन्तपुरी (Ivory towerism) के निवासी बन गये हैं।

7 रूढ़िवादिता का पोषण—व्यवहारवादी अपने आपको मूल्य निरपेक्षतावादी बताते हैं, लेकिन दूसरी ओर एक भी ऐसा व्यवहारवादी नहीं है जो उदार लोकतन्त्र में विश्वास न करता हो। वस्तुस्थिति यह है कि व्यवहारवादियों ने स्थायित्व को पूर्व धारणा के रूप में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक लक्ष्य बना लिया है और वे रूढ़िवादी बन गये हैं।

वस्तुतः व्यवहारवाद के द्वारा अनेक ऐसे तत्वों पर ध्यान नहीं दिया गया है जो राजनीतिक अध्ययन को प्रभावित करते हैं। जोजफ आर रॉयल का कथन है कि राजनीतिक जीवन के अंशों के अध्ययनों को अन्तिम रूप से संयुक्त करने का कार्य सदैव व्यक्तिनिष्ठ और वैयक्तिक कार्य ही रहेगा, जिसे विज्ञानीकृत नहीं किया जा सकता। यही नहीं वरन् जैसा कि सिबली ने कहा है, "व्यावहारिक वैज्ञानिक का विशुद्ध दृष्टिकोण प्राथमिक मूल्यों एवं इतिहास के विज्ञानेत्तर निर्णयों द्वारा शोधित किया जाना चाहिए।" उपर्युक्त सीमाओं की समीक्षा करने का उद्देश्य यही है कि एक व्यवहारवादी के लिए केवल यह जानना ही पर्याप्त नहीं है कि क्या हो सकता है, वरन् यह जानना भी आवश्यक है कि एक निर्दिष्ट (given) संस्कृति के सम्पूर्ण सन्दर्भ में क्या हो चुका है और क्या सम्भव हो सकता था। इसका जानना साधारण-जन एवं राजनीतिज्ञ, साथ साथ एक राजवैज्ञानिक और एक क्रियाशील दार्शनिक के लिए भी महत्वपूर्ण है।" व्यवहारवाद की इन सीमाओं को दृष्टि में रखते हुए मीहान (Eugene J Meehan) ने कहा है कि "हम समस्त साधनों द्वारा अनुभववादी ज्ञान को ढूंढें, किन्तु कहीं उसे पूज्य न बना दें।"

उत्तर-व्यवहारवाद (Post Behaviouralism)

राजनीति विज्ञान मे व्यवहारवाद की जहाँ अपनी कुछ उपयोगिताएँ रही हैं वहाँ इसकी अनेक दुर्बलताएँ भी हैं और इन दुर्बलताओं ने ही उत्तर व्यवहारवाद को जन्म दिया है। डेविड ईस्टन जो कि व्यवहारवाद का एक प्रणेता रहा है उसने 1960 मे व्यवहारवाद पर प्रबल प्रहार किया। 1945 से 1960 के काल मे अमरीकी विश्वविद्यालयों मे शोध और अध्ययन के क्षेत्र मे प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति को अपनाकर राजनीति विज्ञान को कठोर वैज्ञानिक अनुशासन का रूप देने की चेष्टा की गयी लेकिन इसमे असफलता ही हाथ लगी। यह देखा गया कि व्यवहारवाद के कारण राजनीति विज्ञान राजनीतिक जीवन की वास्तविक समस्याओं से अलग हटकर अवधारणात्मक ढांचों माडलों और सिद्धान्तों मे उलझ कर रह गया। अत उत्तर-व्यवहारवाद मे इस बात पर बल दिया गया है कि राजनीतिक शोध, जीवन की समस्याओं से प्रासंगिक और उन पर आधारित होनी चाहिए, हमारा लक्ष्य सामाजिक स्थिरता नहीं वरन् परिवर्तन होना चाहिए तथा मूल्यों को समस्त अध्ययन मे केन्द्रीय स्थिति प्रदान की जानी चाहिए। उत्तर व्यवहारवादियों के अनुसार बौद्धिकता की समाज मे एक निश्चित और महत्वपूर्ण भूमिका है और ज्ञान का उपयोग जीवन के लिए किया जाना चाहिए।

उत्तर-व्यवहारवाद का प्रमुख प्रवक्ता डेविड ईस्टन है जो व्यवहारवाद का भी प्रवक्ता रहा है। डेविड ईस्टन ने उत्तर व्यवहारवाद के दो प्रमुख दायित्व प्रस्तुत किये हैं (i) औचित्यपूर्णता और (ii) कर्म। डेविड ईस्टन ने ही उत्तर व्यवहारवाद की सात विशेषताएँ बतलायी हैं जिन्हें वह औचित्यपूर्णता के सिद्धान्त (Relevance of Credo) कहता है। उत्तर व्यवहारवाद की ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

(1) प्रविधि से पूर्व सार विषय—व्यवहारवादियो ने अध्ययन विषय की अपेक्षा अध्ययन की प्रविधि (technique) पर अधिक बल दिया था लेकिन उत्तर व्यवहारवादियो ने इस सत्य को स्वीकार किया कि अध्ययन प्रविधि की अपेक्षा अध्ययन विषय अधिक महत्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों मे उत्तर-व्यवहारवादी इस बात पर बल देते हैं कि जब तक अनुसंधान समकालीन आवश्यक सामाजिक समस्याओं से सम्बद्ध और अर्थपूर्ण नहीं है तब तक अनुसंधान की प्रविधि पर विचार करना निरर्थक है।

(2) सामाजिक परिवर्तन पर बल—व्यवहारवाद यथास्थिति के साथ जुड गया था लेकिन उत्तर व्यवहारवादियो की मान्यता है कि सामाजिक संरक्षण तथा यथास्थिति के स्थान पर सामाजिक परिवर्तन तथा गतिशीलता को अपनाया जाना चाहिए, सामाजिक परिवर्तन को गति एव दिशा प्रदान की जानी चाहिए।

(3) समस्याओं के विश्वसनीय निदान की आवश्यकता—व्यवहारवाद अमूर्त अवधारणाओं और विकल्पो के साथ जुड गया था लेकिन उत्तर व्यवहारवादी समाज की समकालीन समस्याओ से आँख नहीं मूद लेना चाहते। उनके अनुसार राजनीतिशास्त्र की औचित्यपूर्णता इस बात पर निर्भर करती है कि वह मानव जाति की वास्तविक समस्याओं का समाधान करने की दिशा मे आगे बढ़े।

(4) मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका—व्यवहारवाद ने मूल्य निरपेक्षता पर बल दिया था और इस स्थिति ने राजनीति विज्ञान को प्रयोजनहीन बना दिया। अत उत्तर-व्यवहारवादियो ने मूल्यों की निर्णायक भूमिका को स्वीकार किया है। वे इस बात पर बल देते है कि यदि ज्ञान को सही प्रयोजनों के लिए प्रयोग मे लाना है तो मूल्यो का उनकी केन्द्रीय स्थिति प्रदान करनी होगी।

(5) बुद्धिजीवियों की भूमिका—अध्ययन विषय की तुलना मे प्रविधि को अधिक महत्व दिये जाने के कारण व्यवहारवाद मात्र वैज्ञानिक शोधकर्ता, तकनीशियन और प्रविधिज्ञ के साथ जुड़कर रह गया था, लेकिन उत्तर व्यवहारवादियो द्वारा मूल्यो तथा चिन्तन के महत्व को स्वीकार किये जाने के साथ इस मान्यता को अपनाया गया कि "बौद्धिक वर्ग की समाज में एक निश्चित और महत्वपूर्ण भूमिका है।"

(6) कर्मनिष्ठ विज्ञान—उत्तर व्यवहारवादी कर्मनिष्ठता पर बल देते हैं और उनका कथन है कि राजनीतिक विषयों के अध्ययनकर्ता को समाज के पुनर्निर्माण कार्य मे रत रहना चाहिए। जैसा कि डेविड ईस्टन ने कहा है, 'जानने का अर्थ है कार्य के उत्तरदायित्व को धारण करना और कार्य का अर्थ है समाज के पुनर्निर्माण में व्यस्त रहना।"

(7) व्यवसाय का राजनीतिकरण करना—एक बार यह मान लेने के बाद कि समाज मे बुद्धिजीवियों की एक महत्वपूर्ण रचनात्मक भूमिका है, और यह भूमिका समाज के लिए समुचित उद्देश्यों को निर्धारित करने और समाज को इन उद्देश्यो की दिशा में प्रेरित करने की है, इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनिवार्य हो जाता है कि सभी धन्धों का राजनीतिकरण जिसमे राजनीतिशास्त्रियों को सभी संस्थाएँ और विश्वविद्यालय भी आ जाते हैं, न केवल अनिवार्य वरन् अत्यधिक वाछनीय है।

वतमान समय (1970 ई० के बाद) में व्यवहारवादियों तथा उत्तर-व्यवहारवादियो के बीच पारस्परिक विरोध की स्थिति समाप्त हो गयी है। व्यवहारवाद की इस बात को भी स्वीकार कर लिया गया है कि राजनीति विज्ञान मे अधिकाधिक मात्रा मे आनुभविक अध्ययन और परिशुद्ध परिणाम देने वाली पद्धतियों को अपनाते हुए इसे सही अर्थों मे विज्ञान की स्थिति प्रदान करने की चेष्टा की जानी चाहिए। लेकिन इसके साथ ही यह मान लिया गया कि राजनीति का ज्ञान वास्तविक राजनीतिक जीवन की समस्याओं और जटिलताओं से अलग रह कर नहीं किया जा सकता तथा समस्त राजनीतिक अध्ययन में मूल्यों को केन्द्रीय स्थिति प्राप्त होनी चाहिए। व्यवहारवादी तथा उत्तर-व्यवहारवादी प्रवृत्तियों के बीच उचित समन्वय स्थापित करने पर ही राजनीति विज्ञान का अध्ययन वैज्ञानिकता और साथ ही सार्थकता की स्थिति को प्राप्त कर सकेगा।

प्रश्न

1 व्यवहारवाद की प्रमुख विशेषताएँ बतलाइये तथा इसकी उपयोगिता और सीमाओं का भी वर्णन कीजिये।
2 'व्यवहारवाद भी अतीत की वस्तु बन चुका है' इस कथन को स्पष्ट करते हुए उत्तर व्यवहारवाद की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

5

राज्य, समाज और राष्ट्र
[STATE, SOCIETY AND NATION]

"राज्य के लक्षणों का अध्ययन न तो हीगल जैसे उपासना की भावना से और न स्पैन्सर जैसी तुच्छता की भावना से, वरन् यथार्थता की दृष्टि से किया जाना चाहिए ।"[1] —मैकाइवर

'राजनीति विज्ञान' राज्य का विज्ञान है और इसमें प्रमुख रूप से राज्य का ही अध्ययन किया जाता है । अतः सबसे पहले हमें राज्य के अर्थ और रूप का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए । आज राज्य शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है जिनमें से कुछ अर्थ निश्चित रूप से भ्रामक हैं । उदाहरण के लिए, भारत तथा अमरीका के संविधानों में संघ की इकाइयों को 'राज्य' कहा गया है लेकिन राजनीति विज्ञान की दृष्टि से ये राज्य नहीं वरन् राज्य की इकाइयाँ मात्र हैं । राजनीति विज्ञान में 'राज्य' का प्रयोग विशिष्ट तथा वैज्ञानिक अर्थ में किया जाता है और इस रूप में ही हमारे द्वारा राज्य का अध्ययन किया जायगा ।

राज्य की परिभाषा

एक स्थान पर मैकाइवर ने लिखा है कि "यह आश्चर्य की बात है कि राज्य जैसे स्पष्ट शब्द की परिभाषाएँ विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की हैं ।" राज्य की परिभाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार की विभिन्नता का कारण यह है कि राज्य के उद्देश्य और कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न समयों पर अलग-अलग मान्यताएँ प्रचलित रही हैं, केवल इतना ही नहीं वरन् समकालीन विचारकों द्वारा भी इस सम्बन्ध में अलग-अलग विचार व्यक्त किये गये हैं । प्रमुख रूप से, अब तक राज्य की जो परिभाषाएँ की गयी हैं, उनका अध्ययन मोटे तौर पर प्राचीन और अर्वाचीन इस प्रकार के दो भागों में बाँटकर किया जा सकता है ।

प्राचीन विचारकों के अनुसार—प्राचीन विचारक राज्य के मुख्यतया दो लक्षण मानते थे । प्रथमतः राज्य व्यक्तियों का एक समुदाय है, और द्वितीयतः, राज्य

---

1 "In no attitude of worship as did Hegel, and in no attitude of belittlement as did Spencer, but in the spirit of scientific exactitude, must be seek the criterion of t e state" —MacIver, *The Modern State*, p. 4.

व्यक्तियों के सुख और लाभ के लिए निर्मित एक श्रेष्ठ समुदाय है। इस विचारधारा के आधार पर अरस्तू, सिसरो और सेण्ट आगस्टाइन ने राज्य की परिभाषाएँ इस प्रकार की हैं

अरस्तू—"राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक ऐसा समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।"[1]

सिसरो—"राज्य उस समुदाय को कहते हैं जिसमें यह भावना विद्यमान हो कि सब मनुष्यों को उस समुदाय के लाभों का परस्पर साथ मिलकर उपभोग करना है।"

अरस्तू और सिसरो द्वारा की गयी राज्य की ये परिभाषाएँ कानूनी होने की अपेक्षा नैतिक अधिक हैं। ये परिभाषाएँ राज्य के उद्देश्य पर तो कुछ प्रकाश डालती हैं किन्तु राज्य के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट नहीं करती।

अर्वाचीन विचारक—प्राचीन विचारकों द्वारा, राज्य को मनुष्य के एक समुदाय के रूप में ही चित्रित किया गया है, लेकिन वर्तमान समय में विद्वानों का विचार है कि केवल व्यक्तियों से ही राज्य का निर्माण नहीं हो जाता। राज्य का निर्माण करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि ये व्यक्ति *भली प्रकार सगठित* हों। इस प्रकार से सगठित जीवन व्यतीत करने के लिए व्यक्तियों का एक निश्चित क्षेत्र में रहना आवश्यक होता है और इन व्यक्तियों के मध्य शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिए कोई सत्ता भी होनी चाहिए। राज्य के सम्बन्ध में इस मान्यता को दृष्टि में रखते हुए ब्लटशली, वुडरो विल्सन, लास्की, आदि विचारकों द्वारा राज्य की परिभाषा इस प्रकार की गयी है

ब्लटशली—"किसी निश्चित भू-प्रदेश में राजनीतिक दृष्टि से सगठित व्यक्तियों को राज्य कहा जाता है।"

वुडरो विल्सन—"राज्य एक निश्चित प्रदेश के अन्तर्गत नियम या विधि के द्वारा *सगठित लोगों का समाज है।"*

लास्की—"राज्य एक प्रादेशिक समाज है जो सरकार और प्रजा में विभाजित है और जो अपने निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में अन्य सभी समुदायों पर सर्वोच्च सत्ता रखता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं में से कोई भी परिभाषा पूर्ण नहीं है क्योंकि ब्लटशली, और वुडरो विल्सन की परिभाषाओं में तो सम्प्रभुता का उल्लेख किया ही नहीं गया है जो कि वस्तुतः राज्य का प्राण है। लास्की की परिभाषा में सम्प्रभुता का जो भी उल्लेख हुआ है, उसमें केवल आन्तरिक सम्प्रभुता का ही विवेचन किया गया है, बाहरी सम्प्रभुता का नहीं।

---

1 "The State is a union of families and villages, having for its end perfect and self-sufficient life." —*Aristotle*

मान्य परिभाषाएँ—अब तक राज्य की जो परिभाषाएँ की गयी हैं उनमे फिलिमोर और गार्नर की परिभाषाएँ ही श्रेष्ठ हैं। फिलिमोर ने राज्य की परिभाषा देते हुए लिखा है

"राज्य मनुष्यों का वह समुदाय है जो किसी निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो और जो एक सुव्यवस्थित सरकार द्वारा उस भू भाग की सीमा के अन्तर्गत व्यक्तियो तथा पदार्थों पर पूरा नियन्त्रण तथा प्रभुत्व रखता हो और जिसे विश्व के अन्य किसी भी राज्य से सन्धि या युद्ध करने अथवा अन्य किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो।"

गार्नर—"राजनीति विज्ञान और सार्वजनिक कानून की धारणा के रूप में राज्य सख्या में कम या अधिक व्यक्तियों का ऐसा संगठन है जो किसी प्रदेश में एक निश्चित भू भाग में स्थायी रूप से रहता हो, जो बाहरी 'नियन्त्रण से पूर्ण स्वतन्त्र या लगभग स्वतन्त्र हो, और जिसका एक ऐसा सगठित शासन हो जिसके आदेशों का पालन नागरिकों का विशाल समुदाय स्वभावत करता हो।"[1]

फिलिमोर, गिलक्राइस्ट तथा गार्नर द्वारा दी गयी उपर्युक्त परिभाषाएँ ही सबसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि इनमे राज्य के चारो तत्वों—जनसख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार तथा प्रभुसत्ता—का स्पष्ट उल्लेख है। इन परिभाषाओ में आन्तरिक और बाहरी दोनो ही प्रकार की सम्प्रभुताओ का उल्लेख है और अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा राज्य की जो परिभाषा दी गयी है, उसका प्रभुसत्ता सम्बन्धी सार भी इन परिभाषाओ मे आ गया है। अत वर्तमान समय मे राष्ट्रीय एव अन्तर-राष्ट्रीय क्षेत्र से फिलिमोर, गिलक्राइस्ट और गार्नर द्वारा दी गयी ये परिभाषाएँ ही मान्य हैं।

राज्य के तत्व
(ELEMENTS OF STATE)

राज्य के तत्वो के सम्बन्ध मे विभिन्न विचारको द्वारा भिन्न भिन्न विचार व्यक्त किय गये हैं। विलोबी के अनुसार राज्य के तीन आवश्यक तत्व होते हैं—(1) सामाजिक दृष्टि से एकता मे बँधा हुआ जनसमुदाय, (2) सरकार या शासन तन्त्र के रूप मे एक राजनीतिक व्यवस्था, तथा (3) शासनाधिकारियो के कर्तव्य और अधिकारो की सीमा निश्चित करने वाले नियमों का लिखित या अलिखित सकलन। सिजविक ने राज्य के तीन आवश्यक तत्व—जनता, भू खण्ड तथा सरकार—बताये हैं। ब्लण्टशली के अनुसार, भू खण्ड, जनता, एकता और सगठन राज्य के ये 4

---

[1] "State as a concept of political science and public law, is a community of persons more or less numerous, permanently occupying a definite portion of territory, independent or nearly so of external control and possessing an organized Government to which the great body of inhabitants render habitual obedience" —D Garner, *Political Science and Government*, p. 49

आवश्यक तत्व हैं। लेकिन वर्तमान समय में राज्य के सम्बन्ध में डॉ० गार्नर के विचार मान्य हैं। डॉ० गार्नर के अनुसार राज्य के चार आवश्यक तत्व हैं— (1) मनुष्यों का समुदाय, (2) एक प्रदेश, जिसमें वे स्थायी रूप से रहते हैं, (3) आन्तरिक सम्प्रभुता तथा बाहरी नियन्त्रण से स्वतन्त्रता, (4) जनता की इच्छा को कार्यरूप में परिणत करने हेतु एक राजनीतिक संगठन। गैटल के द्वारा भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया गया है और इन विद्वानों द्वारा व्यक्त विचारों के आधार पर राज्य के आवश्यक तत्वों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है

(1) जनसंख्या (Population)—मानव के सामाजिकता के गुण के आधार पर राज्य का जन्म हुआ और व्यक्तियों से मिलकर ही राज्य का निर्माण होता है। अत सभी विद्वान जनसंख्या को राज्य के आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन एक राज्य के अन्तर्गत कितनी जनसंख्या होनी चाहिए इस सम्बन्ध में विद्वानों के विचारों में पर्याप्त मतभेद है और अपनी कल्पना की आदर्श शासन व्यवस्था तथा राज्य की शक्ति के सम्बन्ध में अपने विचारों के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने अलग अलग विचार व्यक्त किये हैं। प्लेटो, अरस्तू, रूसो, आदि विद्वान प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रीय शासन को श्रेष्ठ समझते थे और क्योंकि प्रजातन्त्र के इस रूप को थोड़ी जनसंख्या वाले राज्य में ही अपनाया जा सकता है, अत प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' (*Republic*) में आदर्श राज्य का चित्रण करते हुए कहा है कि एक आदर्श राज्य में 5,040 नागरिक ही होने चाहिए। इसी प्रकार अरस्तू के अनुसार राज्य की जनसंख्या लगभग 10 हजार होनी चाहिए।

दूसरी ओर हिटलर, मुसोलिनी तथा अन्य व्यक्तियों का विचार है कि राज्य एक शक्ति है और यह शक्ति ठीक प्रकार से कार्य कर सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि इसमें अधिकतम जनसंख्या हो।

वस्तुत जनसंख्या का कम या अधिक होना बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं है और एक राज्य में कितनी जनसंख्या होनी चाहिए, इसके सम्बन्ध में गार्नर के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "जनता राज्य के संगठन के निर्वाह के लिए सदैव ही पर्याप्त होनी चाहिए तथा यह उससे अधिक नहीं होनी चाहिए, जितनी के लिए भू-खण्ड तथा राज्य के साधन पर्याप्त हों।" व्यवहार में, जहाँ एक ओर भारत, चीन, सोवियत रूस और अमरीका जैसे करोड़ों जनसंख्या वाले राज्य हैं तो दूसरी ओर सेनमेरिनो और मोनाको जैसे राज्य भी हैं, जिनकी जनसंख्या केवल कुछ हजार ही है।

जनसंख्या के सम्बन्ध में जनसंख्या की अपेक्षा गुण का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि जनता के स्वरूप पर ही राज्य का स्वरूप निर्भर करता है। अत राज्य की सुस्थिरता और सांस्कृतिक सम्पन्नता के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के नागरिक शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से स्वस्थ हों। अरस्तू

ने ठीक ही कहा है कि "श्रेष्ठ नागरिक ही श्रेष्ठ राज्य का निर्माण कर सकते हैं, अत. यह आवश्यक है कि नागरिक चरित्रवान् हों।

(2) निश्चित क्षेत्र या भू भाग (Definite Territory)—विलिट और सीले आदि कुछ विद्वानों ने तो निश्चित क्षेत्र को राज्य के आवश्यक तत्व के रूप मे स्वीकार नही किया है, किन्तु एक निश्चित क्षेत्र के अभाव मे व्यक्तियो द्वारा व्यवस्थित जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता है इसलिए वर्तमान समय मे सभी विद्वान निश्चित क्षेत्र को राज्य के एक आवश्यक तत्व के रूप मे स्वीकार करते हैं। ब्लण्टशली के शब्दों में, कहा गया है कि, "जैसे राज्य का वैयक्तिक आधार जनता है, उसी प्रकार उसका भौतिक आधार प्रदेश है। जनता उस समय तक राज्य का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक उसका कोई निश्चित प्रदेश न हो।"

इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि राज्य के आवश्यक तत्व के रूप मे भूमि का अभिप्राय केवल भू-क्षेत्र मे ही नही है, अपितु इसके अन्तर्गत व सभी प्राकृतिक साधन भी सम्मिलित होते हैं जो किसी देश की स्थल, जल और वायु से प्राप्त हों, अर्थात किसी राज्य मे विद्यमान नदियाँ, सरोवर, झीलें, खनिज पदार्थ, तट से 12 मील तक का समुद्र और वायुमण्डल सभी भूमि के अन्तर्गत आते हैं।

राज्य की भूमि का विस्तार कितना होना चाहिए इस सम्बन्ध मे विद्वानों के विचारो मे मतभेद है। प्लेटो, अरस्तू, डी० टाकविल और रूसो के अनुसार राज्यों का क्षेत्र कम ही होना चाहिए, किन्तु वर्तमान परिस्थितियो मे राज्य का क्षेत्र कम होना हानिकारक समझा जाता है। आज राज्यो का विशाल आकार शक्ति का साधन बन गया है। इसके अतिरिक्त, कम क्षेत्र वाले राज्य आर्थिक दृष्टि से भी आत्मनिर्भर नही हो सकते हैं। संघवाद की व्यवस्था के कारण भी सामान्य बहुमत बडे राज्यो का पक्षपाती हो गया है। वस्तुत, राज्य के क्षेत्र की सीमा के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि राज्य की जनसख्या और क्षेत्र के बीच कोई अनुपात अवश्य ही होना चाहिए। यदि दोनो के बीच अनुपात मे बहुत अधिक अन्तर हुआ, तो राज्य राजनीतिक और आर्थिक अयोग्यता से पीडित होगा और उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जायेगी। इसके अतिरिक्त, राज्य का जो भी क्षेत्र हो, वह समस्त क्षेत्र परस्पर अच्छे प्रकार से सम्बन्धित होना चाहिए और राज्य के विभिन्न टुकडो के बीच किसी प्रकार की प्राकृतिक बाधाएँ या किसी दूसरे राज्य का क्षेत्र नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से 1947 में जिस पाकिस्तान का निर्माण हुआ था, उसका क्षेत्र त्रुटिपूर्ण था, क्योंकि उस पाकिस्तान राज्य के दो भाग (पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान) एक-दूसरे से बहुत दूरी पर स्थित थे।

(3) सरकार—यदि जनसख्या राज्य का व्यक्तिगत तत्व है और प्रदेश राज्य का भौतिक तत्व, तो सरकार राज्य का सगठनात्मक तत्व है। किसी निश्चित प्रदेश के निवासी तब तक राज्य का रूप धारण नही कर सकते जब तक कि उसका एक राजनीतिक सगठन न हो। यह राजनीतिक सगठन अथवा सरकार एक ऐसा साधन

है जिसके द्वारा राज्य के लक्ष्य और नीतियों को क्रियान्वित किया जाता है। सरकार राज्य का व्यावहारिक पक्ष है और सरकार के माध्यम से ही हम राज्य से सम्बन्ध स्थापित कर सकते या राज्य तक पहुँच सकते हैं। गार्नर ने कहा है कि "सरकार राज्य का वह साधन या यन्त्र है जिसके द्वारा राज्य के उद्देश्य अर्थात सामान्य नीतियों और सामान्य हितों की पूर्ति होती है सरकार के बिना जनता असंगठित या अराजक जन समूह के रूप में होगी, जो सामूहिक रूप से कोई भी कार्य करने में अक्षम होगा।"

अतीत में सरकार का संगठन सरल और उसके कार्य सीमित थे और सरकार की समस्त शक्तियों का प्रयोग एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा किया जाता था। किन्तु वर्तमान समय में स्थिति ऐसी नहीं रही है। आज सरकार के संगठन ने जटिलता प्राप्त कर ली है और सरकार के प्रमुखतया तीन अंग होते हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। इसके साथ ही भूतकाल में सरकार बाहरी आक्रमण से रक्षा और आन्तरिक क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने का कार्य ही करती थी, लेकिन आज लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा को अपना लिये जाने के कारण राज्य का कार्य क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक हो गया है।

सरकार का कोई एक निश्चित रूप नहीं है जो सभी राज्यों को मान्य हो। वर्तमान काल में सऊदी अरब, नेपाल, जोर्डन आदि में राजतन्त्र ईराक, टर्की, लीबिया आदि में सैनिक शासन, सोवियत संघ, चीन, पोलैण्ड आदि में साम्यवाद, पुर्तगाल, स्पेन आदि में अधिनायकतन्त्र, भारत, ब्रिटेन, जापान आदि में संसदीय लोकतन्त्र और संयुक्त राज्य अमरीका व अमरीकी महाद्वीप के अन्य राज्यों में अध्यक्षात्मक लोकतन्त्र पाया जाता है। इस प्रकार सरकार राजतन्त्रात्मक, कुलीनतन्त्रात्मक या प्रजातन्त्रात्मक किसी भी प्रकार की हो सकती है, यद्यपि प्रजातन्त्रात्मक सरकार अन्य प्रकार की सरकारों की तुलना में निश्चित रूप से श्रेष्ठ समझी जाती है।

(4) सम्प्रभुता—उपर्युक्त तीन तत्वों से भी अधिक महत्वपूर्ण तत्व सम्प्रभुता है। सम्प्रभुता को राज्य का प्राण कहा जा सकता है। गैटिल के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'सम्प्रभुता ही राज्य का वह लक्षण है जो उसे अन्य समुदायों से अलग करता है' एक निश्चित प्रदेश में रहने वाले तथा सरकार सम्पन्न लोग भी उस समय तक राज्य का निर्माण नहीं कर सकते, जब तक कि इनके अधिकार में सम्प्रभुता न हो। उदाहरणार्थ, स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व भारत की अपनी जनता थी, उसकी एक निश्चित भूमि और सरकार भी थी किन्तु फिर भी वह सही अर्थ में राज्य नहीं था क्योंकि वह स्वयं सम्प्रभुता सम्पन्न न होकर ब्रिटिश नियन्त्रण में, ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग मात्र था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ सम्प्रभुता प्राप्त होने पर ही उसे राज्य का रूप प्राप्त हुआ।

राज्य की सम्प्रभुता से हमारा तात्पर्य यह है कि राज्य आन्तरिक रूप में सर्वोच्च हो अर्थात् अपने क्षेत्र में स्थित सभी व्यक्तियों एवं समुदायों को आज्ञा प्रदान

कर सके, इन आज्ञाओ का पालन करा सके तथा वह बाहरी नियन्त्रण मे मुक्त हो अर्थात् दूसरे राज्यो के साथ अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित कर सके। किन्तु यदि कोई राज्य स्वेच्छा से अपने ऊपर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध स्वीकार कर लेता है तो उससे उसकी स्वतन्त्रता किसी भी प्रकार सीमित नही होती।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक राज्य के अन्तर्गत जनसख्या, निश्चित प्रदेश, नियमपूर्वक स्थापित सरकार और सम्प्रभुता होनी चाहिए। इनमे से किसी भी एक तत्व के अभाव मे उस सगठन को राज्य नही कहा जा सकता है।

क्या सघ की इकाइयाँ राज्य हैं ?

यहाँ एक भ्रान्ति की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है जो सघ राज्यो की इकाइयों के सम्बन्ध मे है। भारतीय सविधान के अन्तर्गत कश्मीर, पश्चिमी बगाल या भारतीय सघ की दूसरी इकाइयो के लिए राज्य शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार सयुक्त राज्य अमरीका के सघ की 50 इकाइयो के लिए भी राज्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। किन्तु वास्तव मे, राज्य शब्द का इस रूप मे प्रयोग करना त्रुटिपूर्ण है क्योकि सघ की इकाइयो मे राज्य का निर्माण करने वाले प्रथम तीन तत्व तो पूर्ण रूप से विद्यमान हैं किन्तु इनकी आन्तरिक सम्प्रभुता सीमित होती है और बाहरी क्षेत्र मे इन्हे सम्प्रभुता प्राप्त नही होती। अत चौथे तत्व (सम्प्रभुता) के अभाव के कारण इन्हें राज्य नहीं कहा जा सकता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व देशी रियासतें—जयपुर, जोधपुर, ग्वालियर व हैदराबाद—भी राज्य नही कही जा सकती, क्योकि उन पर परोक्ष रूप मे ब्रिटिश नियन्त्रण विद्यमान था और उन्हे पूर्ण अशो मे सम्प्रभुता प्राप्त नही थी।

क्या सयुक्त राष्ट्रसघ एक राज्य है ?

कभी कभी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सयुक्त राष्ट्रसघ एक राज्य है ? यह ठीक है कि सयुक्त राष्ट्रसघ के अनेक अग हैं और इसके पास भूमि या निश्चित क्षेत्र भी है, परन्तु फिर भी यह एक राज्य नही है। इसका कारण यह है कि सयुक्त राष्ट्रसघ के पास न तो अपनी जनसख्या है और न ही प्रभुसत्ता। हमे यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि सयुक्त राष्ट्रसघ एक अन्तरराष्ट्रीय राज्य नही है। वह तो स्वतन्त्र राज्य का एक 'स्वैच्छिक सघ (Voluntary Union) ही है। सयुक्त राष्ट्रसघ के आदेशों का पालन करना या न करना सदस्य राज्यो की इच्छा पर निर्भर है क्योकि प्रभुसत्ता सदस्य राज्यो के पास है न कि सयुक्त राष्ट्रसघ के पास। अत सभी दृष्टियों से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सयुक्त राष्ट्रसघ एक राज्य नही है। इसी प्रकार 'राष्ट्रमण्डल' (Commonwealth of Nations) भी एक राज्य नही है।

राज्य और सरकार मे भेद

सामान्यतया राज्य और सरकार इन दोनों शब्दो का प्रयोग पर्यायवाची अर्थों मे किया जाता है। इगलैण्ड के निरकुश शासन अपनी अनियन्त्रित सत्ता को न्यायपूर्ण

सिद्ध करने के लिए दोनों में कोई भेद नहीं मानते थे और फ्रांस के सम्राट लुई चौदहवें कहा करते थे कि 'मैं ही राज्य हूँ' (I am the state)। हॉब्स जैसे राजनीतिक विचारकों द्वारा भी राज्य और सरकार का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार कोल (G D H Cole), ड्यूग्विट (Dugvit) और ए जी केलर (A G Keller) के मतानुसार भी राज्य एक समुदाय की शासन व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परन्तु राज्य और सरकार को समानार्थक समझना सही नहीं है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि राज्य राजनीतिक प्रणाली के अनुसार सगठित एक पूर्ण समुदाय होता है परन्तु सरकार उन उद्देश्यों अथवा लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन मात्र है। अमरीकी विद्वान डॉ गार्नर ने इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "सरकार वह सगठन है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा प्रकट होती है और उसके द्वारा राज्य अपने उद्देश्यों को प्राप्त करता है, यद्यपि सरकार राज्य का एक विशेष गुण है परन्तु इसे राज्य कहना उतना ही अनुचित है जितना किसी प्राणी के मस्तिष्क को प्राणी कहना अथवा किसी निगम (Corporation) के बोर्ड को निगम कहना।"

राज्य और सरकार में प्रमुख रूप से निम्नलिखित भेद बतलाये जा सकते हैं.—

(1) पूर्ण और अंग का भेद—राज्य एक ऐसे पूर्ण का नाम है जिसका एक अंग सरकार है। राज्य चार तत्वों (जनसंख्या, भूमि, सरकार और सम्प्रभुता) से मिलकर बनता है। स्पष्ट ही सरकार राज्य रूपी पूर्ण का एक अंग है और राज्य के अस्तित्व में ही उसका अस्तित्व निहित है। इस प्रकार राज्य और सरकार में वही अन्तर है, जिस प्रकार का अन्तर मानव शरीर और मानव शरीर के किसी एक अंग में होता है। मैकाइवर ने इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "जब हम राज्य के विषय में बात करते हैं तो हमारा अर्थ उस सगठन से होता है जिसका प्रशासकीय अंग सरकार होता है। राज्य का एक संविधान होता है, नियमों का एक संग्रह होता है, सरकार के निर्माण की विधि होती है तथा नागरिकों का एक समूह होता है। जब हम सम्पूर्ण ढाँचे के विषय में विचार करते हैं तब हम राज्य पर विचार करते हैं।"

(2) प्रधान और प्रतिनिधि का भेद—राज्य प्रधान है और सरकार उसकी प्रतिनिधि होती है, राज्य व्यक्तियों का ऐसा सुसगठित समूह है जिसका उद्देश्य सर्वसाधारण की उन्नति होती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक सगठन की आवश्यकता होती है और इस सगठन का नाम ही सरकार है। इस प्रकार सरकार राज्य का वह यन्त्र है जो राज्य के उद्देश्यों को कार्यरूप में परिणत करता है। सम्प्रभु शक्ति राज्य में निहित होती है और सरकार राज्य के प्रतिनिधि के रूप में इस सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग करती है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "सरकार की शक्ति इस कारण है कि वह राज्य से सम्बन्धित है। सरकार प्रभुसत्ता सम्पन्न नहीं है। उसके पास शक्ति इसलिए है कि राज्य ने उसे प्रदान की है।" इस सम्बन्ध में राज्य और

सरकार की तुलना एक 'संयुक्त व्यावसायिक संस्थान' (Joint Stock Company) के भागीदार, स्वामियो व संचालक मण्डल (Board of Directors) से की जा सकती है। जिस प्रकार संचालक मण्डल भागीदारो द्वारा निर्देशित होता है और वह उस व्यावसायिक संस्था की ओर से कार्य करता है, उसी प्रकार राज्य के अन्तर्गत सरकार होती है।

(3) प्रकृति का भेद—राज्य के निर्माण के पीछे विकास की प्रक्रिया है, वह मनुष्य के सजग प्रयत्नो का परिणाम नही है। वह एक प्राकृतिक समुदाय है जिसमे कुछ कृत्रिम गुणो और विशेषताओ का समावेश हो गया है। इसके विपरीत, शासन एक कृत्रिम समुदाय और मनुष्य के सजग प्रयत्नो का परिणाम है। इस प्रकार प्रकृति की दृष्टि से राज्य प्राकृतिक है और सरकार कृत्रिम।

(4) सदस्यता सम्बन्धी भेद—राज्य की सदस्यता बहुत ही आवश्यक है, और सभी नागरिक इसके सदस्य होते हैं किन्तु सरकार के सदस्य थोडे ही होते हैं। सरकार से अभिप्राय राज्य के उन थोडे से व्यक्तियों से होता है जो उसकी व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का निर्माण करते हैं।

(5) स्थायी और अस्थायी का भेद—राज्य स्थायी है जबकि सरकार अस्थायी। राज्य का स्वरूप सामान्यतया स्थायित्व और निरन्तरता का होता है लेकिन सरकारें परिवर्तनशील होती हैं। हाल ही के वर्षों मे भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, कम्बोडिया और ईरान की सरकारो मे परिवर्तन हुए हैं, लेकिन ये राज्य ज्यों के त्यो हैं। इगलैण्ड मे इस अन्तर को एक सुन्दर मुहावरे क रूप मे प्रकट किया गया है—'राजा मृत है, राजा चिरायु हो' (The king is dead, long live the king)।

इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि राज्य तथा सरकार का यह भेद तुलनात्मक ही है, निरपेक्ष नही। उस समय राज्य का भी अन्त हो जाता है, जब कोई राज्य अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है। उदाहरणार्थ, जब मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर विजय प्राप्त कर ली तो अबीसीनिया की सम्प्रभुता का अन्त हो गया और इस प्रकार अबीसीनिया राज्य नही रहा। इसी प्रकार जब हिटलर ने चैकोस्लोवाकिया, ऑस्ट्रिया, पोलैण्ड और बेल्जियम पर विजय प्राप्त कर ली तो वे राज्य नही रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब इन राज्यो ने पुन स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, तो वे दुबारा राज्य बन गय। राज्य मे परिवतन उतना सरल और सामान्य नहीं होता, जितना कि सरकार मे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राज्य और सरकार मे राज्य तुलनात्मक दृष्टि से स्थायी होता है।

(6) मूर्त और अमूर्त का भेद—राज्य राजनीतिक दर्शन की एक अमूर्त धारणा है, परन्तु शासन अथवा सरकार एक मूर्त अथवा ठोस यन्त्र है। राज्य आत्मा है, शासन शरीर। आत्मा की भाँति राज्य अमूर्त है और शरीर की भाँति शासन उसका मूर्त स्वरूप है। विलोबी के शब्दो मे, "यह (राज्य एव सरकार में अन्तर)

उस अन्तर के समान है जो किसी व्यक्ति के नैतिक तथा बौद्धिक व्यक्तित्व और उसके भौतिक शरीर में होता है।"[1]

(7) क्षेत्र का भेद—राज्य और सरकार में क्षेत्र का भी अन्तर है। बिना क्षेत्र के राज्य हो ही नहीं सकता, परन्तु सरकार बिना किसी क्षेत्र के भी हो सकती है जैसे द्वितीय विश्वयुद्ध के समय जब जर्मनी ने यूरोप के अनेक राज्यों पर विजय प्राप्त कर ली, तो फ्रांस आदि देशों की दूसरे राज्यों में निर्वासित सरकारें (Governments in Exile) स्थापित की गयीं। इस प्रकार राज्य सदा क्षेत्र में बँधा हुआ होता है, किन्तु सरकार के सम्बन्ध में यह बात नहीं है।

(8) राज्य का विरोध असम्भव, सरकार का सम्भव—राज्य एक अमूर्त इकाई है किन्तु सरकार राज्य के कार्यों की सिद्धि के लिए एक संस्था है। यदि सरकार के द्वारा त्रुटिपूर्ण आचरण किया जाता है तो नागरिकों द्वारा शासन की आलोचना की जा सकती है और शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा शासन में परिवर्तन का कार्य भी किया जा सकता है, किन्तु नागरिकों को राज्य के प्रति वफादार रहना ही होता है और उनके द्वारा राज्य का विरोध नहीं किया जा सकता। ब्रिटेन में प्रचलित यह कहावत कि हम "शासन की आलोचना, किन्तु सम्राट का जय-जयकार कर सकते हैं (We may condemn the government and cheer the king) राज्य और सरकार के इस भेद को ही स्पष्ट करती है, क्योंकि ब्रिटेन में सम्राट को न केवल शासन वरन् राज्य का प्रधान समझा जाता है।

(9) रूप की एकता और अनेकता का भेद—सरकारें विभिन्न प्रकार की होती हैं और हर प्रकार की सरकार अपने ढंग की होती है। उदाहरणार्थ, सरकार के विभिन्न रूपों—अधिनायकवाद अथवा जनतन्त्रात्मक, एकात्मक अथवा संघात्मक, संसदात्मक अथवा अध्यक्षात्मक—का उल्लेख किया जा सकता है। लेकिन राज्य एक ऐसी सत्ता है जिसका सामान्यत एक ही रूप रहता है। प्रत्येक राज्य के चार अंग होते हैं—जनसंख्या, क्षेत्र, सरकार और सम्प्रभुता।

संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक निर्णय में राज्य और सरकार का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा था कि "राज्य स्वयं एक स्थिर, अस्पृश्य और अदृश्य स्वरूप है, शासन उसका अभिकर्ता है और एक निश्चित क्षेत्र में उसका पूर्ण प्रतिनिधि है किन्तु उसके बाहर उसकी कोई सत्ता नहीं है।"

इस प्रकार राज्य और सरकार में भेद उत्पन्न किया जाता है। लेकिन इतना तो मानना ही होगा कि दोनों एक-दूसरे के बहुत निकट हैं और एक के बिना दूसरे का अस्तित्व निरर्थक है। इसका कारण यह है कि सरकार राज्य की विधिविहित शक्ति की प्रयोगाधिकारी है। इसलिए क्रोचे (Croce) ने कहा है कि "जो व्यक्ति

---

1 "It is analogous to the distinction between a giving individual as a moral and intellectual being as having a physical body."

—Willoughby, *The Fundamental Concepts of Public Law.*

भावात्मकता के स्थान पर वास्तविकता की खोज करते हैं उनके लिए वस्तुत सरकार ही राज्य है।"

राज्य और समाज मे भेद

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो कुछ सीमा तक अपनी प्रवृत्तियो और कुछ सीमा तक परिस्थितियो के परिणामस्वरूप एक राजनीतिक प्राणी भी हो गया है। मानव जीवन की इस सामाजिक और राजनीतिक दोहरी प्रवृत्ति के कारण ही अनेक बार राज्य और समाज के अन्तर को भुला दिया जाता है। प्लेटो और अरस्तू आदि यूनानी विचारक राज्य और समाज मे अन्तर नही करते थे, उनकी धारणा यह थी कि राज्य ही समाज है और समाज ही राज्य। उनकी इस धारणा का कारण यह था कि तत्कालीन यूनानी नगर राज्य इतने छोटे थे कि राज्य और समाज मे अन्तर करना बहुत कठिन था। इस काल के सर्वाधिकारी नगर राज्य मानवीय जीवन के प्रत्येक पहलू पर नियन्त्रण रखते थे। राज्य न केवल एक राजनीतिक सगठन वरन् एक धार्मिक, आर्थिक और सास्कृतिक समुदाय भी था। अत उस समय समाज और राज्य मे अन्तर न मानना नितान्त स्वाभाविक था। प्लेटो और अरस्तू की तरह हीगल और काण्ट जैसे आदर्शवादी विचारक इन दोनो के बीच कोई भेद नही मानते थे तथा हिटलर और मुसोलिनी जैसे फासिस्ट प्रवृत्ति वाले अधिनायक भी अपनी अधिकार सत्ता का अधिक विस्तार करने के लिए इन दोनो के बीच किसी प्रकार का अन्तर स्वीकार नही करते थे। मुसोलिनी कहता था कि 'सभी कुछ राज्य के अन्तर्गत ही है राज्य के बाहर या विरुद्ध कुछ भी नहीं है।'"[1] किन्तु राज्य और समाज एक ही नही है और इस सम्बन्ध मे मैकाइवर ने ठीक ही कहा है कि "हमे राज्य और समाज के बीच स्पष्ट भेद कर लेना होगा, क्योकि राजनीति को सामाजिकता के साथ मिलाना महान भ्रम उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार हम न तो राज्य को समझ सकेंगे और न सरकार को।'[2]

राज्य और समाज का अन्तर मालूम करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि समाज क्या है? मनुष्यो के पारस्परिक सम्बन्धो से ही समाज का निर्माण होता है। पारिभाषिक शब्दावली मे हम यह कह सकते हैं कि समाज उन समस्त समुदायो एव सस्थाओ का पूर्ण योग है जिनके द्वारा मनुष्य अपने सामान्य उद्देश्यो की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। कोल की दृष्टि मे, समाज समस्त मानवीय सम्बन्धों का योग है" और राइट (Wright) के शब्दो मे, 'समाज व्यक्तियों का एक समूह नहीं है

---

1 "All within the state none outside the state and none against the state" —*Mussolini*

2 "In the first place, we must distinguish the state from so iety To indentify the social with the political s to be guilty of the grossest of all confusions, which completely bars any understanding of either soc ety or the state" —MacIver, *The New State*, p. 5

अपितु विभिन्न समूहों के व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों की व्यवस्था है।"[1] इस प्रकार के समाज के अन्तर्गत जो विभिन्न समुदाय होते हैं उनमे राज्य एक विशेष स्थिति प्राप्त राजनीतिक समुदाय है।

राज्य और समाज में प्रमुख रूप से निम्नलिखित अन्तर बतलाये जा सकते हैं :

(1) उत्पत्ति का भेद—व्यक्तियों के बीच सगठित या असगठित रूप से जो भी सम्बन्ध पाये जाते हैं उन सम्बन्धो को सामूहिक रूप से समाज कहा जाता है, लेकिन राज्य का निर्माण राजनीतिक रूप से सगठित सम्बन्धों के आधार पर ही होता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक परम्पराओं और कुटुम्ब, धार्मिक या आर्थिक सघ जैसे सामाजिक सघों का जन्म राज्य से पूर्व हुआ है। अत यह कहा जा सकता है कि समाज राज्य से प्राचीन है। जिस प्रकार व्याकरण से पूर्व भाषा का आगमन होता है, उसी प्रकार राज्य से पूर्व समाज का उदय हुआ है।

(2) प्रदेश का अन्तर—समाज के लिए निश्चित प्रदेश आवश्यक नहीं है परन्तु राज्य के लिए आवश्यक है। राज्य के लिए क्षेत्र आवश्यक है, उसके बिना राज्य की कल्पना भी नहीं हो सकती। परन्तु समाज के लिए निश्चित क्षेत्र या प्रदेश आवश्यक नहीं है क्योंकि यह स्थानीय भी हो सकता है और अन्तरराष्ट्रीय भी।

(3) लक्ष्य का भेद—लक्ष्य की दृष्टि से समाज व्यापक लक्ष्यों वाला तथा राज्य अपेक्षाकृत सकुचित लक्ष्यों वाला सगठन है। समाज का लक्ष्य मानव व्यक्तित्व के प्रत्येक पहलू—सामाजिक, नैतिक, आर्थिक एव राजनीतिक—की उन्नति होता है किन्तु राज्य का लक्ष्य विशेष रूप से एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करना ही होता है जिसके अन्तर्गत विभिन्न समुदाय अपने कार्य ठीक प्रकार से कर सकें। बार्कर के शब्दों मे, "लक्ष्य की दृष्टि से ये भिन्न हैं, राज्य का अस्तित्व एक महान् किन्तु एक ही लक्ष्य के लिए है, समाज का अस्तित्व अनेक लक्ष्यों के लिए है जिनमें कुछ महान तथा कुछ साधारण होते हैं, किन्तु जो समष्टि रूप से गम्भीर तथा व्यापक होते हैं।'

(4) कार्यक्षेत्र का भेद—कार्यक्षेत्र की दृष्टि से भी राज्य समाज की तुलना मे बहुत सीमित है। मानवीय तथा सामाजिक जीवन के अनेक ऐसे पहलू हैं जिनका न तो राज्य से कोई सम्बन्ध है और न ही जिनमें राज्य सफलतापूर्वक हस्तक्षेप कर सकता है, इसके अतिरिक्त राज्य व्यक्तियों के केवल बाहरी कार्यों से ही सम्बन्ध रखता है और मानव जीवन के सहयोग, सहानुभूति, सेवा और प्रेम जैसे गुणों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु समाज मानव जीवन के प्रत्येक पहलू, आन्तरिक एव बाहरी, सभी प्रकार से सम्बन्ध रखता है।

1 "It is not a group of people it is the system of relationship that exists between the individuals and the group." —Wright

(5) संगठन का भेद—समाज का लक्ष्य मानव जीवन की प्रत्येक प्रकार की उन्नति करना होता है और अपने इस बहिर्मुखी लक्ष्य के कारण समाज का सगठन भी बहिर्मुखी होता है तथा विभिन्न समुदाय पृथक्-पृथक् रूप से समाज के लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत, राज्य का सर्वप्रथम कार्य शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना होता है और इस कार्य को ठीक प्रकार से करने के लिए राज्य के सगठन मे एकता की आवश्यकता होती है। अत राज्य के विभिन्न अग होने पर भी उसके सगठन मे एक ऐसी आधारभूत एकता होती है, जिस प्रकार की एकता का समाज मे अभाव होता है।

सम्प्रभुता का भेद—राज्य और सरकार मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण भेद सम्प्रभु शक्ति का होता है। राज्य एक प्रभुत्व सम्पन्न सस्था है और इस नाते राज्य के कानूनों और आदेशों के पीछे दण्डकारी शक्ति होती है, किन्तु समाज के पास इस प्रकार की सम्प्रभुता और दण्डकारी शक्ति का नितान्त अभाव होता है। समाज केवल नैतिक बल के आधार पर ही अपने आदेशों का पालन करा सकता है। बार्कर ने राज्य और समाज के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "एक का क्षेत्र ऐच्छिक सहयोग है, उसका बल सद्‌भावना का बल है और लचीलापन ही उसकी कार्य-पद्धति है जबकि दूसरे का कार्यक्षेत्र यान्त्रिक कार्यवाही का क्षेत्र है उसका बल सैन्य शक्ति है और कठोरता उसकी कार्य पद्धति है।"[1]

सक्षेप मे, राज्य समाज के अन्तर्गत सगठित विविध समुदायों मे से एक है, जो समाज के बाद उत्पन्न हुआ है जिसका लक्ष्य और कार्यक्षेत्र समाज की अपेक्षा पर्याप्त सकुचित है। मैकाइवर ने इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "राज्य एक ऐसा सगठन है जो कि न तो समाज का समकालीन है और न ही उसके समान व्यापक है, वरन् जिसका निर्माण समाज के अन्तर्गत एक निश्चित व्यवस्था के रूप में, कुछ विशेष लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया गया है।"[2]

राज्य और समाज मे इस प्रकार का भेद होते हुए भी इन दोनो मे घनिष्ठ सम्बन्ध है और ये एक दूसरे पर आश्रित हैं। राजकीय नियम सामाजिक आचरण पर ही आधारित होते हैं और सामाजिक एव राजकीय नियमों के आधार पर ही सामाजिक आचरण को नियमित रखना सम्भव हो पाता है। राज्य और समाज की निकटता के सम्बन्ध मे बार्कर का कहना है कि 'समाज और राज्य एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। यदि ऐसा न होता तो राज्य की स्थापना हो ही नहीं सकती थी।"

---

[1] "The area of one is voluntary, co-operation its energy is that of goodwill and its method is elasticity, while area of the other is rather that of mechanical action, its energy is force and its method rigidity."
—Barkar *Principles of Social and Political Theory*, p 45.

[2] "The state is a structure neither co-eval nor co-extensive with society but built within it, as a determinate order for the attainment of specific ends."
—MacIver, *The Modern State*, p. 40.

राष्ट्र—राजनीति विज्ञान में जितना भ्रम राष्ट्र तथा राष्ट्रीयता शब्दों ने उत्पन्न किया है, शायद बहुत ही कम शब्दों ने उत्पन्न किया होगा। राष्ट्र लैटिन भाषा के शब्द 'नेटस' (Natus) से निकला है जिसका अर्थ जाति अथवा जन्म होता है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि राष्ट्र जाति का पर्यायवाची है। बर्गेस तथा लीकॉक ने राष्ट्र की व्याख्या मूल रूप में वंश के आधार पर की है। प्रो. बर्गेस के शब्दों में "राष्ट्र जातीय एकता के सूत्र में बँधी हुई वह जनता है, जो किसी अखण्ड भौगोलिक प्रदेश में निवास करती हो।" उन्होंने आगे कहा है कि "जातीय एकता से उनका अभिप्राय ऐसी आबादी से है जिसकी एक सामान्य भाषा और साहित्य, सामान्य परम्परा अथवा इतिहास, रीति-रिवाज तथा उचित और अनुचित की सामान्य चेतना है।"

लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्र की उपर्युक्त धारणा में परिवर्तन हो गया है और अब साधारणतया राष्ट्र का तात्पर्य उस मानव समूह से लिया जाता है जिसमें कि एकता तथा यदि वे परतन्त्र हों तो स्वतन्त्र होने की भावना पायी जाती हो। राष्ट्र के लिए यह आवश्यक नहीं समझा जाता कि वह पूर्ण स्वतन्त्र हो, राष्ट्र के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति की अभिलाषा ही पर्याप्त समझी जाती है। कुछ विद्वानों द्वारा राष्ट्र की परिभाषा निम्न प्रकार की गयी है।

जे एस. मिल ने राष्ट्र की परिभाषा करते हुए कहा है कि "राष्ट्र मनुष्य जाति का एक ऐसा भाग है जो कि अन्य लोगों की तुलना में एक-दूसरे से समान सहानुभूतियों के धागे से संयुक्त हो तथा जिनमें एक ही समान सरकार के अधीन रहने की प्रबल इच्छा हो।"

ब्राइस के अनुसार, "राष्ट्र एक राष्ट्रीयता है जिसने अपना संगठन एक राजनीतिक संस्था के रूप में कर लिया है और जो स्वाधीन हो अथवा स्वाधीनता का इच्छुक हो।"[1]

प्रो गार्नर के अनुसार, "राष्ट्र सांस्कृतिक रूप से संगठित और एकरूपीय जन-समुदाय है, जिसे अपने आध्यात्मिक जीवन की एकता और अभिव्यक्ति का ज्ञान है और जो उसे बनाये रखना चाहता है।"[2]

जॉन स्टुअर्ट मिल, रॉबर्ट ब्राइस, रैम्जे म्योर, गार्नर आदि विद्वानों द्वारा राष्ट्र की जो परिभाषाएँ की गयी हैं, उन परिभाषाओं में व्यक्त सामान्य विचार के आधार पर कहा जा सकता है कि राष्ट्र जन-समूह में विद्यमान एकता की उस विशेष

1 "A nation is a nationality which has organized itself in to a political body either independent or desiring to be independent."

—Robert Bryce *Impression of South Africa*, p 33.

2 "A nation is a culturally homogeneous social group which is atonce conscious and tenacious of its unity of psychic life and expression."

—*Garner*

भावना का नाम है जो इस जन समुदाय को साथ रहने और किसी भी बाहरी नियन्त्रण का प्रतिरोध करने के लिए प्रेरित करती है।

राष्ट्र तथा राज्य

सामान्यतया राष्ट्र तथा राज्य इन दोनो शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची रूप मे किया जाता है। अनेक बार हम 'भारत राष्ट्र' शब्द का प्रयोग करते हैं, जबकि वास्तव मे हमारा आशय 'भारत राज्य' से होता है। इसी प्रकार विश्व के विविध राज्यो के अन्तरराष्ट्रीय सगठन को 'सयुक्त राष्ट्र संघ' का नाम दिया गया है, जबकि विशुद्ध परिभाषित दृष्टि से इस संगठन का नाम 'सयुक्त राज्य सघ' होना चाहिए था। व्यवहार रूप मे चाहे 'राज्य' और 'राष्ट्र' शब्दो का इस प्रकार से प्रयोग किया जाता हो, राजनीति विज्ञान की दृष्टि से हम राज्य और राष्ट्र को एकसमान नही कह सकते हैं। वास्तव में, ये दोनो मौलिक रूप से भिन्न हैं और इन दोनों में निम्न प्रकार से अन्तर किया जा सकता है

(1) राज्य पूर्णतया एक भौतिक और राजनीतिक व्यवस्था है जिसका उद्देश्य मानव जीवन की भौतिक आवश्यकताओ को पूर्ण कर व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास की आवश्यक परिस्थितियाँ प्रदान करना है, किन्तु इसके विपरीत राष्ट्र एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक सगठन है जिसका आधार एकता का ऐसा भाव होता है जो अनिवार्य रूप से चेतनात्मक होता है। राज्य न तो इस आध्यात्मिक भावना को उत्पन्न कर सकता है और न ही समाप्त कर सकता है। राष्ट्र के सम्बन्ध मे स्पेंगलर ने ठीक ही कहा है कि "राष्ट्र भाषायी, राजनीतिक या जैविक नहीं वरन् आध्यात्मिक इकाइयाँ होते हैं।"[1]

(2) राज्य के निश्चित निर्माणकारी तत्व होते हैं और वे तत्व हैं—जनसख्या, निश्चित भू भाग, सरकार और सम्प्रभुता, किन्तु राष्ट्र के इस प्रकार से निश्चित निर्माणकारी तत्व नही होते हैं। राज्य के तत्व स्थिर होते हैं जबकि राष्ट्र के निर्माणकारी तत्व सदा परिवर्तनशील होते हैं। भूतकाल मे नस्ल की एकता और धर्म आदि के द्वारा एकता की भावना उत्पन्न कर राष्ट्र का निर्माण किया जाता था, लेकिन इस सम्बन्ध मे सामान्य, अतीत, भाषा की समानता और राजनीतिक चेतना के एकसमान स्तर को अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है।

(3) राज्य एक सम्प्रभु सस्था है और उसका अपने नागरिको पर पूर्ण तथा अनियन्त्रित अधिकार होता है। अपने इस अनियन्त्रित अधिकार के बल पर राज्य अपने नागरिको को आज्ञाएँ देता है, आज्ञाएँ मानने के लिए बाध्य करता है और आज्ञाएँ न मानने पर दण्ड प्रदान करता है। इसके विपरीत, राष्ट्र के पास कोई सम्प्रभुता या दण्डकारी शक्ति नही होती है, उसके पास तो केवल नैतिक शक्ति होती

---

1 "Nations are neither linguistic, nor political nor biological but spiritual entities"
—*Spengler*

है। वह अपने सदस्यों से निवेदन करता है, उन्हें समझाता है और अपने सदस्यों की सद्इच्छा पर ही विश्वास करता है।

(4) सरकार राज्य की आत्मा है और उसे राज्य के लिए नितान्त आवश्यक कहा जा सकता है, लेकिन राष्ट्र के लिए सरकार जैसे किसी राजनीतिक संगठन की कोई आवश्यकता नहीं है।

(5) राज्य का निश्चित अर्थ और इसका एक वैज्ञानिक स्वरूप है, परन्तु राष्ट्र के अर्थ में निश्चयात्मकता और वैज्ञानिकता का अभाव है।

(6) राष्ट्र किसी अन्य राज्य की अधीनता में रहकर भी अपने अस्तित्व को कायम रख सकता है। उदाहरणार्थ, 1947 के पूर्व भारत ब्रिटेन के अधीन रहते हुए भी एक राष्ट्र था, इसके विपरीत एक राज्य किसी अन्य राज्य के अधीन रहकर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता है।

इस प्रकार राष्ट्र और राज्य आधारभूत रूप में एक दूसरे से भिन्न हैं। जिमन ने राष्ट्रीयता तथा राज्यत्व के अन्तर को सुन्दर भाषा में स्पष्ट किया है। उसके अपने शब्दों में, "राष्ट्रीयता का सम्बन्ध धर्म की भाँति चेतना से है, राज्यत्व भौतिक है राष्ट्रीयता मनोवैज्ञानिक है, राज्यत्व राजनीतिक है, राष्ट्रीयता मन स्थिति है, राज्यत्व कानूनी स्थिति है राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक सम्पत्ति है, राज्यत्व एक अनिवार्य उत्तरदायित्व, राष्ट्रीयता विचार, भावना और जीवनयापन का एक मार्ग है, राज्यत्व समस्त सभ्यतापूर्ण जीवनयापन की एक अविच्छेद्य दशा है।"

प्रश्न

1 राज्य की परिभाषा कीजिए तथा उसके विभिन्न तत्वों का वर्णन कीजिए। क्या हम निम्नांकित को राज्य कह सकते हैं—तमिलनाडु, जम्मू-कश्मीर, धौलका, संयुक्त राष्ट्र संघ।
2. राज्य का समुदाय तथा सरकार से भेद स्पष्ट कीजिए।
3. "राज्य एक ऐसा ढाँचा है जो कि न तो समाज का समकालीन है और न ही सम-विस्तार वाला, वरन् जिसका निर्माण समाज के अन्तर्गत एक निश्चित व्यवस्था के रूप में कुछ विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया गया है।" (मैकाइवर) उपर्युक्त कथन की व्याख्या कीजिए और राज्य तथा समाज में अन्तर बताइए।
4. राष्ट्र की परिभाषा कीजिए और राष्ट्र का राज्य से अन्तर स्पष्ट कीजिए।

6

राज्य की प्रकृति : सावयव सिद्धान्त और आदर्शवादी सिद्धान्त

[NATURE OF STATE ORGANIC AND IDEALISTIC THEORIES]

"राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप, कार्यक्षेत्र तथा उद्देश्यों के विषय मे प्रत्येक विचारधारा कुछ विशेष सिद्धान्तों की समर्थक है और ये सिद्धान्त रूप एव तथ्य की दृष्टि से बहुधा परस्पर भिन्न हैं।"[1]

—गार्नर

राज्य की प्रकृति (Nature of State)

प्रत्येक विचारक ने अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार राज्य पर विचार किया है और उसे उन लक्ष्यो से युक्त माना है जो उसकी विचार प्रणाली के अनुसार होते हैं। उदाहरणार्थ, समाजशास्त्री राज्य को एक सामाजिक तथ्य के रूप मे मानते हैं, इतिहासकार इसको ऐतिहासिक विकास का फल मानते हैं, नैतिक दार्शनिक इसको नैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक सस्था मानते हैं, मनोवैज्ञानिक इसको एक ऐसा सगठन मानते हैं जो अपनी इच्छा भौतिक कानूनो के अनुसार प्रकट करता है, राजनीतिशास्त्री इसको एक ऐसी सस्था मानते हैं जो शान्ति और व्यवस्था हेतु बनी है और विधिशास्त्री इसको कानूनो की उत्पत्ति और कानूनी अधिकारो की रक्षा हेतु निर्मित एक सस्था मानते हैं। इस प्रकार विभिन्न विद्वानो ने राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध मे विभिन्न सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे प्रतिपादित इन विविध सिद्धान्तो मे विधिशास्त्रीय सिद्धान्त, सावयव सिद्धान्त, सामाजिक समझौता सिद्धान्त और आदर्शवादी सिद्धान्त प्रमुख हैं राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध मे सर्वाधिक प्रमुख सिद्धान्त निश्चित रूप से दो ही हैं, प्रथम, राज्य

---

1 "Each is partisan of particular theories regarding the origin, nature, sphere, function and ends of the state and their various theories often differ, one from another in form and substance"

—Garner, *Political Science and Government*, pp 187-188.

की प्रकृति का आंगिक या सावयव सिद्धान्त और द्वितीय, राज्य की प्रकृति का आदर्शवादी सिद्धान्त।

आंगिक या सावयव सिद्धान्त
(ORGANIC THEORY)

सावयव सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य को शरीर का स्वरूप माना गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग होते हैं और वह उनसे मिलकर बनता है उसी प्रकार राज्य के विभिन्न अंग होते हैं और वह उनसे मिलकर बनता है। जिस प्रकार शरीर अंगों का समूह मात्र नहीं होता है और उनका उन अंगों से पृथक भी अस्तित्व होता है, उसी प्रकार यद्यपि व्यक्तियों से मिलकर राज्य का निर्माण होता है, किन्तु इन व्यक्तियों से पृथक भी राज्य का अपना एक अस्तित्व होता है। जिस प्रकार शरीर से पृथक अंगों का कोई अस्तित्व नहीं होता, उसी प्रकार राज्य से पृथक व्यक्तियों का कोई अस्तित्व नहीं होता है। प्राणी शरीर के समान ही राज्य भी विकासशील होता है। इस प्रकार सावयव सिद्धान्त राज्य को कल्पनामात्र न मानकर उसको एक वास्तविक व्यक्ति शरीर मानता है और इसके अनुसार राज्य और व्यक्ति में उसी प्रकार की अन्तरनिर्भरता का सम्बन्ध है जिस प्रकार का सम्बन्ध अधिकारी और उसके विभिन्न शारीरिक अंगों में होता है। गार्नर के अनुसार, "सावयव सिद्धान्त एक प्राणिवैज्ञानिक धारणा है जो राज्य को जीवधारी व्यक्ति मानता है, उसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों को जीवधारी शरीर के कोष्ठों के समान समझता है और राज्य तथा व्यक्ति के बीच ठीक उसी प्रकार के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की कल्पना करता है जैसा सम्बन्ध शरीर और उसके अंगों के बीच होता है।"

सिद्धान्त का विकास—वस्तुत सावयव सिद्धान्त उतना ही पुराना है जितनी कि स्वत राजनीतिक विचारधारा। प्लेटो ने राज्य को एक वृहत आकार का मनुष्य बतलाकर व्यक्ति तथा राज्य के बीच पूर्ण सादृश्य स्थापित किया है। उसने समाज को तीन वर्गों में विभाजित किया—शासक, योद्धा तथा श्रमिक, और इस विभाजन का आधार मानव आत्मा के तीन गुण—बुद्धि, साहस तथा इन्द्रिय तृष्णा—माने हैं। अरस्तू ने भी राज्य तथा उसके नागरिकों की तुलना शरीर तथा उसके अंगों से की है। रोमन विद्वान सिसरो भी इसी विचारधारा का समर्थक है और वह राज्य के प्रधान को मानव शरीर पर शासन करने वाली आत्मा की उपमा देता है। मध्य युग में जॉन ऑफ सैलिसबरी, मार्सिग्लिओ ऑफ पेडुआ, ओक्हम, अल्थूसियस, थामस एक्वीनास, आदि कई मध्यकालीन लेखकों ने भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इनके बाद हाब्स और रूसो ने भी कुछ इसी प्रकार के विचारों का प्रतिपादन किया। इसी प्रकार हॉब्स ने अपनी राज्य विषयक पुस्तक का नाम 'लेवायथन' (*Levaithan*) अर्थात "विशालकाय जलीय जन्तु" रखा है। परन्तु हॉब्स और रूसो की विवेचना तथा तुलना अत्यधिक अतिशयोक्तिपूर्ण है।

19वी सदी के प्रारम्भ मे राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सामाजिक समझौता सिद्धान्त का ह्रास होने के साथ ही सावयव सिद्धान्त की नवीन अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। प्राचीन युग और मध्य युग के विचारको ने तो राज्य और मानव शरीर के बीच तुलना ही उपस्थित की थी, उनका यह विचार था कि राज्य मानव शरीर या जीवधारी से मिलता-जुलता है किन्तु 19वी सदी के विचारक इससे आगे बढ गये और उन्होने राज्य को जीवधारी या मानव शरीर ही माना। विस्तार के साथ इस प्रकार की धारणा का प्रतिपादन किया गया और उस काल मे राज्य रूपी शरीर के साथ पोषक व्यवस्था, स्नायविक प्रणाली, परिचालन व्यवस्था, आदि गुण भी जोड दिये गये।

राज्य के सम्बन्ध में इस नवीन विचारधारा का जन्म जर्मनी मे हुआ और वहाँ इसे फिक्टे और ब्लटशली की विचारधारा का प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ। ब्लटशली ने तो इस सिद्धान्त को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। एक स्थान पर ब्लटशली लिखता है कि **"जिस प्रकार एक तैल चित्र तेल के मात्र बिन्दुओं से कुछ अधिक वस्तु होता है, जिस प्रकार प्रस्तर मूर्ति संगमरमर के टुकडों से अधिक है, जिस प्रकार एक मनुष्य जीवाणुओ मात्र के परिणाम तथा रक्त जीवाणुओं की अपेक्षा कुछ उच्च होता है, उसी प्रकार राष्ट्र नागरिकों के योग मात्र से कुछ अधिक होता है और वह नियमों के सग्रह मात्र से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।"** ब्लटशली ने तो अपने जीवधारी की तुलना को इस सीमा तक आगे बढाया कि राज्य को यौन गुणो के साथ जोड दिया और उसे पुरुष का रूप प्रदान किया।

हर्बर्ट स्पेन्सर और सावयव सिद्धान्त—यद्यपि सावयव सिद्धान्त अत्यन्त पुराना है और प्लेटो, अरस्तू, सिसरो, हॉब्स, रूसो आदि अनेक विचारको की धारणाओ मे इसका प्रतिपादन हुआ है, लेकिन **सावयव सिद्धान्त का सबसे विशद विवेचन इगलैण्ड के विचारक स्पेन्सर ने किया है** और इसी कारण सावयव सिद्धान्त स्पेन्सर के नाम के साथ सम्बद्ध है। इसने राज्य और व्यक्ति के बीच सूक्ष्म रूपक बाँधते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि राज्य या समाज एक प्राकृतिक जीवित शरीर है जो अन्य जीवधारियो से किसी भी तरह भिन्न नहीं है। उसने राज्य और शरीर के बीच निम्नलिखित प्रकार से समानताएँ बतलायी हैं

(1) रचना—जिस प्रकार शरीर की रचना रक्त, माँस, हड्डी आदि से होती है उसी प्रकार राज्य भी व्यक्तियो से मिलकर बना है।

(2) जन्म—प्राणी शरीर तथा राज्य दोनो का ही जन्म जीवाणुओ के रूप मे प्रारम्भ होता है।

(3) विकास—जीवधारी और राज्य दोनो की वृद्धि और विकास का क्रम एक-सा ही है। जिस प्रकार जीव और शरीर साधारणतया समानता से भिन्नता तथा जटिलता की ओर बढते चलते हैं, उसी प्रकार राज्य भी एक साधारण तथा प्राकृतिक अवस्था से धीरे-धीरे विकसित होकर आधुनिक रूप प्राप्त कर सकता है।

(4) परस्पर निर्भरता—जीवधारी शरीर और राज्य दोनों में ही अन्तर-निर्भरता पायी जाती है। जिस प्रकार एक अंग के निर्बल और बीमार हो जाने का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है, उसी प्रकार राज्य का स्वास्थ्य और बल तथा उसकी समृद्धि भी उस राज्य के व्यक्तियों और वर्गों पर निर्भर करती है। उनके कार्यों की एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया होती है। जिस प्रकार शरीर के अवयवों द्वारा ठीक प्रकार से कार्य न किये जाने पर शरीर को हानि पहुँचती है उसी प्रकार समाज में यदि लुहार अपना काम न करें, किसान अन्नोत्पादन न करें और व्यापारी अन्न वस्तु का वितरण ठीक प्रकार से न करें तो सम्पूर्ण समाज को हानि पहुँचेगी।

(5) संगठन—शरीर तथा राज्य का संगठन भी एक ही प्रकार का होता है। शरीर के तीन भाग होते हैं—जीवन प्रणाली, विभाजन प्रणाली और विनिमय प्रणाली। इन प्रकार की तीनों प्रणालियों पर मस्तिष्क अपना पूर्ण नियन्त्रण रखता है। शरीर का मुख्य अंग यही है। राज्य का संगठन भी इसी प्रकार का है। राज्य में भी जीवन प्रणाली के अनुसार उत्पादन क्रिया, विभाजन प्रणाली के अनुसार यातायात एवं संवादवाहन के साधन तथा मस्तिष्क के समान सरकार होती है। स्पेन्सर ने 1860 में 'वेस्टमिनिस्टर रिव्यू' (Westminister Review) नामक पत्रिका में लेख लिखा था, जिसमें उसने हृदय से बाहर रक्त ले जाने वाली और बाहर से हृदय को रक्त पहुँचाने वाली नाड़ियों तथा रेल के ऊपर तथा नीचे की ओर से जाने वाली तार की लाइनों में समानता बतलायी थी।

(6) विनाश क्रम—जिस प्रकार जीव शरीर नाशवान होता है और उसका निरन्तर विनाश होता रहता है, शरीर के पुराने घटकों के स्थान पर नवीन घटक आते रहते हैं, उसी प्रकार राज्य में वृद्ध और बीमार व्यक्ति मरते हैं तथा उनके स्थान पर नवीन व्यक्ति जन्म लेते रहते हैं।

इस प्रकार स्पेन्सर राज्य और मानव शरीर में समानताएँ स्थापित करता है।

असमानताएँ—इतना साम्य होते हुए भी स्पेन्सर स्वीकार करता है कि राज्य व मानव शरीर में प्रमुख रूप से दो भेद हैं

(1) पारस्परिक निर्भरता की सीमा में भेद—जीव रूपी शरीर के अंग यदि एक दूसरे से या शरीर से अलग हो जायें तो उनका कोई अस्तित्व नहीं रहता, जैसे हाथ या पैर को शरीर से अलग कर देने पर उनका कोई उपयोग और महत्व नहीं रहेगा, लेकिन यदि राज्य के अंग अलग कर दिये जायें तो भी उनका महत्व बना रहता है। उदाहरण के लिए, राज्य के नष्ट हो जाने पर भी उसके अंग मनुष्य का कुछ महत्व बना रहेगा।

(2) चेतना शक्ति का भेद—शरीर के अन्तर्गत समस्त चेतना शक्ति मस्तिष्क में केन्द्रित होती है, [illegible] शरीर के अंगों की अपनी कोई पृथक् चेतना नहीं होती, किन्तु राज्य में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी पृथक् पृथक् चेतना शक्ति होती है जो दूसरों से पूर्णतया स्वतन्त्र होती है।

इन असमानताओ के आधार पर स्प सर ने यह निष्कर्ष निकाला कि समाज मे प्रत्येक के कल्याण की बात सोची जाती है और समाज का अस्तित्व अपने सदस्यो क कल्याण हतु ही होता है। समाज के सदस्य इसके कल्याण का साधन मात्र नही हो सकते हैं। स्पसर के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का यही केन्द्रीय भाव है।

स्प सर के अतिरिक्त जिन लेखको ने सावयव सिद्धा त का व्यापक रूप म प्रयोग किया है उनम आस्टियन विचारक एलबट स्कफिल रूसी विद्वान पाल लनिनफील्ड फासीसी विद्वान रेन वम्स काम्ट गमप्लाविज आदि प्रमुख हैं।

आलोचना—साहित्यिक दृष्टि से प्राणी शरीर तथा राज्य की तुलना भले ही रुचिकर एव सुदर प्रतीत हो किन्तु वास्तविक अर्थ मे राज्य और मानव शरीर क बीच समानता नही है और न ही सावयव सिद्धान्त राज्य के स्वरूप की पूणतया सन्तोषजनक व्याख्या है। ला फर (La Fur) का मत है कि यदि हम तुलना करते करते एकरूपता बताने लग और कहने लग कि राज्य एक व्यक्ति है या रीढ़ की हड्डी वाला प्राणी है तो यह सामान्य ज्ञान के विरुद्ध होगा। लाड एक्टन ने तो इस प्रकार की समानताओ रूपको एव अलकारो क मायाजाल के विरुद्ध चेतावनी दी है।[1] जलीनेक का भी कथन है कि इस सिद्धा त को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए अन्यथा इसमे जो कुछ सत्य है वह भी उपमाओं के असत्य मे छिप जायेगा।[2] सावयव सिद्धान्त की प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारो पर आलोचना की जा सकती है

(1) समानता पूण नहीं है—कई बातो के सम्बन्ध म शरीर तथा राज्य म कोई समानता नही है। जिन तत्वो से शरीर बनता है उनकी तुलना व्यक्ति स नही की जा सकती है शरीर के घटकों का कोई पृथक अस्तित्व इच्छा व चेतना नही होती व पदार्थ के अशमात्र होते हैं किन्तु व्यक्ति का एक पृथक अस्तित्व इच्छा एव चेतना शक्ति होती है। यह सत्य है कि समाज तथा राज्य के बिना व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूण विकास नही कर सकता परन्तु वह उसके बिना जीवित अवश्य ही रह सकता है। इस सम्बन्ध म अर्नेस्ट बाकर का कथन है कि राज्य एक जीवधारी नहीं है वरन वह एक जीवधारी के समान है। वह जीवधारी नहीं है क्योकि उसकी बनावट शारीरिक नहीं है। वह एक मानसिक बनावट है। सामान्य उद्देश्य के लिए वह विभिन्न विभागो का सगठन है।

(2) व्यक्ति का स्थान पूव निर्धारित नहीं होता—शरीर के अन्तगत विभिन्न अगो का स्थान पूव निर्धारित होता है। शरीर के प्रत्येक अग के स्थान एव काय कुछ प्राकृतिक शक्तियो द्वारा निश्चित किय जाते हैं किन्तु व्यक्ति समाज म अपना स्थान

---

[1] Lord Acton (Quoted from J W Garner's P l cal Sc n e an l G nm nt p 204)

[2] Jellneck (Quoted from Garner's Ib d p 4)

और भाग्य का स्वयं ही निर्माता होता है तथा समाज में उसका स्थान पूर्व-निर्धारित नहीं होता।

(3) जन्म, विकास तथा मृत्यु के नियम भिन्न हैं—एक जीवित शरीर दो प्राणियों के समागम से जन्म लेता है, किन्तु राज्य की उत्पत्ति के लिए दो राज्यों का होना आवश्यक नहीं है, इसके अतिरिक्त जीवित शरीर जिस प्रकार जन्म, विकास और मृत्यु के अनिवार्य नियमों में बँधा हुआ है, राज्य इस प्रकार के किसी नियम विशेष से बँधा हुआ नहीं है। एक जीवित शरीर भीतर से बढ़ता है और उसकी वृद्धि व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं करती है, किन्तु राज्य बदलता रहता है और उसकी उन्नति में उसके सदस्यों के प्रयत्नों एवं इच्छा का बहुत योग होता है। अन्त में, प्राणी शरीर विनाशशील होता है और वृद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त होता है, किन्तु इसके विपरीत राज्य स्थायी होता है। जेलीनेक के शब्दों में, "विकास, पतन तथा मृत्यु राज्य के जीवन की आवश्यक प्रक्रियाएँ नहीं हैं, यद्यपि प्राणी शरीर के जीवन से इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार एक वृक्ष अथवा प्राणी शरीर नया जीवन ग्रहण करता है, उसी प्रकार राज्य का प्रादुर्भाव या पुनरुद्धार नहीं होता है।"[1]

(4) राज्य के कार्यक्षेत्र की सन्तोषजनक व्याख्या नहीं—सावयव सिद्धान्त "राज्य को क्या करना चाहिए हमारे इस प्रश्न का समाधान नहीं करता है। सावयव सिद्धान्त के विभिन्न समर्थकों ने राज्य के कर्तव्यों के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न निष्कर्ष निकाले हैं और इस सिद्धान्त का प्रयोग व्यक्तिवाद तथा निरंकुश शासन तक किसी भी प्रकार की परस्पर विपरीत विचारधारा का समर्थन करने के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए, स्पेंसर ने इस सिद्धान्त का प्रयोग अपने व्यक्तिवाद के समर्थन हेतु किया है। परन्तु हक्सले ने इस निष्कर्ष को गलत बताते हुए कहा है कि प्राणी शरीर में मस्तिष्क शरीर के अन्य अंगों पर निरंकुश शासन करता है, इसलिए यदि समाज को शरीर माना जाय तो राज्य कर्तव्य सम्बन्धी सिद्धान्त निरंकुश शासन होगा, व्यक्तिवाद नहीं। गैटल ने ठीक ही कहा है कि "सावयव सिद्धान्त राज्य की प्रकृति की कोई विश्वसनीय व्याख्या नहीं है और न ही हमारा कुछ पथ प्रदर्शन कर सकता है।"[2]

(5) सावयव सिद्धान्त के भयंकर परिणाम हो सकते हैं—सावयव सिद्धान्त को स्वीकार करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए बहुत अधिक भयंकर परिणाम हो सकते हैं। यदि राज्य को व्यक्ति शरीर माना जाय तो शरीर के अंगों के समान व्यक्ति साधन मात्र रह जायेगा। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने के परिणामस्वरूप

---

1 "Growth, decline and death are not the necessary processes of state life though they are inseparable from the life of organism. The state does not originate or renew itself, as a plant or an animal does." —*Jellineck*

2 "The organismic theory is neither a satisfactory explanation of the nature of the state, nor a trustworthy guide to state activity."
—Gettell, *Introduction to the Political Science*, p. 112

राज्य के व्यक्तित्व मे व्यक्ति का व्यक्तित्व समाहृत हो जाता है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता एव उसके अधिकारो का महत्व समाप्त हो जाता है। ये मान्यताएँ तानाशाही को जन्म देने वाली और निश्चित रूप से अप्रजातान्त्रिक हैं। बार्कर के अनुसार, 'यह सिद्धान्त राज्य की सत्ता की वृद्धि के साथ-साथ नागरिक अधिकारो की रक्षा का असफल प्रयत्न करता है।"[1]

(6) स्पेन्सर द्वारा सिद्धान्त का त्रुटिपूर्ण प्रयोग—सावयव सिद्धान्त का सबसे प्रमुख रूप मे हरबर्ट स्पेन्सर द्वारा प्रयोग किया गया है और उसके द्वारा इस सिद्धान्त के आधार पर ऐसे निष्कर्ष निकाले गये हैं जिनका सावयव सिद्धान्त से कोई मेल नही बैठना है। स्पेन्सर द्वारा सावयव सिद्धान्त के आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन किया गया है, किन्तु जैसा कि बार्कर ने कहा है कि "प्राणी विज्ञान तथा व्यक्तिवाद दो ऐसे अनमेल घोडे सिद्ध हुए हैं जो प्राणी को दो विरोधी दिशाओं मे खींचते हैं।"[2]

सावयव सिद्धान्त का महत्व—उपर्युक्त आलोचनाओ से यह नहीं समझा जाना चाहिए कि सावयव सिद्धान्त का कोई मूल्य और महत्व नही है। वस्तुत राज्य के स्वरूप तथा व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए यह सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। एम कैचने (M Kechnie) ने तो इस सिद्धान्त को समस्त राजनीतिक दर्शन की आधारशिला माना है।

गैटल ने इस सिद्धान्त मे निम्नलिखित गुण बतलाते हैं

(1) यह सिद्धान्त राज्य के ऐतिहासिक विकास का महत्व बतलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक कृत्रिम वस्तु नही है अपितु उसका विकास हुआ है।

(2) यह सिद्धान्त इस तथ्य पर विश्वास करता है कि मनुष्य स्वभावतया एक सामाजिक प्राणी है और उसकी सामाजिक प्रवृत्ति ही राज्य को जन्म देती है।

(3) यह राज्य और नागरिको की पारस्परिक निर्भरता पर बल देता है।

(4) यह सामाजिक जीवन की मौलिक एकता पर जोर देता है।

(5) यह सिद्धान्त इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि समाज केवल बिखरे हुए व्यक्तियो का समूह मात्र ही नही है। समाज के सभी व्यक्ति एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और सब मिलकर समाज पर निर्भर करते हैं। इस सिद्धान्त का महत्व इस विचार मे निहित है कि सबके कल्याण मे ही व्यक्ति का कल्याण निहित है।

निष्कर्ष—राज्य के स्वरूप को शरीर रूप मे प्रतिपादित करने वाले उपर्युक्त विद्वानो के विचारो मे हमे दो प्रकार की विचारधाराओ के दर्शन होते हैं। प्रथम विचारधारा वह है जिसे अपनाते हुए प्लेटो, अरस्तू, सिसरो और जॉन ऑफ सैलिसबरी आदि विचारको ने राज्य को शरीर के समान बतलाया है। द्वितीय

[1] Barker, E., *Political Thought in England* (1848-1914), pp 120, 21.

[2] "Biology and individualism proved to be two unwilling horses, each

विचारधारा ब्लंटशली और प्रमुख रूप से स्पेन्सर द्वारा अपनायी गयी है जिसके अनुसार राज्य न केवल शरीर के समान, वरन् सचमुच एक शरीर ही है। इनमे से प्रथम विचारधारा को स्वीकार करते हुए यह तो माना जा सकता है कि राज्य मानव शरीर के समान है, लेकिन राज्य मानव शरीर ही है, इस बात को स्वीकार किया ही नहीं जा सकता है। वास्तव मे राज्य और शरीर के बीच समानता को अधिक महत्व देना ठीक नहीं है।

आदर्शवादी सिद्धान्त
(IDEALISTIC THEORY)

राज्य की प्रकृति का आदर्शवादी सिद्धान्त कई नामो से जाना जाता है। बोसांके जैसे लेखक इसे 'दार्शनिक सिद्धान्त' (Philosophical Theory) और हॉबहाउस इसे 'आध्यात्मिक सिद्धान्त' (Metaphysical Theory) के नाम से पुकारते हैं। इस सिद्धान्त का जन्म प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों से हुआ और इसके अनुसार राज्य एक प्राकृतिक तथा स्वयं पूर्ण संस्था है और व्यक्ति राज्य के अन्तर्गत रहकर ही अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास कर सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य स्वयं मे ही एक लक्ष्य है।

आदर्शवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रमुख रूप से काण्ट, हीगल, ग्रीन, ब्रेडले बोसांके, आदि विचारकों द्वारा किया गया है। इस सिद्धान्त का चरमोत्कर्ष हमे हीगल की विचारधारा मे मिलता है।

आदर्शवादी सिद्धान्त का अध्ययन दो भागों मे किया जा सकता है—(1) ग्रीन, आदि विचारकों द्वारा प्रतिपादित मध्यममार्गी आदर्शवाद (2) हीगल, आदि दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित उग्र आदर्शवाद।

मध्यममार्गी आदर्शवाद—इसका प्रतिपादन काण्ट और प्रमुख रूप से थामस हिल ग्रीन के द्वारा किया गया है। ग्रीन एक ब्रिटिश दार्शनिक था और वह ब्रिटेन के उदारवाद से प्रभावित था। इसके साथ ही ग्रीन हीगल द्वारा प्रतिपादित आदर्शवाद से भी प्रभावित था। इसलिए उसकी विचारधारा मे उग्र आदर्शवाद और ब्रिटेन के उदारवाद के बीच समन्वय मिलता है और इसी कारण इसे मध्यममार्गी आदर्शवाद के नाम से जाना जाता है। इस मध्यममार्गी आदर्शवाद के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

(1) राज्य एक नैसर्गिक संस्था है—मध्यममार्गी आदर्शवाद अरस्तू के इस विचार को स्वीकार करता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मानव अपनी सामाजिक प्रकृति को सन्तुष्ट करने के लिए जिस समाज की रचना करता है, राज्य उसका सर्वोत्कृष्ट रूप है। राज्य मनुष्य के लिए एक अनिवार्य संस्था भी है। क्योंकि वह उसी के अन्तर्गत अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास कर सकता है। व्यक्ति के लिए राज्य की स्वाभाविकता और अनिवार्यता बतलाते हुए ही ग्रीन कहते हैं कि

"मानवीय चेतना स्वतन्त्रता की माँग करती है, स्वतन्त्रता मे अधिकार निहित हैं और अधिकार राज्य की माँग करते हैं।"[1]

(2) राज्य एक नैतिक सस्था है—मनुष्य सदाचार सम्बन्धी आदर्शों का पालन करके ही अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और राज्य ऐसी बाह्य परिस्थितियाँ प्रदान करता है जिनके अन्तर्गत रहकर ही सदाचार सम्बन्धी नियमो का पालन किया जा सकता है। इस प्रकार राज्य एक नैतिक सस्था है जो व्यक्ति को नैतिक जीवन व्यतीत करने हेतु आवश्यक परिस्थितियाँ प्रदान करता है।

(3) व्यक्ति तथा राज्य परस्पर अन्योन्याश्रित हैं—आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक जीवित सावयवी है और राज्य तथा व्यक्ति मे वही सम्बन्ध है जो शरीर तथा अग मे होता है।

व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास राज्य मे ही सम्भव है और राज्य तथा व्यक्ति के हित म किसी प्रकार का विरोधाभास नही है। जिस प्रकार शरीर के अगो का शरीर से पृथक् कोई स्वतन्त्र अस्तित्व एव इच्छा नही होती उसी प्रकार राज्य का व्यक्तियो से पृथक् न तो कोई व्यक्तित्व है और न ही कोई इच्छा शक्ति। इसलिए साधारणतया व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नही हो सकते, लेकिन ग्रीन के द्वारा विशेष परिस्थितियो मे व्यक्ति के राज्य के विरुद्ध विद्रोह के अधिकार को स्वीकार किया गया है।

(4) राज्य अपने नागरिकों की सामाजिक इच्छा का प्रतिनिधि—राज्य का आधार व्यक्तियो की सामाजिक और जन कल्याणकारी इच्छा है। ग्रीन के अनुसार "राज्य शक्ति नहीं, वरन् मानवीय इच्छा पर आधारित होता है।"[2] व्यक्ति राज्य की आज्ञाओ का पालन दण्ड अथवा भय के कारण नही वरन् अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण करता है। राज्य व्यक्तियो की सामाजिक इच्छा का प्रतिनिधि होने के कारण बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है और अपने आप मे एक साध्य है। मेकगवर्न के कथनानुसार "हीगल ने यह घोषणा की थी कि राज्य एक साध्य है तथा व्यक्ति एक साधन-मात्र हैं। इसका साध्य उस राज्य का ऐश्वर्य है जिसका कि वह सदस्य है।"

जर्मन दार्शनिको का उग्र आदर्शवादी सिद्धान्त—जर्मन विद्वान काण्ट ने तो आदर्शवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन उदारवादी ढग पर ही किया था, परन्तु हीगल ने इस सिद्धान्त को अत्यन्त उग्र रूप प्रदान किया। हीगल के उग्र आदर्शवाद का परिचय उसके इस कथन से प्राप्त किया जा सकता है जिसमे वह कहता है कि "राज्य पृथ्वी पर परमात्मा का अवतरण है, वह सर्वशक्तिमान है, वह कभी भी कोई त्रुटि नहीं करता और अपने लाभ के लिए बडे से-बडा बलिदान प्राप्त करने का अधिकारी है।"[3] अग्रेज

---

[1] "Human consciousness postulates liberty, liberty involves rights and rights demand the state" —Green

[2] "Will, not force is the basis of the state" —Green

[3] 'State is the march of God upon earth It is incapable of doing wrong infalible, omnipotent and entitled to every sacrifice which its interest may require of the individual" —Hegel

है। जोड का कथन है कि "आदर्शवादी सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रतिकूल है, क्योंकि व्यक्ति तथा राज्य के मध्य जब कभी कोई संघर्ष होता है तो यह सिद्धान्त मान लेता है कि इसमें राज्य ही सच्चा है व्यक्ति नहीं।"[1]

(3) राज्य साधन है, साध्य नहीं—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य को एक साध्य की स्थिति प्रदान कर दी गयी है लेकिन, वास्तव में, राज्य एक साधन मात्र है जिसका लक्ष्य है मानव कल्याण। यह सत्य है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास राज्य के अन्तर्गत ही कर सकता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य से पृथक् व्यक्ति के व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं है। आदर्शवाद ने राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों का विपरीत रूप में चित्रण किया है। प्रो० हॉबहाउस का कथन है कि "राज्य एक विशाल संस्था है। इसका हित किसी एक प्राणी के हित की अपेक्षा बहुत ही महान् है। इसका क्षेत्र महान् है। इसकी सेवा हमारे आत्म-बलिदान और इसके प्रति कृतज्ञ रहने की अधिकारी है। ये सब बातें सत्य हैं। परन्तु जब राज्य को उसके नागरिकों से भिन्न और उच्च सत्ता मान लिया जाता है तो यह एक कृत्रिम देवता बन जाता है और इसकी पूजा घृणायुक्त रूप धारण कर लेती है, जैसा कि बर्लिन और मोलेक में पाया जाता है।"[2]

(4) यथार्थ तथा आदर्श इच्छा का अन्तर अव्यावहारिक—आदर्शवाद का आधारभूत विचार यह है कि राज्य सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है जो व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का सार होती है। किन्तु यथार्थ और आदर्श इच्छा का अन्तर एवं सामान्य इच्छा की धारणा कल्पना जगत की वस्तु है। व्यवहार में उनका ज्ञान प्राप्त न हो सकने के कारण उनका कोई मूल्य नहीं है।

(5) राज्य, समाज और सरकार भिन्न-भिन्न संस्थाएँ हैं—आदर्शवादी विचार के अन्तर्गत राज्य और समाज एवं राज्य और सरकार को एक-दूसरे का पर्यायवाची समझ लिया गया है किन्तु वास्तव में राज्य सरकार और समाज एक ही नहीं हैं और राज्य के स्वरूप को यथार्थ रूप में समझने के लिए इनमें अन्तर करना आवश्यक है।

(6) प्रगति-विरोधी और भयानक—कुछ विचारकों का कथन है कि आदर्शवादी धारणा प्रगति विरोधी, रूढ़िवादी और अत्यधिक भयानक है क्योंकि इसके अन्तर्गत आदर्श को अपनाने के स्थान पर दोषपूर्ण यथार्थ स्थिति का ही औचित्य का रूप दे दिया गया। प्रमुख आदर्शवादियों में से अरस्तू ने दासता, हीगल ने युद्ध और ग्रीन ने युद्धवाद के प्रति विश्वास व्यक्त किया है। इसी आधार पर हॉबसन ने कहा है कि "आदर्शवाद रूढ़िवादिता से भरा हुआ है।"

महत्व—राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में आदर्शवादी धारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस धारणा के द्वारा राज्य का अत्यधिक एवं अनुचित

---

1 Joad, Modern Political Theory, p. 23.

2 Hobhouse, Metaphysical of State, p. 116.

महत्व प्रदान कर दिया गया है। लेकिन आदर्शवादी सिद्धान्त इस सत्य का प्रतिपादन करता है कि राज्य स्वाभाविक एव प्राकृतिक संस्था है और व्यक्ति एव राज्य के बीच उसी प्रकार के सम्बन्ध पाए जाते हैं जिस प्रकार के सम्बन्ध शरीर और शरीर के अंग के बीच हैं। गैटल ने इस सिद्धान्त के महत्व के सम्बन्ध मे लिखा है कि "राज्य किस प्रकार का होना चाहिए यदि इस दृष्टि से आदर्शवादी सिद्धान्त की परीक्षा करें तो पता चलता है कि इस सिद्धान्त का कुछ महत्व है और यह लोगों को उस राज्य के प्रति कृतज्ञ रहने तथा उसके लिए बलिदान करने की प्रेरणा देता है जिसके द्वारा सभ्यता का विकास किया गया है। इस सिद्धान्त की अधिकांश आलोचनाएँ उन व्याख्याकारों को गयी हैं जो हीगल ने ठीक प्रकार से न समझकर प्रस्तुत की हैं। आदर्शवादी सिद्धान्त की उदार व्याख्या उसके विरोधी सिद्धान्तो की अपेक्षा सत्यता के अधिक निकट और विवेकानुकूल है।

प्रश्न

1 'राज्य एक शरीर है, आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

2 राज्य की प्रकृति के सावयव सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति तथा राज्य के एकीकरण द्वारा उनके विरोध को मिटाने का प्रयत्न करता है। (लीकाक) उपर्युक्त कथन को स्पष्ट कीजिए और सावयव सिद्धान्त के दोष बतलाइए।

3 राज्य का सावयव सिद्धान्त न तो राज्य की प्रकृति की ही सही व्याख्या है और न राज्य की क्रिया का ही विश्वसनीय पथ प्रदर्शक है। इस कथन का परीक्षण कीजिए।

4 राज्य की प्रकृति के आदर्शवादी सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

7

राज्य की उत्पत्ति : समझौतावादी और ऐतिहासिक सिद्धान्त

[ORIGIN OF STATE CONTRACTUAL AND HISTORICAL THEORIES]

"वे परिस्थितियाँ जिनमें आदिम मनुष्यों ने सर्वप्रथम राजनीतिक चेतना का प्रकाश देखा और वे किसी प्रकार के राजनीतिक संगठन के रूप में एकत्रित हुए, ऐसे तथ्य हैं जो पूर्णत नहीं तो अधिकांशत अस्पष्टता के कोहरे से ढँके हैं।"[1]

—गार्नर

व्यक्ति स्वभावत ही जिज्ञासु है और अपनी इस जिज्ञासा के कारण उसने राज्य की उत्पत्ति के इतिहास का पता लगाने का प्रयत्न किया है। किन्तु इतिहास द्वारा राज्य की उत्पत्ति का उचित ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सका है और इस सम्बन्ध में इतिहास के असफल हो जाने के कारण राजनीतिक विचारकों द्वारा कल्पना का आश्रय लिया गया है। गिलक्राइस्ट के अनुसार, "राजनीतिक चेतना के उदय की परिस्थितियों के विषय में हम इतिहास से बहुत कम अथवा बिलकुल नहीं जानते। जहाँ इतिहास असफल हो जाता है, वहाँ हम कल्पना का आश्रय लेते हैं।"[2] अत इस सम्बन्ध में कल्पना के आधार पर राजनीतिक संगठन के उदय के कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। 'मनुष्य राजनीतिक संगठन में क्यों रहते हैं', 'वे प्रभुत्व के सम्मुख क्यों झुक जाते हैं', 'प्रभुत्व की क्या सीमाएँ हैं', आदि के सम्बन्ध में इन विचारकों का जो दृष्टिकोण है, उसी आधार पर इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

---

1 "The circumstances under which primitive men first saw the light of political consciousness and came to associate themselves together under some form of political organization are facts veiled largely if not wholly, in the midst of obscurity."

—Garner, *Principles of Political Science*, p 87

2 "Of the circumstances surrounding the dawn of political consciousness, we know little or nothing from history. Where history fails we must resort to speculation." —R N Gilchrist, *Principles of Political Science*, p 48.

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रतिपादित सिद्धान्त है

1 दैवी सिद्धान्त,
2. शक्ति सिद्धान्त,
3 पितृ सत्तात्मक सिद्धान्त
4 मातृ सत्तात्मक सिद्धान्त,
5. सामाजिक समझौता सिद्धान्त या संविदा सिद्धान्त,
6 ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रतिपादित उपर्युक्त सिद्धान्तो मे सामाजिक समझौता सिद्धान्त और ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त ही सबसे अधिक प्रमुख है।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त या संविदा सिद्धान्त
(SOCIAL CONTRACT THEORY)

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध म सामाजिक समझौता सिद्धान्त बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। 17वी और 18वी सदी की राजनीतिक विचारधारा में तो इस सिद्धान्त का पूर्ण प्राधान्य था। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य दैवीय न होकर एक मानवीय सस्था है जिसका निर्माण व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक समझौते के आधार पर किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक मानव इतिहास को दो भागों मे बाँटते हैं (1) प्राकृतिक अवस्था का काल तथा (2) नागरिक जीवन के प्रारम्भ के बाद का काल। इस सिद्धान्त के सभी प्रतिपादक अत्यन्त प्राचीनकाल मे एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं जिसके अन्तर्गत जीवन को व्यवस्थित रखने के लिए राज्य या राज्य जैसी कोई अन्य सस्था नही थी। सिद्धान्त के विभिन्न प्रतिपादको मे इस प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्ध मे पर्याप्त मतभेद हैं कुछ इसे 'पूर्व सामाजिक' (Pre social) और कुछ इसे पूर्व राजनीतिक (Pre political) अवस्था कहते हैं। इस प्राकृतिक अवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार या प्राकृतिक नियमो के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते थे। प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्ध म मतभेद होते हुए भी यह सभी मानते हैं कि किन्हीं कारणो से मनुष्य प्राकृतिक अवस्था का त्याग करने को विवश हुए और उन्होंने समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना की।

इस समझौते के परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता आंशिक या पूर्णरूप से लुप्त हो गयी और स्वतन्त्रता के बदले उसे राज्य व कानून की ओर से सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त हुआ। व्यक्तियों को प्राकृतिक अधिकार के स्थान पर सामाजिक अधिकार प्राप्त हुए। इस प्रकार लीकाक के शब्दो मे '**राज्य व्यक्ति के स्वार्थों द्वारा चालित एक ऐसे आदान प्रदान का परिणाम था जिसमें व्यक्तियों ने उत्तरदायित्वों के बदले विशेषाधिकार प्राप्त किये।**'[1]

1 The State is the result of a bargain dictated by the individual's own interest on exchange of obligations in return for privileges" —*Leacock*

सिद्धान्त का विकास—समझौता सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन की तरह ही पुराना है तथा इसे पूर्व और पश्चिम दोनों ही क्षेत्रों से समर्थन प्राप्त हुआ है। महाभारत के 'शान्ति पर्व' में इस बात का वर्णन मिलता है कि पहले राज्य न था, उसके स्थान पर अराजकता थी। ऐसी स्थिति में तंग आकर मनुष्यों ने परस्पर समझौता किया और मनु को अपना शासक स्वीकार किया। आचार्य कौटिल्य ने भी अपने 'अर्थशास्त्र' में इस मत को अपनाया है कि प्रजा ने राजा को चुना और राजा ने उसकी सुरक्षा का वचन दिया।

यूनान में सबसे पहले सोफिस्ट वर्ग ने इस विचार का प्रतिपादन किया। उनका मत था कि राज्य एक कृत्रिम संस्था और एक समझौते का फल है। इपीक्यूरियन विचारधारा वाले वर्ग ने इसका समर्थन किया और रोमन विचारकों ने भी इस बात पर बल दिया कि "जनता राजसत्ता का अन्तिम स्रोत है।" मध्ययुग में भी यह विचार काफी प्रभावपूर्ण था और मैनगोल्ड तथा थॉमस एक्वीनास के द्वारा इसका समर्थन किया गया।

16वीं और 17वीं सदी में यह विचार बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया और लगभग सभी विचारक इसे मानने लगे। रिचार्ड हूकर ने सर्वप्रथम वैज्ञानिक रूप में समझौते की तर्कपूर्ण व्याख्या की और डच न्यायाधीश ग्रोशियस पूफेन्डोर्फ तथा स्पिनोजा ने इसका पोषण किया। किन्तु इस सिद्धान्त का वैज्ञानिक और विधिवत रूप में प्रतिपादन हॉब्स, लॉक और रूसो द्वारा किया गया, जिन्हें 'संविदावादी विचारक' कहा जाता है।

हॉब्स इंगलैण्ड के निवासी थे और राजवंश से सम्पर्क के कारण उनकी विचारधारा राजतन्त्रवादी थी। हॉब्स के समय में इंगलैण्ड में राजतन्त्र और प्रजातन्त्र के समर्थकों के बीच तनावपूर्ण विवाद चल रहा था। इस विवाद के सम्बन्ध में हॉब्स का विश्वास था कि शक्तिशाली राजतन्त्र के बिना देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती। अपने इस विचार का प्रतिपादन करने के लिए उसने 1651 में प्रकाशित पुस्तक 'लेवायथन' (*Leviathan*) में समझौता सिद्धान्त का आश्रय लिया। हॉब्स ने सामाजिक समझौते की व्याख्या इस प्रकार की है

मानव स्वभाव—हॉब्स के समय में चल रहे इंगलैण्ड के गृहयुद्ध ने उसके सम्मुख मानव स्वभाव का घृणित पक्ष ही रखा। उसने अनुभव किया कि मनुष्य एक स्वार्थी, अहंकारी और आत्माभिमानी प्राणी है। वह सदा शक्ति से स्नेह करता है और शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

प्राकृतिक दशा—इन स्वार्थी, अहंकारी और आत्माभिमानी व्यक्ति के जीवन पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न होने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक दूसरे मनुष्य को शत्रु की दृष्टि से देखने लगा और सभी भूखे भेड़ियों के समान एक-दूसरे को निगल जाने के लिए घूमने लगे। मनुष्यों को न्याय और अन्याय का कोई ज्ञान नहीं था और प्राकृतिक अवस्था 'शक्ति ही सत्य है' की धारणा पर

आधारित थी। स्वय हॉब्स के शब्दो मे, "वहाँ कोई व्यवसाय न था, कोई संस्कृति न थी, कोई विद्या न थी, कोई भवन निर्माण कला न थी और न कोई समाज था। मानव जीवन असहाय, दीन, मलिन, पाशविक तथा अल्पकालिक था।"[1]

समझौते के कारण—जीवन और सम्पत्ति की इस असुरक्षा तथा मृत्यु और संहार के इस भय ने व्यक्तियों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे इस असहनीय प्राकृतिक व्यवस्था का अन्त करने के उद्देश्य से एक राजनीतिक समाज का निर्माण करें।

समझौता—नवीन समाज का निर्माण करने के लिए सब व्यक्तियों ने मिलकर एक समझौता किया। हॉब्स के मतानुसार यह समझौता प्रत्येक व्यक्ति ने शेष व्यक्ति समूह से किया, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से कहता है कि "मैं इस व्यक्ति अथवा सभा को अपने अधिकार और शक्ति का समर्पण करता हूँ जिससे कि वह हम पर शासन करे, परन्तु इसी शर्त पर कि आप भी अपने अधिकार और शक्ति का समर्पण इसे इसी रूप में करें और इसकी आज्ञाओं को मानें।"

इस प्रकार सभी व्यक्तियों ने एक व्यक्ति अथवा सभा के प्रति अपने अधिकारों का पूर्ण समर्पण कर दिया और वह व्यक्ति या सत्ता उस क्षेत्र मे सर्वोच्च सत्ता बन गयी। यही राज्य का श्रीगणेश है। इस समझौते के अन्तर्गत शासक कोई पक्ष नहीं है और यह समझौता सामाजिक है, राजनीतिक नहीं। वह सत्ता इस समझौते का परिणाम है और इस प्रकार उसका पद समझौते से कहीं अधिक उच्च है। राजसत्ता पूर्ण, निरंकुश, अटल तथा अखण्ड है।

नवीन राज्य का रूप—हॉब्स के समझौते द्वारा एक ऐसे निरंकुश राजतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना की गयी है जिसका शासक सम्पूर्ण शक्ति सम्पन्न है और जिसके प्रजा के प्रति कोई कर्तव्य नहीं हैं। शासित वर्ग को शासक वर्ग के विरुद्ध विद्रोह का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

आलोचना—हॉब्स के इन विचारों की कटु आलोचना की गयी। जनता, राजतन्त्रवादी और चर्च के समर्थक सभी ने इसकी कटु आलोचना की। यह आलोचना प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारों पर की गयी है

(1) **मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था का वर्णन एकाकी और अवास्तविक**—हॉब्स ने मानव स्वभाव का चित्रण स्वार्थी, अहंकारी और आत्माभिमानी रूप में किया है, लेकिन मानव स्वभाव की यह व्याख्या पूर्णत एकाकी है। मानव स्वार्थी प्राणी होने के साथ-साथ सामाजिक प्राणी भी है और उसमे दया, सहानुभूति एवं प्रेम का भाव पाया जाता है। इसी प्रकार उसके द्वारा प्राकृतिक अवस्था का जो वर्णन किया गया है, वह न तो ऐतिहासिक है और न ही वास्तविक। प्रत्येक मनुष्य की प्रत्येक दूसरे मनुष्य के साथ युद्ध की कल्पना नितान्त त्रुटिपूर्ण है।

---

1 "Human life was solitary, poor, nasty, brutish and short." —*Hobbes*

(2) अतार्किक—यदि यह मान लिया जाय कि प्राकृतिक अवस्था का व्यक्ति असामाजिक, स्वार्थी और झगड़ालू था, तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार के असामाजिक व्यक्तियों में समझौता करने की इच्छा व सामाजिक भावना का उदय कैसे हो गया। वॉहन (Vaughan) ने ठीक ही कहा है कि "जिस प्रकार एक हब्शी अपना रंग नहीं बदल सकता, उसी प्रकार एक रक्त का प्यासा व्यक्ति, जिसका वर्णन हॉब्स ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में किया है, शान्तिप्रिय श्रमिक नहीं बन सकता।"

(3) भय के आधार पर राज्य की स्थापना सम्भव नहीं—हॉब्स के द्वारा भय और स्वार्थ जैसी हेय भावनाओं के आधार पर राज्य की स्थापना की गयी जो नितान्त अनुचित और असम्भव है। वास्तव में, राज्य या समाज भय तथा स्वार्थ पर नहीं, वरन् अनुभूति, सद्‌भावना, सहयोग और सामाजिक हित की भावना पर आधारित हैं।

(4) स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन की स्थापना—हॉब्स के द्वारा जिस स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासन की स्थापना की गयी है, वह अत्यन्त भयंकर है। उसने शासन की शक्ति पर कोई भी नियन्त्रण नहीं लगाया है और ऐसे निरंकुश शासन में व्यक्तियों की स्वतन्त्रता, जीवन और सम्पत्ति कुछ भी सुरक्षित नहीं रह सकते हैं।

(5) राज्य तथा सरकार में अन्तर नहीं—हॉब्स के सिद्धान्त की एक विशेष त्रुटि यह है कि उसने राज्य और सरकार में कोई अन्तर नहीं किया है और इसीलिए उसने केवल राज्य के विरुद्ध नहीं वरन् सरकार के विरुद्ध भी प्रजा का विद्रोह अमान्य ठहरा दिया है।

महत्व—हॉब्स ने इस सत्य का प्रतिपादन किया है कि राज्य दैवी नहीं, वरन् मानवीय संस्था है। इसके अतिरिक्त, हॉब्स की विचारधारा ने सम्प्रभुता की धारणा के प्रतिपादन का भी मार्ग प्रशस्त किया है।

जॉन लॉक (1632-1704)

जॉन लॉक इंगलैण्ड का ही एक अन्य दार्शनिक था, जिसने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन 1690 में प्रकाशित पुस्तक '*Two Treaties on Government*' में किया है। इस पुस्तक के प्रकाशन के दो वर्ष पूर्व इंगलैण्ड में गौरवपूर्ण क्रान्ति हो चुकी थी, जिसके द्वारा राजा के विरुद्ध पार्लियामेण्ट की अन्तिम सत्ता को स्वीकार कर लिया गया था। लॉक ने अपनी पुस्तक में इन परिस्थितियों का स्वागत करते हुए सीमित या वैधानिक राजतन्त्र का प्रतिपादन किया। जॉन लॉक ने अपने समझौता सिद्धान्त की व्याख्या निम्न प्रकार से की है

मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था—लॉक के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसमें प्रेम, सहानुभूति, सहयोग एवं दया की भावनाएँ विद्यमान थीं। मानव स्वभाव की इस सामाजिकता के कारण प्राकृतिक अवस्था संघर्ष की अवस्था नहीं हो सकती थी, वरन् यह तो सदिच्छा, सहयोग और सुरक्षा की अवस्था

थी। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था नियमविहीन नही थी, वरन् उसके अन्तर्गत यह नियम प्रचलित था—'तुम दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो जैसा व्यवहार तुम दूसरों से अपने प्रति चाहते हो' (Do unto others, as you want others to do unto you)। प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्यो को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे और प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के अधिकारो का आदर करता था। इसमे मुख्य अधिकार जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के थे।

समझौते के कारण—इस आदर्श प्राकृतिक अवस्था मे कालान्तर मे व्यक्तियों को कुछ ऐसी असुविधाएँ अनुभव हुई कि इन असुविधाओ को दूर करने के लिए व्यक्तियो ने प्राकृतिक अवस्था का त्याग करना उचित समझा। लॉक के अनुसार ये असुविधाएँ निम्नलिखित थी

(क) प्राकृतिक नियमो की कोई स्पष्ट व्यवस्था नही थी, (ख) इन नियमो की व्याख्या करने के लिए कोई योग्य सभा नही थी, (ग) इन नियमो को मनवाने के लिए कोई शक्ति नहीं थी।

समझौता—हॉब्स के सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य का निर्माण करने के लिए केवल एक ही समझौता किया गया, परन्तु लॉक के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि दो समझौते किये गये। पहले समझौते द्वारा प्राकृतिक अवस्था का अन्त करके समाज की स्थापना की गयी। इसी समझौते का उद्देश्य व्यक्तियो के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा है। पहले समझौने के बाद शासक और शासित के मध्य एक दूसरा समझौता सम्पन्न हुआ, जिसमे शासित वर्ग के द्वारा शासक को कानून बनाने, उनकी व्याख्या करने और उन्हें लागू करने का अधिकार दिया जाता है। परन्तु शासक की शक्ति पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि उसके द्वारा निर्मित कानून अनिवार्य रूप से प्राकृतिक नियमों के अनुकूल और अनुरूप होंगे तथा वे जनता के हित में ही होंगे।

नवीन राज्य का स्वरूप—लॉक के सामाजिक समझौता सिद्धान्त के अन्तर्गत शासक और शासित के मध्य जो समझौता सम्पन्न हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि सरकार स्वयं एक लक्ष्य नही वरन् एक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र है और वह लक्ष्य है शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना और जन कल्याण। लॉक इस विचार का प्रतिपादन करता है कि यदि सरकार अपने उद्देश्य मे असफल हो जाती है तो समाज को इस प्रकार की सरकार के स्थान पर दूसरी सरकार स्थापित करने का पूर्ण अधिकार है। इस प्रकार लॉक के द्वारा एक ऐसी शासन व्यवस्था का समर्थन किया गया, जिसमे वास्तविक एव अन्तिम शक्ति जनता मे निहित होती है और सरकार का अस्तित्व तथा रूप जनता की इच्छा पर निर्भर करता है।

आलोचना—लॉक के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है :

(1) **प्राकृतिक अवस्था का चित्रण अवास्तविक**—लॉक का प्राकृतिक अवस्था का चित्रण हॉब्स से भी अधिक वास्तविकता से दूर है। प्रारम्भिक जनसमुदाय कभी

भी इतना सामाजिक, शान्त और नैतिक नहीं रहा, जितना कि लॉक के द्वारा समझा गया है। लॉक के समान प्राकृतिक अवस्था को आदर्श नहीं माना जा सकता और यदि प्राकृतिक अवस्था ऐसी ही आदर्श थी; तो फिर राज्य के निर्माण की आवश्यकता ही क्या थी ?

(2) निरन्तर क्रान्ति की आशंका—लॉक ने कहा कि यदि सरकार जनहित के विरुद्ध कार्य करे तो जनता के द्वारा विद्रोह करते हुए सरकार को पदच्युत किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जनता को ही सरकार के कार्यों की जाँच और निर्णय का अधिकार दे दिया गया है। ऐसी स्थिति में लॉक का दर्शन जनता के लिए 'विद्रोह का लाइसेंस' बन जाता है और सरकार के पास अपनी रक्षा के कोई साधन नहीं रहते।

(3) कानूनी राजसत्ता को महत्व नहीं—लॉक की एक गम्भीर त्रुटि यह है कि उसने कानूनी राजसत्ता को कोई महत्व नहीं दिया। इस सम्बन्ध में गिलक्राइस्ट ने ठीक ही लिखा है, "हॉब्स ने राजनीतिक सत्ता को अस्वीकार करते हुए कानूनी राजसत्ता का प्रतिपादन किया है। लॉक ने राजनीतिक राजसत्ता की शक्ति को स्वीकार किया है पर कानूनी राजसत्ता को मान्यता नहीं दी है।'

जीन जेक्स रूसो (1712-1767)

रूसो ने अपने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन 1762 में प्रकाशित पुस्तक '*The Social Contract*' में किया है। हॉब्स और लॉक के समान रूसो के द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किसी विशेष उद्देश्य से नहीं किया गया था लेकिन रूसो ने जिस प्रकार से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उससे वह प्रजातन्त्र का अग्रदूत बन जाता है। रूसो के द्वारा अपने सिद्धान्त की व्याख्या निम्न प्रकार की गयी है :

मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था—रूसो अपनी पुस्तक 'सामाजिक समझौता' में लिखता है, "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है किन्तु वह सर्वत्र जंजीरों में जकड़ा हुआ है।" इस वाक्य से रूसो इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि 'मनुष्य मौलिक रूप से अच्छा है और सामाजिक बुराइयाँ ही मानवीय अच्छाई में बाधक बनती हैं।" प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के लिए रूसो 'आदर्श बर्बर' (Noble Savage) शब्द का प्रयोग करता है। यह आदर्श बर्बर अपने में ही इतना सन्तुष्ट था कि न तो उसे किसी साथी की आवश्यकता थी और न किसी का अहित करने की उसकी इच्छा थी। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति एक भोले और अज्ञान बालक की भाँति सादगी और परमसुख का जीवन व्यतीत करता था। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था पूर्ण स्वतन्त्रता एवं समानता और पवित्र तथा कपट रहित जीवन की अवस्था थी, परन्तु इस प्राकृतिक अवस्था में विवेक का नितान्त अभाव था।

समझौते के कारण—प्राकृतिक अवस्था आदर्श अवस्था थी, लेकिन कुछ समय बाद ऐसे कारण उत्पन्न हुए, जिन्होंने इस अवस्था को दूषित कर दिया। कृषि के

आविष्कार के कारण भूमि पर स्थायी अधिकार और इसके परिणामस्वरूप सम्पत्ति तथा मेरे-तेरे की भावना का विकास हुआ। जब प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक भूमि पर अधिकार करने की इच्छा करने लगा, तो प्राकृतिक शान्तिमय जीवन नष्ट हो गया और समाज की लगभग वही दशा हुई जो हॉब्स की प्राकृतिक दशा मे थी। सम्पत्ति को समाज की स्थापना के लिए उत्तरदायी ठहराते हुए रूसो लिखता है कि "वह पहला व्यक्ति समाज का वास्तविक जन्मदाता था जिसने एक भू-भाग को बाड़े से घेरकर कहा कि 'यह मेरी भूमि है' और जिसे अपने इस कथन के प्रति विश्वास करने वाले सरल व्यक्ति मिल गये।" इस प्रकार प्राकृतिक दशा का आदर्श रूप नष्ट होकर युद्ध, संघर्ष और विनाश का वातावरण उपस्थित हो गया। युद्ध और संघर्ष के इस वातावरण का अन्त करने के लिए व्यक्तियो ने पारस्परिक समझौते द्वारा समाज की स्थापना का निश्चय किया।

समझौता—इस असहनीय स्थिति से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए और उनके द्वारा अपने सम्पूर्ण अधिकारों का समर्पण किया गया। किन्तु अधिकारों का यह सम्पूर्ण समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए किया गया। समझौते के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज की एक सामान्य इच्छा उत्पन्न होती है और सभी व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अन्तर्गत रहते हुए कार्यरत रहते हैं। स्वय रूसो के शब्दो मे, समझौते के अन्तर्गत, **"प्रत्येक अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए, सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशक के अधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में अपने व्यक्तित्व तथा अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लेता है।"** इस प्रकार के हस्तान्तरण से सभी पक्षो को लाभ है।

इस प्रकार रूसो के समझौते द्वारा उस लोकतन्त्रीय समाज की स्थापना होती है जिसके अन्तर्गत सम्प्रभुता सम्पूर्ण समाज मे निहित होती है और यदि सरकार सामान्य इच्छा के विरुद्ध शासन करती है तो जनता को ऐसी सरकार को पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त होता है।

आलोचना—रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की निम्नलिखित आधार पर आलोचना की जाती है :

(1) **अस्पष्ट एवं जटिल**—रूसो का सिद्धान्त नितान्त अस्पष्ट, जटिल एव साधारण व्यक्ति की समझ के परे है। रूसो ने व्यक्ति को प्रजा और नागरिक दोनो का रूप प्रदान किया है। राज्य की सत्ता के अधीन होने के कारण वह प्रजा और राजशक्ति का एक भाग होने के कारण वह नागरिक है। इसी प्रकार रूसो की विचारधारा के अनुसार जब किसी व्यक्ति को दण्डित किया जाता है तो उसे यह दण्ड उसकी अपनी ही इच्छा से मिलता है। ये बातें साधारण व्यक्ति की समझ के परे तो हैं ही, साथ ही बुद्धिमान व्यक्तियों को भी हास्यास्पद प्रतीत होती हैं।

(2) **राजसत्ता निरंकुश व स्वेच्छाचारी**—रूसो के समझौते में व्यक्ति अपनी

सम्पूर्ण स्वतन्त्रता और अधिकार समाज को सौंप देता है। इस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकार रह ही नहीं जाते और समझौते के परिणामस्वरूप निर्मित सामान्य इच्छा सर्वशक्तिशाली हो जाती है। इस प्रकार निरंकुश व स्वेच्छाचारी राजसत्ता को जन्म मिलता है।

महत्व—उपर्युक्त आलोचनाओं के होने हुए भी रूसो ने राजनीतिक दर्शन को अमर भेंट प्रदान की है। उसके दर्शन में जनता की सत्ता, अधिकार और शक्ति का सबसे प्रबल समर्थन मिलता है। फ्रांस की क्रान्ति बहुत कुछ सीमा तक रूसो के विचारों का परिणाम थी और अमरीकी संविधान के निर्माताओं ने भी रूसो से प्रेरणा ग्रहण की।

रूसो की सामान्य इच्छा

रूसो के राजनीतिक दर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व सामान्य इच्छा का सिद्धान्त है। व्यक्ति समझौते द्वारा समुदाय के लिए अपनी शक्ति का जो परित्याग करता है, उससे उसकी वैयक्तिक इच्छा का स्थान एक सामान्य इच्छा (General will) ले लेती है। रूसो ने सामान्य इच्छा की पृष्ठभूमि में 'यथार्थ इच्छा' और 'आदर्श इच्छा' में अन्तर किया है, जो इस प्रकार है

यथार्थ इच्छा (Actual Will)—सामान्यतया यथार्थ इच्छा और आदर्श इच्छा का एक ही अर्थ लिया जाता है परन्तु रूसो के द्वारा इनका प्रयोग विशेष अर्थों में किया जाता है। रूसो के अनुसार, यथार्थ इच्छा मानव की इच्छा का वह भाग है जिसका लक्ष्य व्यक्तिगत स्वार्थ की पुष्टि हो और जो स्वयं व्यक्ति में केन्द्रित हो। इसके अन्तर्गत सामाजिक हित की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रबलता होती है। डॉ. आशीर्वादम के शब्दों में, "यह व्यक्ति की समाज-विरोधी इच्छा है, क्षणिक एवं तुच्छ इच्छा है। यह संकुचित तथा स्वविरोधी है।"

आदर्श इच्छा (Real Will)—इसके विपरीत, आदर्श इच्छा मानव की वह इच्छा है जिसका लक्ष्य सम्पूर्ण समष्टि का कल्याण हो। इस इच्छा के अनुसार मानव स्वयं के हित को सामाजिक हित का अभिन्न अंग मानता है तथा सम्पूर्ण समाज के हित को दृष्टि में रखते हुए ही विचार करता है। इस इच्छा में व्यक्तिगत स्वार्थ का सामाजिक हित के साथ सामंजस्य तथा व्यक्तिगत स्वार्थ पर सामाजिक हित की प्रधानता होती है। डॉ. आशीर्वादम के शब्दों में, "यह जीवन के समस्त पहलुओं पर व्यापक रूप में दृष्टिपात करती है। यह विवेकपूर्ण इच्छा है। यह व्यक्ति तथा समाज के सामंजस्य में प्रदर्शित होती है।"

जहाँ तक सामान्य इच्छा का सम्बन्ध है, सामान्य इच्छा मानव की आदर्श इच्छाओं का योग मात्र है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि सामान्य इच्छा मानव की इच्छा का वह श्रेष्ठ भाग है जो सम्पूर्ण समाज के लिए आवश्यक रूप में हितकर हो। डॉ. आशीर्वादम के मतानुसार, "सामान्य इच्छा की परिभाषा एक समाज के सदस्यों की आदर्श इच्छाओं के योग अथवा इससे भी अधिक उत्तम शब्दों

मे उनके एकीकरण के रूप मे की जा सकती है। प्रसिद्ध विद्वान ग्रीन ने सामान्य इच्छा की सूक्ष्म और अर्थपूर्ण व्याख्या करते हुए लिखा है कि सामान्य आदर्शों की सामान्य चेतना[1] ही सामान्य इच्छा है। रूसो की विचारधारा के प्रमुख व्याख्याकार बोसाके के अनुसार 'सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज की सामूहिक इच्छा अथवा सभी व्यक्तियों की ऐसी इच्छाओं का समूह है जिसका लक्ष्य सामान्य हित की पुष्टि हो।'[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि रूसो की सामान्य इच्छा के दो अग हैं (1) सामान्य व्यक्तियों की इच्छा और (2) सामान्य हित पर आधारित इच्छा। सामान्य इच्छा क इन दो अगों मे द्वितीय प्रथम से अधिक महत्वपूर्ण है और जैसा कि स्वय रूसो ने कहा है मतदाताओं की संख्या से कम तथा उस सामाजिक हित की भावना से अधिक इच्छा सामान्य बनती है जिसके द्वारा वे एकता में बंधते हैं।[3]

सामान्य इच्छा का निर्माण—इस सम्बन्ध मे रूसो का कहना है कि हम सबकी इच्छा से चलते हैं और सामान्य इच्छा पर पहुँचते हैं। जब कभी जनता के सामने कोई प्रश्न उपस्थित होता है तो जनता का प्रत्येक व्यक्ति उस प्रश्न पर व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विचार करता है। ऐसा समाज यदि सभ्य और सुसस्कृत हो और उसमे नागरिकता की भावना हो तो विचारों के आदान प्रदान की इस प्रक्रिया मे व्यक्तियो की स्वार्थमयी इच्छाएँ एक दूसरे की इच्छाओं को नष्ट कर देती हैं और इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप सामान्य इच्छा का उदय होता है। पारस्परिक वाद विवाद के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत इच्छाएँ परिष्कृत हो जाती हैं और उनकी इच्छा का सर्वोत्तम रूप प्रकट होता है जो सामान्य इच्छा है।

सामान्य इच्छा की विशेषताएँ—सामान्य इच्छा को स्पष्ट रूप म समझने के लिए उसकी विशेषताओं और लक्षणों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। सामान्य रूप से सामान्य इच्छा की निम्नलिखित विशेषताएँ बतलायी जा सकती हैं

(1) अखण्डता—सामान्य इच्छा का एक विशेष लक्षण उसकी एकता या अखण्डता है। यद्यपि सामान्य इच्छा की एकता मे विभिन्नता भी होती है किन्तु विवेकयुक्त और बुद्धिजन्य होने के कारण इसमे किसी प्रकार का आत्मविरोध नहीं होता है। जैसा कि स्वय रूसो ने कहा है सामान्य इच्छा राष्ट्रीय चरित्र मे एकता उत्पन्न करती है और उसे स्थिर रखती है।

(2) अदेयता—सामान्य इच्छा का दूसरा लक्षण है अदेयता जिसका तात्पर्य यह है कि वह इच्छा किन्ही व्यक्तियो को हस्तान्तरित नही की जा सकती है। इसी

---

1 Common consciousness of the common end —T H Green

2 General Will is the will of the whole society as such or the will of all ind v duals n so far as they a m at the common good
—Bosanquet *Ph losophical Theory of the State* p 99

3 What makes the will general s less the number of voters than the common interest un ting them —*Rousseau*

आधार पर रूसो का कहना है कि सामान्य इच्छा प्रतिनिधियों द्वारा व्यक्त किये जाने के योग्य नहीं होती है। रूसो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का उपासक है जिसमें व्यक्ति स्वयमेव अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं। रूसो के अनुसार प्रतिनिधियों के माध्यम से इसे व्यक्त करना व्यक्तियों के बहुमूल्य अधिकारों का हनन तथा लोकतन्त्र की हत्या है।

(3) अविच्छेद्यता—सामान्य इच्छा की एक विशेषता यह है कि इसे प्रभुसत्ता से अलग नहीं किया जा सकता। प्रभुसत्ता सामान्य इच्छा में निहित है और यह इसका प्राण है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर से उसके प्राण को पृथक नहीं किया जा सकता, वैसे ही प्रभुसत्ता को सामान्य इच्छा से अलग कर सकना सम्भव नहीं है।

(4) सर्वोच्च एवं निरंकुश—सामान्य इच्छा का एक लक्षण इसका सर्वोच्च एवं निरंकुश होना है। इस दैवीय, प्राकृतिक या परम्परागत नियमों का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता और यह किसी व्यक्ति या समूह के अधिकारों से भी नियन्त्रित नहीं होती। सभी के द्वारा सामान्य इच्छा का पालन किया जाना चाहिए और उन्हें ऐसा करना ही होगा, कोई भी इसकी अवहेलना नहीं कर सकता है।

(5) स्थायी—सामान्य इच्छा किसी प्रकार से भावात्मक आवेशों आवेगों या सनक का परिणाम नहीं होती, अपितु मानव के जन-कल्याण की स्थायी प्रवृत्ति और विवेक का परिणाम होती है।

(6) लोककल्याणकारी—सामान्य इच्छा का सबसे प्रमुख लक्षण लोककल्याण है। सामान्य इच्छा व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का योग होती है और व्यक्तियों की ये आदर्श इच्छाएँ जन-कल्याण से प्रेरित होती हैं। अतः सामान्य इच्छा का लक्ष्य सदैव ही सम्पूर्ण समाज का कल्याण होता है। रूसो के शब्दों में "सामान्य इच्छा सदैव ठीक ही होती है परन्तु वह निर्णय जो इसका पथ प्रदर्शक होता है, सदैव समझदारी पूर्ण नहीं होता है।"

(7) विवेक पर आधारित औचित्यपूर्ण इच्छा—यह इच्छा किसी प्रकार की भावनाओं पर नहीं, बरन् तर्क तथा विवेक पर आधारित होती है। यह सम्भव है कि सामान्य इच्छा के अन्तर्गत की गयी सामान्य हित की कल्पना गलत हो, किन्तु यह व्यक्तिगत स्वार्थ से भ्रष्ट नहीं होता। स्वयं रूसो के शब्दों में—"सामान्य इच्छा सदैव ही विवेकपूर्ण एवं न्यायसंगत होती है क्योंकि जनता की वाणी वास्तव में ईश्वर की वाणी होती है।"

'सामान्य इच्छा' और 'सर्वसम्मति' में अन्तर

अनेक बार सामान्य इच्छा को सर्वसम्मति या सबकी इच्छा का पर्यायवाची समझ लिया जाता है, किन्तु दोनों को एक ही समझना गलत है। इन दोनों में प्रमुख भेद ये निम्नलिखित अन्तर किये जा सकते हैं

(1) सर्वसम्मति, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, समाज के सब व्यक्तियों की इच्छा होती है किन्तु सामान्य इच्छा के लिए ऐसा होना आवश्यक नहीं है और

साधारणतया ऐसा होता भी नहीं है। सामान्य इच्छा किसी एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों या सभी व्यक्तियो की इच्छा हो सकती है।

(2) सामान्य इच्छा मे एक ऐसी एकता होती है जैसी कि सर्वसम्मति मे कभी भी नही होती। सामान्य इच्छा एक सम्पूर्ण के रूप मे समाज की इच्छा को अभिव्यक्त करती है, यह सदस्यो की परस्पर विरोधी इच्छाओं के बीच समझौता नही है वरन् यह एकल तथा एकात्मक इच्छा है।

(3) सर्वसम्मति किन्हीं परिस्थितियो मे कुछ व्यक्तियो के विशेष हितों से सम्बन्धित हो सकती है किन्तु सामान्य इच्छा अनिवार्यत समस्त जनता के कल्याण मे ही होगी। इन दोनो का भेद स्पष्ट करते हुए रूसो कहता है कि "समाज के समस्त सदस्यों की इच्छाओं का कुल योग सामान्य इच्छा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त सदस्यो की इच्छाओं में सदस्यों के व्यक्तिगत स्वार्थों का सम्मिश्रण होता है, जबकि सामान्य इच्छा का सम्बन्ध केवल सामान्य हितों से होता है।"

सामान्य इच्छा की आलोचना—रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के सर्वाधिक विवादास्पद विषयों मे से एक है। एक ओर कुछ विचारकों की दृष्टि में सामान्य इच्छा का सिद्धान्त यदि भयकर नही तो सारहीन अवश्य है, जबकि दूसरे विचारकों के लिए यह सिद्धान्त लोकतन्त्र तथा राजनीतिक दर्शन का एक बुनियादी पत्थर है। सामान्य इच्छा के विचार की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार से की जाती हैं

(1) **अस्पष्ट एव अव्यावहारिक**—रूसो का सामान्य इच्छा का विचार नितान्त अस्पष्ट एव अव्यावहारिक है। एक विशेष समय पर सामान्य इच्छा का ज्ञान प्राप्त कर सकना बहुत अधिक कठिन ही नहीं, वरन् लगभग असम्भव है। स्वय रूसो इस सम्बन्ध मे पूर्ण निश्चित नहीं है और वह अपने ग्रन्थ 'सामाजिक समझौता' (Social Contract) में इस सम्बन्ध मे विभिन्न तथा परस्पर विरोधी बातें कहता है। सामान्य इच्छा के निवास के सम्बन्ध मे यह अनिश्चितता निस्सन्देह शोचनीय है। वेपर (Wayper) ने लिखा है कि "जब रूसो हमें सामान्य इच्छा का पता ही नहीं दे सकते, तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ? रूसो ने हमें एक ऐसे अन्धकार में छोड़ दिया है जहाँ हम सामान्य इच्छा के बारे में अच्छी तरह सोच भी नहीं सकते।"[1]

(2) **यथार्थ इच्छा तथा आदर्श इच्छा का भेद काल्पनिक**—रूसो का सामान्य इच्छा का विचार यथार्थ और आदर्श इच्छा के भेद पर आधारित है लेकिन जैसा कि हॉबहाउस (Hobhouse) ने कहा है, "यथार्थ इच्छा तथा आदर्श इच्छा का अन्तर व्यवहार में सही नहीं होता है।" मानव मे सदैव व्यक्तिगत स्वार्थ एव लोकहित की जो प्रवृत्ति पायी जाती है, उन्हे एक दूसरे से पूर्णतया पृथक कर सकना सम्भव नहीं होता है। वास्तव मे समाज मनुष्यो का वह समूह अथवा योग है जिससे प्रत्येक का

1 वेपर, राजदर्शन का स्वाध्याय, पृ 173।

व्यक्तित्व, उसकी राय तथा पृथक पृथक हितों का स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। अत. सामान्य इच्छा जैसी कोई वस्तु नहीं होती है।

(3) सामान्य हित की व्याख्या सम्भव नहीं—सामान्य इच्छा का विचार सामान्य हित पर आधारित है किन्तु सामान्य हित की परिभाषा का प्रयास लहरों को मुट्ठी में बाँधने के प्रयासों के समान है। इसके अतिरिक्त किसी कार्य को करने के पूर्व पूर्ण निश्चिततापूर्वक यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक कार्य का परिणाम जन-कल्याण ही होगा। केवल परिणाम द्वारा ही निश्चय होता है कि अमुक कार्य उचित है या अनुचित। सामान्य हित की व्याख्या सम्भव न होने के कारण ही सामान्य इच्छा के सम्बन्ध में मार्ले ने कहा है कि "रूसो ने कोरी बहस में अपना समय नष्ट कर दिया है।"

(4) निरंकुश तथा अत्याचारी राज्य का पोषक—सामान्य इच्छा के प्रतिपादन का उद्देश्य तो जनता के अधिकारों की रक्षा है, किन्तु यह धारणा व्यवहार में निरंकुश तथा अत्याचारी राज्य की पोषक भी बन सकती है। एक विशेष समय पर सामान्य इच्छा क्या है, यह निश्चित करने की शक्ति रूसो शासक को सौंप देता है और यदि शासक दुराचारी हो तो वह अपने स्वार्थ को ही सामान्य इच्छा का रूप दे सकता है। इसके अतिरिक्त रूसो के सिद्धान्त में जनता के द्वारा अपने समस्त अधिकारों का समर्पण कर दिया गया है और जनता को किसी भी परिस्थिति में समाज के विरोध का अधिकार नहीं है। इस सम्बन्ध में डब्लू टी जोन्स (W T Jones) ने ठीक ही कहा है कि "रूसो के सामान्य इच्छा विषयक सिद्धान्त में कुछ ऐसे अस्थिर तत्व हैं जो उसे जनतन्त्र के समर्थन से हटाकर निरंकुश शासन के समर्थन की ओर ले जाते हैं।" ए डाइड (A Dide) के अनुसार, "रूसो सामान्य इच्छा की आड़ में बहुमत की निरंकुशता का प्रतिपादन तथा समर्थन करता है" और वाहन (Vaughan) ने तो यहाँ तक कह डाला है कि "रूसो ने अपनी समष्टिवादी विचारधारा से व्यक्ति को शून्य बना दिया है।" सामान्य इच्छा की धारणा व्यक्ति की ही नहीं वरन् व्यक्तित्व की भी शत्रु है। बर्ट्रेण्ड रसल, आइवर ब्राउन तथा मरे ने भी रूसो की विचारधारा पर निरंकुशतावाद तथा अधिनायकवाद के पोषण का आरोप लगाया है।

(5) प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र में सम्भव नहीं—रूसो का विचार है कि सामान्य इच्छा की सिद्धि के लिए सभी व्यक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रभुसत्ता के प्रयोग में सक्रिय भाग लिया जाना चाहिए। इस शर्त का पालन प्राचीन यूनानी नगर राज्यों में भले ही सम्भव हो, वर्तमान समय के प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रों में कदापि सम्भव नहीं हो सकता। रूसो द्वारा प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का यह तिरस्कार अन्तिम रूप में लोकतन्त्र का ही तिरस्कार हो जाता है क्योंकि वर्तमान समय में प्रतिनिध्यात्मक शासन ही लोकतन्त्र का एकमात्र व्यावहारिक रूप है।

महत्त्व—आलोचनाओं के बावजूद इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता

कि रूसो का सामान्य इच्छा का विचार राजनीतिक विचारधारा के लिए उनकी अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है। इसके महत्व को निम्न रूपो मे स्पष्ट किया जा सकता है

(1) रूसो का सामान्य इच्छा का विचार प्रजातन्त्र का प्रतिष्ठापक है क्योकि उसका यह विश्वास है कि सत्ता का आधार जन स्वीकृति है, जनता की इच्छा है, विधि निमाण में जनता का प्रत्यक्ष सहयोग वाछित है, सरकार सतत रूप मे जनता के प्रति उत्तरदायी होनी चाहिए, आदि। सामान्य इच्छा का विचार राजनीतिक क्षेत्र मे हमारे सम्मुख एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करता है, जिसकी प्राप्ति सदैव हमारा लक्ष्य होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे मैकाइवर ने ठीक ही कहा है कि "सामान्य इच्छा का प्रयोग मात्र शासन को स्वशासन में परिणित कर देता है।"[1]

(2) सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राष्ट्रवाद का प्रेरक सिद्धान्त भी है क्योकि सामान्य इच्छा की धारणा मे यह आशय मिलता है कि जिस जीवन मे समता, समभाव, एकता, साहचर्य, समर्पण, आत्मीयता तथा सम्मान की भावना है, वही जीवन श्रेष्ठ है।

(3) सामान्य इच्छा की धारणा ने भावनावादी तथा रोमाचवादी आन्दोलन पर भी प्रभाव डाला तथा इसे फ्रास की क्रान्ति का प्रेरक विचार कहा जा सकता है। जर्मन विद्वान शिलर प्रकृति तथा भावना के प्रतिपादक रूसो को नवयुवको का पथ-प्रदर्शक मानता है और यह कहा जाता है कि रॉब्सपीयर (Robespierre) के नेतृत्व मे तथा इसके परिणामस्वरूप फ्रास तथा अन्य देशों मे जो क्रान्ति हुई हैं, उनका सन्देश रूसो की पुस्तक 'सामाजिक अनुबन्ध' मे वर्णित सामान्य इच्छा के आदर्श मे है।

(4) इस सिद्धान्त मे व्यक्ति तथा समाज दोनो के हित को प्रधानता दी गयी है।

(5) यह सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज मे शरीर तथा उसके अगो मे समान सम्बन्ध स्थापित करके सामाजिक स्वरूप को सुदृढ़ करता है।

(6) यह सिद्धान्त इस सत्य का प्रतिपादन करता है कि राज्य एक स्वाभाविक और अनिवार्य सस्था है और राज्य ही सामान्य इच्छा को क्रियात्मक रूप देने का साधन है। जी डी एच कोल के शब्दों मे, "यह हमे सिखाता है कि राज्य मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकताओं और इच्छाओं पर ही आधारित है। राज्य के प्रति हमे इसलिए आज्ञाकारी होना चाहिए, क्योंकि यह हमारे व्यक्तित्व का ही प्राकृतिक विस्तृत रूप है।"[2]

---

1 " The exercise of the general will transforms mere government into self government " —MacIver, *The Modern State*, p 443

2 "It teaches us that the State is natural in that is has its basis in the will and the natural need of man The State exists and claims our obedience, because it is a natural extension of our personality." —*G D H. Cole*

इसी प्रकार सामान्य इच्छा के विचार के महत्व के सम्बन्ध में डब्लू. टी. जोन्स ने लिखा है कि "सामान्य इच्छा की कल्पना रूसो के राजनीतिक सिद्धान्त का एक केन्द्रीय विचार ही नहीं है, यह सिद्धान्त राजनीतिशास्त्र के लिए भी उसकी एक अत्यन्त मौलिक, अत्यन्त रुचिकर तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण देन है।"

हॉब्स, लॉक और रूसो की तुलना

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रमुख रूप से हॉब्स, लॉक और रूसो द्वारा किया गया है। यद्यपि इन तीनों ही विचारकों के द्वारा राज्य को मानव-निर्मित एक कृत्रिम संस्था कहा गया है, लेकिन यह समझौता किस प्रकार सम्पन्न हुआ और समझौते के परिणामस्वरूप किस प्रकार के राज्य की स्थापना हुई, इस सम्बन्ध में इन विचारकों में पर्याप्त मतभेद है हॉब्स, लॉक और रूसो के विचारों की तुलना निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है

(1) मानव स्वभाव—हॉब्स के अनुसार मानव असामाजिक, स्वार्थी, अहंकारी, असहयोगी, झगड़ालू और एक-दूसरे का शत्रु होता है, परन्तु मृत्यु का भय और सुख प्राप्ति की आशा उसे एक राज्य के निर्माण की ओर प्रेरित करती है। लॉक ने हॉब्स के नितान्त विपरीत रूप में मानव स्वभाव का चित्रण किया है। लॉक के अनुसार मनुष्य स्वभावतः अच्छा और विवेकशील प्राणी है। उसने मनुष्य को सामाजिक, नैतिक, सहयोगी, दयावान और शान्तिप्रिय बताया है। रूसो के द्वारा किया गया मानव स्वभाव का चित्रण भी लॉक से मिलता-जुलता ही है। उसके अनुसार मनुष्य, मूलतः अच्छा, स्वतन्त्र, समान व आत्मनिर्भर होता है लेकिन थोड़े समय बाद व्यक्तिगत सम्पत्ति और मेरे-तेरे की भावना उत्पन्न हो जाने के कारण मानव स्वभाव में, अनेक बुराइयों का प्रवेश हो जाता है।

(2) प्राकृतिक अवस्था—हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था का जीवन एकाकी, दीन, अपवित्र, पाशविक व क्षणिक है। यह अवस्था प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के साथ युद्ध की अवस्था है जिसमें किसी को भी झूठ-सच, पाप-पुण्य और न्याय का कोई ज्ञान और विचार नहीं है। इस अवस्था में शक्ति ही सत्य है और व्यक्ति का जीवन तथा सम्पत्ति सुरक्षित नहीं है। लॉक हॉब्स से नितान्त विपरीत प्राकृतिक अवस्था को शान्ति, सम्पन्नता, सहयोग, समानता और स्वतन्त्रता की अवस्था मानता है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति के साथ उसी प्रकार का आचरण करता है जिस प्रकार का आचरण वह अपने प्रति चाहता है। लॉक प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों की भी कल्पना करता है। रूसो भी लॉक से मिलती जुलती ही प्राकृतिक अवस्था का चित्रण करता है। लेकिन रूसो की यह प्राकृतिक अवस्था थोड़े समय बाद दूषित होकर हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था जैसी हो जाती है।

(3) समझौते के कारण—हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक अवस्था असहनीय थी

और इस प्रकार की अवस्था में अधिक समय तक नहीं रहा जा सकता था। मृत्यु के भय से मुक्ति पाने और जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा के लिए उन्हें एक शक्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई और उन्होंने प्राकृतिक अवस्था को त्याग कर ऐसे शासक की सत्ता के अन्तर्गत रहना स्वीकार किया जो कानून बनाये तथा शासन करे। लॉक के अनुसार, समझौता इसलिए किया गया, क्योंकि प्राकृतिक दशा असुविधाजनक थी। इसके अन्तर्गत सर्वसम्मत नियमों नियमों की व्याख्या करने और इन नियमों को लागू करने वाली शक्ति का अभाव था। इस अभाव को दूर कर सुसंगठित समाज की स्थापना हेतु ही समझौता किया गया। रूसो के अनुसार सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ साथ असमानता, अहंकार, स्वार्थ, युद्ध हिंसा, द्वेष, भेदभाव की उत्पत्ति और मानवता का पतन हुआ। ऐसी स्थिति में जीवन और सम्पत्ति की रक्षा हेतु व स्वतन्त्रता, समानता और आदर्श जीवन की प्राप्ति हेतु राज्य की स्थापना की गयी।

(4) समझौते का स्वरूप—हॉब्स राज्य, समाज और सरकार में कोई भेद नहीं मानता है इसलिए हॉब्स ने अपने सिद्धान्त में केवल एक ही समझौते का वर्णन किया है जिसे सामाजिक समझौता कहा जा सकता है। इस समझौते के द्वारा सभी व्यक्ति अपनी प्राकृतिक अवस्था को त्याग कर एक शासन की सत्ता के अधीन रहना स्वीकार करते हैं। यह समझौता व्यक्तियों के मध्य ही होता है और शासक इस समझौते का कोई पक्ष नहीं है इसे इसलिए राजनीतिक समझौता नहीं कहा जा सकता।

इसके विपरीत, लाक के वर्णन के अनुसार दो प्रकार के समझौते होते हैं। प्रथम व्यक्ति पारस्परिक समझौते के आधार पर समाज की स्थापना करते हैं, जिसे सामाजिक समझौता कहा जा सकता है। दूसरा समझौता सामूहिक रूप से समाज और राज्य के बीच हुआ है, जिसके द्वारा शासक की शक्ति की मर्यादाएं निश्चित की गयी हैं। इस दूसरे समझौते को राजनीतिक कहा जा सकता है। इस प्रकार लॉक का समझौता एक ही साथ सामाजिक और राजनीतिक दोनों ही है।

रूसो के सिद्धान्त में मानव व्यक्तित्व के दो रूप माने गये हैं—एक व्यक्तिगत और दूसरा सामाजिक। रूसो के अनुसार, मनुष्य की व्यक्तिगत हैसियत और उसकी सामाजिक हैसियत के बीच समझौता होता है। व्यक्तिगत हैसियत में व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता और अधिकार का परित्याग करता है दूसरी ओर समाज का एक अंग होने के कारण वह अपनी सामाजिक हैसियत से इस शक्ति, स्वतन्त्रता और अधिकार को फिर से प्राप्त कर लेता है। इस समझौते से प्रत्येक व्यक्ति को लाभ ही होता है। सामूहिक रूप से किया गया समझौता सामान्य इच्छा का रूप ले लेता है। इस प्रकार एक ही समझौता होता है जिससे राजनीतिक समाज की स्थापना होती है।

(5) राजसत्ता का स्वरूप—हॉब्स के सिद्धान्त के अन्तर्गत शासक समझौते का पक्ष नहीं है और समझौते के फलस्वरूप निरंकुश, स्वेच्छाचारी एवं सर्वोच्च

प्रजा के मनमानी राजा का प्रादुर्भाव होता है। राजा की शक्ति असीमित है और प्रजा के द्वारा किसी भी स्थिति में राजा के विरुद्ध विद्रोह नहीं किया जा सकता है। हॉब्स का शासक किसी के भी प्रति उत्तरदायी नहीं है। हॉब्स के मत के नितान्त विपरीत लॉक यह कहता है कि राजसत्ता सीमित व वैधानिक होती है और यह जनता एवं शासक में विभाजित है। शासक भी समझौते का एक पक्ष होने के कारण इस समझौते से बाध्य है और जनता जनहित के विरुद्ध कार्य करने वाले शासक के विरुद्ध विद्रोह कर उसे पदच्युत कर सकती है। इस प्रकार लॉक का शासक स्वेच्छाचारी व निरंकुश नहीं है। रूसो के अनुसार, राजसत्ता किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष में निहित न होकर सम्पूर्ण समाज में निहित होती है, जिसे उसने सामान्य इच्छा का नाम दिया है। यह सामान्य इच्छा आवश्यक रूप से शुभ, नैतिक, न्यायिक और उचित है तथा इस सामान्य इच्छा की शक्ति पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। रूसो ने अपने सिद्धान्त के आधार पर लोकतन्त्र की स्थापना की है।

रूसो का प्रभुसत्ताधारी हॉब्स का शीशविहीन 'लेवायथन'

हॉब्स, लॉक और रूसो इन तीनों समझौतावादियों की विचारधारा के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि हॉब्स और लॉक का समझौता सिद्धान्त एक-दूसरे के नितान्त विपरीत है तथा रूसो ने अपने समझौता सिद्धान्त में हॉब्स और लॉक के विचारों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार रूसो के विचार कहीं हॉब्स से मिलते-जुलते हैं और कहीं लॉक से।

हॉब्स तथा रूसो के प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचार बहुत कुछ सीमा तक एक-से हैं। सामान्य इच्छा के जो लक्षण रूसो ने बताये हैं वे लगभग वैसे ही हैं जिनका वर्णन हॉब्स ने अपने सम्प्रभु में किया है। अन्तर केवल यह है कि हॉब्स का सम्प्रभु एक मानव देव है और रूसो सम्प्रभुता का निवास सामान्य इच्छा में मानता है। इसलिए वाहन (Vaughan) का कथन ठीक है कि "यदि हॉब्स के मानव देव (लेवायथन) का शीश काट दिया जाय तो वह रूसो की सामान्य इच्छा होगी।"[1]

हॉब्स तथा रूसो की प्रभुसत्ताधारी की प्रमुख समानताएं इस प्रकार हैं

(1) हॉब्स के मानव देव की अविभाज्यता दूसरे शब्दों में सम्प्रभुता की अविभाज्यता सम्बन्धी गुण रूसो की सामान्य इच्छा में भी पाया जाता है।

(2) हॉब्स की प्रभुसत्ता की भाँति रूसो भी अपनी सामान्य इच्छा को अहस्तान्तरणीय मानता है, जिसके हस्तान्तरण का अर्थ है प्रभुसत्ता का लोप।

(3) हॉब्स की भाँति रूसो भी सम्प्रभुता को स्थायी मानता है।

(4) रूसो के सामान्य इच्छा सम्बन्धी विश्लेषण में हॉब्स के सम्प्रभु की एक और विशेषता पायी जाती है और वह है एकता।

---

1 "Hobbe's Leviathan is Rousseau's General Will, with his head chopped off." —*Vaughan*

(5) रूसो भी हॉब्स की भाँति एक ही समझौते की चर्चा करता है, जिसके फलस्वरूप राज्य तथा समाज दोनों की उत्पत्ति होती है, वह लॉक की भाँति दो समझौतो की चर्चा नहीं करता।

(6) हॉब्स की भाँति रूसो भी सामान्य इच्छा को 'न्यायिक इच्छा' कहता है और इस बात का प्रतिपादन करता है कि सम्प्रभु सदैव ही न्यायप्रिय होता है।

(7) इन सबके अतिरिक्त हॉब्स और रूसो के बीच सबसे बडी समानता यह है कि रूसो के सामाजिक समझौते मे भी हॉब्स के समान व्यक्ति अपनी समस्त शक्तियों का त्याग कर देता है और समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न रूसो की सामान्य इच्छा भी उतनी ही निरकुश है जितना कि हॉब्स का 'लेवायथन'। रूसो भी इस बात का प्रतिपादन करता है कि राज्य का व्यक्तियो के पूर्ण जीवन पर अधिकार होता है और व्यक्ति का मूल कर्तव्य राज्य की आज्ञाओं का पालन करना है।

एक दृष्टि से तो रूसो का सम्प्रभु हॉब्स से भी अधिक निरकुश है। हॉब्स राज्य को असीमित शक्ति प्रदान करते हुए भी व्यक्ति को आत्म सुरक्षा के अधिकार के हित मे राज्य का विरोध करने के लिए स्वतन्त्र छोड देता है, लेकिन रूसो किसी भी स्थिति मे व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार प्रदान नही करता। उसकी दृष्टि मे सामान्य इच्छा व्यक्तियो की आदर्श इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है और इसलिए वह किसी भी स्थिति मे गलत नही हो सकती। स्वय रूसो की भाषा मे, **"जिस प्रकार प्रकृति ने मनुष्य को उनके शरीर के विभिन्न अवयवों पर पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार प्रदान किया है, ठीक उसी प्रकार सामाजिक समझौते ने राजनीतिक सावयव (सामान्य इच्छा) को उसके शरीर के विभिन्न अवयवों (व्यक्ति) के ऊपर पूर्ण निरकुश अधिकार प्रदान किये हैं।"**

हॉब्स और रूसो मे भेद—हॉब्स की विचारधारा मे उपर्युक्त समानता होते हुए भी इन दोनो विचारको की असमानताएँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। प्रथमत, हॉब्स के अनुसार व्यक्ति अपनी शक्तियो का समर्पण एक व्यक्ति विशेष या समूह के प्रति करता है, जो कि सविदा का कोई पक्ष नही वरन् उससे बाहर है। किन्तु रूसो के अनुसार व्यक्ति अपनी शक्तियाँ किसी व्यक्ति समूह को नही वरन् सम्पूर्ण समाज को समर्पित करता है। रूसो कह सकता है कि क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको समष्टि के प्रति समर्पित करता है, किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नही, अत जो कुछ वह देता है वह उसे सम्प्रभुतासम्पन्न समाज का सदस्य होने के नाते पुन प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार राज्य मे भी वह उतना स्वतन्त्र रहता है जितना कि पहले था। रूसो के राजनीतिक समाज की स्थापना से व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे कोई कमी नही होती, लेकिन हाब्स के समझौते मे शक्तियों का त्याग एक बाहरी सत्ता के प्रति होने के कारण हॉब्स रूसो के समान यह दावा नही कर सकता कि समझौते के उपरान्त भी व्यक्ति उतना ही स्वतन्त्र है जितना कि पहले था। इस प्रकार रूसो का सम्प्रभु एक सम्पूर्ण समाज है जबकि हॉब्स का केवल एक व्यक्ति।

द्वितीयतः, इन दोनों में यह भी महत्वपूर्ण अन्तर है कि हॉब्स के सम्प्रभु का विधायी तथा कार्यपालिका दोनों शक्तियों पर अधिकार है और इसलिए वह निरंकुश है और प्रजाजन दास, किन्तु रूसो का सम्प्रभु-समाज केवल विधायी शक्तियों का प्रयोग करता है, कार्यपालिका शक्तियाँ वह सरकार को सौंप देता है जो कि उसका अभिकर्ता अथवा सेवक है। रूसो में सम्प्रभुतासम्पन्न राज्य तथा सरकार में भेद है, जबकि हॉब्स में दोनों तद्रूप हैं। इस प्रकार हॉब्स और रूसो दोनों की संविदा के अन्तर्गत यद्यपि व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का समर्पण करते हैं, लेकिन अन्तर यह है कि रूसो इस समर्पण के बाद भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखता है, हॉब्स की संविदा के अन्तर्गत व्यक्तियों की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। इसी दृष्टि से रूसो के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहा गया है कि "रूसो का प्रभुसत्ताधारी हॉब्स का लेवायथन है जिसका मस्तक काट दिया गया है।"

जहाँ तक लॉक और रूसो का सम्बन्ध है, लॉक के अनुसार यह समर्पण केवल आंशिक होता है, केवल प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने तथा उसे लागू करने का अधिकार ही समाज को समर्पित किया जाता है, अन्य समस्त प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के पास ही बने रहते हैं। रूसो की तरह लॉक के समझौते में अधिकारों का पूर्ण समर्पण नहीं होता।

लॉक और रूसो में एक अन्तर यह है कि रूसो सम्प्रभुतासम्पन्न जनता को अपनी विधायी शक्तियाँ जनता के प्रतिनिधियों की किसी सभा के पक्ष में हस्तान्तरित करने का निषेध करता है, लॉक के विचार में विधायी शक्तियों का प्रयोग सामान्यतया जनता के प्रतिनिधियों द्वारा ही होना चाहिए। इस प्रकार जबकि रूसो प्रत्यक्ष जनतन्त्र का समर्थन करते हुए संसदात्मक संस्थाओं का बहिष्कार करता है, लॉक संसदात्मक संस्थाओं का प्रबल समर्थक है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रूसो अपने संविदा सिद्धान्त के अन्तर्गत कुछ बातें हॉब्स और कुछ बातें लॉक से ग्रहण कर एक नवीन सम्पूर्ण तैयार करता है। हॉब्स से उसने प्रभुसत्ता की निरंकुशता का विचार ग्रहण किया है और लॉक से यह विचार लिया है कि एक अच्छे शासन का मापदण्ड यही है कि उसने प्रजा के सुख के लिए क्या कुछ किया है। उसने इन दोनों गुणों को अपनी सामान्य इच्छा में स्थान दिया है। इस सम्बन्ध में गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि, "जैसे हॉब्स का सिद्धान्त प्रभुसत्ता की निरंकुशता और लॉक का सिद्धान्त सार्वजनिक शासन का समर्थन करता है ठीक उसी प्रकार रूसो का सिद्धान्त लोकप्रिय सम्प्रभुता का समर्थन करता है।"[1]

सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचना

17वीं और 18वीं सदी में समझौता सिद्धान्त अत्यन्त लोकप्रिय रहा। परन्तु,

---

[1] "Just as Hobbes' theory support absolution and Locke upholds constitutional government, Rousseau's theory supports popular sovereignty."
—Gilchrist, *Principles of Political Science*, p. 61

मिल्टन, ग्रोशियस, वुल्फ, काण्ट, ब्लेकस्टोन, स्पिनोजा, आदि अनेक विचारकों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। परन्तु 18वीं सदी के अन्त और 19वीं सदी के राजनीतिक विचारकों ने इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना प्रस्तुत की। अंग्रेज दार्शनिक ह्यूम ने घोषित किया कि, "शासक और शासितों के सम्बन्ध के आधार के रूप में समझौता असगत है तथा इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है।" सर हेनरी मेन ने कहा है कि, "समाज तथा सरकार की उत्पत्ति के इस वर्णन से बढ़कर व्यर्थ की वस्तु और क्या हो सकती है?" ब्लटशली ने इस सिद्धान्त को 'अत्यधिक भयकर', ग्रीन ने 'कपोल कल्पना' और वूल्जे ने 'सरासर झूठा' बतलाया। बेंथम, सर फ्रेडरिक पोल्क, वाहन, एडमण्ड बर्क, आदि विद्वानो के द्वारा भी इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की गयी है। वाहन के अनुसार, "सामाजिक समझौता सिद्धान्त न तो इतिहास को समझने का ही उचित साधन है और न ही किसी ठोस राजनीतिक दर्शन का उदाहरण है।"[1] इस सिद्धान्त की आलोचना ऐतिहासिक, दार्शनिक, तार्किक और वैज्ञानिक आधारो पर की जाती है।

ऐतिहासिक आधार

(1) **समझौता अनैतिहासिक**—ऐतिहासिक दृष्टि से सामाजिक समझौता सिद्धान्त एक गल्प मात्र है क्योंकि इतिहास में इस बात का कहीं भी उदाहरण नहीं मिलता कि आदिम मनुष्यों ने पारस्परिक समझौते के आधार पर राज्य की स्थापना की हो। सविदा सिद्धान्त के समर्थक अपने पक्ष मे 11 नवम्बर, 1620 के 'मेफ्लावर पैक्ट' (Mayflower Pact) का उदाहरण देते हैं जिनमे 'मेफ्लावर' नामक जहाज पर बैठे हुए इगलैण्ड से अमरीका जाने वाले अंग्रेजो ने अनुबन्ध किया था कि, "हम लोग शान्ति और सुख का जीवन व्यतीत करने के उद्देश्य से एक राजनीतिक समाज की रचना करेंगे।" किन्तु इस उदाहरण से समझौता सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती क्योंकि समझौता सिद्धान्त मे वर्णित प्राकृतिक अवस्था के लोगों और 'मेफ्लावर पैक्ट' से सम्बन्धित लोगों की राजनीतिक चेतना मे बहुत अधिक अन्तर है। मेफ्लावर पैक्ट से सम्बन्धित लोग प्राकृतिक अवस्था मे नहीं रह रहे थे, वरन् उन्हें राजनीतिक सगठन और राजनीतिक सस्थाओ का पूर्ण ज्ञान था और उन्होंने एक राज्य में प्राप्त अनुभव के आधार पर ही दूसरे क्षेत्र मे राजनीतिक सस्थाएँ स्थापित की थी। इस सम्बन्ध मे डॉ गार्नर ठीक ही लिखते हैं कि "इतिहास मे कोई ऐसा प्रामाणिक उदाहरण नहीं मिलता जिसके अनुसार ऐसे व्यक्तियों द्वारा, जिन्हें पहले से राज्य का पता नहीं था, आपसी समझौते से राज्य की स्थापना की गयी हो।" गिलक्राइस्ट भी इसी दृष्टिकोण को मानते हैं।

(2) **प्राकृतिक अवस्था की धारणा गलत**—सामाजिक समझौता सिद्धान्त मानवीय इतिहास को प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक अवस्था इस प्रकार के दो

---

1 "The contract theory gives neither a satisfactory clue to history, nor a sound political philosophy." —*Voughan*

कालों में बाँट देता है और एक ऐसी अवस्था की कल्पना करता है जिसके अन्तर्गत किसी भी प्रकार का समाज और राज्य नहीं था, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह काल विभाजन नितान्त असत्य है। इतिहास में कहीं पर भी हमें ऐसी अवस्था का प्रमाण नहीं मिलता, जब मानव संगठन विहीन अवस्था में रहता हो।

(3) राज्य विकास का परिणाम है, निर्माण का नहीं—इतिहास के अनुसार राज्य और इसी प्रकार की अन्य मानवीय संस्थाओं का विकास हुआ है, निर्माण नहीं। स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य आरम्भ में परिवारों में, फिर कुलों, फिर कबीलों और फिर जनपदों अथवा राज्यों में संगठित हुआ। ला फर (La Fur) ने कहा है कि "परिवार की भाँति ही राज्य समाज के लिए आवश्यक है और वह समझौते का नहीं, वरन् वस्तुस्थिति के प्रभाव का परिणाम है।" अतः समझौता सिद्धान्त की इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्य का किसी एक विशेष समय पर निर्माण किया गया है।

दार्शनिक आधार

ऐतिहासिक आधार पर समझौता सिद्धान्त की जो आलोचनाएँ की गयीं, उन्हें दृष्टि में रखते हुए काण्ट आदि अनेक विचारकों द्वारा इस बात का प्रतिपादन किया गया कि चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से कोई समझौता न हुआ हो, लेकिन दार्शनिक दृष्टिकोण से समझौता सिद्धान्त के औचित्य पर सन्देह नहीं किया जा सकता है। उनके मतानुसार, इस सिद्धान्त के आधार पर राज्य के स्वरूप एवं व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों को उचित रूप में समझा जा सकता है। लेकिन दार्शनिक आधार से भी इस सिद्धान्त पर अनेक आपत्तियाँ की जा सकती हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(1) राज्य की सदस्यता ऐच्छिक नहीं—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य को एक ऐसे संगठन के रूप में चित्रित किया गया है जिसकी सदस्यता ऐच्छिक हो। किन्तु राज्य की सदस्यता ऐच्छिक नहीं, वरन् अनिवार्य होती है और व्यक्ति उसी प्रकार राज्य के सदस्य होते हैं जिस प्रकार परिवार के। यदि राज्य एक क्लब या व्यापारिक संस्था की तरह स्वेच्छा से बनाया गया संगठन होता तो व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता होती कि वह जब चाहे तब उसमें शामिल हो जाय और जब चाहे तब उससे अलग हो जाय। बर्क के प्रभावपूर्ण शब्दों में, "राज्य को काली मिर्च, कहवा, वस्त्र या तम्बाकू अथवा ऐसे ही अन्य सामान्य व्यापार की साझेदारी समझौते के समान नहीं समझा जाना चाहिए, जिसे अस्थायी स्वार्थ के लिए कर लिया गया हो और समझौते के पक्ष इच्छानुसार भंग कर सकते हों। इसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। यह तो समस्त विज्ञान, समस्त कला, समस्त गुणों और समस्त पूर्णता के बीच एक साझेदारी है।" क्योंकि इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य को साधारण साझेदारी पर आधारित ऐच्छिक समुदाय के रूप में चित्रित किया गया है, अतः इस सिद्धान्त द्वारा किया गया राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन नितान्त त्रुटिपूर्ण है।

(2) राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों की अनुचित व्याख्या—जिस प्रकार सन्तान और माता पिता के बीच जो सम्बन्ध पाये जाते हैं, उनकी व्याख्या किसी समझौते के आधार पर नहीं की जा सकती, उसी प्रकार व्यक्ति और राज्य के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों की व्याख्या भी किसी समझौते के आधार पर नहीं की जा सकती है। वस्तुत व्यक्ति और राज्य के बीच पारस्परिक सम्बन्ध समझौते पर नहीं वरन् मानवीय स्वभाव पर ही आधारित हैं। आलोचक वॉन हालर (Van Haller) ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही लिखा है कि "यह कहना कि व्यक्ति और राज्य मे समझौता हुआ उतना ही युक्तिसगत है जितना यह कहना कि व्यक्ति और सूर्य मे इस प्रकार का समझौता हुआ कि सूर्य व्यक्ति को गर्मी दिया करे।"

(3) राज्य कृत्रिम सस्था नहीं है—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य मनुष्य की कृति है, लेकिन वस्तुत राज्य एक कृत्रिम सस्था नही वरन् मानवीय स्वभाव पर आधारित प्राकृतिक सस्था है। राज्य मनुष्यो की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति का ही परिणाम है। मालबर्ग (Malbourgh) का कथन है कि 'राज्य व्यक्तियो के बीच स्वेच्छा से किये हुए समझौते से नहीं बना है। मनुष्यो को उन सामाजिक आवश्यकताओ से बाध्य होकर राज्य मे रहना पडा, जिनसे वह बच नहीं सकता था।"

(4) विद्रोह का पोषक—समझौता सिद्धान्त राज्य को व्यक्तिगत सनक का परिणाम बताकर विद्रोह, क्रान्ति एव अराजकता को प्रोत्साहित करता है और नागरिको के व्यवस्थित जीवन के अन्त का कारण बन जाता है। ब्लटशली के अनुसार, "सामाजिक समझौता सिद्धान्त अत्यन्त भयानक है क्योकि यह राज्य और अन्य सस्थाओं को व्यक्तिगत सनक का परिणाम बताता है।'[1] लाइबर (Liber) ने भी लिखा है कि 'इस सिद्धान्त को अपनाने से अराजकता फैलने का डर है।'

(5) प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों का अस्तित्व सम्भव नहीं—इस सिद्धान्त के समर्थको का और प्रमुख रूप से लॉक का विचार है कि व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था म प्राकृतिक अधिकारो का उपभोग करते थे, परन्तु प्राकृतिक अधिकारो और प्राकृतिक स्वतन्त्रता की धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। अधिकारो का उदय समाज म ही होता है और एक राज्य के अन्तगत रहकर ही अधिकारों का उपभोग किया जा सकता है। ग्रीन न ठीक ही कहा है कि 'प्राकृतिक अवस्था में, जो कि एक असामाजिक स्थिति होती है, अधिकारों की कल्पना स्वयं ही एक विरोधाभास है।' आगे चलकर उसने लिखा है, 'समझौता सिद्धान्त का वास्तविक दोष यह नहीं है कि वह अनैतिहासिक

---

[1] 'The So ial Contract theory is highly dangerous since it makes the State and its institution as Product of individual caprice'

—Bluntschli, *Theory of the State*, p 295.

है वरन् यह है कि इसके अनुसार अधिकारों और कर्त्तव्यों का समाज से पृथक भी अस्तित्व सम्भव है।"[1]

तार्किक आधार—

अतार्किक—सामाजिक समझौता न केवल इतिहास और दर्शन वरन् तर्क की दृष्टि से भी नितान्त असगत है। यह बात समझ मे नहीं आती कि प्राकृतिक अवस्था मे रहने वाले व्यक्तियों मे, जो कि राज्य सस्था से नितान्त अपरिचित थे, एकाएक ही राजनीतिक चेतना का उदय कैसे हो गया। हमारा व्यावहारिक अनुभव हमे यह बताता है कि राजनीतिक चेतना सामाजिक जीवन मे ही उत्पन्न होती है, प्राकृतिक अवस्था मे नही। प्राकृतिक अवस्था मे रहने वाले व्यक्तियों की स्थिति मे इतने शीघ्रगामी एव आश्चर्यजनक परिवर्तन की व्याख्या तर्क के आधार पर सम्भव नहीं है। कहावत है कि "एक रात में चीता अपना रग नहीं बदल सकता।"[2]

वैधानिक आधार—

सामाजिक समझौता सिद्धान्त वैधानिक आधार पर भी खरा नहीं उतरता और इस पर निम्न आक्षेप किये जाते हैं

(1) प्राकृतिक अवस्था में समझौता सम्भव नहीं—यदि तर्क के लिए यह मान लिया जाय कि आदिम मनुष्य अपनी सामाजिक चेतना मे इतना आगे बढ़ चुका था कि वह समझौता कर सके, तो प्राकृतिक अवस्था मे किये गये किसी भी समझौते का वैधानिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है क्योंकि किसी समझौते को वैध रूप प्राप्त होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके पीछे राज्य की स्वीकृति का बल हो, लेकिन प्राकृतिक अवस्था मे राज्य का अस्तित्व न होने के कारण सामाजिक समझौते के पीछे इस प्रकार की कोई शक्ति नहीं थी। ग्रीन के शब्दों में, "समझौता सिद्धान्त में चित्रित प्राकृतिक स्थिति के अन्तर्गत कानूनी दृष्टि से कोई समझौता नहीं किया जा सकता है।' क्योंकि समझौता वैध नहीं है, अत उससे प्राप्त सब अधिकार भी मिथ्या हो जाते हैं।

(2) समझौता वर्तमान समय में मान्य नहीं—कोई भी समझौता जिन निश्चित लोगों के मध्य होता है उन्हीं पर लागू होता है। अत किसी अज्ञात समय मे अज्ञात व्यक्तियों द्वारा किया गया समझौता उसके बाद के समय और वर्तमान लोगों पर लागू हो, यह कानूनी दृष्टि से अमान्य है। बेन्थम के अनुसार, "मेरे लिए आज्ञापालन जरूरी है, इसलिए नहीं कि मेरे प्रपितामह ने तृतीय जार्ज के प्रपितामह से कोई समझौता किया था, वरन् इसलिए कि विद्रोह से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है।" इसी प्रकार का तर्क अपनाते हुए डॉ॰ आशीर्वादम ने कहा है कि "यदि पूर्वजों ने खट्टे अगूर खाये, तो उनके बच्चों के दाँत क्यों खट्टे हों।"

[1] "The real flaw in the theory of contract is not that it is unhistorical but that it implies the possibility of rights and obligations independently of society" —Green

[2] "A leopard cannot change his colour overnight"

समझौता सिद्धान्त का महत्व

यद्यपि सामाजिक समझौता सिद्धान्त की इतनी अधिक आलोचनाएँ की गयी हैं और आज यह सिद्धान्त अस्वीकृत हो गया है किन्तु राजनीतिक विचारों के इतिहास मे यह सिद्धान्त पर्याप्त महत्वपूर्ण है।

सर्वप्रथम, इस सिद्धान्त के द्वारा राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का खण्डन किया गया, जिसके अन्तर्गत राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। मैकाइवर ने लिखा है कि 'ऐतिहासिक दृष्टि से इस सिद्धान्त ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उन असत्य तर्कों को समाप्त कर दिया, जो धार्मिक ग्रन्थों की त्रुटिपूर्ण व्याख्याओं पर आधारित थे और राज्य को दुबारा एक सच्चे आधार पर अधिष्ठित कर दिया अर्थात इसने लोगों की इच्छा और सामान्य उद्देश्य को राज्य का आधार बनाया।"

द्वितीयतः, इस सिद्धान्त के द्वारा इस सत्य का प्रतिपादन किया गया कि शक्ति अथवा शासक की व्यक्तिगत इच्छा नही, वरन् जनसहमति ही राज्य का आधार है। यह सिद्धान्त इस मौलिक तथ्य का समर्थक है कि राजा अपनी शक्ति प्रजा से प्राप्त करता है और राजा को मनमानी करने का अधिकार नही हो सकता।

तृतीयतः, सामाजिक समझौते के सिद्धान्त द्वारा प्रभुत्व सम्बन्धी विचारधारा मे भी महत्वपूर्ण योग प्रदान किया गया है। हॉब्स के विचारों के आधार पर आस्टिन ने वैधानिक सम्प्रभुता के विचार का प्रतिपादन किया, लॉक ने राजनीतिक प्रभुत्व के सिद्धान्त को प्रेरणा प्रदान की और रूसो के सामान्य इच्छा सम्बन्धी विचारों से लोकप्रिय सम्प्रभुता (Popular Sovereignty) सम्बन्धी धारणा को अपूर्व बल मिला। *इस प्रकार समझौता सिद्धान्त ने राजनीतिक विचारधारा के विकास मे महत्वपूर्ण योग* दिया है और लॉक तथा रूसो की विचारधारा ने कुछ देशों के राजनीतिक घटनाचक्र पर भी व्यापक प्रभाव डाला है।

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

अब तक राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया, उनमे दैवी सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, सामाजिक समझौता सिद्धान्त, पैतृक सिद्धान्त और मातृक सिद्धान्त प्रमुख हैं। लेकिन राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या के रूप मे इनमे से किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। दैवी सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त और समझौता सिद्धान्त मे एक बात समान रूप से पायी जाती है कि राज्य का एक विशेष समय पर निर्माण किया गया है किन्तु वास्तव मे राज्य का निर्माण नहीं किया गया, यह तो निरन्तर विकास का परिणाम है। इसके साथ ही, पैतृक और मातृक सिद्धान्त की इस बात को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि राज्य परिवार का विस्तार मात्र है क्योंकि परिवार और राज्य की प्रकृति में कुछ आधारभूत भेद है। डॉक्टर गार्नर ने सत्य ही कहा है कि "राज्य न तो ईश्वर की सृष्टि है, न वह उच्चकोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव या

समझौते की कृति है और न परिवार का ही विस्तृत रूप है। यह तो क्रमिक विकास से उदित एक ऐतिहासिक संस्था है।"[1]

राज्य विकास का परिणाम है और राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त द्वारा ही की गयी है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का विकास एक लम्बे समय से चला आ रहा है और आदिकालीन समाज से क्रमिक विकास करते-करते इसने वर्तमान राष्ट्रीय राज्य के स्वरूप को प्राप्त किया है। बर्गेस ने उचित ही कहा है कि "राज्य मानव समाज का निरन्तर विकास है जिसका प्रारम्भ अत्यन्त अधूरे और विरूप किन्तु उन्नतिशील रूपों में अभिव्यक्त होकर मनुष्यों के एक सम्पूर्ण एवं सार्वभौम संगठन की ओर विकास हुआ है।" जिस प्रकार मारा प्राणियों की अर्थहीन बड़बड़ाहट से निकली है, ठीक उसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति बहुत प्राचीन और इतिहास से परे असभ्य समाज से हुई है।

यह बताना कि कब और किस प्रकार राज्य अस्तित्व में आया, अत्यधिक कठिन है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध समाजशास्त्री समनर तथा कैलर (Sumner and Keller) ने अपनी पुस्तक 'The Science of Society' में कहा है कि यह कहना कि राज्य किस समय सबसे पहले दिखायी दिया, उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार यह कहना कि कब नैतिक नियम कानून बने या बालक कब युवक हुआ या युवक कब एक प्रौढ़ बना।' अन्य सामाजिक संस्थाओं के समान ही विभिन्न परिस्थितियों की सहायता पाकर और अनेक तथ्यों से प्रभावित होकर यह आविर्भूत हुआ। राज्य के विकास का क्रम भी एक-सा नहीं रहा है। प्रकृति, परिस्थिति और स्वभाव के भेदों के कारण विभिन्न समयों, अवस्थाओं और स्थानों में राज्य के विकास का क्रम भी विभिन्न रहा है। भाषा और राजनीतिक चेतना के समान ही राज्य का विकास भी धीरे-धीरे हुआ। इस विकास क्रम के अन्तर्गत समय-समय पर राज्य के विकास को विभिन्न तत्वों द्वारा प्रभावित किया गया है। फिर भी उन प्रमुख प्रभावों को जिनसे राज्य के विकास में सहायता मिली, प्रकट करना असम्भव है। राज्य के विकास में सहायक प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं :

(1) मूल सामाजिक प्रवृत्ति, (2) रक्त सम्बन्ध, (3) धर्म, (4) शक्ति, (5) आर्थिक गतिविधियाँ, और (6) राजनीतिक चेतना।

(1) मूल सामाजिक प्रवृत्ति (Natural Social Instinct)—राज्य के विकास में सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व मनुष्यों की मूल सामाजिक प्रवृत्ति है। अरस्तू ने मानवीय प्रकृति का चित्रण करते हुए कहा कि, "यदि कोई मनुष्य ऐसा है

---

1 "The state is neither the handiwork of God, nor the result of superior physical force, nor the creation of resolution or convention, or a mere expansion of the family. The state is not merely an artificial mechanical creation but an institution or natural growth of historical evolution."
—Garner, *Introduction to Political Science*, p 87.

जो समाज में न रह सकता हो अथवा जिसे समाज की आवश्यकता हो न हो क्योंकि वह अपने आप में पूर्ण है तो उसे मानव समाज का सदस्य मत समझो वह जगली जानवर या देवता हो हो सकता है। सामाजिक प्रकृति वाले ये मनुष्य जब साथ साथ रहे तो सामाजिक और राजनीतिक जीवन की अनेक पेचीदगियाँ सामने आयीं और इन समस्याओं के सहज स्वाभाविक हल के रूप मे स्वत ही राज्य का उदय हो गया। प्रारम्भ मे मानव जीवन नितान्त सरल होने के कारण राज्य का स्वरूप भी सरल था। जैसे जैसे मानव जीवन जटिल होता गया वैसे-वैसे राज्य के जीवन मे भी व्यापकता और जटिलता ने प्रवेश किया।

(2) रक्त सम्बन्ध (Kinship)—यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि सामाजिक सगठन का प्राचीनतम रूप रक्त सम्बन्ध पर आधारित था और रक्त सम्बन्ध एकता का प्रथम और दृढतम बन्धन रहा है। आग्ल कहावत 'खून पानी से गाढ़ा होता है' (Blood is thicker than water) इसी तथ्य पर आधारित है। प्रारम्भिक समय मे जो बात उन्हे पास लाती थी और एक दल के रूप मे सगठित होने के लिए प्रेरित करती थी वह सामान्य उत्पत्ति मे विश्वास ही था और परिवार प्राचीनतम तथा निकटतम रक्त सम्बन्ध की इकाई था। यद्यपि यह प्रश्न विवादास्पद है कि कबीला कुल या परिवार मे पहले कौन अस्तित्व मे आया लेकिन इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि परिवार के स्पष्ट व्यक्ति नियन्त्रण के आधार पर ही राज्य की स्थापना हुई होगी। इस सम्बन्ध मे सर हेनरी मेन ने लिखा है कि समाज के प्राचीनतम इतिहास की आधुनिकतम गवेषणाएँ इस निष्कर्ष की ओर इगित करती हैं कि समूहों को एकता के सूत्र मे बाँधने वाला प्रारम्भिक बन्धन रक्त सम्बन्ध ही था।[1]

आगे चलकर जब जनसख्या की वृद्धि के कारण कुटुम्ब का आकार बढा तथा जाति और कुल बने तब समाज का जन्म हुआ। इस सम्बन्ध मे मैकाइवर का कथन है कि रक्त सम्बन्ध समाज को जन्म देता है और कालान्तर मे समाज राज्य को।[2] यह कहना बहुत कठिन है कि परिवार ने किस प्रकार राज्य को जन्म दिया। प्राचीनकाल मे सम्भवतया रक्त सम्बन्ध माता से जाना जाता था और बहुपति प्रथा व अस्थायी वैवाहिक सम्बन्ध प्रचलित थे। किन्तु कालान्तर मे कृषि के आविष्कार के कारण व्यक्तियों ने एक विशेष स्थान पर स्थायी रूप से रहना प्रारम्भ किया। कृषि कार्य मे स्थायी रूप से पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता के कारण विवाह पद्धति का प्रचलन हुआ और धीरे धीरे पुरुषों की प्रधानता बढने लगी। इस प्रकार पहले

---

1 The most recent researches into the primitive history of society point to the conclusion that the earliest tie which knitted men together in communities was kinship —Maine *The History of Ins u* on pp 64 65

2 Kinship creats society and society at length creates the state
—MacIver, *The Modern State* p 33

कुटुम्ब, फिर कुल, फिर समाज तथा बाद मे राज्य अस्तित्व मे आया। परिवार के पिता का अधिकार परिवार के सदस्यों पर पूर्णतया अक्षुण्ण था। परिवार के कुल-पति ने, जो बाद मे कबीले का सरदार बना, अपने मे धार्मिक, प्रशासनिक, नैतिक और न्यायिक अधिकारों को शामिल कर लिया। आगे चलकर कुटुम्ब, कुल या कबीले के प्रधान तत्व ने सामन्तशाही का रूप ले लिया और फिर आधुनिक समाज अस्तित्व मे आया।

(3) धर्म (Religion)—रक्त सम्बन्ध की भांति ही धर्म का भी राज्य की स्थापना मे महत्वपूर्ण योग रहा है। राज्य के विकास कार्य में रक्त सम्बन्ध और धर्म परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहे हैं। वस्तुत प्रारम्भिक समाज में रक्त सम्बन्ध और धर्म एक ही वस्तु के दो पहलू थे और दोनों परिवार तथा कबीलों को परस्पर जोड़ने का कार्य साथ-साथ ही करते थे। विल्सन के अनुसार प्रारम्भिक समाज मे, "धर्म समान रक्त का प्रतीक, उसकी एकता, पवित्रता और दायित्व की अभिव्यक्ति था।"[1] गेटल ने तो यहां तक लिखा है कि "रक्त सम्बन्ध और धर्म एक ही वस्तु के दो रूप थे और समूह की एकता व उनके कर्तव्यों को धार्मिक मान्यता प्राप्त थी।"[2]

धर्म का प्रारम्भिक रूप रक्त सम्बन्ध पर ही आधारित था। व्यक्ति अपने परिवार के वृद्ध व्यक्तियों के मृत हो जाने पर भी उनके प्रति बहुत अधिक श्रद्धा रखते थे और उनका विचार था कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा जीवित रहती है अत इस आत्मा को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने पितृ पूजा प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार धर्म का एक बहुप्रचलित रूप पितृ-पूजा या पुरखा-पूजा था और इस धर्म ने कुटुम्बों को एकता के सूत्र मे बांधा। जो लोग एक ही रक्त सम्बन्ध से जुड़े थे उनके कुल देवता भी एक हुए, जो अधिकतर उनके पुरखे होते थे। जेंक्स ने कहा है कि "कुटुम्ब के संगठन मे सभी मनुष्य एक ही देवता की पूजा करते थे, एक ही धर्म को मानते थे और मिल-जुलकर धार्मिक कार्य करते थे। उस समय धर्म ही कानून होता था।" प्रारम्भ मे जाति के शासन के लिए 'वृद्धों की एक समिति' (Elder's Council) होती थी और धार्मिक नियमों से पूर्णतया परिचित इन वृद्ध व्यक्तियों द्वारा शासन किया जाता था। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि धर्म ने प्राचीन काल मे असभ्य मनुष्यों को सभ्यता प्रदान की और उनमे अनुशासन उत्पन्न किया।

उस समय धर्म का एक दूसरा प्रचलित रूप प्राकृतिक शक्तियों की पूजा थी। जंगली अवस्था में जबकि बुद्धि का विकास नहीं हुआ था और व्यक्ति प्राकृतिक परि-

---

1 "Religion was the sign and seal of common blood the expression of the oneness its sanctity, its obligations." —Wilson

2 "Kinship and religion were, therefore two aspects of the same thing and the unity and obligations of the group were given religious sanction." —Gettell, *Political Science*, p 64

वर्तनो को समझने मे असमर्थ थे, उन्होंने बादल की गडगडाहट, बिजली की कड़क, हवा की सनसनाहट और वस्तुओ के परिवर्तन मे ईश्वर की शक्ति का अनुभव किया और प्रकृति की प्रत्येक शक्ति उनके लिए देवता बन गयी। व्यक्ति पृथ्वी, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और वरुण की उपासना करने लगे और एक ही शक्ति के उपासको मे परस्पर घनिष्ठ मैत्री भाव उत्पन्न हुआ जो राज्य का आधार बना।

थोड़े समय बाद मिथ्या विश्वासो और ऐन्द्रिजालिक नीतियो का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारम्भिक समाज मे विभिन्न प्राकृतिक शक्तियो को देवता या भूत प्रेत समझा जाता था और जब कोई व्यक्ति यह सिद्ध कर देता था कि वह प्राकृतिक शक्तियो को नियन्त्रित रख सकता है तब समाज मे उसे असाधारण शक्ति और सम्मान प्राप्त हो जाता था। उस समय विश्वास किया जाता था कि देश मे वर्षा या सूखा, उपज या अकाल, बीमारी, युद्ध और समृद्धि सभी कुछ तान्त्रिक की कुशलता और जादूगरी पर निर्भर है। ऐसी स्थिति मे धीरे-धीरे वही तान्त्रिक पुरोहित या राजा बन गया। इसी बात को लक्ष्य करते हुए गिलक्राइस्ट ने कहा है कि "प्रमुख जादूगर से राजा बनने का चरण आसान है।"[1] स्पार्टा मे ऐसा हुआ भी, वहाँ तान्त्रिक राजा सासारिक व धार्मिक क्षेत्रों का प्रधान बन गया।

इस प्रकार राज्य के विकास मे धर्म के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। प्रारम्भिक समाज मे धर्म और राजनीति परस्पर घुले-मिले थे। धर्म ने व्यक्तियो को राजनीतिक रूप से सगठित किया और उन्हें आज्ञापालन व अनुशासन का पाठ पढाया। राज्य के विकास में धर्म का यह महत्व केवल प्रारम्भिक समाज तक ही सीमित नहीं था। आज भी पाकिस्तान, सऊदी अरब और अफगानिस्तान जैसे राज्य में धर्म और राजनीति मे गहरा सम्बन्ध है और राजनीति धर्म पर आधारित है।

(5) शक्ति (Force)—राज्य सस्था के विकास में शक्ति या युद्ध का स्थान भी विशेष महत्वपूर्ण रहा। पहले सामाजिक व्यवस्था थी, जिसे राजनीतिक अवस्था में परिवर्तित करने का कार्य युद्ध के द्वारा ही किया गया। जेंक्स ने कहा भी है कि जन-समाज का राजनीतिक समाज में परिवर्तन शान्तिपूर्ण उपायों से नहीं हुआ यह परिवर्तन युद्ध द्वारा हुआ है।"

मनुष्य स्वभावत दूसरो पर आधिपत्य स्थापित करना चाहता है और सघर्ष एव आक्रमण की प्रवृत्ति भी मनुष्यों की मूलप्रवृत्तियो मे से एक है। मानवीय विकास के प्रारम्भिक काल मे ये प्रवृत्तियाँ बहुत अधिक सक्रिय थी। कृषि तथा व्यवसाय की उन्नति के साथ जब लोग निश्चित स्थानो पर बस गये, तो निजी सम्पत्ति की धारणा का उदय हुआ। ऐसी स्थिति मे निवास स्थान तथा सम्पत्ति की रक्षार्थ युद्ध होने लगे

---

[1] "From chief magician, the step to chief or king is simple."
—Gilchrist, *Principles of Political Science*, p 87.

और युद्ध ने नेतृत्व के महत्व को जनता के सामने रखा। लोग सुरक्षा प्रदान करने की क्षमता रखने वाले शक्तिशाली व्यक्ति का नेतृत्व स्वीकार करने लगे। इस नेता की अधीनता में एक कबीला दूसरे कबीले पर आधिपत्य जमाने की चेष्टा में संलग्न रहा और संघर्ष की इस प्रक्रिया में विजयी कबीले का सैनिक सरदार राजा बन बैठा। बलपूर्वक शक्ति ने प्रभुसत्ता का रूप धारण किया और शासक के प्रति भक्ति तथा निष्ठा की भावना का जन्म हुआ। इस प्रकार युद्ध से राज्य की उत्पत्ति हुई। कहा भी गया है कि "युद्ध से राजा का जन्म होता है" (war begets the King)। गैटल के अनुसार, यह कथन कम से कम अर्द्ध सत्य अवश्य है, क्योंकि सत्ता तथा कानून की आवश्यकता को जन्म देने तथा पारिवारिक संगठन को अधिकाधिक राजनीतिक स्वरूप देने में सैनिक कार्यवाही विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई।

(5) आर्थिक गतिविधियाँ (Economic Activities)—राज्य की उत्पत्ति और विकास में आर्थिक गतिविधियों का भी प्रमुख हाथ रहा है। गैटल ने लिखा है कि 'आर्थिक चेष्टाएँ, जिनके द्वारा मनुष्य ने भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि की तथा बाद को सम्पत्ति और धन का संचय किया, राज्य के निर्माण में आवश्यक तत्व रही हैं।' प्लेटो, मैकियावेली, हॉब्स, लॉक, एडम स्मिथ और माण्टेस्क्यू ने भी राज्य की उत्पत्ति और विकास में आर्थिक तत्वों के योग को स्वीकार किया है किन्तु इनसे बहुत आगे बढ़कर कार्ल मार्क्स ने तो इस विचार को अभिव्यक्त किया है कि "राज्य आर्थिक परिस्थिति की ही अभिव्यक्ति है।" सामाजिक संगठन का आधार बहुत अधिक अंश तक किसी समाज विशेष में स्थापित आर्थिक सम्बन्ध होते हैं और इसलिए आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन होते हैं।"

आदिम काल से अब तक मनुष्य चार आर्थिक अवस्थाओं से होकर गुजरा है जिनके अनुकूल ही उनमें तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन रहे हैं, प्रथम, आखेट अवस्था में मनुष्य के जीवन का एकमात्र साधन शिकार था और इसी कारण मनुष्य का जीवन अस्थिर, असंगठित तथा भ्रमणशील था। द्वितीय, पशुपालन अवस्था में मनुष्य पशु पालकर अपना गुजारा करते थे। इस अवस्था में भी उनका जीवन भ्रमणशील ही था, किन्तु उनमें सामूहिकता और संगठन का अंश आ गया था। तृतीय, कृषि अवस्था में जीवन का आधार कृषि हो जाने पर मनुष्य निश्चित स्थान पर स्थायी रूप से रहने लगे। इसमें निजी सम्पत्ति का उदय हुआ, समाज में वर्ग पैदा हो गये और संघर्ष बढ़े। ऐसी स्थिति में कानून, न्यायालय और राजनीतिक सत्ता की स्थापना हुई। चतुर्थ, आज की औद्योगिक अवस्था है जिसमें आर्थिक जीवन के जटिल और विशाल ढाँचे ने राष्ट्रीय राज्यों को जन्म दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक विकास के साथ मनुष्य के राजनीतिक संगठन में भी परिवर्तन हुए हैं और राज्य के विकास पर आर्थिक गतिविधियों के प्रभाव का यह स्पष्ट प्रमाण है।

(6) राजनीतिक चेतना (Political Consciousness)—राज्य के विकास म योग देने वाला एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्व राजनीतिक चेतना है। राजनीतिक चेतना का तात्पय उन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए जागरूकता है जिनके हेतु राज्य की स्थापना की जाती है। अनेक विद्वानों के अनुसार राज्य के विकास मे राजनीतिक चेतना ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व के रूप मे काय किया। गिलक्राइस्ट के शब्दो मे राज्य निर्माण के सभी तत्वों की तह मे जिनमे रक्त सम्बन्ध व धम भी सम्मिलित है राजनीतिक चेतना है जो सबसे मुख्य तत्व है।[1] ब्लटशली के अनुसार भी मनुष्य मे सामाजिक जीवन की इच्छा ही राज्य निर्माण का कारण बनती है।

जब व्यक्ति किसी निश्चित प्रदेश पर बस गये और उनके द्वारा अपनी आजीविका के स्थायी साधन प्राप्त कर लिए गये तो उनकी यह स्वाभाविक इच्छा हुई कि दूसरे लोग उनके साधनो को हडप न लें। फलत नियमो की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और यही राजनीतिक चेतना का मूल था। प्रारम्भ मे यह राजनीतिक चेतना अप्रकाशित एव अव्यक्त रूप मे थी सभ्यता के विकास के साथ साथ यह प्रकाशित तथा व्यक्त होने लगी। शासन अनुशासन युद्ध आदि के लिए अब राजनीतिक सगठन की आवश्यकता और भी स्पष्ट हो गयी। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्तियो मे शक्ति की आकाक्षा भी बनी और सैनिक कायवाहियो द्वारा वे अधिकाधिक शक्ति की प्राप्ति करने लगे। युद्ध मे विजयी नेता राजा हो गये और उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस प्रकार शासन और कानून का जन्म हुआ और राज्य मूत रूप म सामने आया। वतमान समय मे भी राजनीतिक चेतना राज्य के विकास मे सक्रिय है और इसी चेतनावश मानव जाति द्वारा विश्व राज्य की स्थापना की दिशा मे सोचा जाने लगा है।

निष्कष—राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त ही सर्वाधिक मान्य है जिसके अनुसार किसी एक तत्व के द्वारा नहीं वरन मूल सामाजिक प्रवृत्ति रक्त सम्बन्ध धम शक्ति आर्थिक गतिविधियाँ और राजनीतिक चेतना सभी के द्वारा सामूहिक रूप से राज्य का विकास किया गया है। डा गानर ने कहा है कि इनमें से किसी भी एक तत्व के कारण राज्य का उदय नहीं हुआ है वरन सबके सामूहिक रूप से काय करने के परिणामस्वरूप ही राज्य अस्तित्व म आया है। वस्तुत इन सभी तत्वो के द्वारा पारस्परिक सहयोग के आधार पर राज्य का विकास किया गया है। रक्त सम्बन्ध पर आधारित परिवार राज्य का सबसे प्राचीन रूप था धम ने इन परिवारो को एकता प्रदान की और आर्थिक गतिविधियो ने व्यक्तियो को सगठित होने के लिए प्रेरित किया। इसके साथ ही शक्ति और राजनीतिक चेतना ने राज्य के रूप को स्पष्टता और व्यापकता प्रदान की। इस

1 Underly ng a l other e ements in state format on nclud ng k n h p and rel g on s pol t cal cn c ou ness the supreme element
—G lc r st *P inc ples of P l ical Science* p 88

प्रकार राज्य का उदय हुआ और उसने विकास करते-करते अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया।

प्रश्न

1. सामाजिक समझौता सिद्धान्त की विवेचना कीजिए और 'प्राकृतिक अवस्था' 'सामाजिक समझौते' एवं 'शासकीय समझौते' के विषय मे हॉब्स, लॉक और रूसो के विचारों की व्याख्या कीजिए।
2. "रूसो का प्रभुसत्ताधारी हॉब्स का लेवायथन है जिसका सिर काट दिया गया है।" आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. "सामाजिक समझौता का सिद्धान्त न तो हमे इतिहास के बारे मे और न ही राजनीतिक दर्शन के बारे मे सन्तोषजनक उत्तर प्रदान करता है।" (वाहन) उक्त कथन के सन्दर्भ मे सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. "राज्य एक विकसित वस्तु है न कि निर्मित।" इस कथन को स्पष्ट करते हुए *राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त की व्याख्या* कीजिए।
5. रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

8

राज्य का कार्यक्षेत्र : अहस्तक्षेप सिद्धान्त और कल्याणकारी सिद्धान्त

[SPHERE OF STATE ACTIVITY LAISSEZ FAIRE AND WELFARE THEORIES]

"राज्य का कार्य केवल पुलिस कार्य सम्पन्न करना, अपराधियों को पकड़ना और समझौतो पर कठोरतापूर्वक अमल करवाना ही नहीं है, अपितु राज्य को यथाशक्ति व्यक्तियों के लिए उनकी बौद्धिक तथा नैतिक प्रवृत्तियों मे जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है उसे प्राप्त करने का समान अवसर प्रदान करना है।"[1]
—थामस हिल ग्रीन

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे विविध मत

कोकर ने ठीक ही लिखा है कि "राज्य के कार्यक्षेत्र के निर्धारण की समस्या राजनीतिक सिद्धान्त की समस्याओ मे सबसे अधिक गहन है।"[2] राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे विविध विचारकों द्वारा विभिन्न विचारधाराओ का प्रतिपादन किया गया है। राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में प्रतिपादित इन विचारधाराओं को प्रमुखतया दो वर्गों मे रखा जा सकता है

प्रथम, अहस्तक्षेप सिद्धान्त इस श्रेणी मे सबसे अधिक प्रमुख रूप मे व्यक्तिवाद आता है।

द्वितीय, कल्याणकारी सिद्धान्त इस श्रेणी मे सबसे अधिक प्रमुख रूप मे दो विचारधाराएँ आती हैं, प्रथम, समाजवाद और द्वितीय लोककल्याणकारी राज्य की धारणा।

---

1 "The business of the state is not merely the business of a policeman of arresting wrong doers or ruthless by enforcing contracts, but of providing for men an equal chance as far as possible of realising, what is best in their intellectual or moral nature"

—T H Green *Principles of Political obligation.*

2 "The problem of determining the province of state activity, is the most difficult of all the problems of political theory"

Coker *Recent Political Thought*, p. 381

व्यक्तिवाद

आदर्शवादियों के द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था कि "राज्य साध्य है, साधन नहीं।" इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य को जो बहुत अधिक महत्व प्रदान किया गया, उसके प्रतिक्रियास्वरूप व्यक्तिवादी विचारधारा का जन्म हुआ, जिसके अनुसार व्यक्ति साध्य और सम्पूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन का केन्द्र है। *इसके अतिरिक्त, व्यक्ति अपने हितों का सर्वोत्तम निर्णायक है* इसलिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। अतः व्यक्तिवाद राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में प्रतिपादित वह महत्वपूर्ण सिद्धान्त है जो राज्य को मनुष्य की अपूर्णता का प्रतीक कहकर उसकी निन्दा करता है और आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र प्रतियोगिता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। सबसे अधिक श्रेष्ठ रूप में व्यक्तिवाद की व्याख्या एक ऐसे मानसिक दृष्टिकोण और सिद्धान्तों के समूह के रूप में की जा सकती है जो व्यक्ति को सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र मानती है और जिसका विचार है कि सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण व्यक्ति की आवश्यकताओं और हितों के अनुरूप ही होना चाहिए।

व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य शक्ति के आधार पर कार्य करता है, लेकिन शक्ति के आधार पर किये गये राज्य के कार्य व्यक्ति के लिए असुविधाजनक और कष्टकर होते हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व का उच्चतम विकास स्वविवेक के आधार पर कार्य करने पर ही सम्भव है, क्योंकि राज्य इस मार्ग में बाधक है, इसलिए राज्य एक बुराई का प्रतीक है, लेकिन चोर, उचक्कों और हत्यारों के रूप में समाज में कुछ ऐसे अवांछनीय तत्व होते हैं जिन पर नियन्त्रण रखने के लिए राज्य का अस्तित्व आवश्यक है। *इस प्रकार व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य एक आवश्यक बुराई है जिसका कार्यक्षेत्र* सीमित होनी चाहिए। एस. लीकॉक (S Leacock) ने अपनी पुस्तक '*Elements of Political Science*' में लिखा है, "व्यक्तिवादी सिद्धान्त की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि शासन का एकमात्र कर्तव्य नागरिकों की हिंसा या छल से रक्षा करना है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के हित को दृष्टि में रखकर भी राज्य द्वारा किया गया सकारात्मक हस्तक्षेप वांछनीय नहीं है। राज्य के द्वारा आर्थिक क्षेत्र का संचालन या अपने नागरिकों की आर्थिक गतिविधियों का नियन्त्रण भी उचित नहीं कहा जा सकता है।" व्यक्तिवादी विचारधारा के सबसे प्रबल प्रतिपादक जॉन स्टुअर्ट मिल हैं।" अपनी पुस्तक '*On Liberty*' में एक स्थान पर मिल लिखते हैं कि "व्यक्ति की आत्म रक्षा ही एक ऐसा उपाय है जिसके लिए मनुष्य जाति को व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से अपने में से किसी की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का अधिकार हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने पर, अपने शरीर और मस्तिष्क पर सम्प्रभु होता है।"[1]

---

1 "The sole end for which mankind are warranted individually and collectively in interfering with the liberty of action of any of their member is self protection , . over himself, over his own body and mind, the individual is sovereign" —J S Mill, *On Liberty*.

इसी प्रकार स्पेन्सर ने कहा है कि "यह सत्य हो अथवा न हो कि मनुष्य असमानता का पुतला है और उसकी कल्पना पाप में की जाती है, परन्तु यह निःसन्देह सत्य है कि सरकार की उत्पत्ति आक्रमण के कारण और आक्रामक के द्वारा हुई है।" फ्रेंच विचारक ज्यूलस साइमन (Jules Simon) तो यहाँ तक कहता है कि "राज्य के द्वारा अपने आपको निरर्थक सिद्ध करने और इस प्रकार अपनी मृत्यु की तैयारी के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए।

व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र

व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों की कुप्रवृत्तियों का प्रतिबन्धन करने के लिए है, अतः राज्य का कार्यक्षेत्र निषेधात्मक या सुरक्षात्मक कार्यों तक ही सीमित रहना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक पुलिसमैन की भाँति है और इसका कार्य हत्या एवं डकैती को रोकना तथा समझौतों को लागू करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। गिलक्राइस्ट के अनुसार व्यक्तिवादी विचारधारा राज्य का कार्यक्षेत्र निम्न कार्यों तक सीमित बतलाती है :

(1) राज्य व राज्य के नागरिकों की बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना।

(2) नागरिकों की सुरक्षा और मानहानि से उनकी रक्षा करना।

(3) लूटमार या अन्य किसी प्रकार की क्षति से सम्पत्ति की रक्षा करना।

(4) संविदाओं के निर्वाह की व्यवस्था करना।

(5) अपाहिज व्यक्तियों की रक्षा करना।

(6) संक्रामक रोगों को रोकना और उनके फैलने पर व्यक्तियों की रक्षा करना।

लेकिन स्पेन्सर जैसे उग्र व्यक्तिवादी तो इस बात को भी स्वीकार नहीं करते कि राज्य अपाहिजों की रक्षा और संक्रामक रोगों की रोकथाम के लिए कुछ कार्य करे। उनके अनुसार तो राज्य का कार्यक्षेत्र बाहरी एवं आन्तरिक सुरक्षा और संविदाओं के पालन तक ही सीमित रहना चाहिए। वे तो फ्रीमैन के इस विचार का समर्थन करते हैं कि "वह सरकार सबसे अच्छी है, जो सबसे कम शासन करती है।"[1]

व्यक्तिवाद का विकास एवं प्रतिपादन—गार्नर के अनुसार व्यक्तिवाद की उत्पत्ति 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में अतिशासन के दोषों की प्रतिक्रियास्वरूप हुई। क्वेस्ने (Quesney), एडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियों ने इस बात का प्रतिपादन किया कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप अनावश्यक और हानिकारक है। लॉक के द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। प्रमुख रूप से व्यक्तिवादी विचारधारा

1 "That Government is best which governs the least." —Freeman

2 "State action tends to destroy the sense of self reliance, weakens his responsibility and blunts his character." —J. S. Mill

का प्रतिपादन जॉन स्टुअर्ट मिल और स्पेन्सर के द्वारा ही किया गया। व्यक्तिवादियों द्वारा अपनी विचारधारा के पक्ष में निम्नलिखित तर्कों का प्रतिपादन किया जाता है

(1) नैतिक तर्क—व्यक्तिवादी विचारधारा के पक्ष में नैतिक तर्क का प्रयोग करने वालों में काण्ट, मिल तथा हम्बोल्ट मुख्य हैं। इन लेखकों का कथन है कि राज्य का सर्वोच्च लक्ष्य अपने नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास, जिसमें उनका नैतिक उत्थान भी सम्मिलित है, होना चाहिए और यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपने विचारों को व्यक्त करने और अन्तःकरण के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतन्त्र हो। वे कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति बुद्धिसम्पन्न है और अपने हितों को भली-भाँति समझता है, इसलिए उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यदि सरकार व्यक्ति के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप करती है तो इससे व्यक्ति का विकास रुक जायगा और सारे समाज की हानि होगी। सरकार के अनुचित हस्तक्षेप से व्यक्ति का उत्साह, आत्मविश्वास और स्वावलम्बन नष्ट हो जायेगा और उनमें अनेक कमजोरियाँ उत्पन्न हो जायेंगी, जिससे उसकी प्राकृतिक शक्तियाँ नष्ट हो जायेंगी। मिल के शब्दों में, "राजकीय सहायता व्यक्ति के आत्मविश्वास के भाव को नष्ट कर देती है। यह उसके उत्तरदायित्व को दुर्बल बनाती है और चरित्र के विकास को कुण्ठित कर देती है।"[2]

(2) आर्थिक तर्क—व्यक्तिवाद का आर्थिक आधार पर समर्थन करते हुए यह कहा जाता है कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता और निजी साहस उत्पादन में वृद्धि करते हैं, कार्यकुशलता को बढ़ाते हैं और अधिकतम आर्थिक कल्याण का विकास करते हैं। अतः आर्थिक क्षेत्र में राज्य को अहस्तक्षेप की नीति अपनानी चाहिए। अनियन्त्रित प्रतियोगिता उत्पादकों को कम-से-कम मूल्य पर वस्तुओं का उत्पादन करने के योग्य, उपभोक्ता को कम-से-कम मूल्य पर वस्तुएँ खरीदने योग्य और श्रमिकों को अधिक मूल्य पर अपना श्रम बेचने योग्य बनाती है और इससे सम्पूर्ण समाज के कल्याण की अभिवृद्धि होती है। एडम स्मिथ (Adam Smith) आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप की नीति का महानतम समर्थक था। उसका विचार था कि यदि व्यापार तथा उद्योग को नीति हाथों पर छोड़ दिया जाय तो, उसमें अधिकतम विकास हो सकता है। प्रतियोगिता की माँग और पूर्ति के सिद्धान्तों के आधार पर मूल्य अपने आप सर्वोत्तम रीति से तय जाते हैं। अतः वेतन, किराया, ब्याज और कीमतों को अनियन्त्रित रहने दिया जाना चाहिए और विदेशी व्यापार पर भी नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। राज करों (tariffs) के रूप में कृत्रिम सहायता, उद्योग और व्यापार की वृद्धि को निरुत्साहित करती है। अतः समनर (Sumner) के शब्दों में, "राज्य को आर्थिक प्रकृति के नियमों के साथ छेड़खानी नहीं करनी चाहिए।"[1] उसका कार्य प्रवंचना और विश्वासघात से लोगों की रक्षा मात्र होना चाहिए।

1 Sumner, *The Challenge of Facts and Other Essays*, p. 25.

(3) राजनीतिक तर्क—व्यक्तियों का कथन है कि राज्य का नियन्त्रण ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जो प्राय अयोग्य होते हैं और जिन्हें सार्वजनिक जीवन का कोई ज्ञान नहीं होता। व्यापार का सरल सिद्धान्त है कि जो लोग जोखिम उठाते हैं, वे उन राज्याधिकारियों की अपेक्षा अधिक योग्यता एवं मितव्ययता से व्यापार का सचालन कर सकते हैं जिनमे कोई जोखिम नही होती है। राज्य के प्रबन्ध में उत्तरदायित्व निश्चित न होने के कारण भी प्रत्येक का कार्य किसी का भी कार्य नहीं होता।

आज सत्ता नौकरशाही के हाथों मे आ गयी है जिससे नवीन तानाशाही (new despotism) का जन्म हुआ है। इस नवीन तानाशाही के लक्षण हैं लाल-फीताशाही, अनावश्यक देरी, फिजूलखर्ची और भ्रष्टाचार। राज्य की इस स्वेच्छा-चारिता को कम करने के लिए राज्य की शक्तियो को कम और उसके क्रियाक्षेत्र को सीमित किया जाना चाहिए। राज्य पर प्रत्येक फालतू बोझ का अर्थ मिल के विचार में एक ऐसे शरीर पर लादा गया भार है, जो पहले ही कर्तव्य भार से दबा पड़ा है जिसका परिणाम यह होता है कि बहुत से कार्य पूरी तरह से होते हैं, बहुत-से और कार्य हो ही नहीं पाते, क्योंकि सरकार उन्हें देर किये बिना पूरा नहीं कर सकती।

(4) जीवशास्त्रीय तर्क—स्पेन्सर इस तर्क के प्रमुख समर्थक हैं। उनका विचार है कि "अस्तित्व के लिए सघर्ष और योग्यतम प्राणियों के जीवित रहने का नियम" (struggle for existence and survival of the fittest) जो प्रकृति के जीव वैज्ञानिक क्षेत्र में विद्यमान है, मानवीय क्षेत्र मे लागू होना चाहिए। जीवन के इस सघर्ष मे सामर्थ्यवान-प्राणी ही जीवित रहते हैं और निर्बल प्राणियो के जीवन का अन्त हो जाता है। अत राज्य को निर्धन, अयोग्य, निर्बल और असमर्थ प्राणियो की सहायता नही करनी चाहिए। यदि राज्य ऐसे व्यक्तियों की सहायता करता है तो समाज अयोग्य व्यक्तियों से भर जायगा और सम्पूर्ण समाज को लाभ की अपेक्षा बहुत अधिक हानि उठानी पडेगी। स्पेन्सर के विचार में अनिवार्य शिक्षा, निर्धनों की सहायता और सामाजिक विधान प्राकृतिक विकास के क्रम को बदलने के व्यर्थ प्रयत्न हैं। स्वय उसके शब्दो मे, "यदि हम शक्तिशाली और कर्मठ सन्तति का विकास करना चाहते हैं तो हमे मनुष्यों को उनकी इच्छा पर छोड़ देना चाहिए जिससे शक्तिशाली व्यक्तियों की उन्नति और कमजोर व्यक्तियों की समाप्ति हो सके।"[1]

(5) अनुभव का तर्क—इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य का हस्त-क्षेप सदैव ही मूर्खतापूर्ण होता है। जब कभी राज्य ने व्यक्तिगत, सामाजिक या

1 "If we are to evolve race of a strong, able and virile human beings we should leave the individuals to themselves The strong will survive and unfit will be eliminated" —*Herbert Spencer*

आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप का प्रयास किया है, तभी सामाजिक स्वतन्त्रता और प्रगति अवरुद्ध हो गयी है। राज्य की ओर से व्यवसायों को जो आर्थिक सहायता या संरक्षण प्रदान किया जाता है उसका उद्देश्य कभी पूर्ण नहीं होगा। इंगलैण्ड में 'कार्न लॉज' (Corn Laws) को सफलता प्राप्त न हो सकी। राशनिंग और मूल्य नियन्त्रण की ऐसी ही दशा रही और उससे चोरबाजारी को प्रोत्साहन मिला। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब राज्य ने अपने लोगों के रहन सहन, वेश-भूषा आदि को निश्चित साँचे में ढालने का प्रयत्न किया, तो लोगों ने इसके विपरीत कार्य किया। इन ऐतिहासिक तर्कों के आधार पर व्यक्तिवादी सिद्ध करते हैं कि राज्य को हस्तक्षेप की नीति से सदैव दूर रहना चाहिए।

व्यक्तिवाद की आलोचना

19वीं सदी में व्यक्तिवादी विचारधारा बहुत प्रबल हो गयी और लगभग प्रत्येक सभ्य सरकार द्वारा इसे अपना लिया गया। किन्तु शीघ्र ही व्यक्तिवादी विचारधारा के दोष प्रकट हुए और इसे त्यागना पड़ा। व्यक्तिवाद की आलोचना में प्रमुख रूप से निम्नलिखित तर्कों का प्रयोग किया जाता है

(1) राज्य एक बुराई नहीं है—व्यक्तिवादियों का विचार नितान्त गलत है कि राज्य की उत्पत्ति बुराई में हुई है और राज्य बुराई का प्रतीक है। यदि राज्य बुराई होता, तो कभी का समाप्त हो गया होता। वास्तव में राज्य मानसिक चेतना का व्यापक अभिव्यक्तिकरण और सभ्य जीवन की प्रथम आवश्यकता है और राज्य के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी धारणा के स्थान पर अरस्तू का यह विचार ही सही है कि "राज्य की उत्पत्ति जीवन की कठोर आवश्यकताओं में हुई है और अच्छे जीवन के लिए इसका अस्तित्व बना हुआ है।" नैतिक जीवन के मार्ग में आने वाली अशिक्षा, अज्ञान और दरिद्रता, आदि बुराइयों को दूर करते हुए राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास का सफलतापूर्वक प्रयत्न करता है और सभ्य जीवन की अवस्थाएँ प्रदान करते हुए उसे व्यक्तित्व के विकास की ओर प्रेरित करता है। बर्क के शब्दों में, "राज्य सभी विज्ञानों, सभी कलाओं, सदाचार व पूर्णता में मनुष्य का साझीदार है।

(2) कानून स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करते—व्यक्तिवादियों का यह विचार गलत है कि राज्य के कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को नष्ट या सीमित कर देते हैं। प्रतिबन्धों के अभाव में स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता का रूप ग्रहण कर लेती है जिसका उपभोग केवल कुछ ही व्यक्तियों द्वारा और वह भी अस्थायी रूप से ही किया जा सकता है। सर्वसाधारण जनता द्वारा स्वतन्त्रता का उपयोग किया जा सके इसके लिए कानून का अस्तित्व नितान्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, एक विशुद्ध खाद्य कानून, फैक्ट्री कानून, अनिवार्य टीके की व्यवस्था या अनिवार्य शिक्षा कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करता, वरन् ऐसी परिस्थितियों की व्यवस्था करता है जिसमें स्वतन्त्रता की प्राप्ति सम्भव होती है। प्रो रिची ने ठीक ही कहा है कि "व्यक्तिवादी राजकीय हस्तक्षेप तथा स्वतन्त्रता को एक रोकड़ बही के लेना-पावना

की भाँति दो विरोधी पक्ष मान बैठे हैं जिसके कारण एक पक्ष की वृद्धि उन्हें आवश्यक रूप से दूसरे पक्ष का घटोत्तरी अनुभव होती है।'[1] वास्तव में, राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित या समाप्त नहीं करते वरन् उसकी रक्षा और वृद्धि करते हैं।

(3) व्यक्ति सदैव ही अपने हितों का सर्वोच्च निर्णायक नहीं होता—प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों का श्रेष्ठ निर्णायक होता है यह बात कुछ सीमा तक तो ठीक है किन्तु उसे प्रत्येक परिस्थिति में सही नहीं माना जा सकता। वास्तव में, व्यक्तिवादियों का व्यक्तियों की दूरदर्शिता और सूझ बूझ में उचित से अधिक विश्वास है और वे प्रत्येक से बहुत अधिक आशा करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान समय के जटिल सामाजिक जीवन की समस्याओं को समझकर अपना मार्ग निश्चित नहीं कर सकता और राज्य ही उसके मार्ग का सही निर्देशन कर सकता है। गार्नर का विचार है कि 'प्रत्येक देश में अज्ञानी व्यक्ति हैं जो उन खतरों को दूर करने के विचार नहीं कर सकते जिनके बारे में वे अनभिज्ञ हैं। कभी कभी राज्य मनुष्य की मानसिक नैतिक और यहाँ तक कि शारीरिक आवश्यकताओं का स्वयं व्यक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ निर्णायक होता है।

(4) सामाजिक कारणों और परिणामों की उपेक्षा—बर्न्स के अनुसार व्यक्तिवाद की एक बड़ी त्रुटि यह है कि इसके द्वारा सामाजिक कारणों और परिणामों की उपेक्षा की गयी है।[2] व्यक्ति के कार्य सामाजिक परिस्थितियों और वातावरण के परिणाम होते हैं और उनके द्वारा किसी न किसी रूप में सामाजिक परिस्थितियों को प्रभावित किया ही जाता है। व्यक्तिवादियों के द्वारा व्यक्ति के अस्तित्व को समाज के अस्तित्व से अलग करने का जो प्रयास किया गया है वह नितान्त त्रुटिपूर्ण है। बार्कर के शब्दों में, 'मिल ने व्यक्ति और समाज जो कि एक दूसरे से अपृथक्करणीय हैं, उन्हें पृथक करने का प्रयत्न किया है।'[3]

(5) प्रतियोगिता हानिकारक होती है—व्यक्तिवादियों द्वारा आर्थिक क्षेत्र में जिस स्वतन्त्र प्रतियोगिता का प्रतिपादन किया गया है वह तो दानव (पूँजीपति) और बौने (श्रमिक) के बीच संघर्ष के समान होती है जिसमें निर्बल श्रमिक वर्ग का दीनता, भूख, अस्वस्थता और अयोग्यता के परिणाम ही प्राप्त होते हैं। प्रतियोगिता के इस सिद्धान्त का परिणाम एकाधिकार की प्रवृत्ति, माँग और पूर्ति के बीच असमानता, अनुचित लाभ की प्रवृत्ति और राज्यों का पारस्परिक संघर्ष होता है। मिल

---

1 "Individualists treat liberty and state interference as the credit and debit sides of an account book, so that an increase in one of them necessarily means a decrease with other." —Prof Ritchie

2 Burns Political Ideals, p 149

3 "Mill divides the indivisible." —Barker Principles of Social and Political Theory p 217.

विक का विचार कि, "स्वतन्त्र प्रतियोगिता व्यक्तिवादी विचारधारा की सबसे गहरी कमजोरी और व्यक्तिवाद का सबसे अधिक भयानक तथ्य है।"

(6) योग्यतम की विजय का सिद्धान्त नितान्त भ्रमात्मक है—'योग्यतम की विजय' का व्यक्तिवादी तर्क नितान्त भ्रामक और अमानवीय है। पशु जगत में प्रचलित 'योग्यतम की विजय' का सिद्धान्त मानव प्राणियों पर लागू नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने का परिणाम हिंसक शक्तियों की विजय और जंगलीपन को स्थिर रखना होगा। लीकॉक के शब्दों में, "यदि योग्यतम की विजय का आधार अतिजीविता के तथ्य में निहित है तब तो सेंध लगाकर चोरी करने वाला समृद्ध व्यक्ति प्रशंसा का पात्र बन जाता है और भूख से मरने वाला तिरस्कार घृणा का।"[1] जीवन संघर्ष में सफलता प्राप्त कर लेना ही योग्यता की कसौटी नहीं हो सकती। हक्सले (Huxley) ने ठीक ही कहा है, "राज्य एक मानवीय संस्था है और इसके अन्तर्गत पाशविक शक्ति से सम्बन्धित कानूनों का पालन नहीं किया जाना चाहिए। हमारा उद्देश्य योग्यतम व्यक्तियों को जीवित रखने की अपेक्षा सभी जीवित व्यक्तियों को योग्य बनाना होना चाहिए।"[2]

(7) राज्य की अयोग्यता का तर्क असत्य है—व्यक्तिवादियों का यह विचार त्रुटिपूर्ण है कि भूतकालीन अनुभव के आधार पर राज्य एक अयोग्य संस्था सिद्ध हुई है। अब तक राज्य ने आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में अनेक सफलताएँ प्राप्त की हैं। यदि राज्य कुछ कार्यों को करने में असफल रहा है तो व्यक्तिगत रूप में किये गये कार्यों में भी सदैव सफलता नहीं प्राप्त होती। हक्सले ने ठीक ही कहा है कि "राज्य एक शीशे के मकान में रहता है जिससे हम उसके समस्त कार्यों और असफलताओं को प्रत्यक्षत देख लेते हैं, किन्तु निजी साहस अपार-दर्शक ईंटों की चहारदीवारी में रखा जाता है जहाँ जनता भली-प्रकार उसके कार्यों को नहीं जान पाती।"

(8) ऐतिहासिक दृष्टि से व्यक्तिवाद के आर्थिक और राजनीतिक परिणाम भयंकर हुए हैं—व्यक्तिवाद की आलोचना का सबसे प्रबल आधार यह है कि व्यक्तिवादी नीति को अपनाने का परिणाम यह हुआ कि पूंजी केवल कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो गयी, असंख्य श्रमिक आश्रयहीन हो गये और मानव का नैतिक पतन हो गया। अनियन्त्रित औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप जो बुराइयाँ उत्पन्न हुईं, उन्हें दूर करने के लिए राज्य को आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करना पड़ा और इस प्रकार समाजवादी विचारधारा का उदय हुआ। गिलक्राइस्ट के शब्दों में

1 Leacock, *Elements of Politics*, p 346

2 "State is a human institution and we should not be guided by the laws of the animal world. With us the aim should not be the survival of the fittest but the fitting of as many as possible to survive" — *Huxley*

"व्यक्तिवाद के विरुद्ध सबसे बड़ा तर्क यह है कि इस नीति को अपनाने का राजनीतिक, सामाजिक और औद्योगिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा।"

व्यक्तिवाद का महत्व

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी विचारधारा की चाहे कैसी भी आलोचना क्यों न की जाय, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसने औद्योगिक क्रान्ति के समय उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि का कार्य किया। इसके अतिरिक्त व्यक्तिवाद राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप के विरुद्ध चेतावनी देकर भी एक महत्वपूर्ण सेवा करता है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, 'आत्मबल पर बल देकर, अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेप का विरोध कर और समाज में व्यक्ति के महत्व का प्रतिपादन करके इसने आधुनिक विचार जगत को महत्वपूर्ण देन दी है।"[1]

कल्याणकारी सिद्धान्त

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में कल्याणकारी सिद्धान्त अहस्तक्षेप सिद्धान्त के नितान्त विपरीत है। कल्याणकारी सिद्धान्त राज्य को एक कल्याणकारी संस्था मानते हुए इस बात का प्रतिपादन करता है कि राज्य के द्वारा वे सभी कार्य किये जाने चाहिए, जो व्यक्तियों के कल्याण में हों। अरस्तू जब कहता है कि, "राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया और सद्जीवन के लिए अस्तित्व में बना हुआ है", तब वह कल्याणकारी सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करता है। इस प्रकार कल्याणकारी सिद्धान्त किसी न किसी रूप में अरस्तू के समय से चला आ रहा है। वर्तमान समय में कल्याणकारी सिद्धान्त के अन्तर्गत सबसे अधिक प्रमुख रूप में दो विचारधाराएँ आती हैं प्रथम, समाजवाद और द्वितीय, लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा।

समाजवाद

18वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 19वी सदी के प्रारम्भ मे व्यक्तिवादी विचारधारा बहुत लोकप्रिय थी, लेकिन इस विचारधारा को अपनाने का सामाजिक, आर्थिक और औद्योगिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप व्यक्तिवादी विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और इस प्रतिक्रिया के रूप में समाजवाद का जन्म हुआ। आधुनिक समय में समाजवाद बहुत अधिक लोकप्रिय है और प्रत्येक देश द्वारा किसी-न किसी रूप में इसे ग्रहण करने का प्रयत्न किया जा रहा है। समाजवाद की इतनी अधिक लोकप्रियता के कारण ही समाजवाद का रूप बहुत अधिक अस्पष्ट हो गया है। सी ई एम जोड (C E M, Joad) के शब्दों में कहा जा सकता

1 "In emphasising self reliance, in combating needless governmental interference, in urging the value of individual in society it has contributed much to the fertility of modern thought."

—R. N. Gilchrist, *Principles of Political Science* p. 445.

है, 'समाजवाद एक ऐसे टोप के समान है जिसकी आकृति नष्ट हो गयी है क्योंकि हर कोई उसे धारण करने का प्रयत्न करता है।'[1]

समाजवाद का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'Socialism', 'Socius' से लिया गया है जिसका अर्थ है 'समाज' और जैसा कि शब्द व्युत्पत्ति से स्पष्ट है समाजवाद, व्यक्तिवाद के नितान्त विरुद्ध समाज को केन्द्रीय मानने वाली और समाज पर आधारित विचारधारा है। समाजवाद का आधारभूत उद्देश्य समानता की स्थापना करना है और समाजवाद के अनुसार समानता की स्थापना के लिए स्वतन्त्र प्रतियोगिता का अन्त किया जाना चाहिए, राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र में अधिकाधिक कार्य किये जाने चाहिए, उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होना चाहिए और उत्पादन व्यवस्था का संचालन भी वर्गों के सामूहिक हितों को दृष्टि में रखते हुए किया जाना चाहिए। यद्यपि समाजवाद की परिभाषा का कार्य अत्यन्त कठिन है फिर भी विद्वानों द्वारा निम्न प्रकार से समाजवाद की परिभाषाएँ देने का प्रयत्न किया गया है

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार, "समाजवाद वह नीति या सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य केन्द्रीय लोकतन्त्रात्मक सत्ता के आधार पर उत्पादन और वितरण की वर्तमान व्यवस्था के स्थान पर एक श्रेष्ठ व्यवस्था स्थापित करना है।"[2]

सैलर्स के शब्दों में, "समाजवाद एक ऐसी जनतन्त्रात्मक विचारधारा है, जिसका उद्देश्य समाज में एक ऐसा आर्थिक संगठन स्थापित करना है जो कि व्यक्ति को अधिकतम न्याय और स्वाधीनता प्रदान कर सके।"[3]

रामजे मेकडानल्ड के अनुसार, "सामान्य शब्दों में समाजवादकी इससे अच्छी परिभाषा नहीं दी जा सकती कि यह समाज की भौतिक तथा आर्थिक शक्तियों को संगठित करना और उन पर मानवीय शक्ति का नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है।"

भारतीय समाजवाद के नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने समाजवाद की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "समाजवादी समाज एक ऐसा वर्गविहीन समाज होगा, जिसमें सब श्रमजीवी होंगे। इस समाज में सारी सम्पत्ति सच्चे अर्थों में सार्वजनिक अथवा राष्ट्रीय सम्पत्ति होगी। अनर्जित आय तथा आय से सम्बन्धित भीषण

---

1 'Socialism is like a hat, that has lost its shape, because every one wears it.' —C E M Joad

2 'Socialism is that policy or theory, which aims at securing by the action of the central democratic authority a better distribution and in due subordination there to a better production of wealth than now prevails.' —Encyclopaedia B itannica

3 'Socialism is a democratic movement, whose purpose is the securing of an economic organisation society, which will give the maximum possible at any time of Justice and liberty.' —Sellers

असमानताएँ सदैव के लिए समाप्त हो जायेंगी। ऐसे समाज मे मानव जीवन तथा उनकी प्रगति योग्यतानुकूल होगी और सब लोग सबके हित के लिए जीवित रहेंगे।"

समाजवाद के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण बात यह है कि समाजवाद आधारभूत रूप म एक लोकतान्त्रिक विचारधारा है और इसे किसी भी रूप मे समाजवाद का पर्यायवाची नही मान लिया जाना चाहिए। इबन्सटिन (Ebenstein) के शब्दो मे, '**समाजवाद और साम्यवाद विचारधारा और जीवन मार्ग के रूप मे उतने ही परस्पर भिन्न हैं जितने कि उदारवाद और सर्वाधिकारवाद।**'[1]

समाजवाद के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र

समाजवादी विचारधारा के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापकतम होना चाहिए और राज्य के द्वारा सभी अवस्थाओ मे व्यक्ति के आचरण का नियमन और सचालन किया जाना चाहिए। इस विचारधारा के अनुसार राज्य के द्वारा वे सभी कार्य किये जाने चाहिए जो व्यक्ति और समाज की उन्नति के लिए आवश्यक हो क्योकि व्यक्ति एव समाज की उन्नति के लिए किये जाने वाले कार्यों की कोई सीमा नही है, अत सामाजिक जीवन के प्राय सभी कार्य राज्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। गार्नर के शब्दो मे कहा जा सकता है कि '**इस सिद्धान्त के समर्थक व्यक्तिवादियो की भाँति राज्य पर अविश्वास करके एव उसे बुराई मानकर उसके कार्यक्षेत्र को कम से कम करने के विपरीत राज्य को सर्वोच्च एव निश्चित रूप से लाभप्रद मानते हैं और चाहते हैं कि राज्य के कार्य जनता के सामान्य, आर्थिक, बौद्धिक एव नैतिक हितों की अभिवृद्धि करे।**'

साधारणत यह कहा जा सकता है कि समाजवादी विचारधारा के अनुसार राज्य को आन्तरिक एव बाहरी सुरक्षा एव न्याय व्यवस्था के साथ ही-साथ सार्वजनिक शिक्षा एव स्वास्थ्य का प्रबन्ध करना चाहिए, उत्पादन मे वृद्धि और आर्थिक विषमता के अन्त का प्रयत्न करना चाहिए, सभी व्यक्तियो के लिए स्वस्थ मनोरंजन का प्रबन्ध एव अपाहिज और वृद्ध व्यक्तियों की सहायता करनी चाहिए और अन्तर-राष्ट्रीय सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

समाजवाद का समर्थन

समाजवाद का समर्थन प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारो पर किया जाता है.

(1) **व्यक्तिवादी विकृतियो का निवारण**—व्यक्तिवादी व्यवस्था मे पूजीपति द्वारा लाभ को दृष्टि मे रखते हुए ही सम्पूर्ण औद्योगिक व्यवस्था का सचालन किया जाता है। एक वस्तु कभी तो माँग की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा मे उत्पन्न हो जाती है और कभी बहुत कम। लाभ का बहुत बडा अश पूँजीपति द्वारा अपने ही पास रख लिया जाता है और श्रमिक को कम-से-कम वेतन दिया जाता है।

---

1 Socialism and Communism represents two incompatible ways of thought and life, as incompatible as liberalism and totaltarianism "
—W. Ebenstien, *Modern Political Thought*, p 636.

व्यक्तिवादी या पूँजीवादी व्यवस्था की इन बुराइयों को दूर करने का एक ही मार्ग है कि उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व स्थापित किया जाय और समाजवाद इसी बात का प्रतिपादन करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि पूँजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न बुराइयों को दूर करने के लिए समाजवाद को अपनाना नितान्त आवश्यक है।

(2) समाजवादी व्यवस्था न्याय पर आधारित है—न्याय की यह माँग है कि भूमि तथा उत्पत्ति के अन्य प्राकृतिक साधनों पर किसी एक वर्ग का आधिपत्य न होकर सम्पूर्ण समाज का नियन्त्रण होना चाहिए और इन साधनों का उपयोग सभी व्यक्तियों के लाभ की दृष्टि से किया जाना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि समाजवादी व्यवस्था सभी व्यक्तियों की आधारभूत समानता और न्याय के सिद्धान्त पर आधारित है।

(3) आंगिक एकता सिद्धान्त पर आधारित—व्यक्तिवाद व्यक्ति और समाज का चित्रण दो ऐसी पृथक् इकाइयों के रूप में करता है जिनके हित परस्पर विरोधी हों किन्तु वास्तव में व्यक्ति और समाज में उसी प्रकार का सम्बन्ध होता है जिस प्रकार का सम्बन्ध शरीर और शरीर के अंगों में पाया जाता है। समाजवाद व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय में प्रचलित आंगिक एकता सिद्धान्त पर आधारित है और इस सत्य का प्रतिपादन करता है कि व्यक्ति और समाज के हित परस्पर विरोधी नहीं हो सकते हैं।

(4) संघर्ष के स्थान पर सहयोग की स्थापना—व्यक्तिवाद आन्तरिक क्षेत्र में वर्ग-संघर्ष को और बाहरी क्षेत्र में युद्ध को जन्म देता है लेकिन समाजवाद दोनों ही क्षेत्रों में, संघर्ष के स्थान पर सहयोग के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करता है।

(5) समाजवादी व्यवस्था लोकतन्त्र के अनुरूप है—लोकतन्त्रीय व्यवस्था समानता के सिद्धान्त पर आधारित है, लेकिन उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व एवं गम्भीर आर्थिक विषमता के अन्त के बिना यह समानता एक दिखावा मात्र बनकर रह जाती है। आर्थिक क्षेत्र में समाजवादी मार्ग को अपनाकर समानता की स्थापना की जा सकती है। अतः यह कहा जा सकता है कि समाजवाद लोकतन्त्र के, नितान्त अनुरूप एवं उसका सहायक और पूरक है।

(6) यह अधिक स्वाभाविक है—समाजवाद पूँजीवाद की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। प्रकृति जल और वायु प्रदान करने में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करती, इसलिए यह वांछनीय है कि भूमि तथा खनिज पदार्थों पर भी सबका समान नियन्त्रण हो।

समाजवाद की आलोचना

पूँजीवादी व्यवस्था के अन्त के लिए समाजवाद एक सुन्दर मार्ग प्रस्तुत करता है। समाजवाद ने व्यक्तिवाद की अपेक्षा सामाजिक हित को उच्चतर स्थान प्रदान कर

एक प्रशसनीय कार्य किया है, किन्तु इन गुणो के होते हुए भी समाजवाद पूर्णतया दोष मुक्त नहीं है। इस व्यवस्था की प्रमुख रूप से इन आधारो पर आलोचना की जाती है।

(1) उत्पादन क्षमता में कमी—यह मानव स्वभाव है कि वह व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा के आधार पर ही ठीक प्रकार से कार्य कर सकता है। समाजवादी व्यवस्था मे उत्पादन कार्य राज्य के हाथ मे आ जाने और सभी व्यक्तियो का पारिश्रमिक निश्चित होने के कारण कार्य के लिए आधारभूत प्रेरणा का अभाव हो जाता है और व्यक्ति आलसी बन जाता है। उद्योगो के प्रबन्धकर्ता सरकारी अधिकारियों के सम्मुख लाभ का प्रश्न न होने से समाज की आर्थिक उन्नति रुक जाती है।

(2) नौकरशाही का विकास—समाजवादी व्यवस्था मे सभी उद्योगो पर राजकीय नियन्त्रण होगा और उसका प्रबन्ध सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जायगा। सरकारी अधिकारियों के हाथ मे शक्ति आ जाने का स्वाभाविक परिणाम नौकरशाही का विकास होगा। काम की गति मन्द हो जायेगी, सरल-से-सरल कार्य देर से होगे और घूंसखोरी तथा भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलेगा।

(3) राज्य की कुशलता में कमी—समाजवादी व्यवस्था मे राज्य के अधिकतम व्यापक कार्यक्षेत्र के कारण राज्य की कार्यकुशलता मे भी कमी आ जायगी। समाजवादी व्यवस्था में सार्वजनिक निर्माण सम्बन्धी उत्पादन, वितरण तथा श्रमिक विधान सम्बन्धी सभी कार्य राज्य द्वारा होंगे। इस सम्बन्ध में आलोचको को इस बात का भय है कि राज्य के हाथ मे सभी कार्यों के आ जाने पर भी कार्य ठीक प्रकार से सम्पन्न नही हो सकेगा। राज्य के द्वारा आधारभूत कार्यों में की गयी अकुशलता स्वय राज्य के अस्तित्व के लिए भी भयकर सिद्ध हो सकती है।

(4) मनुष्य का नैतिक पतन—समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सभी कार्यों को करने की शक्ति राज्य के हाथ मे आ जाने से आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास, साहस और आरम्भक के नैतिक गुणो का अन्त हो जायगा। मनुष्य आलसी और अकर्मण्य बन जायेंगे। यह एक स्वाभाविक बात है कि मनुष्य उसी सीमा तक विकास के लिए उन्मुख रहते हैं, जिस सीमा तक उन्हें अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन हेतु क्षेत्र प्राप्त होता रहता है। समाजवादी व्यवस्था मे उसे अपने विकास की नवीन दिशाएँ प्राप्त न होने के कारण वह हतप्रभ हो जायगा और उसका नैतिक पतन हो जायगा। मनुष्य के नैतिक जीवन की वर्तमान स्थिति मे समाजवादी व्यवस्था को अपनाने के फलस्वरूप भ्रष्टाचार, गुटबन्दी और व्यक्तिगत द्वेष मे वृद्धि होगी।

(5) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अन्त—समाजवाद मे राज्य के कार्य और शक्तियाँ इतनी बढ़ जाती हैं कि इसे व्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्र मे हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है।

(6) समाजवादी व्यवस्था अपव्ययी होगी—आलोचक यह भी कहते हैं कि समाजवादी व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक खर्चीली होगी। जब सरकार के द्वारा किसी प्रकार का कार्य किया जाना होता है

तो एक छोटे से काम के लिए अनेक कर्मचारी रखे जाते हैं और फिर भी यह कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न नहीं हो पाता।

(7) समाजवाद एक प्रकार की व्यवस्थित लूट है—समाजवाद को अन्यायपूर्ण कहते हुए भी इसकी आलोचना की जाती है। आलोचकों के अनुसार धनिक वर्ग अपने विवेक और परिश्रम के कारण ही धनवान बन सका है और धनिकों से उनका धन छीनकर उसे निर्धनों में वितरित करने की बात न्यायपूर्ण नहीं कही जा सकती है। डेविडसन समाजवाद को "एक सगठित एवं व्यवस्थित लुटेरापन मानता है।" इसी प्रकार लेवेलिये (Leveleye) ने कहा है कि "समाजवाद इस सिद्धान्त पर आधारित है कि योग्य, परिश्रमी और भाग्यशाली व्यक्ति अपने गुणों और श्रम के पुरस्कार के रूप में जो प्राप्त करें, मूर्ख, आलसी और अविवेकी व्यक्तियों में समान रूप से बाँट दिया जाय।"

महत्व—यद्यपि समाजवाद की इस प्रकार की आलोचनाएँ की जाती हैं लेकिन वर्तमान समय में इस प्रकार की आलोचनाओं का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं रहा है। व्यवहार में उद्योगों के राजकीय नियन्त्रण से न तो उनकी उत्पादन क्षमता में ही कोई कमी हुई है और न ही व्यक्ति के नैतिक स्तर का पतन हुआ है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय के राज्य जिस उत्साह और गति से समाजवादी व्यवस्था को अपनाने के लिए प्रयत्नशील हैं, उससे भी समाजवादी कार्यक्रम की उपादेयता और लोकप्रियता स्वतः स्पष्ट है।

लोककल्याणकारी राज्य की धारणा का अभ्युदय

साधारणतया लोककल्याणकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से होता है जिसके अन्तर्गत शासन की शक्ति का प्रयोग किसी वर्ग विशेष के कल्याण हेतु नहीं वरन् सम्पूर्ण जनता के कल्याण के लिए किया जाता है। इस रूप में लोककल्याणकारी राज्य का विचार नया नहीं है। भारत में प्राचीन काल में रामराज्य की जो धारणा प्रचलित है, वह एक ऐसे राज्य का प्रतीक है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से सर्वांगीण विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। यद्यपि भारतीय राजनीतिक विचारकों ने राज पद के दैवी उदय का प्रतिपादन किया है, लेकिन इनके साथ ही उन्होंने नरेशों के कर्तव्यों की विस्तृत विवेचना की है और उनका मूल विचार है कि राजा के द्वारा सभी कार्य लोककल्याण की दृष्टि से ही किये जाने चाहिए। महाभारत, पाराशर की स्मृतियों तथा मार्कण्डेय, मनु और याज्ञवल्क्य, आदि की विचारधारा में यह बात स्पष्टतया देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ, वेदव्यास ने 'महाभारत' में कहा है कि "जो नरेश अपनी प्रजा को पुत्र के समान समझकर उसकी चतुर्मुखी उन्नति का प्रयत्न नहीं करता, वह नरक का भागी होता है।" लगभग इसी प्रकार की धारणा यूनान के नगर राज्यों में प्रचलित थी। प्लेटो और अरस्तू द्वारा राज्य को एक नैतिक सगठन माना गया है, जिसका उद्देश्य किसी एक वर्ग के हित में नहीं बरन् सभी नागरिकों के हित में कार्य करना

है। मध्य युग में यद्यपि इस विचार के दर्शन नहीं होते, लेकिन 18वीं और 19वीं सदी में टामस पेन, थामस जेफरसन, काण्ट, ग्रीन और बेन्थम की विचारधाराओं में पुन: इस आदर्श को देखा जा सकता है कि राज्य अपने सभी सदस्यों के कल्याण में कार्य करे।

इस प्रकार अपने मूल रूप में लोककल्याणकारी राज्य की धारणा सदैव ही विद्यमान रही है, लेकिन वर्तमान समय में जिस अर्थ विशेष में इस धारणा का प्रयोग किया जाता है, यह वर्तमान परिस्थितियों की ही उपज है। इसे आधुनिक औद्योगीकरण की देन कहा जा सकता है। लोककल्याणकारी राज्य की धारणा का उदय प्रमुख रूप से निम्न प्रवृत्तियों का परिणाम है

(1) **व्यक्तिवाद के प्रति प्रतिक्रिया**—18वीं सदी के उत्तरार्द्ध और 19वीं सदी के प्रारम्भ में विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा व्यक्तिवादी 'यदभाव्यम् नीति' (*Laissez faire*) को अपना लिया गया था और इस नीति के अनुसार राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित कर दिया गया था। इस नीति को अपनाने के परिणामस्वरूप यूरोप के राज्य अधिकाधिक सम्पत्तिशाली बनते गये लेकिन इसके साथ ही सम्पत्ति का केवल कुछ ही हाथों में केन्द्रीयकरण भी होने लगा। एक ओर तो अत्यधिक सम्पत्तिशाली वर्ग उत्पन्न हो गया, दूसरी ओर एक ऐसा श्रमिक वर्ग था जिसके पास अपनी क्षमता से अधिक कार्य करने पर भी जीवन के साधन नहीं थे। ऐसी स्थिति में बहुसंख्यक जनता में विद्यमान व्यवस्था के प्रति असन्तोष उत्पन्न हुआ और रस्किन, कार्लायल, विलियम गाडविन आदि विद्वानों द्वारा इस असन्तोष की अभिव्यक्ति की गयी। बुद्धिजीवियों के एक बड़े भाग द्वारा यह माँग की गयी कि राज्य के द्वारा अपने बहुसंख्यक वर्ग की दुर्दशा एक शान्त दर्शक के रूप में देखने के बजाय इस स्थिति में सुधार करने के लिए सक्रिय कदम उठाये जाने चाहिए।

(2) **मार्क्सवाद का उदय और पूँजीवादी राज्यों पर उसकी प्रतिक्रिया**—व्यक्तिवादी व्यवस्था को नष्ट करने के उद्देश्य से ही 1848 में कार्ल मार्क्स और ऐंजिल्स ने 'समाजवादी घोषणापत्र' (Communist Manifesto) प्रकाशित किया। साम्यवादी विचारधारा से प्रेरणा ग्रहण करते हुए ही 1917 में सोवियत रूस में सर्वहारा वर्ग द्वारा सफल क्रान्ति की गयी और तमाम आन्तरिक एवं बाहरी विरोधों के बावजूद सोवियत रूस में सुव्यवस्थित रूप में साम्यवादी शासन-व्यवस्था स्थापित हो गयी। यह साम्यवादी व्यवस्था निश्चित रूप से पाश्चात्य देशों में प्रचलित पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध और उनके लिए भय का एक कारण थी। ऐसी स्थिति में पूँजीवादी देशों ने अपनी व्यवस्था पर पुनर्विचार करना प्रारम्भ किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विद्यमान व्यवस्था को बनाये रखने के लिए इनमें कुछ मौलिक परिवर्तन किये जाने आवश्यक हैं। साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए उनके द्वारा अपनी शासन-व्यवस्था को सर्वजन हितकारी बनाने का प्रयत्न किया गया।

(3) विकासवादी समाजवाद का प्रभाव—19वीं और 20वीं सदी में समाजवाद के एक अन्य रूप 'विकासवादी समाजवाद' का प्रभाव भी बढ़ने लगा है। इस विचारधारा का उद्देश्य क्रान्ति और हिंसात्मक मार्ग से दूर रहते हुए शान्तिपूर्ण और संवैधानिक साधनों एवं शिक्षा के माध्यम से समाजवादी विचारों का प्रचार करके देश की अर्थव्यवस्था को समाजवादी रूप से सचालित करना था। विकासवादी समाजवाद के द्वारा इस बात पर जोर दिया गया कि राज्य के द्वारा समाज के निम्नतर वर्गों की स्थिति में सुधार करने के लिए आवश्यक प्रयत्न किये जाने चाहिए। लोककल्याणकारी राज्य इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम था।

(4) मताधिकार का विस्तार और लोकतन्त्र का विकास—18वीं सदी के अन्त तक ब्रिटेन, आदि लोकतन्त्रीय राज्यों में सीमित मताधिकार की ही व्यवस्था थी, अतः राज्य द्वारा निम्न वर्गों के हितों की उपेक्षा की जा सकती थी। लेकिन 1832 के सुधार कानून से ब्रिटेन में मताधिकार का विस्तार होने लगा और बीसवीं सदी में भारत, आदि राज्यों में वयस्क मताधिकार को अपना लिया गया। इन राज्यों के लिए अपने बहुसंख्यक मतदाताओं (निम्न वर्गों) की स्थिति पर ध्यान देना जरूरी हो गया। निम्न वर्गों की स्थिति में सुधार के लिए राज्य के कार्यक्षेत्र को व्यापक करना आवश्यक था, अतः लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपनाया गया।

इसके अतिरिक्त, यह भी सोचा जाने लगा कि प्रजातन्त्र का अर्थ केवल मतदान का अधिकार नहीं है वरन् जनता को राजनीतिक, सामाजिक सांस्कृतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अनेक सुविधाएँ प्रदान कर उनके जीवन को सुखपूर्ण सम्मानित तथा नैतिक रूप से श्रेष्ठतर बनाना है। प्रजातन्त्र को वास्तविकता प्रदान करने के लिए लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपनाना आवश्यक था और ऐसा ही किया गया।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप आज विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा लोककल्याण की धारणा को अपना लिया गया है।

लोककल्याणकारी राज्य की परिभाषा

अपने वर्तमान रूप में लोककल्याणकारी राज्य की प्रमुख रूप से इस प्रकार से परिभाषाएँ की गयी हैं :

1918 में प्रकाशित *'Encyclopaedia of Social Sciences'* में लोककल्याणकारी राज्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि "लोककल्याणकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है जो अपने सभी नागरिकों को न्यूनतम जीवन-स्तर प्रदान करना अपना उत्तरदायित्व समझता है।"

टी. डब्लू. केण्ट के अनुसार, "लोकहितकारी वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिए व्यापक समाज सेवाओं की व्यवस्था करता है।"[1] इन समाज सेवाओं

---

[1] "It (welfare state) is a state that provides for its citizens, a wide range of social services." —T. W. Kent

के अनेक रूप होते हैं। इनके अन्तर्गत शिक्षा स्वास्थ्य रोजगार और वृद्धावस्था में पेंशन आदि की व्यवस्था होती है। इसका मुख्य उद्देश्य नागरिकों को सभी प्रकार की सुरक्षा प्रदान करना होता है।

डॉ अब्राहम् के अनुसार 'कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्थाओं का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।'[1]

जवाहरलाल नेहरू ने अपने एक भाषण में लोककल्याणकारी राज्य को परिभाषित करते हुए कहा था 'सबके लिए समान अवसर प्रदान करना अमीरों और गरीबों के बीच अन्तर मिटाना और जीवन स्तर को ऊपर उठाना लोकहितकारी राज्य के आधारभूत तत्व हैं।'

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में लोककल्याण के आर्थिक पक्ष पर अधिक बल दिया गया है परन्तु कल्याण की धारणा केवल भौतिक ही नहीं वरन मानवीय स्वतन्त्रता और प्रकृति से भी सम्बन्धित है। सन् 1954 में मैसूर विश्वविद्यालय में दीक्षान्त भाषण देते हुए न्यायमूर्ति छागला ने लोककल्याणकारी राज्य की सही धारणा को व्यक्त करते हुए कहा था, 'लोककल्याणकारी राज्य का काम एक ऐसे पुल का निर्माण करना है जिसके द्वारा व्यक्ति जीवन की पतित अवस्था से निकलकर एक ऐसी अवस्था में प्रवेश कर सके, जो उत्थानकारी और उद्देश्यपूर्ण है। लोककल्याणकारी राज्य का यथार्थ उद्देश्य नागरिक द्वारा सच्ची स्वतन्त्रता के उपभोग को सम्भव बनाना है।

इस प्रकार लोककल्याणकारी राज्य का अर्थ है राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार। राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार का अर्थ प्रायः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बन्धन लिया जाता है लेकिन कल्याणकारी राज्य का पथ राज्य के कार्यक्षेत्र का इस प्रकार विस्तार करना होगा है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कोई विशेष बन्धन न लगे, राज्य के कार्यक्षेत्र के साथ-ही-साथ व्यक्ति का भी अपना स्वतन्त्र कार्यक्षेत्र हो। वास्तव में लोककल्याणकारी राज्य की धारणा पश्चिमी प्रजातन्त्र और साम्यवादी अधिनायक तन्त्र—दोनों से ही भिन्न है। पश्चिमी प्रजातन्त्र राजनीतिक स्वतन्त्रता को एक ऐसी स्थिति प्रदान करता है, जिसके अन्तर्गत नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा प्राप्त नहीं होती। इसके विपरीत, आर्थिक सुरक्षा के विचार पर आधारित साम्यवादी अधिनायकतन्त्र में राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभाव होता है।

लेकिन लोककल्याणकारी राज्य की धारणा राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक सुरक्षा के बीच सामंजस्य का सफल प्रयत्न है। होब्मैन (Hobman) के शब्दों में, "यह (कल्याणकारी राज्य) दो अतियों में एक समझौता है जिसमें एक तरफ साम्यवाद है तो दूसरी तरफ अनियन्त्रित व्यक्तिवाद।[2] लोककल्याणकारी

---

[1] "A welfare state is a community where state's power is deliberately used to modify the normal play of economic forces so as to obtain a more equal distribution of income for every citizen." —Dr Abraham

[2] D L. Hobman, *The Welfare State*, p. 1

राज्य लोकहित पर आधारित होता है और इस सम्बन्ध में लोकहित से हमारा तात्पर्य राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से अवसर की असमानता को दूर कर उसकी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। इस व्यवस्था का उद्देश्य किसी एक समुदाय या वर्ग विशेष के हितों की साधना न होकर जनता के सभी वर्गों के आवश्यक हितों की साधना होना है।

लोककल्याणकारी राज्य के लक्षण

लोककल्याणकारी राज्य की उपर्युक्त धारणा को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार के राज्य के प्रमुख रूप से निम्नलिखित लक्षण बताये जा सकते हैं

(1) आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था—लोककल्याणकारी राज्य प्रमुख रूप से आर्थिक सुरक्षा के विचार पर आधारित है। हमारा अब तक का अनुभव स्पष्ट करता है कि शासन का रूप चाहे कुछ भी हो, व्यवहार में राजनीतिक शक्ति उन्हीं लोगों के हाथों में केन्द्रित होती है जो आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली होते हैं। अतः राजनीतिक शक्ति को जनसाधारण में निहित करने और जनसाधारण के हित में इसका प्रयोग करने के लिए आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था नितान्त आवश्यक है। लोककल्याणकारी राज्य के सन्दर्भ में आर्थिक सुरक्षा का तात्पर्य निम्नलिखित तीन बातों से लिया जा सकता है

(क) सभी व्यक्तियों को रोजगार—ऐसे सभी व्यक्तियों को जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कार्य करने की क्षमता रखते हैं, राज्य के द्वारा उनकी योग्यतानुसार उन्हें किसी न किसी प्रकार का कार्य अवश्य ही दिया जाना चाहिए। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार का कार्य करने में असमर्थ है या राज्य जिन्हें कार्य प्रदान नहीं कर सका है, उनके जीवनयापन के लिए राज्य द्वारा 'बेरोजगारी बीमे' की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ख) न्यूनतम जीवन स्तर की गारण्टी—प्रत्येक मनुष्य को अपने कार्य के बदले में इतना पारिश्रमिक अवश्य ही मिलना चाहिए कि उसके द्वारा न्यूनतम आर्थिक स्तर की प्राप्ति की जा सके। न्यूनतम जीवन स्तर के सम्बन्ध में अर्थशास्त्री क्राउथर ने कहा है कि "नागरिकों के लिए अधिकार रूप में उन्हें स्वस्थ बनाये रखने के लिए पर्याप्त भोजन की व्यवस्था की जानी चाहिए। निवास, वस्त्र आदि के न्यूनतम जीवन-स्तर की ओर से उन्हें चिन्तारहित होना चाहिए। शिक्षा का उन्हें पूर्णतया समान अवसर प्राप्त होना चाहिए और बेरोजगारी, बीमारी तथा वृद्धावस्था के दुःख से उनकी रक्षा की जाना चाहिए। लोककल्याणकारी राज्य में किसी एक व्यक्ति की अधिकता से पूर्व सबके लिए पर्याप्त की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ग) अधिकतम समानता की स्थापना—सम्पत्ति और आय की पूर्ण समानता न तो सम्भव है और न ही वांछनीय, तथापि आर्थिक न्यूनतम के पश्चात होने वाली व्यक्ति की आय का उसके समाज सेवा सम्बन्धी कार्य से उचित अनुपात होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो व्यक्तियों की आय के न्यूनतम और अधिकतम स्तर में

अत्यधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। इस सीमा तक आय की समानता तो स्थापित की जानी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति अपने धन के आधार पर दूसरे का शोषण न कर सके।

(2) राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था—लोककल्याणकारी राज्य की दूसरी विशेषता राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था कही जा सकती है। इस प्रकार की व्यवस्था की जानी चाहिए कि राजनीतिक शक्ति सभी व्यक्तियों मे निहित हो और ये अपने विवेक के आधार पर इस राजनीतिक शक्ति का प्रयोग कर सकें। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं

(क) लोकतन्त्रीय शासन—राजतन्त्र, अधिनायकतन्त्र या कुलीनतन्त्र के अन्तर्गत व्यक्ति अपने विवेक के आधार पर राजनीतिक कर्तव्यों का सम्पादन नहीं कर सकता। वस्तुतः इन शासन व्यवस्थाओ मे उसके कोई राजनीतिक अधिकार होते ही नही हैं। लोककल्याणकारी राज्य मे व्यक्ति के राजनीतिक हितो की साधना को भी आर्थिक हितो की साधना के समान ही समझा जाता है, अतः एक लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था वाला राज्य ही लोककल्याणकारी राज्य हो सकता है।

(ख) नागरिक स्वतन्त्रताएँ—संविधान द्वारा लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना कर देने से ही राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त नही हो जाती। व्यवहार मे राजनीतिक सुरक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए नागरिक स्वतन्त्रता का वातावरण होना चाहिए अर्थात नागरिको को विचार अभिव्यक्ति और राजनीतिक दलो के संगठन की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। इन स्वतन्त्रताओ के अभाव मे लोकहित की साधना नही हो सकती और लोकहित की साधना के बिना लोककल्याणकारी राज्य, आत्मा के बिना शरीर के समान होगा।

सोवियत रूस जैसे साम्यवादी राज्यो मे नागरिको के लिए नागरिक स्वतन्त्रताओं और परिणामतः राजनीतिक सुरक्षा का अभाव होने के कारण उन्हें लोककल्याणकारी राज्य नही कहा जा सकता।

(3) सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था—सामाजिक सुरक्षा का तात्पर्य सामाजिक समानता से है और इस सामाजिक समानता की स्थापना के लिए आवश्यक है कि धर्म, जाति, वंश, रंग और सम्पत्ति के आधार पर उत्पन्न भेदो का अन्त करके व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में महत्व प्रदान किया जाय। डॉ० बेनीप्रसाद के शब्दो मे, 'सामाजिक समानता का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्व हो सकता है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधनमात्र नहीं समझा जा सकता है।" वस्तुतः लोककल्याणकारी राज्य मे जीवन के सभी पक्षों मे समानता के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए।

(4) राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि—लोककल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त व्यक्तिवादी विचार के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है और इस मान्यता पर आधारित है कि राज्य को व सभी जनहितकारी कार्य करने चाहिए, जिनके करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता

नष्ट या कम नहीं होती। इसके द्वारा न केवल आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था वरन् जैसा कि हॉब्सन ने कहा है, "डाक्टर, नर्स, शिक्षक, व्यापारी, उत्पादक, बीमा कम्पनी के एजेन्ट, मकान बनाने वाले, रेलवे नियन्त्रक तथा अन्य सैकड़ों रूपों में कार्य किया जाना चाहिए।"

(5) अन्तरराष्ट्रीय सहयोग की भावना—इन सबके अतिरिक्त एक लोककल्याणकारी राज्य, अपने राज्य विशेष के हितों से ही सम्बन्ध न रखकर अन्तरराष्ट्रीय होता है। वैज्ञानिक प्रगति तथा राजनीतिक चेतना के विकास ने विश्व के सभी देशों को एक-दूसरे के इतना निकट ला दिया है कि त्रस्त मानवता के बीच में अकेला राज्य अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत नहीं कर सकता है। एक लोककल्याणकारी राज्य तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात सम्पूर्ण विश्व ही मेरा कुटुम्ब है, के विचार पर आधारित होता है।

लोककल्याणकारी राज्य के कार्य

परम्परागत विचारधारा राज्य के कार्यों को दो वर्गों (अनिवार्य तथा ऐच्छिक) में विभाजित करने की रही है और यह माना जाता रहा है कि अनिवार्य कार्य तो राज्य के अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए किये जाने जरूरी हैं, किन्तु ऐच्छिक कार्य राज्य की जनता के हित में होते हुए भी राज्य के द्वारा उनका किया जाना तत्कालीन समय की विशेष परिस्थितियों और शासन के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। लेकिन लोककल्याणकारी राज्य की धारणा के विकास के परिणामस्वरूप अनिवार्य और ऐच्छिक कार्यों की यह सीमा रेखा समाप्त हो गयी है और अब यह माना जाने लगा है कि परम्परागत रूप में ऐच्छिक कहे जाने वाले कार्य भी राज्य के लिए उतने ही आवश्यक हैं जितने कि अनिवार्य समझे जाने वाले कार्य। लोककल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं :

(1) आन्तरिक सुव्यवस्था तथा विदेशी आक्रमणों से रक्षा—एक राज्य जब तक विदेशी आक्रमण से अपनी भूमि और सम्मान की रक्षा करने की क्षमता नहीं रखता और आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखते हुए व्यक्तियों को जीवन की सुरक्षा का आश्वासन नहीं देता, उस समय तक वह राज्य कहलाने का ही अधिकारी नहीं है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए राज्य सेना और पुलिस रखता है, सरकारी कर्मचारी तथा न्याय की व्यवस्था करता है और इन कार्यों से सम्बन्धित व्यय को पूरा करने के लिए नागरिकों पर कर लगाता है।

(2) व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों और राज्य एवं व्यक्तियों के सम्बन्धों की व्यवस्था—मानव के स्वार्थी होने और उनको पृथक्-पृथक् विचारशीलता होने के कारण उनके विचारों और कार्यों में भेद होता है और किन्हीं प्रतिबन्धों के अभाव में विचारों और कार्यों का यह भेद संघर्ष का रूप ग्रहण कर सकता है। अतः राज्य के द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियन्त्रण किया जाता है। इसके लिए राज्य कानूनों का निर्माण करता है एवं पुलिस और न्यायालयों की सहायता से उन्हें

कार्य रूप में परिणित करता है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय में व्यक्ति एवं राज्य के सम्बन्धों को नियमित करना भी आवश्यक हो गया है और वह कार्य भी राज्य के द्वारा ही किया जाता है। राज्य का यह कार्य अधिक महत्वपूर्ण है और इस कार्य को भली-भाँति सम्पन्न करने पर ही व्यक्तियों की स्वतन्त्रता एवं राज्य की सत्ता निर्भर करती है।

(3) कृषि, उद्योग तथा व्यापार का नियमन और विकास—लोककल्याणकारी राज्य के दायित्व एक ऐसे राज्य के द्वारा ही पूरे किये जा सकते हैं जो आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न हो, अतः इस प्रकार के राज्य द्वारा कृषि उद्योग तथा व्यापार के नियमन एवं विकास का कार्य किया जाना चाहिए। इसमें मुद्रा निर्माण, प्रामाणिक माप और तौल की व्यवस्था, व्यवसायों का नियमन, कृषकों को राजकोषीय सहायता, नहरों का निर्माण, बीज वितरण के लिए गोदाम खोलना और कृषि सुधार, इत्यादि विषय सम्मिलित हैं। राज्य के द्वारा जंगल, आदि प्राकृतिक साधनों और सम्पत्ति की रक्षा की जानी चाहिए और कृषि तथा उद्योगों के बीच सन्तुलन स्थापित किया जाना चाहिए।

(4) आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्य—लोककल्याणकारी राज्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी होता है। आर्थिक सुरक्षा के अन्तर्गत अनेक बातें सम्मिलित हैं, जिसमे सभी व्यक्तियों को रोजगार और अधिकतम समानता की स्थापना प्रमुख है। ऐसे सभी व्यक्तियों को जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कार्य करने की क्षमता रखते हैं, राज्य के द्वारा उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार किसी न किसी प्रकार का कार्य अवश्य ही दिया जाना चाहिए। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार कार्य करने में असमर्थ हैं या राज्य जिन्हें कार्य नहीं प्रदान कर सका है उनके लिए राज्य द्वारा 'जीवन निर्वाह भत्ते' की व्यवस्था की जानी चाहिए।

लोककल्याणकारी राज्य के द्वारा यद्यपि आय की पूर्ण समानता स्थापित नहीं की जा सकती, लेकिन जहाँ तक सम्भव हो, व्यक्तियों की आय के न्यूनतम और अधिकतम स्तर में अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। इस सीमा तक आय की समानता तो स्थापित की ही जानी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति अपने धन के आधार पर दूसरे का शोषण न कर सके।

(5) जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना—लोककल्याणकारी राज्य के द्वारा नागरिकों को न्यूनतम जीवन-स्तर की गारण्टी दी जानी चाहिए। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि नागरिकों को अपने आपको स्वस्थ बनाये रखने के लिए पर्याप्त भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की सामान्य सुविधाएँ अवश्य ही प्राप्त हों। इसके साथ ही राज्य के द्वारा नागरिकों के जीवन स्तर को उत्तरोत्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(6) शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्य—लोककल्याणकारी राज्

उद्देश्य व्यक्तियों के लिए उन सभी सुविधाओं की व्यवस्था करना होता है जो उनके व्यक्तित्व के विकास हेतु सहायक और आवश्यक हैं। इस दृष्टि से शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधा का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार का राज्य शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना करता है और एक निश्चित स्तर तक शिक्षा को अनिवार्य तथा निःशुल्क किया जाता है। औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षा की व्यवस्था भी राज्य द्वारा की जाती है। इसी प्रकार चिकित्सागृहों तथा प्रसवगृहों आदि की स्थापना की जाती है जिनका उपयोग जनसाधारण निःशुल्क कर सकते हैं।

(7) सार्वजनिक सुविधा सम्बन्धी कार्य—लोककल्याणकारी राज्य के द्वारा परिवहन, संचार साधन, रेडियो, सिंचाई के साधन, बैंक, विद्युत, कृषि के वैज्ञानिक साधनों, आदि की व्यवस्था से सम्बन्धित सार्वजनिक सुविधा के कार्य किये जाते हैं। यद्यपि इन सुविधाओं के लिए राज्य द्वारा शुल्क प्राप्त किया जाता है किन्तु इन सुविधाओं का महत्व इस दृष्टि से है कि व्यक्ति अपने लिए इन साधनों की व्यवस्था नहीं कर सकता, साधनसम्पन्न राज्य ही कर सकता है। इसके अतिरिक्त, इन सुविधाओं के लिए राज्य के द्वारा उचित शुल्क ही प्राप्त किया जाता है और जो कुछ लाभ होता है, वह सार्वजनिक कोष में जाता है तथा उसका उपयोग भी स्वाभाविक रूप से अधिक सार्वजनिक सुविधाएँ प्रदान करने के लिए ही किया जाता है।

(8) समाज-सुधार—लोककल्याणकारी राज्य का लक्ष्य व्यक्तियों को न केवल आर्थिक वरन् सामाजिक कल्याण भी होता है। इस दृष्टि से राज्य के द्वारा मद्यपान, बाल विवाह, छूआछूत, जाति-व्यवस्था, आदि परम्परागत सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के उपाय किये जाने चाहिए।

(9) आमोद-प्रमोद की सुविधाएँ—जनता को स्वस्थ मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए राज्य के द्वारा सार्वजनिक उद्यानों, क्रीड़ा-क्षेत्रों, सार्वजनिक तरण-तालों (Swimming Pools), सिनेमागृहों, रंगमंच, रेडियो, आदि का प्रबन्ध करना चाहिए।

(10) नागरिक स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था—राज्य के द्वारा अपने सभी नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति, सम्मेलन, संगठन, आदि की स्वतन्त्रता प्रदान की जानी चाहिए, जिससे लोकतान्त्रिक आदर्श की व्यावहारिक प्राप्ति सम्भव हो सके।

(11) अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र के कार्य—लोक कल्याण का आदर्श किसी एक राज्य विशेष से नहीं वरन् समस्त मानवता से सम्बन्ध रखता है, अतः एव लोककल्याणकारी राज्य द्वारा अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र के अन्तर्गत युद्ध नहीं वरन् अधिकाधिक राज्यों के साथ सद्भावना और सहयोग का मार्ग अपनाया जाना चाहिए। अपने अस्तित्व और सीमाओं या सम्मान की रक्षा के लिए उनके द्वारा शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु राजनीतिक या आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति आदि के लिए किसी राज्य के विरुद्ध बल प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

ऊपर लोककल्याणकारी राज्य के कुछ कर्तव्य गिनाये गये हैं, किन्तु लोक-

कल्याणकारी राज्य के समस्त कर्तव्यों की सूची तैयार कर सकना सम्भव नहीं है। व्यक्ति के जीवन मे राज्य हस्तक्षेप कहाँ से प्रारम्भ हो और कहाँ पर समाप्त हो जाय, इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। इस प्रश्न को ठीक-ठीक उत्तर स्थानीय तथा राष्ट्रीय परिस्थितियो और आवश्यकताओ के सन्दर्भ मे ही दिया जा सकता है। आज की जटिल परिस्थितियो मे कोई भी व्यक्ति केवल अपने लिये या अपने ही प्रयास से जीवित नही रह सकता है और समाज द्वारा जन-हितकारी कार्यों का सम्मान अच्छे जीवन की एक आवश्यकता बन गयी है। अत राज्य के द्वारा अपने नागरिको को वे समस्त सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए जो उनके सामूहिक कल्याण की वृद्धि करने वाली हो।

लोककल्याणकारी राज्य का मूल्यांकन

यद्यपि लोककल्याणकारी राज्य वर्तमान समय की सर्वाधिक लोकप्रिय प्रवृति है, फिर भी लोककल्याणकारी राज्य के विरुद्ध कुछ तर्क दिये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन—कुछ व्यक्तियो का कहना है कि लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपना लेने पर जब राज्य के कार्य बहुत अधिक बढ जाते हैं, तो स्वभावत राज्य की शक्तियों मे वृद्धि होती है और अति शक्तिशाली राज्य तो वैयक्तिक स्वतन्त्रता को समाप्त कर देता है। अमरीकी राज्य सचिव डायनेस ने इसी आधार पर इसमे 'विकरान्त सरकार' (Big Government) की झलक पायी थी।

(2) ऐच्छिक समुदायों पर आघात—जब लोककल्याण की प्रवृत्ति को अपना लेने पर राज्य के कार्य बहुत अधिक बढ जाते हैं तो राज्य अनेक ऐसे कार्य करने लगता है जो वर्तमान समाज में ऐच्छिक समुदायों के लिए घातक होता है और मानव जीवन के सम्बन्ध मे उपयोगी भूमिका निभाने वाले ऐच्छिक समुदाय समाप्त हो जाते हैं।

(3) नौकरशाही का भय—लोककल्याणकारी की प्रवृत्ति को अपना लेने पर राज्य नौकरशाही मे भी बहुत अधिक वृद्धि होगी और नौकरशाही में यह अत्यधिक वृद्धि लालफीताशाही, भाई भतीजावाद, भ्रष्टाचार, आदि अन्य बुराइयों को जन्म देगी।

(4) अत्यधिक खर्चीला—लोककल्याणकारी राज्य बहुत अधिक खर्चीला आदर्श है, क्योंकि राज्य को विभिन्न लोककल्याणकारी सेवाएँ सम्पादित करने में बहुत अधिक धनराशि की आवश्यकता होती है। सामान्य आर्थिक साधनों वाला राज्य इस प्रकार का व्यय भार वहन नही कर सकता। सीनेटर टाफ्ट ने इसी कारण कहा है कि "लोककल्याण की नीति राज्य को दिवालियेपन की ओर ले जायेगी।"

लोककल्याणकारी राज्य के जो उपर्युक्त दोष बताये जाते हैं, उनके कारण लोककल्याणकारी राज्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में, ये दोष लोककल्याणकारी राज्य के नहीं, वरन् मानवीय जीवन की दुर्बलताओं के हैं। सर्वप्रथम, लोककल्याणकारी राज्य और सर्वाधिकारवादी राज्य में आधारभूत अन्तर है और लोककल्याणकारी राज्य का तात्पर्य राज्य द्वारा व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन पर

अधिकार नहीं है। लोककल्याणकारी राज्य में न केवल व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए एक बहुत बड़ा क्षेत्र बच जाता है, वरन् यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को वास्तविकता का रूप प्रदान करता है। लोककल्याणकारी राज्य के कारण ऐच्छिक समुदायों के कार्य क्षेत्र पर भी कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। इससे उनके कार्य और महत्व मे वृद्धि होती है, कमी नहीं। जहाँ तक नौकरशाही की बुराइयों का सम्बन्ध है, वे तो दोषपूर्ण राज्य व्यवस्था और मानवीय चरित्र की दुर्बलता के परिणाम हैं और इनमे सुधार कर इन्हें दूर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यह देखने में आया है कि लोककल्याण की प्रवृत्ति तत्काल तो राजकोष से भारी व्यय को जन्म देती है लेकिन लम्बे समय मे इसका नागरिकों की कार्यकुशलता पर अच्छा प्रभाव पड़ता है जिससे उत्पादन मे वृद्धि होती है और राष्ट्रीय आय तेजी के साथ बढ़ती है। व्यवहार मे लोककल्याणकारी राज्य की प्रवृत्ति को विश्व मे लगभग सभी राज्यो द्वारा किसी न किसी रूप मे अपना लिया गया है और इसे अपनाने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी नहीं है।

प्रश्न

1. "राज्य व्यक्ति के सुख में सबसे अधिक अच्छे प्रकार से उसके व्यक्तिगत मामलों में कम-से-कम हस्तक्षेप करके ही वृद्धि कर सकता है।" (जे० एस० मिल) इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
2. राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी विचारधारा का समर्थन किन आधारों पर किया जाता है। व्यक्तिवादी विचारधारा को क्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता—स्पष्ट कीजिये।
3. राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में समाजवादी दृष्टिकोण की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये।
4. लोककल्याणकारी राज्य से आप क्या समझते हैं, इस प्रकार के राज्यों द्वारा कौन-कौन से काम किये जाने चाहिए?
5. लोककल्याणकारी राज्य की धारणा की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।
6. लोककल्याणकारी राज्य द्वारा अपने नागरिकों को प्रदत्त अधिकारों का वर्णन कीजिए और इन अधिकारों से सम्बन्धित कर्तव्य भी बताइए।

9

सम्प्रभुता : एकत्ववादी और बहुलवादी सिद्धान्त

[SOVEREIGNTY MONISTIC AND PLURALISTIC THEORIES]

"एक राज्य का दूसरे राज्य से, राज्य का अपने नागरिकों से तथा एक नागरिक का दूसरे नागरिक से क्या सम्बन्ध होता है, यह तभी समझा जा सकता है जब हम राज्य के उस तत्व पर विचार करें जो उसे अन्य समुदायों से पृथक करता है तथा जिसे हम सम्प्रभुता कहते हैं।"[1]
—गैटिल

जनसंख्या, निश्चित क्षेत्र, सरकार और सम्प्रभुता—राज्य के इन तत्वों मे सम्प्रभुता सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व है जिसके आधार पर राज्य को अन्य सभी समुदायों से पृथक किया जा सकता है। राज्य के लिए सम्प्रभुता का वही महत्व है जो व्यक्ति के जीवन के लिए प्राणों का होता है। वस्तुत सम्प्रभुता के बिना राज्य के अस्तित्व की कल्पना ही नही की जा सकती है।

सम्प्रभुता का अर्थ

सम्प्रभुता का आग्ल पर्यायवाची 'सावरेनटी' (Sovereignty) लैटिन शब्द 'सुपर' (Super) और 'एनस' (Anus) से लिया गया है, जिसका अर्थ उस भाषा मे सर्वोच्च शक्ति होता है। शब्द की व्युत्पत्ति द्वारा स्पष्ट सम्प्रभुता के इसी अर्थ को वर्तमान समय में भी स्वीकार किया जाता है, लेकिन इस प्रकार का स्पष्ट अर्थ होते हुए भी राजनीति विज्ञान के विभिन्न विद्वानों ने सम्प्रभुता के सम्बन्ध मे विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं और ब्राइस के शब्दों मे कहा जा सकता है कि "सम्प्रभुता का प्रश्न राजनीतिक विज्ञान के सर्वाधिक विवादास्पद और उलझे हुए प्रश्नों मे से एक है।" सम्प्रभुता के सम्बन्ध मे किये गये प्रमुख विचार निम्न प्रकार हैं :

---

[1] "The relation of state, to state, of a state to its citizens, of one citizen to another can be understood only after a further discussion of the characteristic which distinguished the state from all other organizations its sovereignty." —*Gettell, Political Science*, p 121.

सम्प्रभुता की सर्वप्रथम व्याख्या जीन बोदां (Jean Bodin) के द्वारा की गयी जिनके अनुसार, "सम्प्रभुता नागरिकों और प्रजाजनों के ऊपर राज्य की वह सर्वोच्च शक्ति है जिस पर कानून का कोई अंकुश न हो।"[1]

ग्रोशियस (Grotious) ने लगभग अर्द्ध-शताब्दी बाद कहा कि "सम्प्रभुता उस व्यक्ति में निहित सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है जिसके कृत्य अन्य किसी पर आश्रित न हों और जिसकी आज्ञा का उल्लंघन न किया जा सकता हो।"[2]

बर्गेस (Burgess) के अनुसार, "यह व्यक्तिगत रूप से प्रजाजन व उनके समुदायों के ऊपर प्राप्त राज्य की मौलिक, निरपेक्ष व असीमित शक्ति है।"[3]

विलोबी (Willoughby) के अनुसार, "सम्प्रभुता राज्य की सर्वोपरि इच्छा होती है।"[4]

यद्यपि इन परिभाषाओं में भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है, तथापि इन सभी विद्वानों का आशय यही है कि सम्प्रभुता का तात्पर्य एक निश्चित क्षेत्र में राज्य की सर्वोपरि शक्ति से है। लेकिन इनमें से किसी भी परिभाषा को पूर्ण नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि सम्प्रभुता के दो पक्ष होते हैं—आन्तरिक सम्प्रभुता एवं बाहरी सम्प्रभुता। सम्प्रभुता के इन दो पक्षों में से उपर्युक्त परिभाषाओं में सम्प्रभुता के केवल एक पक्ष—आन्तरिक सम्प्रभुता—को ही व्यक्त किया गया है। सम्प्रभुता के इन दोनों पक्षों की विवेचना निम्न प्रकार है

आन्तरिक सम्प्रभुता—आन्तरिक सम्प्रभुता का तात्पर्य यह है कि राज्य व्यक्तियों या व्यक्ति समुदायों से उच्चतर होता है और वह अपने निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत रहने वाले सभी व्यक्तियों और निश्चित क्षेत्र में स्थित सभी समुदायों और संगठनों को किसी भी प्रकार की आज्ञा दे सकता है तथा शक्ति के आधार पर इन आज्ञाओं को मनवा सकता है। व्यक्ति अथवा समुदायों द्वारा इन आज्ञाओं के विरुद्ध अन्यत्र कहीं भी अपील नहीं की जा सकती है। डॉ॰ गार्नर के शब्दों में कहा जा सकता है कि "सम्प्रभुता राज्य के सम्पूर्ण क्षेत्र में विस्तृत होती है और एक राज्य के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्ति और समुदाय इसके अधीन होते हैं।"

बाहरी सम्प्रभुता—बाहरी सम्प्रभुता का तात्पर्य यह है कि राज्य किसी भी बाहरी सत्ता के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष नियन्त्रण से स्वतन्त्र होता है। एक राज्य को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है कि वह विदेशों से जैसे चाहे वैसे सम्बन्ध

---

1 "Sovereignty is the supreme power of the state, over citizens and subjects unrestrained by Law." —*Jean Bodin*

2 "Sovereignty is the supreme power vested in him, whose acts are not subject to any other and whose will cannot be over-ridden. —*Grotious*

3 "Sovereignty is the original, absolute and unlimited power over the individual subjects and over all associations of subjects." —*Burgess*

4 "Sovereignty is the supreme will of the state." —*Willoughby*

स्थापित करे। कानूनी दृष्टि से वह मैत्री युद्ध या तटस्थता इनमे से किसी भी मार्ग को अपना सकता है। लास्की ने सम्प्रभुता के इस बाहरी पक्ष की ओर सकेत करते हुए कहा है कि आधुनिक राज्य प्रभुत्वसम्पन्न राज्य होता है अत वह अन्य राज्य से सम्बन्धो के विषय में स्वतन्त्र होता है। वह उसके सम्बन्ध मे अपनी इच्छा को किसी बाहरी शक्ति से प्रभावित हुए बिना ही व्यक्त कर सकता है।

सम्प्रभुता के इन दोनो पक्षो को दृष्टि मे रखते हुए सम्प्रभुता की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि **सम्प्रभुता राज्य की वह सर्वोच्च शक्ति है जिसके द्वारा राज्य के निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्तियो और समुदायों पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है और जिसके आधार पर एक राज्य अपने ही समान दूसरे राज्य के साथ अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।**

सम्प्रभुता के लक्षण
(CHARACTERISTICS OF SOVEREIGNTY)

सम्प्रभुता की उपर्युक्त धारणा के आधार पर सम्प्रभुता के प्रमुख रूप से निम्नलिखित लक्षण बताये जा सकते हैं

(1) निरकुशता (Absoluteness) —सम्प्रभुता का अर्थ सर्वोच्च शक्ति से है और जैसा कि सम्प्रभुता के इस अर्थ से ही स्पष्ट है यह सर्वोच्च शक्ति निरपेक्ष एव निरकुश होती है। सम्प्रभुता आन्तरिक और बाहरी दोनो ही क्षेत्रों मे निरकुश एव सर्वोच्च होती है। आन्तरिक क्षेत्र मे सम्प्रभुता सभी व्यक्तियो और समुदायो पर नियन्त्रण रखती है शक्ति के आधार पर इससे अपनी आज्ञाओ को मनवाया सकती है एव किसी के द्वारा भी राज्य की आज्ञाओ को चुनौती नही दी जा सकती है। इसी प्रकार बाहरी क्षेत्र मे एक राज्य दूसरे राज्यो के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के सम्बन्ध मे पूर्णतया स्वतन्त्र होता है। वैधानिक दृष्टि से आन्तरिक एव बाहरी क्षेत्र मे राज्य की सम्प्रभुता पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही होता है। ऑस्टिन के शब्दो मे कहा जा सकता है कि **सम्प्रभुता अन्य सभी से आदेश पालन कराने की स्थिति मे होती है किन्तु स्वय किसी के भी आदेश पालन की अभ्यस्त नहीं होती।**

(2) सर्वव्यापकता (All comprehensiveness)—सम्प्रभुता की सर्वव्यापकता का तात्पर्य यह है कि राज्य के अन्तर्गत स्थित सभी व्यक्तियो और समुदायो पर राज्य की प्रभुत्व शक्ति का नियन्त्रण रहता है और इनमे से कोई भी सम्प्रभु शक्ति से मुक्त होने का दावा नही कर सकता। यदि राज्य के अन्तर्गत किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष को विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं तो इन विशेषाधिकारो का अस्तित्व राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है।

सर्वव्यापकता का केवल एक अपवाद कहा जा सकता है और वह है राज्येतर **सम्प्रभुता का सिद्धान्त** (Principle of Extra territorial Sovereignty)। 'इस

सिद्धान्त के अनुसार एक देश के अन्तर्गत स्थित राजदूतावास उस देश की सम्पत्ति समझा जाता है और दूतावास के क्षेत्र मे उसी देश के कानून लागू होते हैं, जिस देश का वह प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन यह सिद्धान्त सम्प्रभुता की सर्वव्यापकता पर नियन्त्रण नहीं, वरन् अन्तरराष्ट्रीय शिष्टता और सौजन्य के आधार पर एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को दिया गया विशेष सम्मान है। यदि कोई राज्य अपनी सम्प्रभुता का प्रयोग करते हुए इन विशेषाधिकारों एवं सुविधाओं को वापस लेना चाहे, तो ले सकता है।

(3) स्थायित्व (Permanency)—अनेक बार सम्प्रभुता को एक सरकार विशेष का पर्यायवाची समझ लिया जाता है, लेकिन ऐसा समझना भ्रमपूर्ण है। वस्तुत सम्प्रभुता स्थायी होती है और सम्प्रभुता का अन्त करना राज्य को ही समाप्त करना है। ब्रिटिश संविधान मे 'राजा मृत है, राजा चिरायु हो' (King is dead, long live the King) की जो कहावत प्रचलित है, वह सरकार और सम्प्रभुता के भेद को स्पष्ट करते हुए यही बताती है कि सम्प्रभुता एक ऐसी सत्ता के रूप में होती है जो कभी भी समाप्त नहीं होती। न केवल सरकारों के परिवर्तन से वरन् एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य पर विजय प्राप्त कर लेने से भी सम्प्रभुता नष्ट नही होती, वरन् विजित राज्य की प्रभुत्वशक्ति विजेता राज्य के हाथों में चली जाती है।

(4) अपृथक्करणीयता (Inalienability)—सम्प्रभुता राज्य से अपृथक्करणीय होती है अर्थात् राज्य स्वय को नष्ट किये बिना सम्प्रभुता का त्याग नहीं कर सकता। सम्प्रभुता राज्य के व्यक्तित्व का मूल तत्व है और उसे अलग करना आत्महत्या के समान है। प्राय ऐसा भ्रम हो सकता है कि किसी राज्य के एक खण्ड के पृथक् होने से अथवा उसका कोई एक भाग किसी अन्य राज्य द्वारा जीते जाने पर उस खण्ड अथवा भाग से सम्बन्धित प्रभुत्व शक्ति उस राज्य से पृथक हो जाती है, किन्तु इससे सम्प्रभुता राज्य से पृथक नही होती, वरन् सम्प्रभुता का हस्तान्तरण मात्र होता है। गार्नर ने कहा है कि "सम्प्रभुता राज्य का व्यक्तित्व और उसकी आत्मा है। जिस प्रकार मनुष्य का व्यक्तित्व अदेय है और वह किसी दूसरे को दे नहीं सकता, उसी प्रकार राज्य की सम्प्रभुता भी किसी अन्य को नहीं दी जा सकती है।" यह बात लीबर (Lieber) ने सुन्दर ढग से इस प्रकार व्यक्त की है, "जिस प्रकार निज को नष्ट किये बिना मनुष्य अपने जीवन तथा व्यक्तित्व को अथवा वृक्ष अपने फलने-फूलने के स्वभाव को पृथक नहीं कर सकता, उसी प्रकार सम्प्रभुता को राज्य से पृथक नहीं किया जा सकता है।"

(5) अविभाज्यता (Indivisibility)—सम्प्रभुता का एक अन्य प्रमुख लक्षण उसकी अविभाज्यता है। सम्प्रभुता पूर्ण है; इसे विभाजित करने का अर्थ है उसे नष्ट करना अथवा एक से अधिक राज्यों की रचना करना। गैटिल के शब्दों में,"विभाजित

सम्प्रभुता अपने आप में एक विरोधाभास है ।"[1] इसी प्रकार कालहून ने लिखा है कि "सम्प्रभुता एक पूर्ण वस्तु है । जिस प्रकार हम एक अर्द्ध-वर्ग अथवा एक अर्द्ध-त्रिभुज की कल्पना भी नहीं कर सकते, उसी प्रकार आधी अथवा तिहाई सम्प्रभुता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है ।"[2] सम्प्रभुता का अर्थ राज्य की सर्वश्रेष्ठ सत्ता है और एक ही समय पर एक ही राज्य में दो सर्वश्रेष्ठ सत्ताएँ निवास नहीं कर सकतीं ।

सम्प्रभुता की अविभाज्यता की धारणा से अनेक विचारक सहमत नहीं हैं । बहुलवादी सम्प्रभुता को राज्य और राज्य के भीतर अन्य अनेक समुदायों में विभक्त मानते हैं । इसके अतिरिक्त लावेल, ब्राइस, फ्रीमैन, आदि लेखकों का विचार है कि संघ राज्य मे सम्प्रभुता विभाजित होती है । लेकिन, लावेल, ब्राइस, फ्रीमैन आदि विद्वानों का दृष्टिकोण सही नहीं है और इन विद्वानों द्वारा शासन शक्ति एव प्रभुत्व शक्ति को एक ही समझ लेने के कारण इस प्रकार की बात कही गयी है । संघ राज्य मे भी सम्प्रभुता अविभाज्य होती है । यह सम्प्रभुता सविधान मे निहित होती है और व्यवहार मे इसका प्रयोग सविधान मे सशोधन करने वाली शक्ति करती है ।

(6) अनन्यता (Exclusiveness)—इसका अर्थ यह है कि एक राज्य मे केवल एक ही प्रभुशक्ति हो सकती है जो वैध रूप से जनता को आज्ञा पालन का आदेश देती है । एक राज्य के अन्दर एक से अधिक प्रभु शक्तियों का अस्तित्व मान लेना राज्य के भीतर राज्य की मान्यता को स्वीकार कर लेना और राज्य की एकता को भग करना है ।

(7) मौलिकता (Originality)—मौलिकता का अर्थ है कि राज्य की सम्प्रभुता सर्वथा मौलिक है, किसी अन्य सत्ता द्वारा प्रदत्त नहीं । यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि सम्प्रभुता प्रदत्त हो सकती है तो यह भी मानना पड़ेगा कि इसे देने वाली सत्ता प्रभुसत्ता से भी ऊपर होगी और अपनी दी हुई वस्तु को अपनी इच्छानुसार उसके द्वारा वापस लिया जा सकेगा । सम्प्रभुता की परिभाषा के अनुसार सम्प्रभुता से उच्च किसी भी सत्ता का अस्तित्व असम्भव है ।

सम्प्रभुता के विविध रूप
(DIFFERENT KINDS OF SOVEREIGNTY)

(1) औपचारिक तथा वास्तविक सम्प्रभुता (Nominal and Real Sovereignty)—औपचारिक या नाममात्र की सम्प्रभुता का तात्पर्य एक व्यक्ति या ऐसी इकाई से है जिसके पास सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्पूर्ण शक्ति निहित हो, किन्तु जिसके द्वारा व्यवहार मे इस प्रकार की शक्ति का अपने ही विवेक के आधार पर उप-

---

1 "Divided sovereignty is a contradiction in term." —*Gettell*

2 "Sovereignty is an entire thing. To divide it is to destroy it." —*Calhoun*

योग न किया जा सके, व्यवहार मे इन शक्तियों का प्रयोग उनके नाम पर कोई अन्य व्यक्ति ही करे। इंगलैण्ड का सम्राट इस प्रकार के औपचारिक सम्प्रभु का आदर्श उदाहरण है। सैद्धान्तिक दृष्टि से इंगलैण्ड में सम्राट ही सम्प्रभु है किन्तु वास्तविक सम्प्रभु पार्लियामेण्ट और मन्त्रिमण्डल है जो व्यवहार में सम्राट की इस सम्प्रभुता का उपभोग करता है। भारत मे भी राष्ट्रपति को औपचारिक सम्प्रभु और ससद एव मन्त्रिमण्डल को वास्तविक सम्प्रभु कहा जा सकता है। औपचारिक तथा वास्तविक सम्प्रभुता का यह भेद ससदात्मक शासन-व्यवस्था मे ही देखा जाता है।

(2) कानूनी सम्प्रभुता (Legal Sovereignty)—एक राज्य के अन्तर्गत कानूनों का निर्माण करने और उनका पालन कराने की सर्वोच्च शक्ति जिस सत्ता के पास होती है, उसे कानूनी सम्प्रभु कहा जाता है। यह वह सम्प्रभु है जिसे न्यायालय स्वीकार करता है। वैधानिक दृष्टि से इस सर्वोच्च शक्ति पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता और वह धार्मिक सिद्धान्तो, नैतिक निर्देशों तथा जनमत के आदेशों का उल्लंघन कर सकता है। कानूनी सम्प्रभुता को स्पष्ट करते हुए गार्नर ने कहा है, "कानूनी सम्प्रभु वह निश्चित शक्ति है जो राज्य के उच्चतम आदेशों को कानून के रूप में प्रकट कर सके, वह शक्ति जो ईश्वरीय नियमों या नैतिकता के सिद्धान्तों तथा जनमत के आदेशों का उल्लंघन कर सके।" इंगलैण्ड में ससद सहित सम्राट (King in Parliament) को इसी प्रकार का कानूनी सम्प्रभु कहा जाता है।

कानूनी सम्प्रभुता की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं

(1) यह निश्चित होती है और न्यायालय इसे स्वीकार करता है।

(2) यह किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह मे निहित हो सकती है।

(3) यह निश्चित रूप से सगठित, स्पष्ट और विधि द्वारा मान्य होती है।

(4) व्यक्तियों को सभी अधिकार कानूनी सम्प्रभुता से ही प्राप्त होते हैं और स्वाभाविक रूप से व्यक्ति को इस सम्प्रभु के विरुद्ध कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता।

(5) यह असीमित और सर्वोच्च होती है।

राजनीतिक सम्प्रभुता (Political Sovereignty)—स्विट्जरलैण्ड जैसे प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था वाले देशों में तो कानूनी सम्प्रभुता और राजनीतिक सम्प्रभुता मे कोई अन्तर नहीं होता, लेकिन जिस प्रकार का प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र वर्तमान समय मे विश्व के अधिकाश देशों मे प्रचलित है उसके अन्तर्गत कानूनी सम्प्रभु और राजनीतिक सम्प्रभु अलग अलग इकाइयाँ होती है। कानूनी दृष्टि से तो इंगलैण्ड मे पार्लियामेण्ट सम्प्रभु है, किन्तु वास्तविक रूप में पार्लियामेण्ट की सत्ता पर अनेक प्रतिबन्ध हैं। पार्लियामेण्ट जनता के कल्याण और इच्छाओं के विरुद्ध किसी प्रकार के कानून का निर्माण नहीं कर सकती क्योंकि जनता पार्लियामेण्ट के सदस्यों को निर्वाचित करती और उन पर नियन्त्रण रखती है और पार्लियामेण्ट (कानूनी

सम्प्रभु) की सत्ता पर नियन्त्रण रखने वाली इस शक्ति को ही राजनीतिक सम्प्रभु कहा जाता है। डायसी (Dicey) के शब्दों में, "जिस सम्प्रभु को वकील लोग मानते हैं, उसके पीछे दूसरा सम्प्रभु रहता है। इस सम्प्रभु के सामने कानूनी सम्प्रभु को सिर झुकाना ही पड़ता है जिसकी इच्छा को अन्तिम रूप में राज्य के नागरिक मानते हैं, वही राजनीतिक सम्प्रभु है।"

लेकिन यह राजनीतिक सम्प्रभुता कानून द्वारा ज्ञात नहीं होती। यह तो असंगठित और अनिश्चित होती है। सकीर्ण दृष्टिकोण से एक देश के निर्वाचकों को राजनीतिक सम्प्रभु कहा जा सकता है क्योंकि वे ही कानूनी सम्प्रभु का निर्माण करते हैं। लेकिन दलीय राजनीति लोकमत और प्रचार के साधनों का भी कानूनी सम्प्रभु पर नियन्त्रण रहता है। इसलिए गिलक्राइस्ट के शब्दों में कहा जा सकता है कि "राजनीतिक सम्प्रभु एक राज्य के अन्तर्गत उन सभी प्रभावों का योग है जो कानूनी सम्प्रभु के पीछे निहित रहते हैं।"[1]

कानूनी तथा राजनीतिक प्रभुता का अन्तर बताते हुए गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि "कानूनी प्रभुसत्ता निश्चित रूप से सगठित तथा स्पष्ट होती है राजनीतिक प्रभुसत्ता यद्यपि वास्तविक होती है फिर भी यह अस्पष्ट तथा अनिश्चित होती है।"

(3) वैध और यथार्थ सम्प्रभुता (*De Jure and De Facto* Sovereignty)—एक देश के सविधान द्वारा जिस व्यक्ति या समुदाय को शासन करने का अधिकार प्रदान किया जाता है, उसे वैध सम्प्रभु कहते हैं और एक देश के अन्तर्गत व्यवहार में अथवा वास्तव में जिस व्यक्ति या समुदाय के द्वारा शासन किया जाता है, दूसरे शब्दों में जनता से जो व्यक्ति समुदाय वास्तव मे अपनी आज्ञाओं का पालन कराता है, उसे यथार्थ सम्प्रभु कहते हैं।

यथार्थ सम्प्रभुता की परिभाषा करते हुए ब्राइस ने कहा है, "यथार्थ सम्प्रभुता उस व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के उस समूह में पायी जाती है जो कानूनन तथा गैर-कानूनन अपनी इच्छा को राज्य में कार्यान्वित कर सकता है।"

सामान्यतया वैध और यथार्थ सम्प्रभु अलग अलग नहीं होते, किन्तु जब कोई व्यक्ति एक श्रेणी या बहुसख्यक जनसमूह राज्य के विद्यमान सविधान और कानून की उपेक्षा कर क्रान्ति, विद्रोह या शक्ति के प्रयोग द्वारा शासन शक्ति अपने हाथ में लेकर अपनी सरकार स्थापित कर लेता है तो ऐसी स्थिति में वैध सम्प्रभु पुरानी सरकार ही रहती है, लेकिन नवीन स्थापित सरकार उस राज्य की वास्तविक सम्प्रभु बन जाती है। लेनिन ने 1917 में, अय्यूबखाँ ने 1958 में और याह्याखाँ ने 1968 में पाकिस्तान मे जो सरकार स्थापित की थी वह आरम्भ म यथार्थ सम्प्रभु ही थी।

---

[1] "The sum total of the influence in the state which lie behind the law is the political sovereign." —*Gilchrist*

लेकिन वैध और यथार्थ सम्प्रभु अधिक समय तक एक-दूसरे से अलग-अलग नहीं रह सकते हैं, या तो वैध सम्प्रभु थोड़े समय बाद विद्रोह द्वारा स्थापित नवीन शक्ति का अन्त करके फिर से यथार्थ सम्प्रभु बन जाता है या विद्रोह द्वारा स्थापित नवीन सरकार संविधान में परिवर्तन करके या किसी और प्रकार से जनता की स्वीकृति प्राप्त कर वैध सम्प्रभु भी बन जाती है। 1958 में जनरल अय्यूबखाँ के द्वारा पहले तो विद्रोह के आधार पर पाकिस्तान की यथार्थ प्रभुता प्राप्त की गयी और फिर जन स्वीकृति के आधार पर वैध प्रभुता भी प्राप्त कर ली गयी।

(4) जन सम्प्रभुता (Popular Sovereignty)—18वीं सदी तक विश्व के प्राय सभी राज्यों में स्वेच्छाचारी एव निरंकुश राजाओं का शासन था। इन राजाओं के शासनकाल में ही कुछ व्यक्तियों द्वारा जन सम्प्रभुता या लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में मार्सीग्लिओ ऑफ पेडुआ (Marsiglio of Padua) तथा विलियम ऑफ ओकम (William of Occam) का नाम लिया जा सकता है, लेकिन स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त की घोषणा रूसो के द्वारा की गयी। रूसो ने इस बात का प्रतिपादन किया कि जनता की वाणी ही ईश्वर की वाणी है, राज्य की प्रभुत्व शक्ति जनता में निहित होती है और सरकार शासन व कानून निर्माण की शक्ति जनता से ही प्राप्त करती है। अमरीकी और फ्रांसीसी क्रान्ति का आधार जन सम्प्रभुता का यही विचार था और वर्तमान समय में यह विचार सबसे अधिक लोकप्रिय एव प्रेरणादायक राजनीतिक विचार है। लार्ड ब्राइस के शब्दों में, "लोकप्रिय सम्प्रभुता लोकतन्त्र का आधार तथा प्रतीक बन गयी है।"[1]

सम्प्रभुता का एकत्ववादी सिद्धान्त आस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त
(MONISTIC THEORY OF SOVEREIGNTY AUSTIN'S THEORY OF SOVEREIGNTY)

सम्प्रभुता के वैधानिक सिद्धान्त का सर्वोत्तम विश्लेषण जॉन आस्टिन ने 1832 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'विधानशास्त्र पर व्याख्यान' (*Lectures on Jurisprudence*) में किया है।

आस्टिन हॉब्स और बैंथम के विचारों से बहुत अधिक प्रभावित था और उसका विचार था कि "उच्चतर द्वारा निम्नतर को दिया गया आदेश ही कानून होता है।" अपने इसी विचार के आधार पर आस्टिन ने सम्प्रभुता की धारणा का प्रतिपादन किया, जो इस प्रकार है, "कोई निश्चित उच्चसत्ताधारी मनुष्य, जो स्वयं किसी वैसे ही उच्चसत्ताधारी के आदेश पालन का अभ्यस्त न हो, यदि मनुष्य समाज के बड़े भाग से स्थायी रूप में अपने आदेशों का पालन कराने की स्थिति में हो तो वह उच्चसत्ताधारी मनुष्य उस समाज में सम्प्रभु होता है और वह समाज (उस

---

1 "Popular sovereignty has become the basis and watch word of democracy." —*Lord Bryce*

उच्चसत्ताधारी मनुष्य सहित) एक राजनीतिक व स्वाधीन समाज अर्थात राज्य होता है ।[1]

आस्टिन के सम्प्रभुता सम्बन्धी इस कथन के विश्लेषण से सम्प्रभुता की निम्न विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं

(1) प्रत्येक स्वतन्त्र राजनीतिक समाज अर्थात राज्य मे आवश्यक रूप से कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह सम्प्रभु होता है । प्रत्येक राजनीतिक समाज म प्रभुत्व शक्ति उसी प्रकार अनिवार्य है जिस प्रकार पदार्थ के किसी पिण्ड मे आकर्षण केन्द्र का होना अनिवार्य है ।

(2) सम्प्रभु किसी एक मानव या मानव समूह के रूप म हो सकता है किन्तु यह आवश्यक रूप स निश्चित होना चाहिए । सम्प्रभुता सामान्य इच्छा' 'प्राकृतिक कानून दैवी इच्छा जनमत या मतदाता' जैसे भावात्मक प्रतीकों म निहित नही हो सकती । यह तो एक एसा निश्चित मनुष्य या एक ऐसी निश्चित सत्ता म होना चाहिए जिस पर स्वय कोई कानूनी प्रतिबन्ध न हो ।

(3) इस प्रकार का निश्चित मानव श्रेष्ठ स्वय किसी उच्चतर अधिकारी के आदर्शों का पालन नहीं कर सकता । उसकी इच्छा सभी व्यक्तियों और समुदाय से उच्च है तथा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी के भी नियन्त्रण क अधीन नही हो सकता ।

(4) प्रभुत्व शक्ति को समाज की बहुसख्या मे पूर्ण आज्ञाकारिता प्राप्त होनी चाहिए । आज्ञाकारिता आदत का विषय होना चाहिए केवल यदाकदा नही । आस्टिन का विचार है कि सम्प्रभु अधिकारी के प्रति आज्ञाकारिता स्थिर और निरन्तर होनी चाहिए ।

(5) प्रभुत्वशक्ति के आदेश ही कानून हैं और आदेश रूप म आज्ञाओं को न मानने की दशा म दण्ड का अधिकारी होना पड़ता है ।

(6) प्रभुत्व शक्ति अविभाज्य है, क्योंकि वह एक इकाई है इसलिए वह खण्डित नहा हो सकती । प्रभुत्व शक्ति के विभाजन का अर्थ है सम्प्रभुता का विनाश ।

आलोचना (Cr ticism)—आस्टिन द्वारा किये गये विश्लेषण के अनुसार सर्वोच्च शक्ति निश्चयात्मक स्वेच्छाचारी असीमित अविभाज्य सर्वव्यापक और स्थायी है । किन्तु आस्टिन एक वकील था और उसने सम्प्रभुता के सिद्धान्त की व्याख्या म केवल वैधानिक दृष्टिकोण को ही दृष्टि म रखा है । आस्टिन द्वारा सम्प्रभुता क व्यावहारिक पक्ष पर ध्यान न दिये जाने के कारण सर हेनरी मेन ब्राइस

---

[1] If a determ nate human super or not n the hab t of obed ence to a l ke super or rece es hab tual obedience from the bulk of a g ven soc ety that determ nate super or is the sov ere gn in that soc ety and the soc ety inc ud ng the so ere gn is a so ety pol tical and independent
—*John Austin*

के विपरीत है कि प्रभुत्व शक्ति जनता मे निहित होती है तथा लोकमत या जनता की इच्छा ही राज्य मे सर्वोपरि है। वस्तुत आस्टिन के विचार की कानूनी प्रभुता को मानने का परिणाम यह होगा कि हमे लोक प्रभुता तथा राजनीतिक प्रभुता दोनो ही प्रकार की प्रभुताओ की सत्ता अस्वीकार करनी होगी।

(5) <u>सम्प्रभुता अविभाज्य नहीं है</u>—आस्टिन सम्प्रभुता की अविभाज्यता का प्रतिपादन करता है लेकिन व्यावहारिक दृष्टिकोण से सम्प्रभुता की अविभाज्यता को स्वीकार नही किया जा सकता। प्रत्येक राजनीतिक समाज मे कर्तव्य का बँटवारा होता है और प्रशासनिक कर्तव्यो के इस बँटवारे से यह स्पष्ट है कि सम्प्रभुता विभाजित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय के सघात्मक राज्यो मे तो सम्प्रभुता आवश्यक रूप से विभाजित होती है।

(6) <u>सम्प्रभुता असीमित नहीं है</u>—आस्टिन द्वारा सम्प्रभुता के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, उसके अनुसार सम्प्रभुता का सर्वप्रमुख लक्षण उसकी असीमितता तथा निरकुशता है, किन्तु आलोचक सम्प्रभुता की असीमितता को स्वीकार नही करते। ब्लटशली लिखता है कि राज्य अपने समस्त स्वरूप मे सर्व-शक्तिमान नहीं हो सकता क्योकि बाहरी मामलो में वह अन्य राज्यो के अधिकारों से और आन्तरिक क्षेत्र मे स्वय की प्रकृति तथा अपने सदस्यों के व्यक्तिगत अधिकारों से सीमित है।'

आलोचको के अनुसार व्यवहार म राज्य की सम्प्रभुता पर ये प्रतिबन्ध होते हैं (क) नैतिक प्रतिबन्ध, (ख) रीति रिवाज तथा परम्पराएँ, (ग) धर्म, (घ) अन्तरराष्ट्रीय कानून, (ङ) अन्य समुदायो का अस्तित्व और कार्यक्षेत्र कोई भी सम्प्रभु उपर्युक्त प्रतिबन्धो के उल्लघन का साहस नही कर सकता।

(7) <u>अन्तरराष्ट्रीयता के अनुरूप नहीं</u>—आस्टिन का सम्प्रभुता सिद्धान्त अन्तरराष्ट्रीयता की धारणा का भी स्पष्ट उल्लघन है। वैज्ञानिक प्रगति तथा यातायात और सवादवाहन के साधनो के विकास न विश्व के विभिन्न देशो को एक दूसरे के बहुत अधिक समीप ला दिया है और वर्तमान समय मे एक राज्य की सम्प्रभुता अन्तरराष्ट्रीय कानून और विश्व जनमत से बहुत अधिक सीमित होती है। यद्यपि कानूनी दृष्टि से सम्प्रभुता पर अन्तरराष्ट्रीय नियमो का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है लेकिन किसी भी सम्प्रभु द्वारा विश्व जनमत का विरोध किया जा सकना सम्भव नही है। लास्की सम्पूर्ण मानवता के हित म सम्प्रभुता को सीमित करने के पक्ष मे है और उनके विचार म सम्प्रभुता की मनमानी आज्ञा देने की शक्ति, मानवता के हित मे मेल नही खाती है।

महत्व (Importance)—यद्यपि आस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ की गयी हैं, लेकिन इनमे से अधिकाश आलोचनाएँ भ्रान्ति और आस्टिन के दृष्टिकोण को न समझने के कारण ही हुई हैं। आस्टिन ने वैधानिक दृष्टिकोण के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और इस दृष्टि से यह सिद्धान्त

नितान्त सही है। यह सिद्धान्त नितान्त स्पष्ट और तर्कसंगत है और उनके द्वारा किये गये सिद्धान्त के इस विवेचन से सम्प्रभुता के लौकिक और राजनीतिक रूपों की अनिश्चितता निश्चितता में बदल जाती है। गार्नर के शब्दों में कहा जा सकता है कि "सम्प्रभुता की वैधानिक प्रकृति के रूप में आस्टिन का सिद्धान्त नितान्त स्पष्ट और तर्कसंगत है और इस सिद्धान्त के प्रति की गयी अधिकांश आलोचनाएँ भ्रम और मिथ्या धारणा पर आधारित हैं।"

सम्प्रभुता का बहुलवादी सिद्धान्त या बहुलवाद
(PLURALISTIC THEORY OF SOVEREIGNTY OR PLURALISM)

सम्प्रभुता की विवेचना करते हुए बोदां, हॉब्स, हीगल, आस्टिन आदि विद्वानों द्वारा सम्प्रभुता की अद्वैतवादिता का प्रतिपादन किया गया है। जिसका तात्पर्य है कि प्रत्येक राज्य में एक ही सम्प्रभुता होती है, सभी व्यक्ति और समुदाय उसके अधीन होते हैं और यह सर्वोच्च सत्ता राज्य की सत्ता होती है. इस धारणा के अनुसार राज्य की यह शक्ति मौलिक, स्थायी, सर्वव्यापी तथा अविभाजनीय होती है और मानव-जीवन के सभी पहलुओं का नियमन और नियन्त्रण राज्य के द्वारा ही किया जा सकता है। सम्प्रभुता की अद्वैतवादिता की इस धारणा के विरुद्ध जिस विचारधारा का उदय हुआ, उसे हम सम्प्रभुता का बहुलवादी सिद्धान्त या बहुलवाद कहते हैं। इस प्रकार बहुलवाद को सम्प्रभुता की अद्वैतवादी धारणा के विरुद्ध एक ऐसी प्रतिक्रिया कहा जा सकता है जो यद्यपि राज्य के अस्तित्व को बनाये रखना चाहती है किन्तु इस बात को अस्वीकार करती है कि एकमात्र राज्य में ही समस्त सर्वोच्च सत्ता निहित होती है।

बहुलवादी विचारधारा के अनुसार राजसत्ता एकमात्र सम्प्रभु और निरकुंश नहीं है। समाज में विद्यमान अन्य अनेक समुदायों का अस्तित्व राजसत्ता को सीमित कर देता है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केवल राज्य की ही सदस्यता स्वीकार नहीं करता, वरन् राज्य के साथ-साथ दूसरे अनेक समुदायों और संघों की सदस्यता भी स्वीकार करता है। ऐसी स्थिति में एकमात्र राज्य को सम्पूर्ण सत्ता प्रदान नहीं की जा सकती है। विद्वान् हैसियो (Hasio) ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "बहुलवादी राज्य एक ऐसा राज्य है, जिसमें सत्ता का केवल एक ही स्रोत नहीं है यह विभिन्न क्षेत्रों में विभाजनीय है और इसे विभाजित किया जाना चाहिए।"[1]

बहुलवाद को समझने के लिए कुछ बहुलवादी विचारकों के कथनों का उल्लेख किया जा सकता है, जो निम्न प्रकार हैं :

---

1 "The pluralistic state is simply a state in which there exists no single source of authority—it is divisible into parts and should be divided."
—Hasio, *Political Pluralism*, p. 1.

लिण्डसे ने लिखा है कि "यदि हम तथ्यों का अवलोकन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रभुता के सिद्धान्त का अन्त हो चुका है।"[1]

बार्कर का मत है कि "कोई भी राजनीतिक सिद्धान्त इतना निष्फल नहीं हुआ है जितना कि प्रभुत्वसम्पन्न राज्य का सिद्धान्त निष्फल हो चुका है।"

लॉस्की के शब्दों मे "समाज के ढाँचे को पूर्ण होने के लिए उसे संघात्मक होना चाहिए।"[2]

गैटल ने बहुलवाद की विस्तार से व्याख्या की है। उसके अनुसार, बहुलवादी इस बात को मान्यता नहीं देते कि राज्य एक सर्वोच्च समुदाय है। वे अन्य समुदायों को भी उसी आधार पर आवश्यक एव प्राकृतिक मानते हैं। उनका विचार है कि वे सभी समुदाय वैसे ही महत्वपूर्ण है जैसे कि राज्य। इन समुदायों का प्रादुर्भाव स्वत एव स्वभावत होता है, वे राज्य द्वारा निर्मित नही होते, और न वे अपने अस्तित्व के लिए उसकी इच्छा पर ही अवलम्बित होते हैं। राज्य की तरह वे भी अपने क्षेत्रों मे सर्वोपरि हैं। वे इस बात को भी नहीं मानते कि राज्य अपनी शक्ति के कारण कुछ सर्वोच्च अधिकार रख सकता है। वे उन सभी समुदायों के समान अधिकारों में विश्वास करते हैं जो अपने सदस्यों को एक सूत्र मे पिरोकर उनके लिए महान कार्य करते हैं। अत प्रभुता न केवल राज्य की धरोहर है अपितु सभी समुदाय उसका उपभोग करते हैं। राज्य अविभाज्य सर्वोच्च और असीम शक्तिसम्पन्न नहीं है। उसका सर्वोच्च सत्ता का दावा आज भी जटिल दुनिया की वास्तविक बातों के अनुरूप नहीं है।"

बहुलवाद के विकास मे सहायक तत्व

17वी, 18वी और 19वीं सदी मे विश्व के अधिकांश राज्यो द्वारा प्रभुसत्ता के अनियन्त्रित रूप को स्वीकार कर लिया गया था, लेकिन प्रभुसत्ता सम्बन्धी उनकी यह मान्यता बीसवीं सदी की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल न थी। अत अनियन्त्रित प्रभुसत्ता का सिद्धान्त एक अव्यावहारिक तथा मृत सिद्धान्त बन गया और उसके स्थान पर जीवन की बहुमुखी आवश्यकताओं पर आधारित बहुलवादी विचारधारा का जन्म हुआ। बहुलवादी विचारधारा के विकास में सहायक तत्व निम्नलिखित रहे हैं

(1) हीगलवादी राज्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया—आदर्शवादी विचारधारा को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाते हुए हीगल ने राज्य को पृथ्वी पर परमेश्वर की अवधारणा के नाम से सम्बोधित किया। हीगल एकमात्र राज्य को ही नैतिक और आदर्शात्मक

---

1 "If we look at the facts, it is clear enough that theory of sovereign state has broken down."

—Lindsay, *The Personality of Association*, Harward Law.

2 "The structure of social organization, if it wants to be adequate, must be federal in character." —*Laski*

सत्य मानता है और राज्य की निरंकुश एवं असीमित प्रभुसत्ता का उपासक होने के कारण अन्य समुदायों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। हीगल की इस चरमतावादी धारणा की प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था और इस प्रतिक्रिया का उदय बहुलवाद के रूप में हुआ।

(2) राज्य की अयोग्यता—आधुनिक राज्य की अयोग्यता भी बहुलवाद के विकास का एक कारण है। वर्तमान समय में राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ता जा रहा है और केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति अधिकाधिक बल प्राप्त करती जा रही है। लेकिन व्यवहार में अनेक बार राज्य को सर्वशक्तिमान बनाने का यह प्रयत्न राज्य की अयोग्यता में परिणत हो जाता है। प्रो वार्ड (Ward) के सुन्दर शब्दों में, "इससे केन्द्र में पक्षाघात या लकवा तथा दूरवर्ती सिरों पर रक्तहीनता या पाण्डुरोग हो जाता है।"[1]

(3) मध्यकालीन संघवादी विचारकों का प्रभाव—बहुलवाद के विकास में जर्मन लेखक गियर्क तथा ब्रिटिश लेखक मेटलैण्ड और फिगिस आदि विद्वानों के विचारों ने भी एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में कार्य किया है।

(4) अन्तरराष्ट्रीय विचारों का क्रमिक विकास—यदि पिछली सदियों में राष्ट्रीयता का विचार प्रमुख रहा है तो वर्तमान समय को अन्तरराष्ट्रीयता का युग कहा जा सकता है। राष्ट्रीय राज्यों व राष्ट्रीयता की भावना के उदय ने जिस प्रकार राज्य की असीमित सम्प्रभुता का विकास किया, उसी प्रकार अन्तरराष्ट्रवादी भावना के विकास ने प्रभुता के बहुलवादी विचार को प्रोत्साहित किया।

(5) विधिशास्त्रीय तत्वों का विकास—आधुनिक काल में अनेक क्षेत्रों में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि विधि राज्य का आदेश मात्र नहीं, वरन् उससे ऊपर की एक वस्तु है। डिग्विट और क्रैब जैसे विधिशास्त्रियों के इस प्रतिपादन से प्रभुता की एकत्ववादी धारणा को धक्का लगा और बहुलवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ।

प्रमुख बहुलवादी विचारक—उपर्युक्त तत्वों से प्रभावित होकर अनेक लेखकों और विचारकों द्वारा बहुलवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया गया जिसमें गियर्क, मेटलैण्ड, फिगिस, डिग्विट, क्रैब, पाल बॉंकूर, ए डी लिण्डसे, दुरखीम, मिस फॉलेट, अर्नेस्ट बार्कर, जी डी एच कोल और हैरॉल्ड लास्की का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।

राज्य की प्रभुसत्ता पर बहुलवादी आक्षेप

बहुलवादी विचारक अनेक आधारों पर सम्प्रभुता के परम्परागत सिद्धान्त की आलोचना करते हुए अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। उनके द्वारा सम्प्रभुता के

---

1 "There is apoplexy at the centre and anaemia at the extremities."

—Prof. Ward

एकत्ववादी या परम्परागत सिद्धान्त पर प्रमुख रूप से निम्नलिखित आक्षेप किये गये हैं

(1) समाज की वर्तमान स्थिति और रचना के आधार पर—बहुलवादियों के अनुसार वर्तमान समय में समाज की स्थिति इस प्रकार की है कि अकेला राज्य मानवीय जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ है। व्यक्ति अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आर्थिक अनेक प्रकार के समुदाय बनाता है और मनुष्य के बहुमुखी विकास के लिए यह आवश्यक है कि मानव जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्धित समुदायों को राज्य एवं अन्य समुदायों के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रहकर कार्य करने का अवसर मिले। लॉस्की के शब्दों में, **"आवश्यकताओं की दृष्टि से पूर्ण होने के लिए सामाजिक संगठन के ढाँचे का स्वरूप संघीय होना चाहिए।"**

आज की स्थिति में अन्य समुदाय भी राज्य के समान ही और कुछ अंशों में तो उससे भी अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली हैं। राज्य द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में कार्य किया जाता है और अन्य समुदायों द्वारा सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और मनोविनोद सम्बन्धी जीवन के विविध पक्षों के सम्बन्ध में कार्य किया जाता है तथा वर्तमान समय में सामूहिक रूप से ये सभी समुदाय राज्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं। कोल के शब्दों में, **"सामूहिक रूप से इन सभी समुदायों के कार्य राज्य की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ जाते हैं।"**[1] अन्य समुदाय इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं कि इनमें से अधिकांश की उत्पत्ति राज्य के भी पूर्व हुई है।

व्यवहार में अन्य समुदाय राज्य की अपेक्षा अधिक शक्ति रखते हैं और इन समुदायों ने अनेक बार राज्य को झुकने के लिए बाध्य किया है। प्रथम महायुद्ध में वेल्स की खानों के श्रमिकों ने ब्रिटिश सरकार को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वह अपने 'शस्त्रास्त्र अधिनियम' (Munitions Act) वापस ले ले। अमरीका के रेलवे श्रमिक संघों ने अमरीकन सरकार को विवश कर ऐसा कानून बनाया कि उनसे 8 घण्टे से अधिक काम न लिया जा सके।

उपर्युक्त बातों के आधार पर बहुलवादी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि आज के समाज का संगठन एकात्मक न होकर बहुलवादी है और ऑस्टिन आदि विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता का एकत्ववादी सिद्धान्त आज की परिस्थितियों में कोई औचित्य नहीं रखता।

(2) ऐतिहासिक दृष्टिकोण के आधार पर—बहुलवादियों के अनुसार इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऑस्टिन के पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की सत्ता कभी नहीं रही। प्राचीन काल में भारत अथवा यूनान में इस प्रकार का कोई राज्य नहीं था।

---

1 "The organised corporate action of these associations greatly exceeds that of the state." —*G. D. H. Cole*

अरस्तू ने यद्यपि राज्य को सब सामाजिक संगठनों में सर्वोच्च बताया था, तथापि उसे कानून से उच्च नहीं समझा जाता था और तत्कालीन राज्य परम्परागत नियमों और रूढ़ियों की अवहेलना भी नहीं करता था। प्राचीन भारत में धर्म का स्थान राजा की आज्ञा से ऊपर था। मध्यकालीन राज्यों पर अनेक प्रकार के धार्मिक और सामाजिक बन्धन थे। प्रभुसत्ता के विचार का प्रादुर्भाव राष्ट्रीय राज्यों के विकास के साथ हुआ है। यह राजाओं के 'दैवी अधिकार सिद्धान्त' से उत्पन्न होने वाले निरकुश शासन का ही परिणाम है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रभुसत्ता का सिद्धान्त राज्य के लिए आवश्यक नहीं है और इस सिद्धान्त का अन्त करके वर्तमान काल के राज्यों को प्राचीन एवं मध्यकालीन राज्यों की भाँति प्रभुसत्ता से शून्य ही बना देना उचित है।

(3) व्यक्ति के विकास के आधार पर—बहुलवादियों के अनुसार सम्प्रभुता का विचार व्यक्ति के विकास में बाधक है क्योंकि यह राज्य को परमसाध्य और व्यक्ति को साधन मात्र बना देता है जो वास्तविक स्थिति के नितान्त विपरीत है। राज्य व्यक्ति की प्रगति तथा आत्मसन्तुष्टि का साधन मात्र है और व्यक्ति की यह विकास तथा सन्तुष्टि बहुमुखी होती है। ऐसी स्थिति में राज्य और किन्हीं अन्य समुदायों के बीच विरोध उत्पन्न होने पर व्यक्ति को अपने विवेक के अनुसार अपनी भक्ति निर्धारित करने का अधिकार होना चाहिए जो केवल बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। लॉस्की के शब्दों में, 'मैं केवल उसी राज्य के प्रति राजभक्ति और निष्ठा रखता हूँ, उसी के आदेशों का पालन करता हूँ, जिस राज्य में मेरा नैतिक विकास पर्याप्त रूप से होता है। हमारा प्रथम कर्तव्य अपने अन्तःकरण के प्रति सच्चा रहना है।"[1]

(4) लोकतन्त्र के आधार पर—सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य में नहीं वरन् बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। वर्तमान लोकतन्त्र में शासन पर जनता का कोई नियन्त्रण नहीं है। वास्तविक शासन नौकरशाही द्वारा किया जाता है जो व्यक्ति के विकास में बाधक है और लोकतन्त्र का उपहास है। सच्चा लोकतन्त्र तो व्यक्ति के विकास में सहायक होता है तथा इसका अभिप्राय व्यक्ति द्वारा शासन के सभी कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेना है। यह केवल बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है जो विकेन्द्रीकरण और मानवीय जीवन के विविध पक्षों के उचित महत्त्व पर आधारित है।

(5) कानून के स्वरूप के आधार पर—ऑस्टिन ने कानून का एकमात्र स्रोत राज्य को माना था और यह कहा था कि कानून प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य का आदेश मात्र होता है। किन्तु सर हेनरी मेन, डिग्विट और क्रैब, आदि ने कानून के स्वरूप की गम्भीर मीमांसा करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि राज्य न तो

---

1 Laski, *Authority in the Modern State*, p. 56.

कानून का निर्माता है और न ही उससे उच्च है। इन विचारकों के अनुसार राज्य कानून का निर्माता नहीं, अपितु उनका अन्वेषक या घोषणा करने वाला ही है। डच विद्वान क्रैब के मतानुसार कोई नियम कानून के रूप में इस कारण मान्य नहीं होता है कि वह आदेश है या राज्य ने उसे बनाया है। उदाहरणार्थ, चोरी या मानव हत्या इसलिए अपराध नहीं है कि राज्य ने अपने आदेश द्वारा ऐसा निश्चित किया है, अपितु इसलिए अपराध है कि समाज की नैतिक बुद्धि उसे अनुचित समझती है। अतः राज्य को कानून का निर्माता और कानून से उच्च समझना सर्वथा भ्रान्त कल्पना है और इसके आधार पर राज्य को प्रभुसत्ता सम्पन्न मानना यथार्थ एवं सत्य नहीं है।

(6) अन्तरराष्ट्रीयता के आधार पर—अन्तरराष्ट्रीयता के आधार पर सम्प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना दो प्रकार से की जा सकती है। कुछ लेखकों का विचार है कि अन्तरराष्ट्रीय कानून के विकास के परिणामस्वरूप बाहरी मामलों में राज्य की सम्प्रभुता नष्ट हो गयी है। इसके अतिरिक्त बहुलवादी यह भी कहते हैं कि सम्प्रभुता का सिद्धान्त ही संघर्षों एवं युद्धों का जनक है और विश्वशान्ति बनाये रखने के लिए सम्प्रभुता के सिद्धान्त का त्याग एक अनिवार्य आवश्यकता है। लॉस्की सम्प्रभुता की धारणा को अन्तरराष्ट्रीय शान्ति के लिए बहुत अधिक भयावह मानता है। उसके शब्दों में, "असीमित एवं अनुत्तरदायी सम्प्रभुता का सिद्धान्त मानवता के हितों से मेल नहीं खाता और जिस प्रकार राजाओं के दैवी अधिकार समाप्त हो गये वैसे ही राज्य की सम्प्रभुता भी समाप्त हो जायेगी। यदि सम्प्रभुता का सारा विचार ही सदैव के लिए समाप्त कर दिया जाय तो राजनीति विज्ञान के प्रति यह एक बहुत बड़ी सेवा होगी।"[1]

बहुलवाद के प्रमुख सिद्धान्त

साधारण भाषा में एक स्थान पर अनेक की प्रतिष्ठा ही बहुलवाद है। इस प्रकार राजनीतिक बहुलवाद वह मत और सिद्धान्त है जिसके अनुसार समाज में एक सम्प्रभुतासम्पन्न सर्वोच्च सत्ताधारी राज्य के स्थान पर अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र व राज्य के समकक्ष अनेक समुदायों के अस्तित्व का प्रतिपादन किया जाता है। ये समुदाय राज्य के अधीन न होकर उसके समकक्ष होने चाहिए, और इस प्रकार समाज का संगठन प्रभुता की दृष्टि से एकात्मक न होकर संघात्मक होना चाहिए। अन्य विचारधाराओं की भाँति बहुलवाद के भी कुछ मौलिक सिद्धान्त हैं, जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जाता है

---

1 'Unlimited and irresponsible sovereignty is incompatible with the interests of the humanity The sovereignty of the state will pass as the divine rights of kings had its days It will be of lasting benefit to political science, if the whole concept of sovereignty is abandond "

—Laski, *Grammar of Politics*.

(1) राज्य केवल एक समुदाय है—आदर्शवादियों की भाँति बहुलवादी राज्य को सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान तथा नैतिक सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं करते उनके अनुमान से तो समाज की वर्तमान स्थिति और रचना के आधार पर राज्य अन्य समुदायों की भाँति ही एक समुदाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मानवीय जीवन की आवश्यकताएँ बहुमुखी होती हैं और राज्य मनुष्य की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। इसी के कारण राज्य के अतिरिक्त अन्य समुदायों का भी उपयोगी अस्तित्व है। राज्य का कार्य मुख्यतया जीवन के राजनीतिक पहलू से सम्बन्धित है और बहुलवादियों के अनुसार उसे अपने ही क्षेत्र तक सीमित रहना चाहिए, जिससे अन्य समुदाय स्वतन्त्र रूप से व्यक्ति के जीवन के सभी पहलुओं का यथेष्ट विकास कर सकें। इस प्रकार बहुलवाद इस बात का प्रतिपादन करता है कि अन्य समुदाय राज्य के ही समकक्ष हैं और राज्य के समान ही ये समुदाय भी अपने क्षेत्रों में पूर्ण शक्तिशाली होने चाहिए। लॉस्की के शब्दों में, समुदायों के अनेक प्रकारों में से राज्य भी एक है और अन्य समुदायों की तुलना में यह व्यक्ति की भक्ति का उच्चतर अधिकारी नहीं है।"

(2) बहुलवादी राज्य और समाज में अन्तर करते हैं आदर्शवादियों की भाँति बहुलवादी राज्य और समाज को एक नहीं मानते हैं। वे उन्हें विभिन्न इकाइयों के रूप में स्वीकार करते हैं। बहुलवादियों के अनुसार फासीवादी विचारकों का यह कथन गलत है कि "सभी कुछ राज्य के अन्तर्गत है और राज्य के बाहर तथा राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं है।" बहुलवाद राज्य को अन्य समुदायों के समान ही एक समुदाय मानता है और समाज को राज्य की तुलना में बहुत अधिक व्यापक संगठन बताता है। राज्य समाज का एक ऐसा अंगमात्र है जो उद्देश्य और कार्यक्षेत्र की दृष्टि से समाज का सहगामी नहीं हो सकता।

(3) बहुलवादी नियन्त्रित राजसत्ता में विश्वास करते हैं बहुलवाद ऑस्टिन आदि के असीमित सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। यह असीमित सम्प्रभुता का खण्डन करता है और आन्तरिक व बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में सम्प्रभुता को सीमित मानता है। आन्तरिक क्षेत्र में राज्य की शक्ति स्वयं अपनी प्रकृति तथा नागरिकों एवं समुदायों के अधिकारों से सीमित होती है तथा बाहरी क्षेत्र में राज्य की शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्य राष्ट्रों के अधिकारों से सीमित है। ब्लन्शली ने उचित ही कहा है, "राज्य सर्वसत्तावान नहीं है क्योंकि वह बाहरी क्षेत्र में अन्य राज्यों के अधिकारों से सीमित है और आन्तरिक क्षेत्र में वह स्वयं अपनी प्रकृति तथा अपने नागरिकों के अधिकारों से सीमित है।"[1] इस प्रकार बहुलवाद आन्तरिक और बाहरी—दोनों ही क्षेत्रों में राज्य की निरंकुश शक्ति का विरोधी है।

---

[1] "The state as a whole is not almighty for it is limited externally by the rights of other states and internally by its own nature and by the rights of its individual members" —*Bluntschli*

(4) **बहुलवाद के अनुसार कानून राज्य से स्वतन्त्र और उच्च है**—बहुलवादी सम्प्रभुता के परम्परागत प्रतिपादको के विपरीत कानून को राज्य से स्वतन्त्र और उच्च मानते हैं। इस सम्बन्ध मे फ्रांसीसी विचारक डिग्विट और डच विचारक क्रैब के विचार उल्लेखनीय हैं। डिग्विट (Dugvit) के अनुसार, विधि राजनीतिक संगठन से स्वतन्त्र, उससे श्रेष्ठ और पूर्वकालिक होती है। विधि के बिना सामाजिक एकता या संगठन या मनुष्यो का एक-दूसरे पर निर्भर करना सम्भव नही है। राज्य का व्यक्तित्व एक निरी कल्पना मात्र है। विधि राज्य को सीमित करती है, राज्य विधि को सीमित नही करता। क्रैब ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। क्रैब के शब्दो मे, "राज्य विधि का नहीं वरन् विधि राज्य का निर्माण करती है।[1] इस प्रकार डिग्विट और क्रैब जैसे बहुलवादी राजसत्ता से ऊपर विधि की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

(5) **बहुलवाद विकेन्द्रीकरण में विश्वास करता है**—बहुलवाद आदर्शवादी दर्शन की भांति केन्द्रित राज्य मे विश्वास नही करता है। वरन् यह विकेन्द्रीकरण को ही राज्य की वास्तविक उपयोगिता का आधार मानता है। बहुलवाद के अनुसार, स्थानीय समस्याएँ भी कम महत्वपूर्ण नही हैं और इस स्थानीय समस्याओ का समाधान शक्ति के केन्द्रीयकरण की पद्धति से नही किया जा सकता है। बहुलवादियो के विचार से राज्य को चाहिए कि अपनी केन्द्रित सत्ता को व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के आधार पर विकेन्द्रित करके अन्य समुदायो मे विभाजित कर दे और इस प्रकार एक संघात्मक सामाजिक संगठन की स्थापना की जाय। इस प्रकार का संघात्मक सामाजिक संगठन ही मानवीय जीवन की बहिर्मुखी आवश्यकताओ को पूरा कर सकता है।

(6) **बहुलवाद राज्य के अस्तित्व का विरोधी नहीं है**—बहुलवादी राज्य की निरकुश सत्ता का तो खण्डन करते हैं, किन्तु अराजकतावाद या साम्यवाद की भांति वे उसका समूल नष्ट करने के पक्ष मे नही हैं। राज्य का अन्त करने के स्थान पर वे राज्य की शक्तियो का सीमित करना चाहते हैं। बहुलवादियो के अनुसार सम्प्रभुता का अद्वैतवादी सिद्धान्त कोरी मूर्खता' के अतिरिक्त और कुछ नही है। एक बहुलवादी समाज मे राज्य का स्वरूप तथा महत्व वैसा ही होगा, जैसा कि अन्य संघो तथा संस्थाओ का। बहुलवादी अन्य संघो की अपेक्षा राज्य को प्राथमिकता देने के लिए तो तैयार हैं, क्योंकि राज्य के द्वारा संघो के पारस्परिक विवादो को सुलझाने के लिए मध्यस्थ के रूप मे कार्य किया जायगा किन्तु वे राज्य को उस उग्र तथा निरकुश रूप मे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं जिसका प्रतिपादन 'एकत्ववादी विचारकों' (monistic thinkers) के द्वारा किया गया है। राज्य के सम्बन्ध मे इस बहुलवादी दृष्टिकोण के कारण ही कहा जाता है कि "बहुलवादी एक ओर अराजकता तथा

---

1 "It is not the state which creates the law but on the other hand, it is the law, which creates the state" —*Krabbe*

दूसरी ओर अद्वैतवाद—इन दोनों के बीच मध्य मार्ग अपनाने का प्रयत्न करता है।"

(7) बहुलवाद एक जनतन्त्रात्मक विचारधारा है—बहुलवाद राज्य के वर्तमान रूप का विरोधी होने पर भी जनतन्त्रात्मक प्रणाली का विरोधी नहीं है। बहुलवाद अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कभी भी हिंसात्मक प्रणाली का प्रयोग स्वीकार नहीं करता है। आरम्भ से लेकर अन्त तक उसका विश्वास व्यावसायिक प्रतिनिधित्व तथा गुप्त मतदान में है। वास्तव में, बहुलवाद का उद्देश्य तो सर्वाधिकारवादी राज्य के स्थान पर एक ऐसे जनतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना करना है, जिसमें शासन व्यवस्था का संगठन नीचे से ऊपर की ओर हो। *प्रभुसत्ता के अन्य संघों में समान वितरण को वे जनतन्त्रात्मक प्रणाली का प्रतीक मानते हैं।*

इस सबके अतिरिक्त बहुलवादी सिद्धांत व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित है और यह राज्य के प्रसंग में सामान्य इच्छा के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता है।

बहुलवाद की आलोचना

आलोचकों द्वारा बहुलवाद की कई दृष्टिकोणों से आलोचना की गयी है, जिन्हें संक्षेप में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है

(1) बहुलवाद का तार्किक निष्कर्ष अराजकता है—बहुलवाद के विरुद्ध आलोचना का सबसे प्रमुख आधार यह है कि बहुलवादी विचारधारा को स्वीकार करने का स्वाभाविक परिणाम अराजकता की स्थिति होगा। यदि प्रत्येक समुदाय को राज्य के समान मान लिया जाय और उन्हें सम्प्रभुता का आनुपातिक अधिकार भी समर्पित कर दिया जाय तो समाज में कानूनविहीन स्थिति उत्पन्न हो जायगी। बहुलवादी विचारक भी इस तथ्य से परिचित हैं। इसी कारण सम्प्रभुता समुदायों में विभाजन करने के बाद भी बहुलवाद राज्य को समाज के विभिन्न समुदायों में समन्वय और सामंजस्य स्थापित करने की शक्ति प्रदान करता है।

किन्तु बहुलवादी विचारक इस बात को भूल जाते हैं कि विभिन्न समुदायों में समन्वय और सन्तुलन स्थापित करने का कार्य राज्य कुछ विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत ही कर सकता है जिन्हें स्वीकार करने के लिए बहुलवादी तैयार नहीं हैं। यदि राज्य को विभिन्न समुदायों में सन्तुलन और सामंजस्य स्थापित करना हो, तो उसे सम्प्रभुता प्रदान करना आवश्यक हो जाता है और यदि बहुलवादी विचारधारा के अनुसार सम्प्रभुता का विभाजन कर दिया जाय, तो उसका परिणाम अराजकता की स्थिति होगा। गिलक्राइस्ट का कथन है कि "यदि बहुलवाद को तार्किक निष्कर्ष तक ले आया जाय तो इसका अर्थ होगा समाज का विघटन और शान्ति एवं व्यवस्था के स्थान पर विविध समुदायों द्वारा अपनी-अपनी सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए संघर्ष।"[1]

---

1 Gilchrist, *Principles of Political Science*, p. 89.

(2) बहुलवाद कतिपय भ्रामक धारणाओं पर आधारित है—बहुलवाद कुछ मिथ्या धारणाओ पर आधारित है। यह समझना गलत है कि प्रत्येक समुदाय का कार्यक्षेत्र एक दूसरे से सर्वथा पृथक होता है और मानवीय कार्यों को ऐसे विभागो मे विभक्त किया जा सकता है जिसका कि एक-दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध न हो। समाज के वर्तमान सगठन मे विभिन्न हितो और आस्थाओं का पारस्परिक सघर्ष नितान्त स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति मे, यदि समाज मे कोई अन्तिम वैधानिक सत्ता न हो तो विभिन्न समुदायो के पारस्परिक सघर्ष के कारण एक अस्वस्थ वातावरण उत्पन्न हो जायगा, जिसमे मानवीय प्रगति लगभग असम्भव ही हो जायेगी। अत बहुलवादियो का यह समझना असत्य है कि प्रत्येक समुदाय बिना किसी सघर्ष के साधुवत् रूप मे अपने कर्तव्यो को निभाता रहेगा।

(3) सभी समुदाय समान स्तर के नहीं हैं—बहुलवादी विचारधारा के विरुद्ध एक महत्वपूर्ण तर्क यह है कि इस विचारधारा मे समाज के सभी समुदायो को समान स्तर का मान लिया गया है। प्रत्येक समुदाय को राज्य के समान मान लेना बहुलवादियो की एक भारी भूल है। वास्तव मे, राज्य सस्था के अपने विशेष कार्यों के कारण उसकी स्थिति अन्य सभी समुदायो से भिन्न और विशेष होती है। प्रो गानर के शब्दो मे 'विभिन्न श्रेणियों व वर्गो को और एक दूसरे से प्रतियोगिता करने वाले समुदायो को उचित मर्यादा मे रखने का कार्य करके राज्य एक महत्वपूर्ण सेवा करता है। उनके परस्पर विरोधी हितों का निबटारा करने और उनमें सामजस्य स्थापित करने के लिए राज्य एक निर्णायक कार्य करता है।'[1]

(4) बहुलवाद प्रभुत्व के काल्पनिक अद्वैतवादी शत्रु पर आक्रमण करता है—बहुलवाद की आलोचना का एक आधार यह भी है कि बहुलवाद जिस निरकुश प्रभुसत्ता पर आक्रमण करता है, उसका प्रतिपादन हीगल को छोडकर राज्यसत्ता के अन्य किसी भी समर्थक द्वारा नही किया गया है। बोदा, हॉब्स, रूसो, ऑस्टिन, आदि सभी विचारक राज्य की सम्प्रभुता पर प्राकृतिक, नैतिक या व्यावहारिक कुछ न कुछ नियन्त्रण अवश्य ही स्वीकार करते हैं। कोकर (Coker) के अनुसार "इनमें से किसी भी लेखक का यह दावा नहीं था कि प्रभुसत्ता की अवज्ञा करना, उसको चुनौती देना, उसकी आलोचना करना अथवा विरोध करना अवश्यमेव अनैतिक, तर्कहीन, असामाजिक तथा अव्यावहारिक है।'[2] उनके कथन का साराश केवल यही है कि सम्प्रभुता अपने सदृश अन्य किसी शक्ति का अस्तित्व सहन नहीं कर सकती और यह

1 'State renders important service of keeping within proper limits classes and struggles between competing groups and performing the role of a referee or umpire and adjusting or reconciling their conflicting interests "
—Dr Garner, *Political Science and Government.*

2 'None of these writers claimed that to criticise or challenge, to disobey or resist the state authority is necessarily immoral, irrational, anti-social or even impractical,"
—*Coker*

एक अकाट्य सत्य है। इस प्रसंग मे डा आशीर्वादम ने लिखा है कि "बहुलवादी जिस अद्वैतवादी शत्रु पर प्रहार करते हैं, बहुत कुछ सीमा तक यह एक कल्पनात्मक जीव ही है।"[1]

(5) बहुलवाद अन्तर्विरोधों से भरा है—बहुलवाद के विरुद्ध एक गम्भीर बात यह है कि बहुलवादी विचारधारा अन्तर्विरोधो से भरी पडी है। बहुलवादी सैद्धान्तिक रूप में तो राज्य की शक्तियों को कम करके उसे अन्य समुदायो के साथ समता प्रदान करते हैं किन्तु जब व व्यवहार पर आते हैं तो यह स्वीकार करते हैं कि किसी एक सस्था को सम्प्रभु बनाये बिना राजनीतिक समाज की कल्पना नही की जा सकती है। इस प्रकार वे परोक्ष रूप म राजकीय सम्प्रभुता को स्वीकार कर लेते हैं, यह बात सभी बहुलवादी विचारकों म देखी जा सकती है।

गियर्क ने राज्य की विशेष स्थिति स्वीकार करते हुए कहा है कि उसकी इच्छा सम्पूर्ण जनहित का प्रतिनिधित्व करती है और राज्य अन्य सामाजिक सस्थाओ से अपनी स्थिति की उच्चता के कारण भिन्न है। बार्कर तथा लॉस्की भी यह मानते हैं कि समूहो का सगठन राज्य द्वारा ही निर्धारित होगा। लॉस्की ने कहा है, "कानूनी दृष्टि से कोई इसे अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्रत्येक राज्य मे कोई ऐसा अंग होता है जिसकी सत्ता असीम होती है और विभिन्न सस्थाओं मे सरकार सबसे महत्त्वपूर्ण है।"[2] मिस फॉलेट राज्य को एकत्व का केन्द्र मानती हैं। पॉल बाकोर (Paul Boncoor) ने राज्य को राष्ट्रीय एकता तथा सामान्य हितो का एकमात्र प्रतिनिधि माना है।[3] फिगिस का भी कथन है कि राज्य 'समाजों का समाज' (Society of Societies) है और उसे समन्वय तथा एकीकरण की एजेन्सी के रूप मे विशिष्ट कार्य तथा उच्च सत्ता प्राप्त है।[4] राज्य की दमनकारी सत्ता अन्य समुदायों का नियमन करने और यह देखने के लिए आवश्यक है कि कोई समुदाय न्याय की सीमा से बाहर नहीं जाता। इस प्रकार बहुलवादी विचारधारा अन्तर्विरोधियों से पूर्ण है और बहुलवादियों की यह कहकर आलोचना की जाती है कि 'वे सम्प्रभुता को सामने के द्वार से बाहर निकालकर पीछे के द्वार से वापस ले आते हैं।" कोकर ने इसे 'मनोरजक अन्तर्विरोध' की सज्ञा दी है।

(6) बहुलवादी व्यवस्था में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं होगा—बहुलवादियों की यह भ्रान्ति है कि अन्य समुदायों पर से राज्य का नियन्त्रण हटा लेने पर व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु स्वतन्त्रतापूर्वक वातावरण उपलब्ध होगा, वस्तुत ऐसी बात नही है। जो लोग समुदायों की स्वतन्त्रता के नाम पर राज्य के नियन्त्रण का विरोध

---

1 "The monistic theory whom the pluralist attack is to a large extent an imaginary figure" —Dr. Ashirvatham

2 Laski, *Foundation of Sovereignty*, p. 236.

3 Coker, *Recent Political Thought*, p. 512.

4 *Ibid*

करते हैं, वे अपने हाथ मे सत्ता आने पर व्यक्ति के अधिकारो का हनन करने मे राज्य से भी आगे बढ सकते हैं। मध्य युग मे चर्च के अपने से भिन्न मत रखने वाले व्यक्तियो का भीषण दमन किया था, और ब्रूनो तथा गैलीलियो को अपने ही देशवासियो के हाथो भीषण यातनाएँ सहन करनी पडी थी। कई परिस्थितियो मे इन समुदायों का अपने सदस्यों पर नियन्त्रण वर्तमान राज्य की अपेक्षा अधिक कठोर तथा अत्याचार पूर्ण हो सकता है। इस सम्बन्ध में जिमर्न हमे चेतावनी देते हुए कहते हैं कि "आज जो व्यक्ति राज्य की निरकुश सत्ता के विरुद्ध आवाज उठा रहे हैं वे साधारणत यह भूल जाते हैं कि पडौसियो के अत्याचार से अधिक भीषण अत्याचार कोई नहीं हो सकते। समुदाय जितना छोटा होगा आपके जीवन और कार्यों पर उतना ही कठोर नियन्त्रण होगा।"[1] इस सम्बन्ध मे डब्लू वाई ईलियट (W Y Elliott) ने 'राजनीति में व्यावहारिक विप्लव (Pragmatic Revolt in Politics) मे यह विचार व्यक्त किया है कि बहुलवादी समाज म राज्य रूपी दानव का स्थान समुदाय रूपी दानव ले लेंगे।

(7) राज्य सघों का सघ नहीं हो सकता—आलोचको द्वारा लिण्डसे, बार्कर और अन्य बहुलवादियो के इस कथन की कटु आलोचना की गयी है कि राज्य समुदायो का एक समुदाय है। वस्तुत राज्य और अन्य समुदायो की स्थिति मे आधारभूत अन्तर है। जबकि अन्य समुदायो का सम्बन्ध मनुष्य के किसी विशेष हित के साथ होता है राज्य का सम्बन्ध उनके सर्वमान्य या व्यापक हितों के साथ होता है। इसी कारण राज्य के अतिरिक्त अन्य कोई समुदाय मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतीक होने का दावा नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में बहुलवादी विचारक मिस फॉलेट (Miss Follett) ने भी लिखा है कि "राज्य का निर्माण समुदायों से नहीं हो सकता, क्योंकि एक या अनेक समुदाय मनुष्य की पूर्णता को अपने में नहीं सम्मिलित कर सकता और एक आदर्श राज्य व्यक्ति की पूर्णता की माँग करता है। मेरी नागरिकता एक व्यावसायिक सघ की सदस्यता से कहीं बडी वस्तु है। राजनीति मे एक पूर्ण मनुष्य की आवश्यकता होती है मेरी आत्मा का निवास राज्य मे ही है।"[2]

---

[1] "Those who talk of state absolutism are ignoring the simple truth that there is no tyranny like the tyranny of near neighbours The smaller the group the tighter the strangle hold over your life and activities"
—A E Zimmern (Quoted from Coker s, *Recent Political Thought*, p 517)

[2] "The state cannot be composed of groups because no group, nor any number of groups contain the whole of me, my citizenship is something bigger than my membership, of any vocational group we want the whole man in politics The home of my soul is in the State" —*Miss Follett*

(8) बहुलवाद देशभक्ति विरोधी है—प्रभुसत्ता तथा राज्य के महत्व को कम करने तथा अपनी विचारधारा में अन्तरराष्ट्रीय होने के कारण बहुलवाद नागरिकों की देशभक्ति की भावना का विरोध करता है जिसे उचित और व्यावहारिक नहीं कहा जा सकता। राज्यसत्ता के विरुद्ध चाहे कुछ भी क्यों न कहा जाय और चाहे अन्तरराष्ट्रीय विचारकों का कितना ही महत्व माना जाय, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान समय के राज्यों में देशभक्ति का अपना स्थान और महत्व है। इस सदी के दो विश्वयुद्धों ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि देशभक्ति की भावना इस समय तक भी अजेय है—ऐसी स्थिति में अन्तरराष्ट्रीय प्रेम के इन्द्रजाल में फँसकर देशभक्ति का विरोध करना बहुलवाद की एक बड़ी भूल है।

(9) बहुलवाद का कानून सम्बन्धी विचार गलत है—बहुलवाद की आलोचना इस दृष्टि से भी की जाती है कि डिग्विट और क्रैब जैसे बहुलवादी दार्शनिकों का कानून सम्बन्धी विचार असत्य है। ये दार्शनिक कानून को राजकीय सत्ता से स्वतन्त्र, उच्चतर तथा अधिक प्राचीन मानते हैं, किन्तु कानून को राज्य के व्यक्तित्व से उच्च मानना सही नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि राज्य का आदेश मात्र होने से कोई नियम कानून के रूप में मान्य नहीं होता, किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि कोई भी नियम समाज में चाहे कितना भी मान्य क्यों न हो, राजकीय स्वीकृति के अभाव में उसे कानूनी मान्यता प्राप्त नहीं होती है। इस प्रकार कानून को सम्प्रभु सत्ता की आज्ञा कहा जा सकता है।

बहुलवाद का महत्व

राजसत्ता के खण्डित स्वरूप तथा संघों के महत्व का एक अतिरंजित चित्र प्रस्तुत करने पर भी बहुलवादी दर्शन में सत्य का बहुत कुछ अंश है। गैटल के शब्दों में, "बहुलवाद कठोर और सैद्धान्तिक विधानवादिता तथा ऑस्टिन के सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विरुद्ध एक सामयिक और स्वागत योग्य प्रतिक्रिया है।"[1]

बहुलवाद अराजनीतिक संघों के बढ़ते हुए महत्व पर जोर देता है, इन समुदायों के उचित कार्यक्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप के प्रति सचेत करता है और इस बात का प्रतिपादन करता है कि राज्य के द्वारा न केवल इन समुदायों को मान्यता प्रदान की जानी चाहिए वरन् इन समुदायों को अपने कार्यक्षेत्र में बहुत अधिक सीमा तक स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए। वर्तमान समय में मानव जीवन की बहुर्मुखी आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए बहुलवाद के इस विचार को प्रशंसनीय कहा जा सकता है।

---

1 "A welcome and timely protest against the rigid and dogmatic legalism and the Austinian theory of Sovereignty." —Gettell

उचित रूप में बहुलवाद के इस विचार को स्वीकार कर लेने से न केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास मे सहायता मिलेगी वरन् राज्य की कार्यक्षमता मे भी आवश्यक रूप से वृद्धि होगी। मिस फॉलेट ने बहुलवाद के गुणों के सम्बन्ध में लिखा है कि "बहुलवादी वर्तमान राज्य की सर्वोच्चता के अधिकार को नष्ट करते हैं। वे संघों के महत्व को स्वीकार करते हैं और उन्हें मान्यता प्रदान करने व अपने कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में स्वायत्तता देने की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं। वे स्थानीय जीवन को पुनर्स्थापित करने के पक्ष में हैं।"[1]

निष्कर्ष—सम्प्रभु राज्य के विरुद्ध एक सामयिक प्रतिक्रिया होते हुए भी बहुलवादी विचारधारा को स्वीकार नहीं किया जा सकता। मैरियम और बार्न्स (Merriam and Barnes) ने अपनी पुस्तक *'History of Political Thought in Recent Times*, में लिखा है कि, "बहुलवादियों के विरोध के बावजूद न तो राज्य की सम्प्रभुता के सिद्धान्त का त्याग किया गया है और न ही इसका त्याग किया जा सकता है।" इस सम्बन्ध मे डॉ आशीर्वादम ने बहुत ही सन्तुलित दृष्टिकोण को अपनाते हुए लिखा है कि "एक ऐसे सिद्धान्त के रूप मे जो सम्प्रभुता के परम्परागत विचारों की ज्यादतियों को ठीक करता है और जिसकी कमियों को पूरा करता है बहुलवाद एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। पर जब वह सम्प्रभुता के सिद्धान्त को उखाड फेंकने का प्रयत्न करता है तब यदि व्यर्थ नहीं तो खतरनाक अवश्य हो जाता है।"

वास्तव में, बहुलवादी आलोचना राज्य के समन्वयकारी रूप की आलोचना होने की अपेक्षा, राज्य के वर्तमान सामाजिक ढाँचे की आलोचना अधिक है। ऐसी स्थिति मे बार्कर सेबाइन के इन शब्दों का प्रयोग ही उचित है कि "मैं यथासम्भव एकत्ववादी होने का अधिकार सुरक्षित रखता हूँ, किन्तु जहाँ आवश्यक हो बहुलवादी बनने को तैयार हूँ।"[2]

प्रश्न

1. सम्प्रभुता की परिभाषा कीजिए और इसके मुख्य लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
2. राज्य की सम्प्रभुता सम्बन्धी ऑस्टिन के सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

---

1 "The pluralists prick the bubble of the present state's right to supremacy They recognize the value of the groups and point out the necessity of recognizing them and giving them autonomy in their work. They stand for the restoration of local life." —Miss Follett, *The New State*

2 " I reserve the right to be a monist when I can and a pluralist when I must." —*George Sabine*

3. "वकीलों द्वारा माने गये सम्प्रभु के पीछे एक दूसरा सम्प्रभु है जिसके सम्मुख कानूनी सम्प्रभु को नतमस्तक होना पड़ता है।" (डायसी) इस कथन की व्याख्या तथा विवेचना कीजिए।
4. बहुलवाद के सिद्धान्त की व्याख्या तथा विवेचना कीजिए।
5. "यदि सर्वप्रभुत्व सम्पन्नता की समस्त धारणा का परित्याग कर दिया जाय तो वह राजनीति विज्ञान के लिए चिरस्थायी लाभकारी सिद्ध होगा।" (हैराल्ड लास्की) उपर्युक्त कथन को दृष्टि में रखते हुए सम्प्रभुता के सिद्धान्त पर बहुलवादियों के आरोपों की समीक्षा कीजिए।
6. निम्नलिखित में भेद कीजिए
   (अ) वैधानिक तथा राजनीतिक सम्प्रभुता।
   (ब) विधिक और यथार्थ सम्प्रभुता।
7. बहुलवाद की व्याख्या कीजिये। सम्प्रभुता के एकत्ववादी सिद्धान्त के विरुद्ध इसके क्या तर्क हैं?

10

अवधारणाएँ : कानून और न्याय
[CONCEPTS LAW AND JUSTICE]

"राज्य कानून का शिशु और जनक दोनों ही है।"[1] —मैकाइवर

कानून : अर्थ और परिभाषा
(LAW . MEANING AND DEFINITION)

राज्य का लक्ष्य मानव कल्याण की उचित व्यवस्था करना है। किन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति तभी की जा सकती है जबकि राज्य के नागरिक अपने जीवन में आचरण के कुछ सामान्य नियमों का पालन करते हों। अत राज्य अपने नागरिकों के जीवन के संचालन हेतु नियमों का निर्माण करता है, जिनका पालन करना व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है और जिनका पालन न करने पर व्यक्ति दण्ड का भागी होता है। राज्य द्वारा निर्मित और लागू किये जाने वाले इन नियमों को ही कानून कहते हैं।

कानून की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं

ऑक्सफोर्ड शब्दकोष मे कानून की परिभाषा "सत्ता द्वारा आरोपित आचार-व्यवहार के नियम" के रूप मे की गयी है।

प्रसिद्ध विधानशास्त्री आस्टिन के अनुसार, "कानून सम्प्रभु की आज्ञा है।"[2]

पाउण्ड के शब्दों मे, 'न्याय के प्रशासन में जनता और नियमित न्यायालयों द्वारा मान्यता प्राप्त लागू किये गये नियमों को कानून कहते हैं।"

प्रो० सालमण्ड के अनुसार, 'कानून नियमों का वह समूह है जिसे राज्य मान्यता देता है और न्याय व्यवस्था के प्रशासन मे लागू करता है।"

उपर्युक्त परिभाषा की अपेक्षा हालैण्ड की परिभाषा अधिक स्पष्ट है, जिसके अनुसार, "आचरण के उन सामान्य नियमों को कानून कहते हैं, जो मनुष्य के बाहरी

---

[1] "The state is both the child and the parent of law." —*MacIver*

[2] "Law is the command of the sovereign." —*Austin*

आचरण से सम्बन्धित होते हैं और जिन्हें एक निश्चित सत्ता लागू करती है। यह निश्चित सत्ता राजनीतिक क्षेत्र की मानवीय सत्ताओं में सर्वोच्च होती है।"[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि कानून वे नियम हैं जिन्हें राज्य के द्वारा निर्मित या स्वीकृत किया जाता है और जिनका पालन न करने पर राज्य के द्वारा दण्डित किया जाता है।

कानून के तत्व
(ELEMENTS OF LAW)

उपर्युक्त परिभाषाओं की विवेचना के आधार पर कानून के प्रमुख रूप से निम्नलिखित पाँच तत्व बताये जा सकते हैं

(1) कानून के लिए नागरिक समाज का अस्तित्व आवश्यक है क्योंकि नागरिक समाज ही सुव्यवस्थित संगठन है और इस संगठन के संचालन हेतु ही नियमों की आवश्यकता होती है।

(2) कानूनों के निर्माण तथा उनकी क्रियान्विति के लिए सम्प्रभुत्वपूर्ण सत्ता का अस्तित्व आवश्यक है।

(3) कानूनों का सम्बन्ध व्यक्ति के बाहरी आचरण से होता है, उनकी आन्तरिक भावनाओं से नहीं।

(4) नागरिकों को कानून का अनिवार्य रूप से पालन करना होता है और कानून का उल्लंघन करने पर वे राज्य द्वारा दण्ड के भागी होते हैं।

(5) कानून ऐसे होने चाहिए, जिनका पालन न केवल दण्ड के भय से वरन् सामाजिक हित की भावना से किया जाय।

कानून का स्वरूप

कानून के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में राजनीतिक विचारकों में मतभेद है। कुछ विचारक कानून पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करते हैं, तो कुछ ऐतिहासिक, दार्शनिक, तुलनात्मक या समाज वैज्ञानिक दृष्टि से उनकी विवेचना करते हैं। इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से निम्नलिखित विचारधाराओं का अध्ययन आवश्यक है

1. विश्लेषणात्मक विचारधारा (The Analytical School)—इस विचारधारा के प्रमुख समर्थक ऑस्टिन, हॉब्स, हालैण्ड और सिल्वेरो हैं। ये विचारक कानून की उसके यथार्थ स्वरूप के अनुरूप व्याख्या करते हैं और इसमें निहित आधारभूत सिद्धान्तों की आलोचनात्मक विवेचना करते हैं। ये विचारक स्पष्ट परिभाषा और तात्त्विक भेदों पर विशेष ध्यान देते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि कानून राज्य

---

1 "A general rule of action taking cognizance of external acts, enforced by a determinate authority, which authority is human and among human authorities which is permanent in a political society." —Holland

की पूर्ण और एकात्मक सत्ता के आदेश हैं। इसके अनुसार कानून का पालन राज्य की शक्ति के द्वारा ही कराया जाता है।

आलोचना—यद्यपि विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण सीधा और सरल है, किन्तु इसकी कड़ी आलोचना की गयी है। सर्वप्रथम, विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण बहुत कठोर और आवश्यकता से अधिक वैधानिक है। मैकाइवर के शब्दों में, "कानून आदेश नहीं वरन् आदेश के बिलकुल विपरीत है। कानून को आदेश मानने का परिणाम राज्य कार्य में अव्यवस्था होता है।" कानून आदेश से इस रूप में भिन्न है कि आदेश, आदेश देने वाले और प्राप्त करने वाले को एक-दूसरे से पृथक करता है, जबकि कानून विधायक और सामान्य नागरिक दोनों पर समान रूप से लागू होता है। ऑस्टिन का सम्प्रभु निरकुश और कानून से उच्च है, लेकिन आज के प्रजातान्त्रिक राज्य में इसे सत्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मन्त्रियों और विधायकों को भी कानून के सम्मुख झुकना पड़ता है। प्रो लास्की भी कहते हैं, "कानून को केवल एक आदेश मानना न्यायप्त के लिए भी परिभाषा को सौजन्य की सीमा तक खींचना है। कानून में एक प्रकार की एकरूपता होती है, जिसमें आदेश का तत्व आँखों से लगभग ओझल ही हो जाता है।" ब्राइस, फ्रेडरिक पोलक और सालमण्ड के द्वारा भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया गया है।

दूसरे, विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अपर्याप्त और अधूरा है। यह उन सारे रिवाजों को, जो समाज में प्राकृतिक रूप से विकसित होते हैं और मान्य हैं, बिलकुल अस्वीकार कर देता है। इन नियमों को सर्वसत्ता के आदेशों से किसी भी प्रकार कम शक्ति प्राप्त नहीं है।

तीसरे, इस दृष्टिकोण में रूढ़िवाद की झलक दिखायी देती है। गैटल के कथनानुसार, "विश्लेषणात्मक शाखा के लेखक नियमों को प्रगतिशील न मानकर गतिहीन मान लेते हैं और वे कानून के ऐतिहासिक विकास की ओर ध्यान ही नहीं देते।" ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि विश्लेषणात्मक विचारधारा उस सन्दर्भ के समान है जिसे यह सुधि नहीं रहती कि समय कितना बीत गया है और जमाना कहाँ चला गया है। उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। यह तो प्रगति-विरोधी या प्रगति के प्रति उदासीन खूँटे से बँधी रहती है।

2. ऐतिहासिक विचारधारा (Historcal School)—इस विचारधारा के प्रमुख प्रतिपादक सर हेनरी मेन, मेटलैण्ड और सर फ्रेडरिक पोलक हैं। इन विचारकों के द्वारा विकासात्मक दृष्टिकोण के आधार पर कानून की उत्पत्ति तथा विकास का अध्ययन किया गया है तथा वे कानून में होने वाले परिवर्तनों और विकास के कारणों की छानबीन करते हैं। इस दृष्टि से कोई भी कानून किसी कानून निर्माता की जान-बूझकर की गयी रचना नहीं होती, वरन् वह भूतकाल से चली आ रही प्रथाओं और परम्पराओं पर ही आधारित होता है। इस विचारधारा के अनुसार मानवीय प्रकृति में अकस्मात ही कोई परिवर्तन होना सम्भव नहीं है, इसलिए जिसे हम वर्तमान समय

में कानून कहते हैं, वह वास्तव में परम्परा ही है और भविष्य में भी ऐसा ही होता रहेगा। इस विचारधारा के अनुसार तो ऑस्टिन की अपेक्षा वुडरो विलसन की परिभाषा अधिक उपयुक्त है क्योंकि यह कानून को किसी निश्चित सत्ता के रूप में नहीं मानता वरन् इसमें प्रथाओं पर आधारित चलनों को भी सम्मिलित करता है।

यह पद्धति विभिन्न राष्ट्रों की कानूनी पद्धति के अध्ययन हेतु अधिक उपयुक्त है। परन्तु इस पद्धति की यह बड़ी कमी है कि इसके पोषक साधारणतया कानून में परिवर्तन के विरोधी होते हैं। वे कानूनी इतिहास पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं। अतीत के प्रति अधिक श्रद्धा होने के कारण यह विचारधारा रूढ़िवादी है। इसके अतिरिक्त इस पद्धति में विधि के दर्शन को उचित स्थान नहीं दिया जाता। इस प्रकार यह विचारधारा प्रथाओं और परम्पराओं के अतिरिक्त अन्य तत्वों की अवहेलना करती है और कानून के सम्बन्ध में पूर्ण सत्य को व्यक्त नहीं करती।

3. दार्शनिक विचारधारा (Philosophical School)—इस विचारधारा के प्रतिपादक न्यायविद् वर्तमान या अतीत के वास्तविक कानूनों की अपेक्षा कानून के अमूर्त अथवा दार्शनिक रूप का अध्ययन करते हैं। उनका विशेष सम्बन्ध न्याय के विचार का एक नैतिक सिद्धान्त के रूप में विकास और एक आदर्श न्याय पद्धति से है। इस पद्धति में कानून के विकास के विचार को आचारात्मक और नैतिक तत्व के रूप में देखा जाता है। इसके पोषकों में हीगल, काण्ट और कोन पाउण्ड का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। कोहलर (Kohler) के अनुसार, "न्याय के दार्शनिक पहलू का आदर्श से उतना ही सम्बन्ध है जितना कि कानून के यथार्थ तत्वों से। कानून संस्कृति की उपज और उसे आगे बढ़ाने का साधन दोनों ही है।" इस विचारधारा के न्यायविद् कानून के अमूर्त अथवा दार्शनिक रूप पर अधिक बल देते हैं। इस स्थिति का मुख्य दोष यह है कि वे विचारक कानूनों से सम्बन्धित दार्शनिक विवेचनों में अधिक संलग्न रहते हैं और यथार्थ को दृष्टि में नहीं रखते।

4. तुलनात्मक विचारधारा (Comparative School)—यह अपेक्षाकृत नयी विचारधारा है और एक अर्थ में ऐतिहासिक विचारधारा से श्रेष्ठ है। इसमें विभिन्न देशों की कानूनी पद्धतियों पर विचार करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं। वास्तव में, यह ऐतिहासिक पद्धति का ही एक विकसित और परिवर्तित रूप है क्योंकि इसके प्रतिपादकों का यह विश्वास है कि विभिन्न कानूनी पद्धतियों और प्रथाओं अतीत और वर्तमान—सभी की समीक्षा और तुलना करने से वे अधिक अच्छे कानून सम्बन्धी निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। इसके पोषकों में हर्बर्ट स्पेंसर और मार्गन मुख्य हैं और मेन व पोलक ने भी इसे कुछ सीमा तक अपनाया है।

5. समाजशास्त्रीय विचारधारा (Sociological School)—इस विचारधारा के प्रतिपादकों का विश्वास है कि कानून सामाजिक शक्तियों की उपज होते हैं। अतएव उसे समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन होना चाहिए। ये कानून के प्रशासन व उसकी रचना के ढंग दोनों बातों पर ध्यान देते हैं और उनका विश्वास

है कि कानून की अच्छाई का निर्णय उसके परिणामों के आधार पर किया जाना चाहिए, न कि आदर्श व काल्पनिक सिद्धान्तो पर। वे कानून के सामाजिक उद्देश्यो का अध्ययन करते हैं और उसका अन्य सामाजिक शास्त्रों और सिद्धान्तो से भी सम्बन्ध स्थापित करते है। इसी कारण वे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और व्यवहारवाद (Pragmatism) के आधुनिक विकास से काफी अध्ययन सामग्री लेते हैं। इस शाखा के विचारको मे आस्ट्रेलिया के गम प्लाविज, हालैण्ड के क्रैब और संयुक्त राज्य के जस्टिस होल्मस प्रमुख हैं।

समाजशास्त्रीय विचारधारा कानूनो की अच्छाई-बुराई का निर्णय उनके *परिणामो के आधार पर करती है, दार्शनिक सिद्धान्तो से नहीं। उनके अनुसार कानून* का स्रोत राज्य नही, राज्य तो केवल उन सामाजिक नियमो को, जो अपने आप समाज हित मे विकसित हैं कानूनी स्वरूप दे देता है। इस दृष्टि से कानून का अस्तित्व *राज्य के पूर्व माना जाता है और कानून की सत्ता राज्य से बढकर है।* उदाहरण के लिए, डिग्विट के अनुसार, "कानून आचरण के वे नियम हैं जो मनुष्यों को समाज मे नियन्त्रित रखते हैं, मनुष्यों में सामाजिक संगठन की आवश्यकता की स्वाभाविक चेतना होती है, जिसके कारण वे नियमों का पालन करते हैं। अतएव कानून राज्य से स्वतन्त्र, पूर्वकालिक, ऊपर और अधिक व्यापक हैं।"

कानून की समाजशास्त्रीय विचारधारा निम्न प्रकार से दोषपूर्ण है :

(i) चलन पूर्व राजनीतिक हो सकता है, किन्तु कानून नहीं। राज्य कानून के लिए संगठित होता है।

(ii) यह कथन असत्य है कि कानून सम्प्रभु की आज्ञा नहीं होता, क्योकि कानून के पीछे बाध्यात्मक शक्ति होती है।

(iii) सभी कानून सामाजिक हित मे हो हों, ऐसा होना जरूरी नही है।

(iv) कानून राज्य से स्वतन्त्र नही हो सकता।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विचारधाराओ मे से कोई भी कानून के स्वरूप पर पूर्ण प्रकाश डालने मे असमर्थ है किन्तु इसके साथ ही इनमे से प्रत्येक मे सत्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य है। कानून एक निश्चित तथा उच्चतर मानव का आदेश मात्र नहीं होता, और न इसे स्थिर और मानव जीवन की आवश्यकताओ से अलग ही माना जा सकता है। कानून की एक उचित धारणा के अन्तर्गत हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राजनीतिक शासन की सत्ता कानून को वैधानिक मान्यता प्रदान करती है, परन्तु उसका यथार्थ स्वरूप देश के ऐतिहासिक वातावरण तथा समाज की नैतिकता का *परिणाम होता है। कानून प्रगतिशील होता है और अपने आपको जनता के नैतिक,* आर्थिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण के अनुकूल बना लेता है। आजकल सभी विचारधाराओं के विधानशास्त्री कानून को मानव कल्याण का एक साधन मानने लगे हैं। आज के विधानशास्त्री कानून की केवल सैद्धान्तिक विवेचना ही नही करते, वरन् वे

यह भी देखते हैं कि अतीत में उन कानूनों का क्या प्रभाव हुआ है, उनकी वर्तमान स्थिति क्या है और मानवीय प्रयत्न से उन्हें किस प्रकार सुधारा जा सकता है।

कानून अनिवार्य अवश्य होता है और उसे क्रियान्वित करने के लिए शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। यह कानून की सबसे बड़ी विशेषता है। परन्तु वास्तव में, कानून के पालन का मुख्य कारण उनकी अनिवार्यता नहीं है, वरन् लोग कानून का पालन स्वेच्छा से ही करते हैं।

कानून के प्रकार

विभिन्न विद्वानों ने कानूनों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया है। कुछ विद्वान कानून-निर्मात्री सत्ता के आधार पर वर्गीकरण करते हैं, कुछ विद्वान राष्ट्रीयता एवं सार्वजनिक विशेषताओं के आधार पर, तो अन्य कुछ विद्वान राष्ट्रीयता एवं अन्तरराष्ट्रीयता के आधार पर। कानून के विभिन्न प्रकारों की अलग अलग व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है

(1) व्यक्तिगत कानून (Private Laws)—ये कानून व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करते हैं। उदाहरणस्वरूप, ऋण सम्बन्धी कानून और जायदाद खरीदने और बेचने के कानून इसी श्रेणी में आते हैं।

(2) सार्वजनिक कानून (Public Laws)—इन कानूनों द्वारा व्यक्ति का सरकार या राज्य के साथ सम्बन्ध निश्चित किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, कर लगाने, चोरी, डकैती या हत्या करने वालों को दण्ड देने के लिए जो कानून बनाये जाते हैं, इन्हें इसी सूची में शामिल किया जाता है।

(3) संवैधानिक कानून (Constitutional Laws)—संवैधानिक कानून उस कानून को कहते हैं जिसके द्वारा सरकार का ढांचा निश्चित किया जाता है और जिसके द्वारा राज्य के प्रति नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों की विवेचना की जाती है। उदाहरण के लिए, भारत में राष्ट्रपति का निर्वाचन, सर्वोच्च न्यायालय का गठन और शक्तियाँ तथा राज्यपाल की नियुक्ति से सम्बन्धित कानून संवैधानिक कानून के ही उदाहरण हैं।

(4) सामान्य कानून (Ordinary Laws)—नागरिकों के दैनिक जीवन एवं आचरण को नियमित करने वाले कानूनों को सामान्य कानून कहते हैं। ये व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित होते या रीति रिवाजों और परम्पराओं पर आधारित होते हैं। लचीले संविधान में तो सामान्य कानून और संवैधानिक कानून के निर्माण, परिवर्तन या संशोधन की प्रक्रिया समान होती है, लेकिन कठोर संविधान में संवैधानिक कानून के निर्माण, परिवर्तन या संशोधन की प्रक्रिया सामान्य कानून के निर्माण, परिवर्तन या संशोधन की प्रक्रिया से भिन्न तथा विशेष प्रकार की होती है।

(5) प्रशासकीय कानून (Administrative Laws)—किसी किसी देश में साधारण नागरिकों से पृथक सरकारी कर्मचारियों के लिए अलग कानून होते हैं। इन कानूनों को प्रशासकीय कानून कहते हैं। "ये नियम वे हैं जो राज्य के सभी कर्मचारियों

के अधिकारों तथा कर्तव्यों को निश्चित करते हैं।' ख़ास प्रशासकीय कानून का सर्वोत्तम उदाहरण है।

(6) प्रथागत कानून (Common Laws)—ये देश मे प्रचलित रीति-रिवाज और कानून का ही विकसित रूप होते हैं और न्यायालय इन्हें मान्यता देकर कानून का रूप प्रदान करते हैं। इंगलैण्ड मे कानून के विकास में रीति रिवाजों ने महत्वपूर्ण भाग लिया है। इसीलिए वहाँ 'कॉमन लॉ' काफी प्रचलित हैं।

(7) अध्यादेश (Ordinance)—किसी विशेष परिस्थिति का सामना करने के लिए अथवा किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए, कार्यपालिका द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए जो आदेश जारी किया जाता है उसे अध्यादेश कहते हैं। भारत के राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने का अधिकार प्राप्त है।

(8) अन्तरराष्ट्रीय कानून (International Laws)—कानून के उपर्युक्त भेद राष्ट्रीय कानून के ही उदाहरण हैं किन्तु इसके अतिरिक्त भी एक और कानून होता है। विश्व के स्वतन्त्र राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को नियमित करने वाले कानूनों को अन्तरराष्ट्रीय कानून कहते हैं। ओपनहीम (Oppenheim) के शब्दों में, "अन्तरराष्ट्रीय विधि, प्रथाओं और परम्पराओं का वह समूह जो सभ्य राष्ट्रों द्वारा अपने आपसी सम्बन्ध में कानूनी तौर पर बाध्य समझा जाता है।" वर्तमान समय तक अन्तरराष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून की भाँति बाध्यकारी शक्ति प्राप्त नहीं हुई है और इनके पीछे सबसे बड़ी शक्ति अन्तरराष्ट्रीय लोकमत की है।

कानून के उद्गम या स्रोत
(SOURCES OF LAWS)

कानून के स्रोत से तात्पर्य उन साधनों से है जो प्रत्यक्ष रूप से कानून के निर्माण में सहायता देते हैं। आधुनिक राज्यों में सामान्यतया विधानमण्डल द्वारा कानून का निर्माण किया जाता है, किन्तु विधानमण्डल के अतिरिक्त भी कानून के अनेक स्रोत हैं, जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है

(1) रीति रिवाज या परम्पराएँ (Customs)—रीति-रिवाज कानून का प्राचीनतम तथा एक महत्वपूर्ण स्रोत है। रीति रिवाजों का निर्माण नहीं होता, वरन् धीरे धीरे उनका विकास होता है। ये समाज के प्रचलित नियम होते हैं, जिन्हें समाज के सभी लोग लम्बे समय से मानते चले आ रहे हैं। इन रीति रिवाजों के पीछे सामाजिक संगठन का नियन्त्रण तथा समाज का नैतिक बल रहता है। जब ये समाज में अधिक मान्य तथा प्रचलित हो जाते हैं, तब राज्य उन्हें कानून का रूप दे देता है। इस प्रकार समाज के प्रचलित रीति रिवाज कानून का रूप धारण कर लेते हैं और उन्हें प्रथागत कानून कहा जाने लगता है। रोम में 'ट्वेल्व टेबिल्स' (Twelve Tables), 'भारत में स्मृतियाँ' तथा इंगलैण्ड में 'कामन लॉ' इसी स्रोत की देन हैं। एक राज्य की वैधानिक अवस्था में रीति-रिवाजों का महत्व स्पष्ट करते हुए मैकाइवर ने लिखा है कि "कानून के विशाल ग्रन्थ में राज्य केवल कुछ ही नये वाक्य लिखता

है और कहीं कहीं एक आधा पुराना वाक्य काट देता है। इस ग्रन्थ के अधिकांश भागों की रचना में राज्य का कभी कोई हाथ नहीं रहा है, परन्तु राजा स्वयं इस सम्पूर्ण ग्रन्थ से मर्यादित होता है।"

(2) धर्म (Religion)—कानून के विकास में परम्परा की भाँति धर्म का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। धर्म परम्परागत कानून को धार्मिक विश्वास की मान्यता देकर उसे सबल बनाता है और इस दृष्टि से ये दोनों घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। इतना ही नहीं, धर्म ने प्रत्यक्ष रूप से भी कानून को जन्म दिया है। प्राचीन काल में ईश्वर को ही समस्त सत्ता और कानून का उद्गम माना जाता था। इस प्रकार धर्माधिकारियों तथा धर्म-शासकों के माध्यम से अभिव्यक्त कानूनों का स्वरूप दैवी होता था। प्राचीन समाज में धर्म तथा कानून इतने घुले मिले थे कि जीवन के सभी नियमों के पीछे धार्मिक मान्यता का बल पाया जाता था। इतिहास में प्रसिद्ध 'रोमन कानून' धर्म पर ही आधारित था। आज भी हिन्दुओं का कानून मनु की व्यवस्था के आधार पर और इस्लामी कानून शरीयत के आधार पर टिका हुआ है।

(3) न्यायिक निर्णय (Judicial Decisions)—जैसे-जैसे सामाजिक व्यवस्था जटिल होने लगी, वैसे-वैसे विभिन्न रीति रिवाजों में संघर्ष उत्पन्न होने लगा और इस संघर्ष के कारण रीति-रिवाजों की वैधता में सन्देह किया जाने लगा। इसी स्थिति में कभी-कभी ऐसे विवाद खड़े हो जाते थे, जिनका रिवाजों के पास कोई समाधान नहीं था। अतः ऐसे विवादों को सुलझाने के लिए समाज के उन सबसे बुद्धिमान व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की सलाह ली जाती थी, जिनका निर्णय सबको स्वीकार हो। ऐसे व्यक्तियों के निर्णयों ने 'कानूनी दृष्टान्तों' (Precedents) का रूप धारण कर लिया। बाद में उत्पन्न विवाद सुलझाने के लिए इन पूर्व दृष्टान्तों का अनुसरण किया जाने लगा और इस प्रकार न्यायिक निर्णय कानून के स्रोत बन गये।

आज भी न्यायिक निर्णय कानून के विकास में पर्याप्त सहायक होते हैं। न्यायाधीश विधि की व्याख्या करते समय जाने-अनजाने में नये कानून के निर्माण का कार्य करते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने तो अपनी व्याख्या की शक्ति द्वारा संविधान में पर्याप्त परिवर्तन कर दिये हैं। जस्टिस होल्म्स (Holmes) के विचार में, "न्यायाधीश कानून बनाते हैं और उनको इसका अधिकार भी है।"

(4) कानूनी टीकाएँ (Commentaries)—प्रत्येक देश में कानून के प्रसिद्ध ज्ञाता कठिन कानूनों के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए कानून की व्याख्या करते हुए ग्रन्थ-रचना करते हैं, जिन्हें कानूनी टीकाएँ कहा जाता है। न्यायशास्त्रियों और विधिशास्त्रियों की ये टीकाएँ भी कानून का एक महत्वपूर्ण स्रोत होती हैं। टीकाकार कानून के आधारभूत अमूर्त सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए उनके यथार्थ स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं तथा न्याय और कल्याण की दृष्टि से संशोधनों के सुझाव प्रस्तुत करते हैं। न्यायालयों में न्यायाधीश इन टीकाओं को मान्यता देते हैं तथा

अपने निर्णयों मे इनका आदर के साथ उल्लेख करते हैं। इस प्रकार की ये शास्त्रीय टीकाएँ कानून के विकास मे सहायक होती हैं। इगलैण्ड मे एडवर्ड कोक, ब्लैकस्टोन, डायसी, आदि महान टीकाकारो की व्याख्याओ ने कानून का बहुत कुछ सशोधन किया है। इसी प्रकार हिन्दुओ मे मिताक्षरा अथवा दयाभाग और मुसलमानों मे 'फतवा आलमगीरी' भी इस प्रभाव के उल्लेखनीय उदाहरण हैं।

(5) साम्य नीति या औचित्य (Equity)—औचित्य भी एक अन्य स्रोत है, जिससे कानून का उद्भव हुआ है। न्यायाधीशो के समक्ष कभी-कभी ऐसे विवाद उपस्थित हो जाते हैं जिनके सम्बन्ध मे कानून कोई प्रकाश नही डालता। ऐसी स्थिति मे न्यायाधीश विवेक, न्यायशास्त्र के अनुभव और न्याय की साधारण मान्यताओ के आधार पर निर्णय देते हैं और ये निर्णय ही औचित्यपूर्ण निर्णय कहलाते हैं। इस सम्बन्ध मे न्यायाधीशो के निर्णय (Adjudications) और औचित्यपूर्ण निर्णय (Equity) मे भेद कर लेना आवश्यक है। न्यायाधीशो के निर्णय का तात्पर्य उन निर्णयो से होता है जिन्हे न्यायाधीश वर्तमान कानूनो की व्याख्या करते समय अथवा उन पर व्यवस्था देते समय घोषित करते हैं। किन्तु औचित्यपूर्ण निर्णय न्यायाधीश अपने विवेक के आधार पर उस समय देते हैं, जब किसी विवाद का निर्णय वर्तमान कानून के अनुसार उस कानून मे पायी जाने वाली किसी कमी के कारण नही हो सकता। इस प्रकार औचित्यपूर्ण निर्णयो के द्वारा कानून का विकास होता है तथा साथ-साथ अनुपयुक्त कानूनो मे सुधार और परिवर्तन होता है। प्रत्येक देश मे औचित्यपूर्ण निर्णयो से उद्भूत कानूनो का स्थान बडा महत्वपूर्ण होता है। इगलैण्ड मे तो सविधान और कानून के विकास मे औचित्यपूर्ण निर्णय का बहुत अधिक योग रहा है। औचित्य के अनेक नियम हैं, जिनमे से कुछ इस प्रकार हैं—ऐसी कोई त्रुटि नही होनी जिसका उपचार न हो, जो औचित्य चाहता है उसके द्वारा स्वय औचित्यपूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए, औचित्य समानता मे ही निहित है आदि।

(6) व्यवस्थापन (Legislative)—व्यवस्थापन कानून का सबसे अधिक प्रत्यक्ष और महत्वपूर्ण स्रोत है। प्राचीनकाल मे व्यवस्थापन का कार्य राजा अथवा उसके कुछ गिने चुने लोगो द्वारा होता था और एक समय सम्पूर्ण जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापन भी किया जाता था। किन्तु आज लगभग सभी राज्यो मे व्यवस्थापन का कार्य व्यवस्थापिका (विधानमण्डल या ससद) द्वारा किया जाता है। व्यवहार रूप मे प्रत्येक देश मे प्राय. सभी कानून विधानमण्डल द्वारा बनाये जाते हैं और व्यवस्थापन कानून का प्राय एकमात्र स्रोत का रूप धारण करता जा रहा है। गिलक्राइस्ट ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "व्यवस्थापन कानून का मुख्य स्रोत है और यह अन्य स्रोतों (प्रथाओ, औचित्य और न्यायिक निर्णयो) पर प्रमुखता प्राप्त करता जा रहा है।"

कानून के स्रोतो की इस विवेचना के उपरान्त हम वुडरो विल्सन को उद्धृत करते हुए कह सकते हैं कि "रीति रिवाज विधि का सर्वप्रथम स्रोत है पर धर्म भी

Religion

उसी का समकालीन, उतना ही सफल और राष्ट्रीय विकास का लगभग वैसा ही स्रोत है। न्यायिक निर्णय अधिकारी बनकर आया और औचित्य के साथ कदम मिलाकर चला। केवल व्यवस्थापन, जो कानून का विचारपूर्ण और चेतन सगठन है और वैधानिक व्याख्या जो कानून के नियमों का विकास है, राजनीतिक समाज मे उन्नति पर पहुँचने की प्रतीक्षा मे है, ताकि वह विधि निर्माण मे प्रबल प्रभाव डाल सके।" कानून के प्रारम्भिक स्रोतों का महत्व यद्यपि आज कम हो गया है, किन्तु आज भी वे व्यवस्थापन की क्षति पर अक्षुण रखने का कार्य करते हैं।

कानून और नैतिकता
(LAW AND MORALITY)

प्राचीन समय में कानून को नैतिकता से पृथक् नहीं माना जाता था। प्राचीन भारत मे 'धर्म' शब्द कानून और नैतिकता दोनो के लिए प्रयुक्त होता था और पुरानी विचारधारा मे कानून और नैतिकता को एक-दूसरे से अभिन्न माना जाता था। प्लेटो के कथनानुसार, "सर्वश्रेष्ठ राज्य वह है जो व्यक्ति के सदाचार और धर्मपरायणता के अधिकाधिक समरूप हो।" अरस्तू का कथन है कि "राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के जीवन को नैतिक बनाने के लिए है।" परन्तु कालान्तर मे जब राज्य ने एक स्पष्ट राजनीतिक सगठन का स्वरूप प्राप्त कर लिया, तो कानून ने सत्ता के आदेश का रूप धारण किया और इसका स्वरूप बहुत कुछ सीमा तक नैतिकता से भिन्न हो गया।

कानून और नैतिकता में भेद—कानून और नैतिकता मे महत्वपूर्ण आधारभूत भेद निम्नलिखित हैं

(1) नैतिकता का क्षेत्र कानून की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत है। नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन (बाहरी तथा आन्तरिक) के साथ होता है परन्तु कानून का सम्बन्ध व्यक्ति के केवल बाहरी आचरण के साथ होता है। यह सत्य है कि कानून कभी कभी व्यक्ति के आन्तरिक भावों का भी अध्ययन करता है परन्तु ऐसा केवल पृष्ठभूमि के रूप मे और बाहरी आचरणों के उद्देश्य निश्चित करने के लिए ही किया जाता है।

(2) कानून राज्य की शक्ति द्वारा मनवाये जाते हैं परन्तु नैतिक नियमों के पीछे इस प्रकार की कोई शक्ति नहीं होती। उसका पालन तो व्यक्ति अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से ही करता है। यदि कोई कानून को न माने, तो उसे राज्य द्वारा अवश्य ही दण्डित किया जायेगा, परन्तु यदि कोई नैतिक नियमो का पालन न करे, तो उसे इस प्रकार का कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता। अधिक-से-अधिक समाज द्वारा उसे घृणित दृष्टि से देखा जा सकता है।

(3) कानून और नैतिकता मे यह भी भेद है कि कानून निश्चित और सर्वव्यापी होते हैं अर्थात् सभी नागरिकों पर एक जैसे लागू होते हैं परन्तु नैतिक नियम अस्पष्ट और अनिश्चित होते हैं और नैतिकता का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न

होता है क्योकि ये तो प्रत्येक व्यक्ति के अपने मत अथवा अन्तरात्मा के आदेश हैं। मैकाइवर के शब्दों म सब व्यक्तियों के लिए केवल एक ही कानून का होना आवश्यक है किन्तु नैतिक नियम प्रत्येक व्यक्ति के अपने आचरण व स्वभाव की अभिव्यक्ति होने के कारण प्रत्येक के लिए भिन्न है।

(4) सभी अनैतिक बातें गैर कानूनी नहीं होती और सभी गैर कानूनी बातें भी आवश्यक रूप से अनैतिक नहीं मानी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए दूसरो के अमगल की कामना करना अनैतिक है परन्तु गैर कानूनी नही। इसी प्रकार झूठ बोलना नैतिक नही है किन्तु जिस झूठ का प्रयोग दूसरों को धोखा देने के लिए नही किया जाता है वह गैर कानूनी नही होता।

घनिष्ठ सम्बन्ध—परन्तु कानून और नैतिकता मे इतना अन्तर होते हुए भी इन दोनों का सम्बन्ध सर्व से बहुत घनिष्ठ रहा है। आधुनिक काल का राजनीतिक दर्शन भी इस बात को अस्वीकार नही करता कि मनुष्य स्वभावत एक नैतिक प्राणी है और वह केवल राज्य के भीतर रहकर ही अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है क्योकि राज्य उसके नैतिक जीवन की सर्वोच्च स्थिति है। कानून और नैतिकता का पारस्परिक सम्बन्ध अनेक रूपो मे स्पष्ट किया जा सकता है

प्रथमत कानून समाज मे प्रचलित नैतिक विचारो की ही देन होते हैं और कानून का एक महत्वपूर्ण स्रोत नैतिकता होती है। वस्तुत जब नैतिक विचार स्थायी और प्रचलित हो जाते हैं तो वे कानून का रूप धारण कर लेते हैं। नागरिकों द्वारा केवल उन्ही कानूनो का अच्छे प्रकार से पालन किया जा सकता है जो उनके नैतिक विचारो के अनुकूल हो। कानून प्राय नैतिकता के प्रतिबिम्ब होते हैं और इस सम्बन्ध म गटिल का कथन है कि 'जो कानून लोगो की नैतिक धारणा के अनुकूल नहीं होते उन्हें लागू करना असम्भव हो सकता है तथा जो कानून प्रचलित नैतिक स्तरों को नहीं छूते लोग उनकी उपेक्षा करने लगते हैं। इसी प्रकार विल्सन ने लिखा है 'कि कानून देश की नैतिक प्रगति के दर्पण होते हैं। यद्यपि बाल विवाह को सम्पूर्ण भारत म और मद्यपान को भारत के एक भाग म कानून द्वारा निषिद्ध घोषित कर दिया गया है किन्तु फिर भी ये बुराइयाँ विद्यमान हैं क्योकि भारतीय समाज की नैतिक धारणा बाल विवाह और मद्यपान के पूर्णतया विरुद्ध नही है।

द्वितीयत कानून के द्वारा भी नैतिक स्तर और विचारो को परिमार्जित करने का काम किया जाता है। उदाहरण के लिए सती प्रथा निषेध कानून ने इस सम्बन्ध मे नैतिक मान्यता को परिमार्जित किया है और बाल विवाह के सम्बन्ध म कानून निर्माण कर नैतिक मान्यता को प्रभावित किया जा रहा है।

ततीयत व्यवहार में कानून और नैतिकता एक-दूसरे के सहायक रूप में कार्य करते हैं। नैतिकता के द्वारा व्यक्ति के विचार और आचरण को सुधार कर

---

1 MacI er *The New Soc ety* p 156

कानून के पालन हेतु आवश्यक मनोभावना उत्पन्न की जाती है तो दूसरी ओर कानून नैतिक व्यवहार के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ पैदा करता है, जैसा कि बार्कर का कथन है "कानून नैतिकता की रक्षा के लिए उसके चारों ओर एक चहारदीवारी है।"

नैतिकता और कानून में इतना सादृश्य है कि कई बार अवैध और अनैतिक की विभाजन-रेखा पहचानना कठिन हो जाता है। जो बात आज अनैतिक है, कल अवैध हो सकती है या जो आज अवैध है, कल अनैतिक भी हो सकती है। कानून और नैतिकता परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं और आइवर ब्राउन (Ivor Brown) के शब्दों में कहा जा सकता है कि "राजनीतिक सिद्धान्तों के अभाव में नैतिक सिद्धान्तवाद अपूर्ण रह जाता है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह समाज से विलग नहीं रह सकता। नैतिक सिद्धान्तों के अभाव में राजनीतिक सिद्धान्त निरर्थक रह जाते हैं क्योंकि इनका अध्ययन और उनके परिणाम मूलतः हमारे नैतिक मूल्यों की व्यवस्था पर हमारी सही और गलत की धारणाओं पर निर्भर करते हैं।

राजनीतिक चिन्तन में न्याय की धारणा
(CONCEPT OF JUSTICE IN POLITICAL THOUGHT)

पाश्चात्य और पूर्वात्य, दोनों ही राजनीतिक दर्शनों में न्याय की धारणा को बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वस्तुस्थिति यह है कि न्याय न केवल राजनीतिक वरन् नैतिक चिन्तन का भी एक अनिवार्य अंग और बहुत अधिक महत्वपूर्ण आधार है।

पाश्चात्य राजनीतिक-चिन्तन में न्याय का अध्ययन प्लेटो की विचारधारा से प्रारम्भ किया जा सकता है। प्लेटो के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' (Republic) का सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय न्याय की प्रकृति और उसके निवास की खोज करना ही है। 'रिपब्लिक' में उसकी इस न्याय सम्बन्धी धारणा को इतना प्रमुख स्थान प्राप्त है कि 'रिपब्लिक' का उपशीर्षक 'न्याय से सम्बन्धित' (Concerning Justice) रखा गया है। एबेन्सटीन (Ebenstein) तो लिखते हैं "प्लेटो के न्याय सम्बन्धी विवेचन में उसके राजनीतिक दर्शन के समस्त तत्व शामिल हैं।"[1]

प्लेटो ने न्याय शब्द का प्रयोग वैधानिक अर्थ में नहीं वरन् नैतिक अर्थ में किया है। उनके द्वारा 'न्याय' शब्द का प्रयोग धर्म (लौकिक धर्म) के पर्यायवाची अर्थ में किया गया है। प्लेटो का कहना है कि 'न्याय मानव आत्मा की उचित अवस्था और मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक माँग है।' प्लेटो न्याय के दो रूपों का वर्णन करता है—व्यक्तिगत न्याय और सामाजिक या राज्य से सम्बन्धित न्याय। प्लेटो की धारणा थी कि मानवीय आत्मा में तीन तत्व या अंश मौजूद हैं—इन्द्रिय

---

1 "In the discussion of justice all elements of Plato's political philosophy are contained." —Ebenstein

तृष्णा या इच्छा तत्व (Appetite), शौर्य (Spirit) और बुद्धि (Wisdom)। इन तीनो तत्वों के प्रतिनिधि के रूप मे राज्य के तीन वर्ग होते हैं, जिन्हे क्रमश शासक वर्ग, सैनिक या रक्षक वर्ग और उत्पादक या सेवक वर्ग कहा जाता है। प्लेटो का कहना है कि समाज अथवा राज्य समाज की आवश्यकता और व्यक्ति की योग्यता को दृष्टि मे रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति के लिए कुछ कर्तव्य निश्चित करते हैं और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा सन्तोषपूर्वक अपने-अपने कर्तव्य का पालन करना ही न्याय है। वास्तव मे, प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन एक कानूनी सिद्धान्त के रूप मे नही, वरन् एक नैतिक सिद्धान्त के रूप मे ही किया है।

प्लेटो के समान अरस्तू भी राज्य के लिए न्याय को बहुत महत्वपूर्ण मानता है, लेकिन अरस्तू ने न्याय की धारणा का प्रतिपादन प्लेटो से भिन्न रूप मे किया है। अरस्तू ने न्याय के दो भेद माने हैं (i) वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice), (ii) सुधारक न्याय (Corrective or Rectificatory Justice)। वितरणात्मक न्याय का सिद्धान्त यह है कि राजनीतिक पदो की पूर्ति नागरिकों की योग्यता और उनके द्वारा राज्य के प्रति की गयी सेवा के अनुसार हो। सुधारक न्याय का तात्पर्य यह है कि एक नागरिक के दूसरे नागरिक के साथ सम्बन्ध को निर्धारित करते हुए सामाजिक जीवन को व्यवस्थित रखा जाय।

ऑगस्टाइन न्याय को ईश्वरीय राज्य का सर्वप्रमुख तत्व मानता है और उनका कथन है कि 'जिन राज्यों में न्याय नहीं रह जाता वे डाकुओं के झुण्ड मात्र कहे जा सकते हैं।' ऑगस्टाइन के अनुसार, 'न्याय एक व्यवस्थित और अनुशासित जीवन व्यतीत करने तथा उन कर्तव्यों का पालन करने मे है जिनकी कि व्यवस्था माँग करती है।' उसके द्वारा परिवार लौकिक राज्य और ईश्वरीय राज्य के सन्दर्भ मे न्याय की विवेचना की गयी है और अन्तिम रूप मे न्याय से उसका आशय व्यक्ति द्वारा ईश्वरीय राज्य के प्रति कर्तव्य पालन से है।

थॉमस एक्वीनास कानून और न्याय को परस्पर सम्बन्धित मानते हुए न्याय की विवेचना करता है। न्याय के सम्बन्ध मे एक्वीनास प्रधान रूप से रोमन विधिशास्त्रियो के मत का अनुकरण करते हुए कहता है कि यह 'प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने अधिकार देने की निश्चित और सनातन इच्छा है।' किन्तु इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उसने यह मान लिया है कि न्याय का मौलिक तत्व समानता है।

ऑगस्टाइन तथा एक्वीनास के बाद मध्य युग तथा आधुनिक युग के पश्चिमी राजनीतिक चिन्तन मे न्याय पर विचार व्यक्त किये गये हैं, लेकिन इस सम्बन्ध मे प्राचीन धारणा और आधुनिक धारणा मे आधारभूत अन्तर है। प्राचीन युग मे जहाँ न्याय की नैतिक दृष्टि से विवेचना की गयी है, वहाँ मध्य युग के अन्त और आधुनिक युग मे न्याय की कानूनी दृष्टि से विवेचना की गयी है, जिसका अध्ययन आगे किया जायेगा।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन में न्याय (Justice in Indian Political Thought)—भारत के प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में न्याय को बहुत अधिक महत्व दिया गया है और मनु, कौटिल्य, बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज तथा सोमदेव आदि सभी के द्वारा राज्य की व्यवस्था में न्याय को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस सम्बन्ध में भारतीय राजनीतिक चिन्तकों की विशेषता यह रही है कि उन्होंने प्राचीन युग में भी न्याय की उस कानूनी धारणा को अपना लिया था, जिसे पश्चिम के राजनीतिक चिन्तक आधुनिक युग में ही अपना सके। इस सम्बन्ध में मनु और कौटिल्य के विचारों का उल्लेख विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

मनु की दूरदृष्टि इस बात में है कि उन्होंने प्राचीन युग में भी विवादों को वे दो श्रेणियाँ बनला दी थी, जिन्हें आज दीवानी और फौजदारी की संज्ञा दी जाती है। मनु ने न्याय की निष्पक्षता और सत्यता पर अधिक बल दिया है। एक स्थान पर वे लिखते हैं, 'जिस सभा (न्यायालय) में सत्य असत्य से पीड़ित होता है उसके सदस्य ही पाप से नष्ट हो जाते हैं।'[1]

कौटिल्य समुचित न्याय प्रणाली को राज्य का प्राण समझता है और उसका विचार है कि जो राज्य अपनी प्रजा को न्याय प्रदान नहीं कर सकता, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। उसके अनुसार न्याय का उद्देश्य प्रजा के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा करना तथा असामाजिक तत्वों एवं अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करना है। उसके द्वारा न्यायिक संगठन और प्रक्रिया का भी विशद वर्णन किया गया है।

न्याय की धारणा का आशय
(MEANING OF THE CONCEPT OF JUSTICE)

आधुनिक न्यायशास्त्र में न्याय का अर्थ सामाजिक जीवन की वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति के आचरण का समाज के व्यापक कल्याण के साथ समन्वय स्थापित किया गया हो। स्वभाव से प्रत्येक मनुष्य अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए आचरण करता है, पर उसका आचरण न्यायपूर्ण तभी समझा जा सकता है, जबकि उसका आचरण समाज को भी कल्याण के मार्ग पर आगे ले जाने वाला हो। संक्षेप में, न्याय का अर्थ समाज के व्यापक कल्याण की सिद्धि है उस व्यापक कल्याण की सिद्धि, जो व्यक्तियों के अलग-अलग कल्याण से भिन्न हो, बहुमत तक के कल्याण से भिन्न हो। न्याय की कुछ मुख्य परिभाषाएँ निम्न हैं : ह्यूम के अनुसार, "न्याय के उदय का एकमात्र आधार सार्वजनिक उपयोगिता है।" जे. रीस के अनुसार, "न्याय एक माँग करता है कि यदि दो व्यक्ति समान हैं तो उन्हें समान हिस्सा मिलना चाहिए, यदि वे असमान हैं तो उनका हिस्सा असमान होना चाहिए, परन्तु यह असमानता उनकी असमानता के अनुपात में होनी चाहिए।"

---

1 Quoted from Kewal Motwani, *Manu Dharmshastra*, p 147

समाजशास्त्रों के विश्वकोष (Encyclopaedia of Social Sciences) के अनुसार, "न्याय वह क्रियाशील प्रक्रिया है जिसके माध्यम से उस चीज को रोका जाता है अथवा उपचार प्राप्त किया जाता है जिससे अन्याय की भावना और स्थिति बढती है।"

न्याय धारणा के विविध रूप (Various Forms of the Concept of Justice)

परम्परागत रूप मे न्याय की दो ही धारणाएँ प्रचलित रही हैं—नैतिक और कानूनी। लेकिन आज की स्थिति मे न्याय ने बहुत अधिक व्यापकता प्राप्त कर ली है और आज कानूनी या राजनीतिक न्याय की अपेक्षा भी सामाजिक और आर्थिक न्याय अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं। न्याय धारणा के इन विविध रूपो का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है

(1) नैतिक न्याय (Moral Justice)—परम्परागत रूप मे न्याय की धारणा को नैतिक रूप मे ही अपनाया जाता रहा है। नैतिक न्याय इस धारणा पर आधारित कि विश्व मे कुछ सर्वव्यापक, अपरिवर्तनीय तथा अन्तिम प्राकृतिक नियम हैं जो कि व्यक्तियो के आपसी सम्बन्धो को ठीक प्रकार से सचालित करते हैं। इन प्राकृतिक नियमों और प्राकृतिक अधिकारो पर आधारित जीवन व्यतीत करना ही नैतिक न्याय है। जब हमारा आचरण इन नियमो के अनुसार होता है, तब वह नैतिक न्याय की अवस्था होती है। जब हमारा आचरण इसके विपरीत होता है, तब वह नैतिक न्याय के विरुद्ध होता है।

नैतिक न्याय के अन्तर्गत जिन बातों को शामिल किया जा सकता है, उनमे से कुछ हैं . सत्य बोलना, प्राणि मात्र के प्रति दया का बर्ताव करना, प्रतिज्ञा पूरी करना या वचन का पालन करना, उदारता और दान का परिचय देना आदि। नैतिक न्याय और नैतिकता परस्पर सम्बन्धित होते हुए भी इनमे कुछ भेद हैं और नैतिकता नैतिक न्याय की तुलना मे निश्चित रूप से व्यापक है।

(2) कानूनी न्याय (Legal Justice)—राज्य के उद्देश्यो मे न्याय को बहुत अधिक महत्व दिया गया है और कानूनी भाषा मे समस्त कानूनी व्यवस्था को न्याय व्यवस्था कहा जाता है। कानूनी न्याय मे वे सभी नियम और कानूनी व्यवहार सम्मिलित है, जिनका अनुसरण किया जाना चाहिए। इस प्रकार कानूनी न्याय की धारणा दो अर्थों मे प्रयोग की जाती है—(i) कानूनों का निर्माण अर्थात् सरकार द्वारा बनाये गये कानून न्यायोचित होने चाहिए, (ii) कानूनों को लागू करना अर्थात् बनाये गये कानूनों को न्यायोचित ढग से लागू किया जाना चाहिए। कानूनो को न्यायोचित ढग से लागू करने का मतलब यह है कि जिन व्यक्तियों ने कानूनो का उल्लघन किया है, उन्हे दण्डित करने में किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाना चाहिए।

कानूनी न्याय की इस स्थिति के तत्व हैं : (i) कानून युक्तियुक्त (न्यायोचित)

हो, (ii) कानून के समक्ष समस्त नागरिकों की समानता, (iii) सभी नागरिकों को कानून का समान संरक्षण, (iv) स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय।

(3) राजनीतिक न्याय (Political Justice)—राज व्यवस्था का प्रभाव समाज के सभी व्यक्तियों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे पड़ता ही है। अतः सभी व्यक्तियों को ऐसे अवसर प्राप्त होने चाहिए कि वे राज-व्यवस्था को लगभग समान रूप से प्रभावित कर सकें और राजनीतिक शक्ति का प्रयोग ऐसे ढंग से किया जाना चाहिए कि सभी व्यक्तियों को लाभ प्राप्त हो। यही राजनीतिक न्याय है और इसकी प्राप्ति स्वाभाविक रूप से एक प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही की जा सकती है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के साथ-साथ राजनीतिक न्याय की प्राप्ति के कुछ अन्य साधन हैं—वयस्क मताधिकार सभी व्यक्तियों के लिए विचार, भाषण, सम्मेलन और संगठन आदि की नागरिक स्वतन्त्रताएँ प्रेस की स्वतन्त्रता, न्यायपालिका की स्वतन्त्रता, बिना किसी भेदभाव के सभी व्यक्तियों को सार्वजनिक पद प्राप्त होना आदि। राजनीतिक न्याय की धारणा मे यह बात निहित है कि राजनीति में कोई कुलीन वर्ग अथवा विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नहीं होगा।

(4) सामाजिक न्याय (Social Justice)—सामाजिक न्याय का मतलब यह है कि नागरिक-नागरिक के बीच मे सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न माना जाय और प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास के पूर्ण अवसर प्राप्त हों। सामाजिक न्याय की धारणा मे यह बात निहित है कि अच्छे जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिए और इस सन्दर्भ में समाज राजनीतिक सत्ता से यह आशा करता है कि वह अपने विधायी तथा प्रशासनिक कार्यक्रम द्वारा एक ऐसे समाज की स्थापना करेगा, जो समानता पर आधारित हो।

वर्तमान समय मे सामाजिक न्याय का विचार बहुत अधिक लोकप्रिय है और सामाजिक न्याय पर बल देने के कारण ही विश्व के करोड़ों लोगों द्वारा मार्क्सवाद या समाजवाद के अन्य किसी रूप को अपना लिया गया है। इस सम्बन्ध मे श्री नेहरू ने एक बार यह ठीक ही कहा था कि लाखों करोड़ों लोगों के लिए मार्क्सवाद के प्रति आकर्षण का स्रोत उसका वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है, वरन् सामाजिक न्याय के प्रति उसकी तत्परता है। मेहरलिंग, सोम्बार्ट, टायनबी और बर्खाइम आदि ने इसी आधार पर मार्क्सवाद को 'नवीन युग का एक नया धर्म' बताया है। वास्तव में, सामाजिक न्याय के बिना समानता तथा स्वतन्त्रता के आदर्श बिल्कुल निस्सार हो जाते है।

(5) आर्थिक न्याय (Economic Justice)—आर्थिक न्याय सामाजिक न्याय का एक अंग है। कुछ लोग आर्थिक न्याय का तात्पर्य पूर्ण आर्थिक समानता से लेते हैं, किन्तु वास्तव में इस प्रकार की स्थिति व्यवहार के अन्तर्गत किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। आर्थिक न्याय का तात्पर्य यह है कि सम्पत्ति सम्बन्धी भेद इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि धन सम्पदा के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच विभेद

की कोई दीवार खड़ी हो जाय और कुछ धनीमानी व्यक्तियों द्वारा अन्य व्यक्तियो के श्रम का शोषण किया जाय या उनके जीवन पर अनुचित अधिकार स्थापित कर लिया जाय। इसमे यह बात भी निहित है कि पहले समाज के सभी व्यक्तियो की अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए, उसके बाद ही किन्ही व्यक्तियो द्वारा आरामदायक आवश्यकताओ या विलासिता की आवश्यकताओ को पूरा किया जा सकता है। आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को सीमित किया जाना आवश्यक है।

आर्नोल्ड ब्रैचट और न्याय की धारणा[1] (Arnold Brecht and Conception of Justice)—राजनीति विज्ञान के आधुनिक विद्वानो मे सबसे अधिक प्रमुख रूप मे आर्नोल्ड ब्रैचट के द्वारा अपनी पुस्तक 'Political Theory)' मे न्याय के सिद्धान्त की विवेचना की गयी है। उनका कथन है कि न्याय की धारणा वांछित स्थिति के प्रति हमारे स्वभाव पर निर्भर करती है और यह तो एक ऐसे बर्तन की भांति है, जिसके कई तल होते हैं। न्याय के सम्बन्ध मे हमारी धारणा या तो सभ्य जीवन की परम्परागत सस्थाओ पर आधारित होती है। अथवा वह परम्परागत सस्थाओं से आगे बढ जाती है। प्रथम स्थिति मे उसे परम्परागत न्याय और दूसरी स्थिति मे उसे अपरम्परागत न्याय कहा जा सकता है।

1 **परम्परागत न्याय** (Traditional Justice)—न्याय की परम्परागत धारणा रीति-रिवाज, प्रथाओं और परम्पराओ पर आधारित होती है। यह उन मूलभूत सस्थाओ को स्वीकार करती है जो हमारे दैनिक सामाजिक जीवन की आधार है। इस प्रकार की मूलभूत सस्थाओ या प्रथाओं मे प्रमुखतया निम्न 5 हैं एक पत्नि विवाह प्रथा, परिवार, निजी सम्पत्ति, पैतृक धन के सम्बन्ध मे उत्तराधिकार की व्यवस्था तथा समझौता करने की स्वतन्त्रता और समझौते की बाध्यकारी शक्ति। परम्परागत न्याय की धारणा उस मन्दिर मे निहित है, जो इन पांच आधारो पर टिका हुआ है। उसमे इन सस्थाओ के औचित्य को कोई चुनौती नही दी जाती है। जब व्यक्ति इन आधारभूत सस्थाओ के अनुसार आचरण करता है, तब वह न्याय भावना के अनुसार होता है और जब इनका उल्लघन होता है, तब वह न्यायसगत नही होता है।

ब्रैचट के अनुसार इस परम्परागत न्याय भावना में निम्नलिखित तत्व शामिल हैं : (i) व्यक्ति ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक ढग से परम्परागत सस्थाओ को अपने तर्क मे स्वीकार करता है। (ii) व्यक्ति इनका प्रयोग क्रमिक तर्क और पूर्व कल्पनाओं को प्राप्त करने के लिए करता है। (iii) वह निश्चितता और औचित्य बनाये रखने वाले नियमो और विनियमो को स्वीकार करता है। (iv) वह इन सस्थाओं की आलोचना के विरुद्ध तर्क करता है।

---

[1] Arnold Brecht, *Political Theory* (Times of India Press, Bombay, 1965), pp 146 157.

2 अपरम्परागत न्याय (Trans-traditional Justice)—जब हम न्याय की परम्परागत संस्थाओं को स्वीकार करने के बजाय उनकी अपने दृष्टिकोण से आलोचना करते और मूल्यांकन करते हैं, तब हम अपरम्परागत न्याय की धारणा में प्रवेश करते हैं। इसके अन्तर्गत निश्चित और पहले से चली आ रही परम्परागत संस्थाओं से व्यक्ति अपने आपको अलग कर लेता है और इनकी आलोचना न्याय के सम्बन्ध में अपनी धारणा और विश्वास के आधार पर करता है। वह अपनी धारणा और विश्वास के आधार पर कल्पना करता है कि कौन सी उपयोगी परिस्थितियाँ हो सकती हैं, जिनकी ओर समाज को बढ़ना चाहिए, जिससे कि न्यायपूर्ण जीवन के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। वह विचार करता है कि अनेक महत्वपूर्ण उद्देश्यों में कौन-सा उद्देश्य उपयुक्त है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कौन से साधन उपयुक्त हैं।

अपरम्परागत न्याय के अन्तर्गत भिन्न भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा न्याय को अलग-अलग मापदण्डों के आधार पर परखा गया और जाँचा गया है। दार्शनिक काण्ट ने कहा है कि यदि पृथ्वी पर कोई परम मूल्यवान वस्तु है, तो वह व्यक्ति का गौरव और महत्व है। 19वीं सदी में व्यक्तिवादियों ने केवल व्यक्ति की भलाई को ही न्यायसंगत माना, जबकि समवादियों के लिए सब की भलाई ही न्याय-संगत है। वास्तव में, न्याय क्या है, यह व्यक्ति विशेष की व्यक्तिगत धारणा पर निर्भर करता है।

विभिन्न राजनीतिक दलों के लिए भिन्न भिन्न मूल्य न्यायपूर्ण हैं। कुछ प्रमुख राजनीतिक दलों और उनके मूल्यों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है

राजनीतिक दल	प्रमुख न्याय मूल्य
(1) लोकतन्त्रवादी	बहुमत
(2) समाजवादी	समानता
(3) उदारवादी	स्वतन्त्रता
(4) परम्परावादी	परम्परा, राष्ट्रीय एकता और शक्ति
(5) राष्ट्रवादी	राष्ट्र
(6) धार्मिक दल	ईश्वरीय वचन
(7) यथार्थवादी	सत्ता
(8) फासिस्टवादी व नाजी पार्टी	नेतृत्व, समूह एवं राष्ट्र
(9) उपयोगितावादी	प्रसन्नता, उपयोगिता
(10) स्वतन्त्रतावादी	सभ्यता, प्रसन्नता, एकता, शान्ति तथा अनुरूपता

इस प्रकार प्रत्येक दल अपनी विचारधारा के दृष्टिकोण से न्याय का मापदण्ड रखता है और इनमे से कौन-सा विचार ठीक है, यह निर्णय कर सकना निश्चित रूप से बहुत अधिक कठिन है।

न्याय के सार्वलौकिक और स्थिर आधार तत्व
(UNIVERSAL AND INVARIANT POSTULATES OF JUSTICE)

न्याय क्या है ? यह बहुत कुछ सीमा तक व्यक्ति के अपने विश्वास और अपनी धारणा पर निर्भर करता है। फिर भी कुछ ऐसे तत्व हैं, जो न्याय की सभी धारणाओ मे विद्यमान हैं और जिन्हे न्याय के आधार तत्व कहा जा सकता है। ब्रेचट के द्वारा अपनी पुस्तक *'Political Theory'* मे इन आधार तत्वो का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है[1]

(1) सत्य (Truth)—यद्यपि राड्ब्रुच (Radbruch) का विचार है कि 'न्याय का प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल अच्छाई से होता है, सत्य से नहीं, सत्य तो विज्ञान का क्षेत्र है' लेकिन वास्तव मे सत्य न्याय का एक बहुत अधिक महत्वपूर्ण तत्व है। वस्तुनिष्ठ रूप (Objective sense) मे न्याय की माँग है कि तथ्य और सम्बन्ध विषयक अपने सभी कथनो मे हम सत्य का प्रयोग करें। व्यक्तिनिष्ठ रूप (Subjective sense) मे इसका आशय यह है कि विभिन्न व्यक्तियो और वस्तुओ के सम्बन्ध मे हम वही विचार प्रकट करें, जिसे हम ठीक समझते हैं। विशेष रूप से न्याय के प्रशासन मे तथ्यो की सत्यता का बहुत अधिक महत्व है।

(2) मूल्यों के आधारभूत क्रम की सामान्यता (Generality of the System of Values)—विभिन्न मामलो के विषय मे विचार करते हुए हमारे द्वारा न्याय की एक ही धारणा को लागू किया जाना चाहिए। यह नितान्त अनुचित होगा कि हमारे द्वारा एक मामले मे न्याय की एक धारणा को और दूसरे मामले मे न्याय की किसी अन्य धारणा को लागू किया जाय।

(3) कानून के समक्ष समानता या समानता का व्यवहार (Equality before the Law or Treatment of Equality)—कानून के सामने सभी समान होने चाहिए और उनके प्रति समानता का व्यवहार किया जाना चाहिए। एक ही प्रकार की स्थितियो मे मनमाने ढग से भेद करना अन्यायपूर्ण है। किसी भी व्यक्ति के साथ धर्म, जाति, भाषा, लिंग के आधार पर भेदभावपूर्ण व्यवहार नही होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति तथा विकास के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए।

(4) स्वतन्त्रता (Freedom)—उचित रुकावटो के अलावा मनुष्य की स्वतन्त्रता पर रोक नही लगायी जानी चाहिए। मनमाने ढग से व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर रुकावटें लगाना अन्यायपूर्ण है। शासक के अपने स्वार्थ या शक्ति को

[1] Arnold Brecht, *Ibid*, pp 395-401,

बनाये रखने के लिए ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कोई रुकावटें नहीं लगायी जानी चाहिए।

(5) प्रकृति की अनिवार्यताओं के प्रति सम्मान (Respect for the Necessities of Nature)—जो कार्य व्यक्ति की सामर्थ्य से बाहर है और जो कार्य प्रकृति की ओर से व्यक्ति के लिए असम्भव है, उन्हें करने के लिए व्यक्ति को मजबूर करना न्याय भावना के विरुद्ध है। अतः जिन कानूनों या आदेशों का पालन करना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है, ऐसे कानूनों या आदेशों की अवहेलना करने पर व्यक्ति को दण्ड देना या उसकी निन्दा करना भी अन्यायपूर्ण है। उदाहरण के लिए, बहुत अधिक वृद्ध, अन्धे या अपंग व्यक्ति के लिए समाज की दया के आधार पर जीवन व्यतीत करना न्यायपूर्ण है, लेकिन ऐसा व्यक्ति जो शारीरिक और मानसिक दृष्टि से ठीक है उसके लिए खुद काम करके रोजी कमाना ही न्यायपूर्ण है।

स्थानीय, राष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में न्याय को प्राप्त करने के लिए उपर्युक्त पाँच सिद्धान्तों का पालन आवश्यक है।

कानूनी न्याय को प्राप्त करने के साधन

(MEASURES FOR THE ATTAINMENT OF LEGAL JUSTICE)

यद्यपि राजनीतिक चिन्तन में न्याय की धारणा पर विविध दृष्टि से विचार किया जाता रहा है, लेकिन आज न्याय का तात्पर्य प्रमुख रूप से कानूनी न्याय से ही लिया जाता है। कानूनी रूप में न्याय की प्राप्ति व्यक्ति के लिए निश्चित रूप से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है और यह तभी सम्भव है जबकि न्याय का ढाँचा स्वतन्त्र और निष्पक्ष हो। लॉस्की के द्वारा अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'राजनीति के मूल तत्व' (*Grammar of Politics*) में कानूनी न्याय प्राप्त करने के साधनों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।[1] इस सम्बन्ध में लास्की की विवेचना और अन्य विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कानूनी न्याय को प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित साधन प्रमुख रूप से अपनाये जाने चाहिए

(1) न्यायपूर्ण और श्रेष्ठ कानूनी व्यवस्था (Just and good legal System)—न्याय की प्राप्ति सर्वप्रथम कानूनी व्यवस्था की श्रेष्ठता पर निर्भर करती है। अतः कानूनी व्यवस्था का श्रेष्ठ और न्यायपूर्ण होना आवश्यक है। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप में दो-तीन बातों का उल्लेख किया जा सकता है सर्वप्रथम, कानून-मुक्ति युक्त और न्यायोचित होने चाहिए। द्वितीय, कानून के समक्ष समस्त नागरिकों की समानता को स्वीकार किया जाना चाहिए और तृतीय, सभी नागरिकों को कानून का समान संरक्षण प्राप्त होना चाहिए।

(2) न्यायपालिका का कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त होना (Judiciary should be Free from the Influence of Executive)—यह एक सर्वमान्य

1 लास्की, राजनीति के मूल तत्व (हिन्दी संस्करण, 1956), पृ 456-464।

बात है कि यदि न्यायपालिका कार्यपालिका के दबाव से मुक्त नही हुई तो उसके द्वारा निष्पक्ष रूप से न्याय प्रदान करने का काय नही किया जा सकेगा। विधियो की व्याख्या का काय ऐसे व्यक्तियो को सौंपा जाना चाहिए जिनके विचार पर काय-पालिका का विचार हावी न हो सके। केवल इतना ही नही वरन वे इस योग्य होने चाहिए कि उनके द्वारा जरूरत पडने पर कायपालिका या व्यवस्थापिका से जवाब तलब किया जा सके। न केवल सर्वोच्च स्तर पर वरन् निम्न स्तरों पर भी न्याय पालिका कायपालिका क दबाव से मुक्त होनी चाहिए।

(3) न्यायाधीशों की नियुक्ति चुनाव नहीं (Judges should be appointed Not Elected)—न्यायाधीशो की नियुक्ति के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से तीन विधियाँ प्रचलित हैं—(i) जनता द्वारा निर्वाचन (ii) व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्वाचन और (iii) कायपालिका द्वारा नियुक्ति। **इनमें जनता द्वारा न्यायाधीशों के निर्वाचन की पद्धति निश्चित रूप में सबसे अधिक बुरी है**[1] और व्यवस्थापिका सभा द्वारा न्यायाधीशो का चुनाव किये जाने पर भी न्यायाधीश पद दलबन्दी का शिकार बन जायगा। अत न्यायाधीशो की कायपालिका द्वारा नियुक्ति की पद्धति ही सबसे अधिक श्रेष्ठ है। लास्की ने लिखा है **'इस विषय में सभी बातों को देखते हुए न्यायाधीशों की कायपालिका द्वारा नियुक्ति के परिणाम सबसे अच्छे रहे हैं। परन्तु यह अति आवश्यक है कि न्यायाधीशों के पदों को राजनीतिक सेवा का फल नहीं बनाया जाना चाहिए।**

(4) न्यायाधीशों के लिए उच्च योग्यताएँ (High Qualifications for Judges)—न्याय की उचित रूप म प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि न्यायाधीशों का पद केवल ऐसे ही व्यक्तियो को प्रदान किया जाय, जिनकी व्यावसायिक कुशलता और निष्पक्षता सवमान्य हो। न केवल उच्च वरन् निचले न्यायाधीशो के पद पर भी ऐसे व्यक्तियो को नियुक्त किया जाना चाहिए जो योग्य और विधि के बहुत अच्छे ज्ञाता हों।

(5) पर्याप्त वेतन और पदोन्नति के अवसर (Good Salaries and Opportunities for Promotion)—हैमिल्टन ने अपनी पुस्तक **'राजनीति के तत्व'** (Elements of Politics) मे लिखा है कि **यह मानव स्वभाव है कि जो व्यक्ति अपनी आजीविका की दृष्टि से शक्ति सम्पन्न हैं उनके पास सकल्प की शक्ति का भी बड़ा बल होता है।** यह कथन पूर्ण सत्य है और इसके आधार पर कहा जा सकता है कि न्यायाधीशों को निश्चित और पर्याप्त वेतन दिया जाना चाहिए। इस बात की आशका बनी रहती है कि कम वेतन पाने वाले न्यायाधीश भ्रष्टाचार का शिकार हो जायेंगे। इसके अलावा न्यायाधीशों को पदोन्नति के अवसर भी दिये जाने चाहिए जिससे उनकी अपने काय में रुचि बनी रहे।

---

[1] लास्की वही, पृ 160।

(6) लम्बा कार्यकाल और पद की सुरक्षा (Long Term and Security of Office)—न्यायाधीशों का कार्यकाल लम्बा होना चाहिए और सामान्यतया ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि वे सदाचार पर्यन्त अपने पद पर बने रहें। लम्बा कार्यकाल होने पर न्यायाधीश अपने कार्य का अनुभव प्राप्त कर अधिक कुशल बन जाते हैं एवं स्वतन्त्रता और निष्पक्षता के साथ अपना कार्य कर सकते हैं। इसके साथ ही ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि न्यायाधीशों को पद की सुरक्षा प्राप्त हो और कार्यपालिका अपनी इच्छानुसार उन्हें न हटा सके। कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों की आलोचना भी नहीं की जानी चाहिए।

(7) न्यायाधीशों के लिए अवकाश प्राप्ति के बाद व्यवसाय निषेध (For Judges ban on Profession after Retirement)—शक्ति के बुरे प्रयोग को रोकने के लिए यह भी आवश्यक है कि न्यायाधीश को अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत करने के लिए निषेध किया जाय। इन सम्बन्ध में इतनी व्यवस्था तो अवश्य ही की जानी चाहिए कि एक व्यक्ति जिन न्यायालयों में न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुका हो, कम से कम उन न्यायालयों या उनके क्षेत्राधिकार में आने वाले अन्य न्यायालयों में वकालत का कार्य न कर सके। इसके साथ ही अनेक विचारक यह भी सुझाव देते हैं कि जो व्यक्ति एक बार न्यायिक पद प्राप्त कर चुका हो, उसे किसी भी राजनीतिक या कार्यपालिका पद का पात्र नहीं समझा जाना चाहिए।

(8) जूरी व्यवस्था (Jury System)—सामान्यतया जूरी की व्यवस्था को न्याय की प्राप्ति में सहायक ही पाया है। इसलिए सभी फौजदारी मामलों में और सार्वजनिक हितों से सम्बन्धित दीवानी मामलों में जूरी की व्यवस्था होनी चाहिए। जूरी का सदस्य होने के लिए सम्पत्ति का मालिक होना जरूरी नहीं समझा जाना चाहिए। जूरी के सदस्य को उचित पारिश्रमिक दिया जाना चाहिए, जिससे उनकी अपने कार्य में रुचि रहे। जूरी के निर्णयों, विशेषतया फौजदारी मामलों में उनके निर्णयों के विरुद्ध अपील की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(9) न्याय में समानता की व्यवस्था (Provision of Equality in Justice)—न्याय में समानता के लक्ष्य को प्राप्त किया जाना बहुत आवश्यक है, नहीं तो न्याय धनीमानी वर्ग की सुविधा बनकर रह जायगा। न्याय में समानता को प्राप्त करने के लिए दो व्यवस्थाएँ जरूरी हैं—पहली विशेषाधिकारों की समाप्ति और दूसरी नि शुल्क कानूनी सहायता की व्यवस्था। वास्तव में, 'मुफ्त कानूनी सहायता' (Free Legal Aid) की व्यवस्था होने पर ही साधारण व्यक्ति न्याय प्राप्त करने की आशा कर सकता है।

उपर्युक्त व्यवस्थाएँ कर लेने पर ही कानूनी न्याय को प्राप्त करने की आशा की जा सकती है।

प्रश्न

1 कानून से आप क्या समझते हैं ? कानून के विभिन्न स्रोतो का वर्णन कीजिए।
2 कानून की प्रकृति क सम्बन्ध म प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तो की व्याख्या कीजिए।
3 कानून और नैतिकता क सम्बन्ध की विवेचना कीजिए। य किस प्रकार एक दूसरे को प्रभावित करते हैं ?
4 न्याय से आप क्या समझते हो ? इसके भिन्न भिन्न रूपो का वर्णन कीजिए।
5 राजनीतिक चिन्तन मे न्याय की धारणा की विवेचना कीजिए। आर्नल्ड ब्रैंचट ने न्याय की व्याख्या किस प्रकार की है ?
6 न्याय के सार्वलौकिक और स्थिर आधार तत्वो का वणन कीजिए।
7 कानूनी न्याय से आप क्या समझते हैं ? कानूनी न्याय को प्राप्त करने के लिए आप कौन से उपाय अपनाने का सुझाव देंगे ?

11

शक्ति, सत्ता और उनके सम्बन्ध

[POWER. ANTHORITY AND THEIR RELATIONSHIP]

> "समस्त सांसारिक जीवन का मूल आधार दण्ड शक्ति ही है।"[1]
>
> —कौटिल्य

> "सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है, वह स्वयं शक्ति नहीं है।"[2]
>
> —बायर्सटेड

राजनीति विज्ञान में शक्ति की धारणा

राजनीति विज्ञान के अध्ययन के अन्तर्गत यह आवश्यक हो जाता है कि हमारे द्वारा मानव के सार्वजनिक व्यवहार को निर्धारित करने वाले और राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाले तत्वों का अध्ययन किया जाय और यदि यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया जाय तो इस सम्बन्ध में जो तत्व सबसे प्रमुख रूप से उभर कर हमारे सामने आता है, वह निश्चित रूप से 'शक्ति' ही है। प्रारम्भिक काल से लेकर अब तक राजनीति विज्ञान विषय के विद्वानों द्वारा शक्ति के महत्व को स्वीकार किया जाता रहा है। भारत में राजनीति विज्ञान के जनक कौटिल्य ने 'दण्ड शक्ति' को शक्ति का ही पर्याय है, को राजनीति का मूल आधार माना है। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि "समस्त सांसारिक जीवन का मूल आधार दण्ड शक्ति ही है।" वस्तुतः समग्र भारतीय साहित्य दण्ड शक्ति के महत्व से भरा पड़ा है।"[3] पाश्चात्य राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत भी यही बात देखी जा सकती है। बेकर (Becker) के अनुसार, 'राजनीति शक्ति से अपृथकनीय है" और कैटलिन ने राजनीति को 'शक्ति का विज्ञापन' माना है। बर्ट्रेण्ड रसल ने तो शक्ति को समाज विज्ञान की मूल-भूत अवधारणा के रूप में माना है और एम एस मलमर के कथनानुसार "सभी सामाजिक विज्ञानों में शक्ति की धारणा से इतना सम्बन्धित कोई भी नहीं है जितना

---

1. 'दण्ड मूलास्तिस्रो विद्या, तस्मायत्ता लोकयात्रा'—अर्थशास्त्र, 1/3, 1/4।
2. Robert Bierstedt on 'Power in Human Relations in Administration' edited by Robert Dublin 1960, p. 173.
3. Kashi Prasad Jayswal · *Hindu Polity*, Chap. III & IV.

कि राजनीति विज्ञान है। अरस्तू से लेकर आज तक के राजनीतिक लेखकों की विषय वस्तु का विश्लेषण करने पर यह निस्सन्देह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति इसमें एक केन्द्रीय धारणा रही, जिसके सहारे राजनीति विज्ञान को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया।"[1] आर एम मैकाइवर, बायर्सटेड, ह्वार्टकिन्स और विलियम ए रोबसन, आदि के द्वारा भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये गये हैं।

राजनीति विज्ञान में शक्ति की धारणा का समझना इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि इस सम्बन्ध में जो मिथ्या विचार प्रचलित हैं, उन्हें दूर किया जा सके। लार्ड एक्टन का प्रसिद्ध कथन कि शक्ति भ्रष्ट करती है और पूर्ण शक्ति पूर्णतया भ्रष्ट कर देती है, हमारे मन और मस्तिष्क में शक्ति के प्रति एक दुर्भावना को जन्म देता है। वस्तुस्थिति यह है कि शक्ति तो सामाजिक व्यवस्था के लिए नितान्त आवश्यक है और शक्ति के बिना किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती, केवल शक्ति की अति या शक्ति के दुरुपयोग के साथ ही भ्रष्टाचार को जोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार एक नैतिक धारणा के रूप में, 'सत्यमेव जयते' नितान्त औचित्यपूर्ण विचार है और मानवीय जीवन में हमारा आदर्श यही होना चाहिए, लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि सत्य के पीछे शक्ति का बल होने पर ही उसके विजय की आशा की जा सकती है। यथार्थवादी दृष्टिकोण से सत्य और शक्ति एक-दूसरे के विरोधी नहीं, वरन् पूरक हैं और पास्कल (Pascal) ने इस आधार पर ही न्याय और शक्ति के संयोजन की आवश्यकता के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

शक्ति का अर्थ और व्याख्या

रॉबर्ट डेल (Robert A Dahl) के मतानुसार शक्ति के अध्ययन की प्रमुख कठिनाई यह है कि इसके अनेक अर्थ होते हैं। वस्तुस्थिति यही है और शक्ति को विभिन्न विचारकों ने अलग अलग रूप से परिभाषित किया है। शक्ति की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं

रॉबर्ट बायर्सटेड के अनुसार, "शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है, न कि इसका वास्तविक प्रयोग।[2] मैकाइवर ने कहा है कि "शक्ति होने से हमारा अर्थ व्यक्तियों या व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करने, विनियमित करने या निर्देशित करने की क्षमता से है। मार्गेन्थो ने 'शक्ति में उस प्रत्येक वस्तु को शामिल किया है, जिसके द्वारा मनुष्य के ऊपर नियन्त्रण स्थापित किया जाता एवं बनाये रखा जाता

---

1 "Of all the Social Sciences, none has been more concerned with the concept of power than Political Science. A content analysis of the political writings from Aristotle to the present would no doubt reveal power as the central concept around which attempts to explain politics have revolved." —S S Ulmer, *Introductory Readings in Political Behaviour* (1962), p 332.

2 Bierstedt on Power in *Human Relations in Administration*, 1960, edited by Robert Dubin, p 172.

है।" गोल्डहैमर तथा शिल्स (Goldhamer and Sills) के कथनानुसार, "एक व्यक्ति को इतना ही शक्तिशाली कहा जाता है जितना कि वह अपने लक्ष्यों के अनुरूप दूसरों के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है।"[1]

लासवेल, केपलन और हरबर्ट साइमन ने शक्ति को 'प्रभाव प्रक्रिया' (Influence Process) के रूप में परिभाषित किया है। इनके मतानुसार शक्ति का उपयोग करने समय स्वयं की अपेक्षा दूसरों की नीतियों को प्रभावित किया जाता है और इस प्रक्रिया में प्रभाव डालने वाले तथा प्रभावित होने वाले के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। रॉबर्ट ए० डेल के अनुसार, शक्ति लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों की एक ऐसी विशेष स्थिति का नाम है, जिसके अन्तर्गत एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को प्रभावित कर उससे कुछ ऐसे कार्य कराये जा सकते हैं जो उसके द्वारा अन्यथा न किये जाते।

लासवेल और केपलन की उपर्युक्त धारणाओं के अन्तर्गत शक्ति को प्रभाव का पर्यायवाची माना गया है। कुछ परिस्थितियों में यह सत्य होता है लेकिन सभी परिस्थितियों में नहीं। शक्ति और प्रभाव एक ही व्यक्ति में पाये जा सकते हैं और इनमें मतभेद भी हो सकता है। हिटलर और मुसोलिनी केवल शक्ति के प्रतीक थे, किन्तु नैपोलियन और लिंकन, आदि में शक्ति और प्रभाव दोनों के दर्शन किये जा सकते हैं। शक्ति एवं प्रभाव दोनों प्रभावित व्यक्ति के व्यवहार को परिवर्तित करते हैं, किन्तु वह व्यक्ति शक्ति के कारण परिवर्तित हुआ या प्रभाव के कारण इसका निर्णय स्वयं वही कर सकता है। ये दोनों एक-दूसरे के लिए वर्द्धनकारी भी हो सकते हैं।

वास्तव में शक्ति मानव जीवन का एक सरल तत्व होने के स्थान पर बहुत अधिक जटिल और मेकाइवर के अनुसार एक बहुपक्षीय तत्व है। उदाहरण के लिए, जब यह कहा जाता है कि प्रधानमन्त्री की मन्त्रिमण्डल पर कुछ शक्तियाँ हैं, तो यह कथन पूर्णतया निरर्थक न होते हुए भी बहुत अधिक उपयोगी नहीं है। शक्ति का सही रूप जानने के लिए अनेक तत्वों का उल्लेख करना होगा। उदाहरण के लिए, प्रधानमन्त्री की शक्ति का स्रोत क्षेत्र एवं आधार क्या है, मन्त्रिमण्डल पर अपनी शक्ति का प्रयोग करने के लिए प्रधानमन्त्री द्वारा कौन-कौन से साधन अपनाये जाते हैं, मन्त्रिमण्डल पर उसकी शक्ति की मात्रा कितनी है तथा यह शक्ति कितनी व्यापक है।

शक्ति के स्रोत

शक्ति का अर्थ स्पष्टता के साथ समझने के लिए शक्ति के स्रोतों का अध्ययन किया जा सकता है। परन्तु शक्ति अनेक स्रोतों से उत्पन्न होकर विभिन्न रूपों में

[1] "A person may be said to have power to the extent, that he influences the behaviour of others, in accordance with his own intentions" —Herbert Goldhamer and Edward A. Shills, *Types of Human Relations in Administration*, p 334.

अपने आपको प्रकट करती है। नैपोलियन, हिटलर, लेनिन और गांधी ये सभी शक्तिशाली थे लेकिन इनकी शक्ति के स्रोतों में भेद था। शक्ति के स्रोतों की कोई पूर्ण सूची तो देना सम्भव नहीं है, क्योंकि विचारकों में इस सम्बन्ध में बहुत अधिक मतभेद है, फिर भी शक्ति के कुछ प्रमुख स्रोतों का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है :

(1) ज्ञान (Knowledge)—शक्ति का प्रथम स्रोत ज्ञान है। ज्ञान अपने साधारण अर्थ में व्यक्ति को अपने लक्ष्यों को पुन प्रदर्शित करने और मिलाने की योग्यता प्रदान करता है। ज्ञान द्वारा व्यक्ति की अन्य विशेषताओं को इस प्रकार संचालित किया जाता है कि वे शक्ति का साधन बन सकें। व्यक्ति के नेतृत्व का गुण, उसकी इच्छा-शक्ति, उसकी सहन शक्ति, अपने आप को अभिव्यक्त करने की शक्ति आदि विभिन्न तत्व शक्ति के महत्वपूर्ण पहलू हैं। इन तत्वों में से किसी भी एक की कमी शक्ति के समस्त रूप को अकार्यकुशल बना सकती है और उसे पूरी तरह नष्ट कर सकती है।

(2) प्राप्तियाँ (Possessions)—ज्ञान शक्ति का आन्तरिक स्रोत है। इसके अतिरिक्त शक्ति का निर्धारण करने वाले बाहरी तत्व भी होते हैं, जिनमें प्राप्तियाँ सर्वाधिक प्रमुख हैं। साधारण बोलचाल के अन्तर्गत इसे ही आर्थिक शक्ति का नाम दिया जा सकता है। प्राप्तियों के अन्तर्गत भौतिक सामग्री, स्वामित्व एवं सामाजिक सामग्री की शक्ति, एक व्यक्ति को समाज में प्राप्त स्थिति और स्तर, आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। प्राप्तियाँ या सम्पत्ति शक्ति का स्रोत अवश्य है, लेकिन न तो यह एकमात्र स्रोत है और न ही निश्चित रूप से प्रभाव डालने वाला स्रोत। बिना सम्पत्ति के भी एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के कार्यों को प्रभावित कर सकता है और सम्पत्ति के होने पर भी आवश्यक नहीं है कि वह दूसरों के कार्यों को प्रभावित कर सकेगा।

(3) संगठन—संगठन अपने आप में शक्ति का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। कहावत भी है कि 'संगठन ही शक्ति है' (Unity is strength)। विभिन्न प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण इकाइयाँ आपस में मिलकर संघ बना लेती हैं, तो उनकी शक्ति कई गुना बढ़ जाती है। आधुनिक युग के मजदूर संघ तथा व्यापारिक संघ इसके उदाहरण हैं। शक्ति की दृष्टि से सबसे बड़ा संघ स्वभावतः राज्य ही है और इसका एक प्रमुख कारण राज्य का सर्वाधिक संगठित स्वरूप ही है।

(4) आकार—अनेक बार आकार को शक्ति का परिचायक मान लिया जाता है और यह सोचा जाता है कि एक संगठन का जितना बड़ा आकार होगा, उसके द्वारा उतनी ही अधिक शक्ति का परिचय दिया जा सकेगा। आकार के साथ यदि संगठन का मेल हो, तो ऐसा होता भी है, लेकिन सभी परिस्थितियों में ऐसा नहीं होता। अनेक बार ऐसा भी होता है कि उसका बड़ा आकार उसे उलझा दे, उसे असन्तुलित बना दे और उसे परिस्थितियों के अनुकूल न रहने दे। इसी कारण अनेक

बार कुछ राजनीतिक दलों द्वारा अपने आकार को घटाने के लिए 'शुद्धि आन्दोलनों' (Purges) का आश्रय लिया जाता है।

शक्ति के स्रोत एवं आधार के रूप में विश्वास का भी पर्याप्त महत्व है। तलवार की शक्ति भी अन्तिम रूप में विश्वास पर ही आधारित होती है। शक्ति का एक अन्य स्रोत सत्ता होती है। शक्ति की महानता इस बात से निर्धारित की जाती है कि वह मानव मस्तिष्क पर प्रभाव डालने में कितनी सक्षम है। प्रो० मैकाइवर ने शक्ति के इन विभिन्न तत्वों का वर्णन करने के बाद कहा है कि "शक्ति की कार्य-कुशलता उन विभिन्न परिस्थितियों के द्वारा बढ़ती या कम होती रहती है, जिनके अधीन उसे कार्य करना है।"[1]

शक्ति के प्रकार

शक्ति मानारूपिणी होती है तथा इसके विभिन्न प्रकार होते हैं। शक्ति के प्रकार के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा भी अलग-अलग विचार व्यक्त किये गये हैं। गोल्डहेमर एवं एडवर्ड शिल्स के अनुसार, "एक व्यक्ति की शक्ति उतनी कही जा सकती है, जितनी मात्रा में वह अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे के व्यवहार को परिवर्तित कर सके।" व्यवहार में परिवर्तन की इस धारणा के अनुसार शक्ति तीन प्रकार की होती है बल, प्रभुत्व और चातुर्य (Manipulation)। एक शक्तिवान व्यक्ति बल का प्रयोग करता हुआ उस समय कहा जाता है, जिस समय वह अधीनस्थ व्यक्तियों के व्यवहार को भौतिक शक्ति के माध्यम से प्रभावित करता है। जब शक्तिवान व्यक्ति अपनी इच्छा को प्रकट करके दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करता है, तो वह प्रभुत्व कहलायेगा। 'प्रभुत्व' आदेश या आग्रह के रूप में हो सकता है। चातुर्य, दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करने का तरीका है जिसमें प्रभावित होने वाले व्यक्तियों को स्पष्ट रूप से यह नहीं बताया जाता कि शक्तिवान व्यक्ति आखिर उनसे क्या चाहता है। इस अन्तिम प्रक्रिया में प्रतीकों (Symbols) का प्रयोग करते हुए प्रचार की प्रणाली को अपनाया जाता है।

मैक्स वेबर केवल औचित्यपूर्ण शक्ति का अध्ययन करता है और उसे वह सत्ता कहता है। जिसे व्यक्तियों या अधीनस्थों द्वारा स्वीकार किया जाता है या अधिकारपूर्वक माना जाता है उसे औचित्यपूर्ण सत्ता कहते हैं। जो शक्ति औचित्यपूर्ण नहीं है उसे वेबर-दमन (coercion) कहता है। वेबर ने औचित्यपूर्ण शक्ति के तीन प्रमुख रूप बताये हैं (i) कानूनी या वैधानिक, (ii) परम्परागत, (iii) करिश्मावादी, (charismatic)। जब अधीनस्थ लोग शक्तिवान व्यक्तियों द्वारा निर्मित कानूनों, निर्देशों एवं डिक्रियों (Decrees) की वैधानिकता में विश्वास करते हैं, तो यह औचित्यपूर्ण शक्ति वैधानिक कहलाती है। जब शक्तिवान द्वारा प्रसारित आदेशों को परम्परा

---

1 "The efficacy of a power complex is in term increased or diminished by the various conditions under which it must operate."

—R. M. MacIver, *Power Transformed*, p. 81.

के आधार पर पवित्र माना जाये अथवा परम्परा के कारण ही वह शक्ति का प्रयोग करे, तो इसे औचित्यपूर्ण शक्ति का परम्परागत रूप कहा जायेगा। तीसरे, जब औचित्य की मान्यता का आधार शक्तिवान के व्यक्तिगत गुणो के प्रति भक्ति होती है, तो वह करिश्मवादी औचित्यपूर्ण शक्ति कही जाती है। करिश्मावादी औचित्यपूर्ण शक्ति के अन्तर्गत अनुयायियों को अपने नेता की विशेषताएँ प्राय अद्वितीय प्रतीत होती हैं और उसके सम्मुख वे पूर्ण समर्पण कर देते हैं। 1971-72 के वर्षों में श्रीमती गांधी को भारतीय जनता पर करिश्मावादी शक्ति ही प्राप्त थी।

बायर्सटेड ने भी शक्ति के अनेक आधारो पर कई प्रकार बताये हैं. (I) दृश्यता के आधार पर शक्ति अदृश्य या प्रकट हो सकती है। शक्ति के अदृश्य रूप को प्रच्छन्न (latent) शक्ति कहा जायेगा तथा उसका प्रकट रूप अभिव्यक्त होने पर उसे सत्ता, बल आदि कहा जायेगा। (II) दमन की दृष्टि से शक्ति दमनात्मक या अदमनात्मक हो सकती है, (III) औपचारिकता की दृष्टि से वह औपचारिक तथा अनौपचारिक हो सकती है, (IV) शक्ति प्रयोग की दृष्टि से यदि शक्ति का प्रयोग स्वय धारक द्वारा किया जाय, तो उसे प्रत्यक्ष और यदि अधीनस्थों द्वारा प्रयुक्त हो, तो उसे अप्रत्यक्ष कहा जायेगा।

(1) शक्ति प्रवाह या दिशा की दृष्टि से वह एकपक्षीय, द्विपक्षीय या बहुपक्षीय हो सकती है।

(2) केन्द्रीयकरण के दृष्टिकोण से वह केन्द्रित, विकेन्द्रित अथवा विस्तृत हो सकती है। केन्द्रित मे केन्द्रीय सत्ता का नियन्त्रण होता है, विकेन्द्रित होने पर शक्तियाँ अनेक अधीनस्थ निकायों को स्वायत्त या अर्द्ध-स्वायत्त आधारों पर प्रदान की जाती हैं। विस्तृत शक्ति का स्वरूप बिखरा हुआ, अस्पष्ट एव प्रसुप्त होता है जैसे जनशक्ति।

(3) क्षेत्रीयता के आधार पर वह अन्तरराष्ट्रीय या भूखण्ड विशेष से सम्बन्धित होती है।

(4) शक्ति की मात्रा एव प्रभाव की दृष्टि से विभिन्न राज्यों को महान्, मध्यम तथा निम्न शक्तियाँ कहा जाता है।

इस प्रकार शक्ति के अनेक स्वरूप हो सकते हैं।

शक्ति का प्रयोग एवं सीमाएँ

शक्ति का प्रयोग विभिन्न प्रकार की शक्तियों (sanctions) या साधनों के आधार पर किया जाता है जैसे पुरस्कार, दण्ड, आर्थिक लाभ देना या रोकना, आदि। इन साधनो की मात्रा एव प्रकार देश, काल तथा संस्कृति विशेष के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। एक व्यक्ति विशेष पर शक्ति का प्रयोग करते हुए पिटाई, जेल, जुर्माना, अपदस्थीकरण या अपमान इसमें से किसी भी साधन को अपनाया जा सकता है। इसी प्रकार संस्था पर शक्ति का प्रयोग करते हुए धमकी या प्रलोभन मे से किसी को भी आवश्यकतानुसार चुना जा सकता है। उदाहरण के लिए, अमरीका का राष्ट्र-

पति दहाँ की कांग्रेस पर अपना प्रभाव जमाने के लिए या तो कांग्रेस सदस्यों एवं उनके अनुयायियों को पदों का प्रलोभन देता है अथवा विशेष सम्मेलन बुलाने या मतदाताओं से सीधे अपील करने की बात कहता है अथवा विधेयक विशेष पर निषेधाधिकार के प्रयोग की धमकी देता है। इनमें से एक साधन के असफल रहने पर दूसरे साधन को अपनाया जा सकता है। सामान्यतया शक्ति प्रयोग में सफलता प्राप्त होती है, लेकिन कभी-कभी इसमें असफल भी रहना होता है।

किन्तु शक्ति प्रयोग स्वच्छन्द नहीं होता और उसके ऊपर अनेक प्रतिबन्ध तथा सीमाएँ, आदि होती हैं। ये सीमाएँ अनेक बातों से सम्बन्ध रखती हैं जैसे इतिहास और परम्पराएँ, सहमति या स्वीकृति प्राप्त करने की आवश्यकता के तरीके, राजनीतिक विकास का प्रभाव, धर्म, नैतिकता एवं समूहों का दबाव आदि। शक्ति की सीमाएँ प्रयोगकर्ता के लक्ष्य एवं उद्देश्यों, उसकी क्षमता पारस्परिक सम्बन्धों, प्रतियोगिता, कार्य-पद्धतियों और वातावरण सम्बन्धी कारणों, आदि से भी उत्पन्न होती हैं।

राजनीति विज्ञान में शक्ति का दृष्टिकोण

राजनीति विज्ञान के अध्ययन का एक प्रमुख उद्देश्य यह जानना होता है कि शक्ति किसके हाथ में है और उसका प्रयोग किस प्रकार किया जा रहा है। इसी कारण वर्तमान समय के राजनीतिक विचारक राज्य में विचार को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा शक्ति की धारणा व्यक्त करने में अधिक रुचि ले रहे हैं। वस्तुतः शक्ति राजनीतिक अनुसन्धान का हृदय है और इसका स्पष्ट लाभ यह है कि इसके द्वारा दूसरों को प्रभावित करने वाली क्रिया को समझा जा सकता है। लेकिन कुछ समय पूर्व तक शक्ति के विचार को राजनीतिक अध्ययन में उचित स्थान प्राप्त न था। प्राचीन काल में शक्ति की धारणा को राज्य की असीमित या निरंकुश शक्ति से सम्बद्ध समझा जाता था और इसी कारण इसके प्रति सन्देह उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक था।

वर्तमान समय में शक्ति की धारणा ने पर्याप्त महत्व और लोकप्रियता प्राप्त कर ली है और जार्ज केटलिन तथा हैरल्ड डी० लासवेल ने इस धारणा पर विस्तार से विचार व्यक्त किये हैं। लासवेल वर्तमान युग का सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली शक्ति शोधकर्ता है।

जार्ज केटलिन के विचार—जार्ज केटलिन ने शक्ति को राजनीतिक जीवन का प्राथमिक तत्व माना है। केटलिन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में अपनी कामनाओं को पूरा करने की इच्छा होती है और यही इच्छा उसके समस्त कार्यों का आधार है। अपनी इच्छा लागू करने के लिए अन्य लोगों की इच्छाओं को नियन्त्रित करना आवश्यक हो जाता है और व्यक्ति जब इस दिशा में चेष्टा करता है, तभी शक्ति या सत्ता के तत्व का उदय हो जाता है।

शक्ति का अध्ययन पूर्ण रूप से यह स्पष्ट नहीं करता कि सरकार समाज को

किस प्रकार नियन्त्रित करती है अथवा व्यवस्था की स्थापना कैसे करती है, वरन् इसके द्वारा इस व्यापक समस्या पर विचार किया जाता है कि एक व्यक्ति या समूह दूसरों की इच्छाओं को किस प्रकार प्रभावित करता है। केटलिन का विचार है कि "इच्छाओं के संघर्ष को राजनीति विज्ञान का आधार बनाया जाय, तो राजनीति विज्ञान की शेष विषय-वस्तु स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगी।'

लासवेल के विचार—यद्यपि केटलिन और लासवेल दोनों ही विचारक शक्ति पर जोर देने के सम्बन्ध में एकमत हैं, लेकिन लासवेल ने राजनीति के अध्ययन को केटलिन की अपेक्षा कुछ व्यापक दृष्टि से देखा है और इसलिए उनके निष्कर्ष भी भिन्न प्रकार के हैं।

लासवेल का विचार है कि राजनीति विज्ञान मूल रूप से एक शक्ति प्रक्रिया नहीं है, वरन् यह समाज में मूल्यों की स्थिति एवं बनावट में परिवर्तन का अध्ययन है, अतः राजनीति विज्ञान में शक्ति एवं मूल्य दोनों का ही अध्ययन किया जाना चाहिए और इन दोनों की परस्पर निर्भरता को भी स्पष्ट किया जाना चाहिए। उन्होंने अपनी पुस्तक **'कौन, कब, क्या कैसे प्राप्त करता है'** (Who, gets, What, When and How) में स्पष्ट किया है कि उच्च राजनीतिक वर्ग के पास जो शक्ति होती है, उसका स्रोत क्या होता है? यह पुस्तक मुख्य रूप से उन साधनों का वर्णन करती है, जिनके माध्यम से उच्च वर्ग के लोग शक्ति के पद पर पहुँचते हैं और कायम रहते हैं तथा अपनी सुरक्षा, आय और आदर को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यदि हम राजनीति विज्ञान को बदलते हुए मूल्यों के रूप का अध्ययन मानें तो लासवेल की यह पुस्तक सम्पूर्ण प्रक्रिया के केवल एक छोटे भाग मात्र को अभिव्यक्त करने वाली समझी जायगी। अनेक विचारकों ने लासवेल की धारणा को एक संकीर्ण विचारधारा माना है, क्योंकि इसके आधार पर लासवेल ने राजनीति विज्ञान की सम्पूर्ण विषय-वस्तु को शक्ति के लिए संघर्ष मान लिया है। इसके बाद लासवेल की एक अन्य पुस्तक **'शक्ति और समाज'** (*Power and Society*) प्रकाशित हुई और इस पुस्तक में उन्होंने मूल्यों के वितरण को भी राजनीति विज्ञान के अध्ययन में सम्मिलित कर लिया।

राजनीति में सत्ता की भूमिका

सत्ता को राज्य व्यवस्था रूपी 'शरीर' की 'आत्मा' कहा जा सकता है। यह शक्ति, प्रभाव और नेतृत्व का मूल उपकरण है और नीति निर्माण, समन्वय, अनुशासन और प्रत्यायोजन (delegation) आदि राजनीतिक प्रक्रियाएँ सत्ता के आधार पर ही सम्भव होती हैं। औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही प्रकार के संगठनों में सत्ता को महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त होती है और राजनीतिक जीवन में सत्ता की अवहेलना नहीं की जा सकती। कोई व्यक्ति या व्यक्ति समूह बिना औपचारिक सत्ता के होते हुए भी एक विशेष परिस्थिति में सत्ता धारण किये रह सकता है। लोकतन्त्र में सत्ता का अधीनस्थों अर्थात् जनता के द्वारा स्वीकृत किया जाना महत्वपूर्ण होता

है। राज व्यवस्थाओं एवं राजनीति मे सत्ता की मात्रा को बढ़ाना आवश्यक तथा महत्वपूर्ण होता है, राजनीतिक लक्ष्यों की सिद्धि इसी से सम्भव होती है।

सत्ता की अवधारणा : अर्थ एवं व्याख्या

समाज विज्ञानों के अन्तरराष्ट्रीय ज्ञान कोष के अनुसार सत्ता को कई प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। सत्ता की अनेक व्याख्याएं की गयी हैं, किन्तु अपने सभी रूपों मे सत्ता शक्ति, प्रभाव एवं नेतृत्व से जुड़ी हुई है। बायर्सटेड के अनुसार, 'सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है, वह स्वयं शक्ति नहीं है'। बीच (Beach) दूसरों के कार्य निष्पादन को प्रभावित या निर्देशित करने के औचित्यपूर्ण अधिकार को सत्ता कहता है। रोवे ने बताया है कि यह व्यक्तियों एवं व्यक्ति समूहों को हमारे राजनीतिक निश्चयों के निर्धारण तथा राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करने का अधिकार है। सत्ता का इसलिए स्वीकार नहीं किया जाता कि वह 'अधिकारियों' द्वारा दी जाती है। इसका वास्तविक आधार अधीनस्थ अथवा जिन्हें निर्देश दिये जाते हैं, उनकी सहमति होती है। अधीनस्थ जब इस बात को स्वीकार करते हैं कि आदेशों का स्रोत सही या उचित है, तब ही आदेश देने वाले अधिकारी को 'अधिकारी' कहा जा सकता है। सत्ता सामान्य स्वीकृति के साथ शक्ति के प्रयोग को कहा जाता है। वह शक्ति के समान, शास्तियों (Sanctions) के आधार पर नहीं, अपितु उचित होने के कारण, दूसरों के व्यवहार को अपने अनुकूल बनाकर प्रभावित करने का साधन है। यूनेस्को की एक रिपोर्ट के अनुसार सत्ता वह शक्ति है जो कि स्वीकृत, सम्मानित, ज्ञात एवं औचित्यपूर्ण हो।

सत्ता की व्याख्या के विषय में हरबर्ट साइमन ने भी मौलिक एवं महत्वपूर्ण विचारों का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार सत्ता के अन्तर्गत वरिष्ठ एवं अधीनस्थ के व्यवहार आते हैं। सत्ता का अस्तित्व, तब और केवल तब ही माना जाता है, जबकि ऐसा सम्बन्ध उन दोनों के बीच मे स्थित हो। यदि अधीनस्थ के व्यवहार मे परिवर्तन नहीं दिखायी देता है, तो कोई सत्ता नहीं मानी जाती, चाहे संगठन के 'कागजी' सिद्धान्त कुछ भी क्यो न हो। वास्तव में सत्ता स्थिति के अन्तर्गत दो प्रकार के व्यवहार होते हैं : (1) आदेशों के अनुपालन की प्रत्याशा, तथा (2) आदेशों के अनुपालन की इच्छा।

सत्ता की प्रकृति

सत्ता की प्रकृति के सम्बन्ध मे विचार भेद हैं और इस सम्बन्ध मे प्रमुख रूप से दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। ये दोनों ही सिद्धान्त प्रो० बीच (Beach) द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं और निम्न प्रकार हैं

(1) औपचारिक सत्ता सिद्धान्त (Formal Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार सत्ता को आदेश देने का अधिकार माना जाता है और सत्ता का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर चलता है। यह अधिकार व्यवस्थाओं एवं संगठनों में विशिष्ट एवं

वरिष्ठ अधिकारियों को दिया जाता है और इससे आदेश या सत्ता का एक पदक्रम बन जाता है।

सत्ता के पीछे व्यवस्था या संगठन की औचित्यपूर्ण शक्ति होती है। इस शक्ति के कारण उसे स्वीकार किया जाता है। सत्ता आवश्यक रूप से सत्ताधारी की व्यक्तिगत श्रेष्ठता को नहीं बतलाती। सत्ताधारी तो व्यवस्था या संगठन में अन्तर्निहित शक्ति का कार्यशील प्रतीक मात्र है। मैकाइवर ने इसे 'शासन का जादू' कहा है कि एक व्यक्ति जो आदेश देता है वह भले ही अपने अधीनस्थों से अधिक बुद्धिमान न हों, अधिक योग्य न हों और किसी भी दृष्टि से अपने सामान्य साथियों में श्रेष्ठ न हों, कभी कभी तो उसका स्तर इन सबसे हीन भी हो सकता है, लेकिन वह सत्ता की स्थिति में होने के कारण आदेश निर्देश देता है और उसके आदेशों का पालन किया जाता है।

(2) स्वीकृति सिद्धान्त (Acceptance Theory)—व्यवहारवादी या मानव सम्बन्धवादी औपचारिक सत्ता सिद्धान्त में विश्वास न रखते हुए 'स्वीकृति सिद्धान्त' का प्रतिपादन करते हैं। इन यथार्थवादी अध्ययनकर्ताओं के अनुसार, सत्ता कानूनी रूप से तो केवल औपचारिक होती है किन्तु वास्तव में सत्ता या आदेश के अधिकार की सफलता अधीनस्थों की स्वीकृति पर निर्भर करती है। जब अधीनस्थ अपनी समझ और योग्यता के दायरे में आदेशों को स्वीकार कर लेते हैं तो यह स्थिति 'सत्ता स्थिति' बन जाती है। बर्नार्ड अपनी रचना '*The Functions of the Executive*' में लिखते हैं कि अधीनस्थ आदेशों को स्वीकार करें, इसके लिए चार शर्तें पूरी होनी आवश्यक हैं (i) अधीनस्थ अधिकारी आदेश अथवा सूचना को समझता या समझ सकता हो, (ii) अपने निश्चय करने के समय उसका यह विश्वास हो कि आदेश संगठन के उद्देश्यों के साथ असंगत नहीं है (iii) निर्णय लेने के समय में वह यह सोचता हो कि एक समग्रता के रूप में सम्बन्धित आदेश उसके व्यक्तिगत हितों के अनुकूल है, तथा (iv) वह मानसिक और शारीरिक दृष्टि से उस आदेश के अनुपालन की क्षमता रखता हो।

वस्तुतः सत्ता की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रतिपादित इन दोनों ही सिद्धान्तों की अपनी दुर्बलताएँ हैं और इन्हें अतिवादी कहा जा सकता है। इन दोनों सिद्धान्तों की सत्यताओं को ग्रहण करते हुए एक सन्तुलित दृष्टिकोण का विकास हुआ है, जिसके अन्तर्गत सत्ता की अवधारणा में संस्थाकृत औचित्यपूर्ण शक्ति और अधीनस्थों की स्वीकृति दोनों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। यही उचित दृष्टिकोण है और राजनीति विज्ञान में सामान्यतया इसी को अपनाया गया है।

सत्ता के स्रोत या सत्ता के प्रकार

सत्ता की अवधारणा की विवेचना सुकरात, प्लेटो और आगस्टाइन आदि के समय से होती रही है, किन्तु इसकी विस्तृत विवेचना बीसवीं सदी के राजनीतिक

और समाजशास्त्रीय विश्लेषक मैक्स वेबर द्वारा प्रस्तुत की गयी है। सत्ता एवं औचित्यपूर्णता का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और मैक्स वेबर ने इस सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए *औचित्यपूर्णता के आधार पर सत्ता के स्रोतों एवं प्रकारों का वर्णन किया* है। उसके अनुसार अपने स्रोत के आधार पर सत्ता तीन प्रकार की होती है

(1) परम्परागत (Traditional)—जब प्रजा या अधीनस्थ वरिष्ठ अधिकारियों के आदेशों को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि ऐसा सदैव से होता आया है, तो सत्ता का यह प्रकार परम्परागत कहा जायगा। इस प्रकार परम्परागत सत्ता का अभिप्राय शासन के उस अधिकार से है जो राजनीतिक शक्ति के अनवरत प्रयोग से उभरता है। इस प्रकार की सत्ता में 'प्रत्यायोजन' (delegation) मात्र *अस्थायी रूप से किया जाता और स्वेच्छाचारी होता है। अधीनस्थ सेवक समझे* जाते हैं और वे आज्ञापालन परम्पराओं के प्रतीक विशेष व्यक्ति के कारण करते हैं जैसे राजतन्त्र में राजा।

(2) बौद्धिक कानूनी या संवैधानिक औपचारिक सत्ता (Rational Legal or Legal Bureaucratic Authority)—जब अधीनस्थ किसी नियम को इस आधार पर स्वीकार करते हैं कि वह नियम उन उच्चस्तरीय अमूर्त नियमों के साथ सम्मत है, जिसे वे औचित्यपूर्ण समझते हैं, तब इस स्थिति में सत्ता को बौद्धिक-कानूनी माना जाता है। यह सत्ता संवैधानिक नियमों के अन्तर्गत धारण किये गये पद से प्राप्त होती है। अमरीका में जब राष्ट्रपति पद का कोई उम्मीदवार निर्वाचक मण्डल का बहुमत प्राप्त कर लेता है अथवा जब भारत में लोकसभा के बहुमत सदस्य किसी को अपना नेता निर्वाचित कर उसे प्रधानमन्त्री पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं, तब यह सत्ता का बौद्धिक-तार्किक आधार ही होता है। इसमें सत्ता का प्रत्यायोजन बौद्धिक आधार पर किया जाता है और कर्मचारीगण संवैधानिक रूप से *स्थापित निर्वैयक्तिक आदेशों के आधार पर आज्ञापालन करते हैं। सत्ता का यह रूप* आधुनिक नौकरशाही को अपने विशुद्ध रूप में प्रकट करता है।

(3) करिश्मात्मक सत्ता (Charismatic Authority)—जब अधीनस्थ वरिष्ठ सत्ताधारी के आदेशों को इस आधार पर न्यायसंगत मानते हैं कि उन पर सत्ताधारी का व्यक्तिगत प्रभाव है, तब इसे करिश्मात्मक सत्ता कहते हैं। इस सत्ता स्थिति में प्रायः कोई प्रत्यायोजन नहीं होता और अधीनस्थ अथवा कर्मचारी सत्ताधारी के व्यक्तिगत सेवक के रूप में आचरण करते हैं। अधीनस्थ अनुयायी होते हैं और अपने प्रिय नेता के करिश्माती एवं आदर्शवादी व्यक्तित्व के कारण उसके आदेशों का पालन करते हैं। *स्पष्टतया मैक्स वेबर केवल औचित्यपूर्ण सत्ता का विश्लेषण* प्रस्तुत करता है। मैक्स वेबर बतलाता है कि *बौद्धिक-कानूनी सत्ता कमजोर एवं* भ्रजनशील होती है, अतः उसे सबलता प्रदान करने के लिए उसमें परम्परागत एवं करिश्माती तत्वों को शामिल किया जाना चाहिए।

संगठनात्मक सत्ता के विभिन्न प्रतिमान
(मैक्स वेबर के आधार पर)

सत्ता का प्रकार	कर्मचारी वर्ग का संगठनात्मक प्रकार	सत्ता प्रयोग की प्रकारात्मक विधि	जिसके प्रति कर्मचारी-वर्ग आज्ञापालक है
परम्परागत	सेवक	तदर्थ प्रत्यायोजन	नेता का व्यक्तित्व और परम्परा
बौद्धिक-कानूनी	ब्यूरो/विभाग	बौद्धिक प्रत्यायोजन	कानूनी रूप से स्थापित अव्यक्तिगत व्यवस्था
करिश्मात्मक	व्यक्तिगत कर्मचारी सेवक	प्रदत्त प्रत्यायोजन नहीं	नेता का आदर्शीकृत और चमत्कारिक व्यक्तित्व

संस्थात्मक शक्ति की दृष्टि से सत्ता का विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता है और इस सत्ता प्रयोग के आधार पर व्यापक सन्दर्भ में सत्ता के और भी प्रकार हो सकते हैं (i) क्षेत्रीयता की दृष्टि से राष्ट्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय, (ii) अपेक्षाकृत व्यापक सन्दर्भ की दृष्टि से राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय, (iii) संवैधानिक दृष्टि से संविधान से प्राप्त अथवा साधारण कानूनों से प्राप्त, (iv) सरकार के परम्परागत अंगों के आधार पर कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका सम्बन्धी, (v) राजनीतिक दृष्टि से राजनीतिक तथा प्रशासनिक, (vi) संख्यात्मक दृष्टि से एकल, बहुल, निगमनात्मक, आयोगात्मक अथवा मण्डलात्मक, तथा (vii) विभिन्न विषयों की दृष्टि से सत्ता आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, तकनीकी आदि हो सकती है।

सत्ता के ये विभिन्न रूप सत्ता प्रयोग की दृष्टि से ही बतलाये जा सकते हैं और सत्ता के इन तथाकथित रूपों में परस्पर कोई मूल अन्तर नहीं है।

सत्ता के आधार

सत्ता एक ऐसा स्वतन्त्र परिवर्त्य है जिसका शक्ति, प्रभाव आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सत्ता के अनेक स्रोत एवं आधार होते हैं। सत्ता का मूल आधार तो औचित्यपूर्णता ही है क्योंकि सत्ता के आदेशों का पालन सत्ताधारी और अधीनस्थ के बीच मूल्यों की समानता के आधार पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त विश्वास, विचारों की एकरूपता, विभिन्न दण्ड विधान, अधीनस्थों की प्रकृति तथा पर्यावरणात्मक दबाव आदि भी सत्ता के आधार रूप में कार्य करते हैं। पर्यावरणात्मक दबाव आन्तरिक और बाहरी, दोनों ही रूपों में होते हैं। राज व्यवस्थाओं में आन्तरिक दबाव आन्तरिक राजनीतिक संरचनाओं जैसे संविधान, प्रशासनिक संगठन, पदानुक्रम में आयोजित विभिन्न पदों तथा इन पदधारियों के अधिकार तथा शक्तियों के रूप में होते हैं। इसके अतिरिक्त सत्ताधारी की कार्यकुशलता और वैयक्तिक गुण भी सत्ता के आधार रूप में कार्य करते हैं। अपने राज्य का भलीभाँति अस्तित्व बनाये रखने की इच्छा, बाहरी दबाव के रूप में सत्ता के आधार का कार्य करती है।

सत्ता को स्वीकार करने के लिए अधीनस्थ के पास एक 'तटस्थता का क्षेत्र, (Zone of indifference) होता है, जिसके अन्तर्गत आने वाले मामलों में वह सत्ता के आदेशों को आँख मींचकर स्वीकार करता है। स्वीकृति का यह क्षेत्र सीमित होता है तथा घटता-बढ़ता रहता है। सामान्यतया अधीनस्थ की यह प्रवृत्ति रहती है कि वह प्रत्येक विषय में प्राधिकारी के आदेशों का पालन करें, क्योंकि ऐसा करने में वह उत्तरदायित्व से बच जाता है। अधीनस्थ की दृष्टि से आवश्यक है कि आदेश समस्त संगठन के लिए हितकारी हों तथा उसके व्यक्तिगत हित में भी हों। वह पुरस्कार, प्रशंसा, लालच या दण्ड के भय से भी आदेशों का पालन कर सकता है। जब सत्ताधारी में कोरी सत्ता के अलावा, नेतृत्व तथा अन्य व्यक्तिगत गुण हों, तब अधीनस्थ के लिए आदेशों का पालन स्वाभाविक हो जाता है। सत्ता की कुशलता उस *समय सर्वाधिक हो जाती है जबकि सत्ताधारी और अधीनस्थों के बीच मूल्यों की* समानता स्थापित हो जाती है। सत्ता की स्वीकृति का यह क्षेत्र असीमित नहीं होता और न ही अपरिवर्तित रहता है। सत्ताधारी की स्थिति, सत्ताधारी और अधीनस्थ के बीच सम्बन्धों की स्थिति और अन्य तत्वों के आधार पर इसमें कमी और वृद्धि होती रहती है।

सत्ता की सीमाएँ

सत्ता के प्रयोग और परिचालन पर अनेक प्रतिबन्ध होते हैं जिससे उनका मनमाना प्रयोग न किया जा सके। ये प्रतिबन्ध प्राकृतिक, उद्देश्यगत आन्तरिक, बाहरी और प्रक्रिया सम्बन्धी भी हो सकते हैं। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को यह अधिकार नहीं हो सकता कि वह व्यक्ति को उसके जीवन, सामान्य स्वतन्त्रताओं और सीमित सम्पत्ति से भी वंचित कर दे। यह सत्ता की प्राकृतिक सीमा है। प्रत्येक *राजनीतिक व्यवस्था के कुछ निर्धारित और उद्घोषित लक्ष्य होते हैं तथा सत्ता इन* लक्ष्यों एवं आदर्शों का उल्लंघन नहीं कर सकती। व्यवस्थाएँ संस्कृति, मूल्यों, परम्पराओं, रूढ़ियों आदि नैतिक अवधारणाओं से बँधी रहती हैं तथा उन्हें संवैधानिक कानूनों एवं राजनीतिक परिस्थितियों में रहकर कार्य करना होता है। प्रत्येक व्यवस्था कुशल-कार्य संचालन के लिए अनेक नियम एवं उपनियम बना लेती है। साथ ही कार्य की सुगमता के लिए योजनाएँ एवं नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं, ये नियम-उपनियम, नीतियाँ एवं योजनाएँ सत्ता की सीमाएँ निर्धारित करते हैं।

इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यवस्थाओं में प्रायः उनमें कार्य करने वाले कर्मचारी अपने निजी हितों की वृद्धि के लिए संघ आदि बनाकर सामूहिक सौदेबाजी करते हैं, यह स्थिति भी सत्ता पर अवरोध लगा देती है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में अन्तरराष्ट्रीय संगठनों के अस्तित्व और अन्तरराष्ट्रीय कानूनों की अधिक मान्यता ने भी सत्ता पर सीमाएँ लगा दी हैं। इन सबके अतिरिक्त सत्ता का प्रयोग मनुष्यों द्वारा होता है और मानव क्षमताएँ सीमित होने के नाते भी सत्ता की सीमाएँ स्थापित हो जाती हैं।

राजनीतिक चिन्तन की सार्थकता सत्ता को सामर्थ्य प्रदान करने तथा साथ ही साथ उस पर सीमाएँ लगाने में ही है, जिससे सत्ता की जनहितकारिणी स्थिति बनी रहे।

शक्ति, बल, प्रभाव और सत्ता : सम्बन्ध और भेद
(POWER, FORCE, INFLUENCE AND ANTHORITY RELATIONSHIP AND DISTINCTION)

शक्ति और बल (Power and Force)

सामान्यतया शक्ति और बल को एक ही समझ लिया जाता है, किन्तु वास्तव में इन दोनों में अन्तर है। शक्ति बल का पर्याय नहीं है, क्योंकि शक्ति प्रच्छन्न बल है और बल प्रकट शक्ति। शक्ति की पृष्ठभूमि में बल रह सकता है, किन्तु वह बिलकुल अलग है। शक्ति अप्रकट तत्व है, बल प्रकट तत्व है। बल का अर्थ है शास्तियों (Sanctions) की प्रयुक्ति या प्रतिबन्धों की व्यवस्था, जिसमें साधारण जुर्माने से लेकर प्राणदण्ड तक शामिल है। इस दृष्टि से शक्ति एक मनोभाव अथवा पूर्ण क्षमता है जो कि बल को सम्भव बनाती है।

रॉबर्ट बायर्सटेड के अनुसार, "शक्ति बल प्रयोग की योग्यता है न कि उसका वास्तविक प्रयोग।" वास्तव में, बल शक्ति का एक रूप है किन्तु बल ही शक्ति नहीं है। बायर्सटेड ने शक्ति के तीन रूप बताये हैं : बल, प्रभाव तथा प्रभुत्व। बल शक्ति के दामन में उसी प्रकार रहता है, जैसे बादल में बिजली रहती है। जब बल अमर्यादित तथा लक्ष्यहीन होता है, तब उसे दमन कहा जाता है। स्वीकृत, सीमित तथा नियन्त्रित बल को शास्तियाँ कहा जाता है, इस प्रकार शक्ति बल की तुलना में निश्चित रूप में एक व्यापक तत्व है।

राजनीतिक शक्ति एवं सैनिक शक्ति में अन्तर (Distinction between Political Power and Military Power)—यद्यपि राजनीतिक शक्ति और सैनिक शक्ति दोनों व्यापक दृष्टिकोण से शक्ति के ही प्रकार हैं, किन्तु इन्हें एक ही नहीं समझ लिया जाना चाहिए। राजनीतिक शक्ति एक जटिल शब्द है जिसमें सदैव ही शक्ति के अन्य रूप भी सम्मिलित होते हैं जैसे धन, शस्त्र-सामग्री, नागरिक सत्ता, मत पर प्रभाव, आदि। सैनिक शक्ति एक स्पष्ट तत्व है जो सैन्य बल पर आधारित होता है। राजनीति में सैनिक शक्ति का स्थान अत्यन्त गौण रहता है, क्योंकि शक्ति वास्तविक बल प्रयोग नहीं, वरन् बल की क्षमता है। मार्गेन्थो ने राजनीतिक शक्ति को मनोवैज्ञानिक शक्ति माना है जिसके अनुसार मनुष्य दूसरे मनुष्यों की क्रियाओं तथा मस्तिष्कों पर नियन्त्रण रखता है। सैनिक शक्ति दमन का वास्तविक प्रयोग है। जब हिंसा या दमन का वास्तविक प्रयोग किया जाता है तो उसका अर्थ है कि सैनिक या अर्द्ध सैनिक शक्ति के पक्ष में राजनीतिक शक्ति ने अधित्याग (abdiction) कर दिया है। किन्तु डायक सैनिक शक्ति को भी राजनीतिक शक्ति के अन्तर्गत रखने के पक्ष में है। उसके अनुसार सघर्ष राजनीति का मूल सार है चाहे वह शब्दों द्वारा या हिंसा

द्वारा किया जाय। इस दृष्टि से सैनिक शक्ति को राजनीतिक शक्ति का एक उप-विभाग समझा जाना चाहिए। फिर भी सैनिक शक्ति राजनीतिक शक्ति की पृष्ठभूमि में ही रहती है। शस्त्रों, हिंसा या दमन द्वारा स्थापित सुव्यवस्था आदिमकालीन समाज की प्रतीक है जो किसी भी सभ्य राजनीतिक समाज के लिए प्रतिष्ठा की वस्तु नहीं हो सकती है। राजनीतिक शक्ति मनोवैज्ञानिक प्रभाव, नेतृत्व तथा स्वेच्छा जैसे तत्वों पर आधारित हो सकती है।

शक्ति एवं प्रभाव (Power and Influence)

समानताएँ—शक्ति और प्रभाव, यदि कुछ आधारों पर एक-दूसरे के समान हैं तो दूसरी ओर इनमें महत्वपूर्ण असमानताएँ भी हैं। ब्राख और बारात (Brachach and Barat) ने अपनी पुस्तक *'Political Power'* में इन दोनों में अनेक समानताएँ बतायी हैं। इन लेखकों के अनुसार शक्ति एवं प्रभाव, दोनों ही बौद्धिक एवं सम्बन्धात्मक हैं तथा एक दूसरे को सबलता प्रदान करते हैं। दोनों औचित्यपूर्ण हो जाने के पश्चात् ही प्रभावशाली होते हैं। प्रभाव शक्ति उत्पन्न करता है तथा शक्ति प्रभाव को। दोनों को एक-दूसरे की आवश्यकता पड़ती है। शक्ति और प्रभाव अलग अलग व्यक्ति में हो सकते हैं और शक्ति तथा प्रभाव दोनों के दर्शन एक ही व्यक्ति में भी किये जा सकते हैं। शक्ति एवं प्रभाव दोनों प्रभावित व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करते हैं किन्तु वह व्यक्ति शक्ति के कारण परिवर्तित हुआ या प्रभाव के कारण, यह मालूम करना कठिन होता है। इसका निर्णय तो वास्तव में स्वयं वही कर सकता है। ये दोनों एक-दूसरे के लिए वर्द्धनकारी भी हो सकते हैं।

असमानताएँ—शक्ति और प्रभाव एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हुए भी इनमें महत्वपूर्ण भेद हैं

(1) शक्ति दमनात्मक होती है और उसके पीछे कठोर भौतिक बल एवं प्रतिबन्धों का प्रयोग होता है। जब शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो शक्ति से प्रभावित होने वाले व्यक्ति या समूह के पास उसे स्वीकार करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं होता। प्रभाव अनुनयात्मक, इच्छापूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक होता है। प्रभावित होने वाले व्यक्ति या समूह के पास सदैव उसके अनुपालन के विषय में अनेक विकल्प मौजूद रहते हैं।

(2) शक्ति प्राय शक्तिधारक के पास एक स्वतन्त्र-तत्त्व के रूप में रहती है। उसका प्रयोग शक्तिधारक दूसरों की इच्छा के विरुद्ध एवं प्रतिरोध के रहते हुए कर सकता है। प्रभाव सम्बन्धात्मक होता है और उसकी सफलता का आधार प्रभावित व्यक्ति की सहमति या स्वीकृति होती है अर्थात प्रभाव प्रभावित व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होता है।

(3) शक्ति को अप्रजातन्त्रात्मक माना जाता है। यह प्रति-शक्ति (counter power) को आमन्त्रित करती है तथा भय पर आधारित होती है। इसके विरुद्ध प्रभाव पूर्णतया प्रजातन्त्रात्मक माना जाता है। उसका अनुपालन स्वेच्छा से किया

जाता है। 'प्रभाव' का प्रभाव विचारवादी समानताओं और मूल्यों की समरूपता के कारण होता है।

(4) शक्ति और शक्ति के प्रयोग पर अनेक सीमाएँ लगी होती हैं। शक्ति कितनी भी अधिक क्यों न हो, उसे किसी न किसी तरह के प्रभाव के सहारे की आवश्यकता पड़ती है अन्यथा शक्ति के दुर्बल होने या प्रतिबन्धों के अभाव में उसका अनुपालन नहीं किया जायगा। प्रभाव की शक्ति असीम होती है और प्रभाव प्राप्त कर लेने पर उसका खुलकर लाभ उठाया जा सकता है क्योंकि प्रभावक और प्रभावित के बीच एक सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सच्चे रूप में प्रभाव प्राप्त हो जाने पर शक्ति अनावश्यक हो जाती है।

(5) शक्ति को सभ्यता एवं संस्कृति के बाहरी तत्व के रूप में समझा जाना चाहिए। उसका प्रयोग निश्चित, सीमित और विशिष्ट रूप से ही किया जा सकता है। उसके प्रयोगकर्ता का स्वरूप प्रायः सुनिश्चित होता है जबकि प्रभाव प्रायः व्यक्तिगत, अमूर्त तथा अस्पष्ट होता है।

कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनमें शक्ति और प्रभाव एक दूसरे से पूर्णतया पृथक रहते हैं। एक व्यक्ति शक्ति रखते हुए भी प्रभावहीन हो सकता है। उदाहरण के लिए, 25 मार्च, 1971 से 16 दिसम्बर, 1971 तक याह्या खाँ की पूर्वी बंगाल के सम्बन्ध में यही स्थिति थी। उन्हें पूर्वी बंगाल के सम्बन्ध में केवल शक्ति प्राप्त थी, प्रभाव नहीं। दूसरी ओर शेख मुजीबुर्रहमान को दिसम्बर 1971 के पूर्व पूर्वी बंगाल के सम्बन्ध में प्रभाव ही प्राप्त था, शक्ति या सत्ता नहीं। इस प्रकार प्रभाव को शक्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती और शक्ति भी बिना प्रभाव के रह सकती है।

शक्ति और सत्ता (*Power and Authority*)

राजनीतिक संगठन उन संरचनाओं द्वारा निर्मित होते हैं जो कि बल के प्रयोग का नियमन करती हैं तथा सामाजिक सहयोग और नेतृत्व से सम्बन्धित होती हैं। इनमें शक्ति और सत्ता का महत्वपूर्ण स्थान होता है। शक्ति व्यक्तियों, समूहों तथा भौतिक परिस्थितियों के प्रतिरोध के होते हुए भी स्वतन्त्र कार्य करने की क्षमता का नाम है। यह आदेश देने की क्षमता है। उसे अपनी इच्छा को प्रभावशाली ढंग से पूर्ण करने की योग्यता के रूप में देखा जा सकता है और यदि आवश्यकता पड़े तो दूसरों पर थोपा जा सकता है। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनमें दूसरे राज्यों पर अनधिकृत रूप से अधिकार किया गया अथवा उन पर विजय प्राप्त की गयी, किन्तु बाद में धीरे धीरे उन्हें जनस्वीकृति प्राप्त हो गयी और वे सत्ता बन गये। सत्ता के बिना शक्ति असंस्थायीकृत, असाधनात्मक, परिस्थितिजन्य एवं अनिश्चित होती है। सत्ता संस्थायीकृत होने के कारण अपने विषय-क्षेत्र और प्रकृति से निश्चित होती है, उसके निर्देशों को बाध्यकारी मानकर पालन किया जाता है। सत्ता निश्चित, स्पष्ट तथा प्रकट होती है। इसलिए उसका विभिन्न स्तरों पर व्यक्तियों, संस्थाओं

अथवा समूहों में प्रत्यायोजन किया जा सकता है। शक्ति में इस प्रकार की स्पष्टता एवं निश्चितता का अभाव होता है।

चार्ल्स ई० मेरियम ने अपनी पुस्तक *'Political Power'* में शक्ति और सत्ता में कोई भेद नहीं किया है लेकिन वास्तव में इस प्रकार का दृष्टिकोण उचित नहीं है। शक्ति दमन का एक यन्त्र है और इसका प्रभाव भौतिक होता है। सत्ता सहमति पर आधारित हो सकती है और इसके साथ ही अधिक प्रभावदायक हो सकती है। अनेक राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएँ ऐसी हैं जो कि बहुत अधिक सत्ता का प्रयोग करती हैं किन्तु केवल सहमति पर आधारित है। शिक्षक, पत्रकार और जन-सेवक की सत्ता मात्र सहमति पर आधारित होती है, फिर भी उसका बहुत अधिक सम्मान किया जाता है।

राजनीतिक व्यवस्थाओं और संगठनों में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि वरिष्ठ व्यक्ति के पास केवल सत्ता है और अधीनस्थ या कनिष्ठ व्यक्तियों के पास शक्ति लेकिन यह अवांछित स्थिति ही है। इन दोनों का उचित सन्तुलन राजनीति की एक शाश्वत समस्या है, जिसे सफल नेतृत्व के द्वारा ही सुलझाया जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्था और संगठनों में सत्ता और शक्ति को सामान्य रूप से संयुक्त किया जाता है और ऐसा किया जाना आवश्यक है क्योंकि अत्यन्त लोकप्रिय शासक को भी शासन सत्ता के संचालन के लिए सत्ता और शक्ति दोनों की आवश्यकता होती है।

प्रश्न

1. शक्ति की धारणा की व्याख्या कीजिए। इसे आप प्रभाव (Influence) और सत्ता (Authority) से किस प्रकार पृथक कर सकते हैं?
2. *शक्ति का बल से क्या सम्बन्ध है? शक्ति की धारणा भौतिक बल से किस प्रकार व्यापक है?*
3. किन परिस्थितियों में शक्ति राजनीतिक रूप ग्रहण कर लेती है? राजनीतिक शक्ति का सैनिक शक्ति से भेद स्पष्ट कीजिए।
4. शक्ति और सत्ता की परिभाषा करते हुए इन दोनों में अन्तर तथा सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
5. शक्ति की धारणा को 'सापेक्ष' (Relational) क्यों समझा जाता है? सापेक्षिक शक्ति की धारणा परम्परागत धारणा से किस प्रकार भिन्न है?
6. सत्ता की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। सत्ता की प्रकृति के विषय में प्रो० बीच द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
7. सत्ता के स्रोत या प्रकारों का वर्णन कीजिए। सत्ता के आधार और सीमाएँ बतलाइए।

12

स्वतन्त्रता और समानता

[LIBERTY AND EQUALITY]

'स्वतन्त्रता किसी अन्य साध्य की प्राप्ति का साधन नहीं, वरन् यह सर्वोच्च साध्य है।"
—डॉ० राधाकृष्णन्

स्वतन्त्रता का महत्त्व—मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए अधिकारों का अस्तित्व नितान्त आवश्यक होता है और व्यक्ति के विविध अधिकारो मे स्वतन्त्रता का स्थान बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। बर्ट्रेण्ड रसेल कहते हैं कि स्वतन्त्रता की इच्छा व्यक्ति की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है और इसी के आधार पर सामाजिक जीवन का निर्माण सम्भव है। मनुष्य का सम्पूर्ण भौतिक, मानसिक एव नैतिक विकास स्वतन्त्रता के वातावरण मे ही सम्भव है। इटली के प्रसिद्ध देशभक्त मैजिनी (Mazzini) का कथन है कि "स्वतन्त्रता के अभाव में आप अपना कोई कर्तव्य पूरा नहीं कर सकते हैं। अतएव आपको स्वतन्त्रता का अधिकार दिया जाता है और जो भी शक्ति आपको इस अधिकार से वंचित रखना चाहती हो, उससे जैसे भी बने, अपनी स्वतन्त्रता छीन लेना आपका कर्तव्य है।'

स्वतन्त्रता का अर्थ—आधुनिक युग मे स्वतन्त्रता शब्द सबसे अधिक लोकप्रिय है और इस शब्द की लोकप्रियता का परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्रता के अलग-अलग अर्थ लेता है। अधिकाश मनुष्य स्वतन्त्रता का अर्थ मनमानी करने से या बिना किसी दूसरे व्यक्ति के हस्तक्षेप के अपनी इच्छानुसार कार्य करने से लेते हैं। स्वतन्त्र विचारक स्वतन्त्रता का अर्थ प्राचीन परम्पराओ एवं बन्धनो से मुक्त होने से लेते हैं, आध्यात्मिक सन्त स्वतन्त्रता का अभिप्राय सासारिक मोह माया से मुक्त होने से लेते हैं और परतन्त्र देश के निवासी स्वतन्त्रता को स्वराज्य का पर्यायवाची समझते हैं किन्तु व्यवहार मे प्रचलित स्वतन्त्रता के इन विविध अर्थों मे कोई भी अर्थ पूर्ण नही है।

स्वतन्त्रता का अंग्रेजी रूपान्तर 'लिबर्टी' (Liberty) लैटिन भाषा के 'लिबर' (Liber) शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है, 'बन्धनों का अभाव' किन्तु 'स्वतन्त्रता' शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर प्रचलित इस अर्थ को स्वीकार नहीं

किया जा सकता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते हुए मनुष्य असीमित स्वतन्त्रता का उपभोग कर ही नहीं सकता। उसे सामाजिक नियमों की मर्यादा के अन्तर्गत रहना होता है। अत राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत स्वतन्त्रता की जिस रूप में कल्पना की जाती है, उस रूप में स्वतन्त्रता मानवीय प्रकृति और सामाजिक जीवन के इन दो विरोधी तत्वों (बन्धनों का अभाव और नियमों के पालन) में सामञ्जस्य का नाम है और इसकी परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "स्वतन्त्रता व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है बशर्ते कि इससे दूसरे व्यक्ति की इसी प्रकार की स्वतन्त्रता में कोई बाधा न पहुँचे।" 1789 की 'मानवीय अधिकार घोषणा' में यही कहा गया है कि "स्वतन्त्रता वह सब कुछ करने की शक्ति का नाम है, जिससे दूसरे व्यक्तियों को आघात न पहुँचे।" सीले, लास्की, मैकेंजी, आदि विद्वानों ने भी स्वतन्त्रता की परिभाषा लगभग इसी प्रकार से की है।

सीले के अनुसार, "स्वतन्त्रता अति शासन की विरोधी है।"[1]

प्रो लास्की के शब्दों मे, "स्वतन्त्रता से मेरा अभिप्राय यह है कि उन सामाजिक परिस्थितियों के अस्तित्व पर प्रतिबन्ध न हो, जो आधुनिक सभ्यता में मनुष्य के सुख के लिए नितान्त आवश्यक है।"[2]

मैकेंजी के अनुसार, "स्वतन्त्रता सभी प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं, अपितु अनुचित प्रतिबन्धों के स्थान पर उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था है।"[3]

सीले, श्रीमैन और मैकेंजी, आदि विद्वानों द्वारा स्वतन्त्रता की जो परिभाषाएँ की गयी हैं, उनमे स्वतन्त्रता का चित्रण अनुचित प्रतिबन्धों का अभाव या उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था के रूप मे किया गया है और इस प्रकार ये परिभाषाएँ स्वतन्त्रता के नकारात्मक स्वरूप को प्रकट करती हैं। किन्तु जैसा कि गैटल ने कहा है, "स्वतन्त्रता का समाज में केवल नकारात्मक स्वरूप ही नहीं है, वरन् सकारात्मक स्वरूप भी है।' स्वतन्त्रता के सकारात्मक या वास्तविक स्वरूप को नकारात्मक स्वरूप से भिन्नता बताते हुए टी एच ग्रीन ने लिखा है कि "जिस प्रकार सौन्दर्य कुरूपता के अभाव का नाम ही नहीं होता, उसी प्रकार स्वतन्त्रता प्रतिबन्धों के अभाव का ही नाम नहीं है।'[4] आगे चलकर ग्रीन ही स्वतन्त्रता के सकारात्मक रूप को अस्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "स्वतन्त्रता ऐसे कार्य करने और उपभोग करने की शक्ति का नाम है जो करने योग्य या उपभोग के योग्य हो।" स्वतन्त्रता के इस

---

1 "Liberty is the opposite of over government." —*Seeley*

2 "Liberty is the absence of restraints upon the existence of those social conditions which in modern civilization are the necessary guarantees of individual happiness." —*Laski*

3 "Freedom is not the absence of all restraints but rather the substitution of rational ones for the irrational." —*Mackenzie*

4 "The positive power of doing or enjoying something worth doing or enjoying." —T H Green

रूप की व्याख्या करते हुए लॉस्की ने कहा है कि **"स्वतन्त्रता उस वातावरण को बनाने रखना है जिनमें व्यक्ति को अपने जीवन का सर्वोच्च विकास करने की सुविधा प्राप्त हो।"**[1]

इस प्रकार सकारात्मक रूप मे स्वतन्त्रता का तात्पर्य ऐसे वातावरण और परिस्थितियो की विद्यमानता से है जिससे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर स्वतन्त्रता के दो तत्व कहे जा सकते हैं·

(1) **न्यूनतम प्रतिबन्ध**—स्वतन्त्रता का प्रथम तत्व यह है कि व्यक्ति के जीवन पर शासन और समाज के दूसरे सदस्यो की ओर से न्यूनतम प्रतिबन्ध होने चाहिए, जिससे व्यक्ति अपने विचार और कार्य-व्यवहार मे अधिकाधिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सके।

(2) **व्यक्तित्व के विकास हेतु सुविधाएँ**—स्वतन्त्रता का दूसरा तत्व यह है कि समाज और राज्य द्वारा व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए।

अत स्वतन्त्रता की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि **"स्वतन्त्रता जीवन की ऐसी अवस्था का नाम है जिसमे व्यक्ति के जीवन पर न्यूनतम प्रतिबन्ध हों और व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकतम सुविधाएँ प्राप्त हों।"**

स्वतन्त्रता के विविध रूप

फ्रांसीसी विद्वान माण्टेस्क्यू ने एक स्थान पर कहा है कि **"स्वतन्त्रता के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा शब्द हो जिसके इतने अधिक अर्थ होते हो और जिसने नागरिकों के मस्तिष्क पर इतना अधिक प्रभाव डाला हो।"** माण्टेस्क्यू के इस कथन का कारण यह है कि राजनीति विज्ञान मे स्वतन्त्रता के विविध रूप प्रचलित हैं, जिसमे निम्नलिखित प्रमुख हैं

(1) **प्राकृतिक स्वतन्त्रता**—इस धारणा के अनुसार स्वतन्त्रता प्रकृति की देन है और मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्र होता है। इसी विचार को व्यक्त करते हुए रूसो ने लिखा है कि **"मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है, किन्तु सर्वत्र वह बन्धनों मे बँधा हुआ है।"**[2]

प्राकृतिक स्वतन्त्रता का आशय मनुष्यो की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता से है। सविदावादी विचारको का मत है कि राज्य की उत्पत्ति के पूर्व व्यक्तियो को इसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। संयुक्त राज्य अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा' और फ्रांस की राज्यक्रान्ति' मे इसी प्रकार की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया गया था। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की इस धारणा के अनुसार

---

1 "Liberty is the eager maintenance of that atmosphere in which man have opportunity of their selves" —*Laski*

2 "Men is born free, but everywhere he is in chains" —Rousseau, *Social Contact*

स्वतन्त्रता प्रकृति प्रदत्त और निरपेक्ष होती है अर्थात् समाज या राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को किसी भी प्रकार से सीमित या प्रतिबन्धित नहीं कर सकता है।

परन्तु प्राकृतिक स्वतन्त्रता की यह धारणा पूर्णतया भ्रमात्मक है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता की स्थिति में तो 'मत्स्य न्याय' का व्यवहार प्रचलित होगा और परिणामतः समाज में केवल कुछ ही व्यक्ति अस्थायी रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेंगे। व्यवहार में प्राकृतिक स्वतन्त्रता का अर्थ है केवल शक्तिशाली व्यक्तियों की स्वतन्त्रता। जिस समाज के अन्तर्गत स्वतन्त्रता का अस्तित्व शक्ति पर आधारित हो, वहाँ निर्बलों का कोई जीवन नहीं होगा। इसके अतिरिक्त समाज में रहकर निरपेक्ष स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं किया जा सकता। सामूहिक हित में स्वतन्त्रता को सीमित करना नितान्त आवश्यक है।

इस धारणा की आलोचना की जाने पर भी इसका पर्याप्त महत्त्व है। यह सिद्धान्त इस बात पर प्रकाश डालता है कि प्रत्येक व्यक्ति की कुछ स्वाभाविक शक्तियाँ होती हैं तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास इन शक्तियों के विकास पर ही निर्भर करता है। राज्य का कर्तव्य है कि वह नागरिकों को इन शक्तियों के विकास हेतु पूर्ण अवसर प्रदान करे। वर्तमान समय में प्राकृतिक स्वतन्त्रता का विचार इस रूप में मान्य है कि व्यक्ति समान हैं और उन्हें व्यक्तित्व के विकास हेतु समान सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए।

(2) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता—इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के उन कार्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए, जिनका सम्बन्ध केवल उनके ही अस्तित्व से हो। इस प्रकार के व्यक्तिगत कार्यों में भोजन, वस्त्र, धर्म और पारिवारिक जीवन को सम्मिलित किया जा सकता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थकों के अनुसार इनसे सम्बन्धित कार्यों में व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। व्यक्तिवादी और कुछ सीमा तक बहुलवादी विचारकों ने इस स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया है। मिल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए ही कहते हैं कि "मानव समाज को केवल आत्मरक्षा के उद्देश्य से ही, किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता में व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से हस्तक्षेप करने का अधिकार हो सकता है। अपने ऊपर, अपने शरीर, मस्तिष्क और आत्मा पर व्यक्ति सम्प्रभु है।"[1]

इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का आदर किया जाना चाहिए लेकिन वर्तमान समय में सामाजिक जीवन इतना जटिल हो गया है कि व्यक्ति के कौन से कार्य स्वयं उसमें ही सम्बन्धित हैं इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता है और अनेक बार ऐसे भी अवसर उपस्थित हो सकते हैं जबकि सार्वजनिक स्वास्थ्य,

1 "The sole end for which mankind are warranted individually collectively in interfering with the liberty of action of any of their member is self protection. Over himself, over his own body, mind and soul, the individual is sovereign." —J. S. Mill, *On Liberty*.

शालीनता और व्यवस्था के हित में व्यक्ति की भोजन सम्बन्धी, वस्त्र सम्बन्धी और धार्मिक स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित करना पड़े। समाजवादी विचारधारा का तो आधार ही यह है कि व्यक्ति के सभी कार्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज पर प्रभाव डालते हैं, अतः समाज के पास इन कार्यों को नियमित करने की शक्ति होनी चाहिए। इस प्रकार यद्यपि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के इस विचार को अब मान्यता प्राप्त नहीं रह गयी है, तथापि इस विचार में इतनी सत्यता अवश्य ही है कि जिन कार्यों का सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति से हो, उनके विषय में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए।

(3) नागरिक स्वतन्त्रता—नागरिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय व्यक्ति की उन स्वतन्त्रताओं से है जो व्यक्ति समाज या राज्य का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। नागरिक स्वतन्त्रता का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर और अधिकार प्रदान करना होता है। अतः स्वभाव से ही यह स्वतन्त्रता असीमित या निरकुश नहीं हो सकती है।

नागरिक स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है—(1) शासन के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता, (2) व्यक्ति को व्यक्ति और व्यक्तियों के समुदाय से स्वतन्त्रता। शासन के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता लिखित या अलिखित संविधान द्वारा मौलिक अधिकारों के माध्यम से या अन्य किसी प्रकार से स्वीकृत की जाती है। नागरिक स्वतन्त्रता का दूसरा रूप मनुष्य के वे अधिकार हैं जिन्हें वह राज्य के अन्य समुदायों और मनुष्यों के विरुद्ध प्राप्त करता है।

साधारणतया नागरिक स्वतन्त्रता का स्तर सभी राज्यों में एक सा नहीं होता है। सोवियत रूस के संविधान द्वारा अपने नागरिकों को कुछ विशेष आर्थिक स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गयी हैं तो पश्चिमी प्रजातन्त्रों के द्वारा अपने नागरिकों को कुछ विशेष नागरिक स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गयी। वस्तुतः जिस राज्य में नागरिक स्वतन्त्रता का स्तर जितना ऊँचा होता है, उसे उतना ही अधिक लोकतन्त्रात्मक एवं लोककल्याणकारी राज्य कहा जा सकता है।

(4) राजनीतिक स्वतन्त्रता—अपने राज्य के कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक सक्रिय भाग लेने की स्वतन्त्रता को राजनीतिक स्वतन्त्रता कहा जाता है। लास्की के अनुसार, "राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग लेने की शक्ति ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है।"[1]

लीकॉक राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ संवैधानिक स्वतन्त्रता से लेते हैं जिसका विस्तार में अर्थ है कि जनता अपने शासक को अपनी इच्छानुसार चुन सके और चुने जाने के बाद भी ये शासक उनके प्रति उत्तरदायी हों।

राजनीतिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत व्यक्ति को ये अधिकार प्राप्त होते हैं—(1) मत देने का अधिकार, (2) निर्वाचित होने का अधिकार, (3) उचित

1 "The power to be active in the affairs of the State" —Laski

योग्यता होने पर सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार, और (4) सरकार के कार्यों की आलोचना का अधिकार। इन अधिकारों से यह स्पष्ट है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक प्रजातन्त्रात्मक देश में ही प्राप्त की जा सकती है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के अभाव में नागरिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं रह जाता क्योंकि राजनीतिक स्वतन्त्रताओं के उपयोग से ही समाज का निर्माण सम्भव होता है जिसमें नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा सम्भव हो सके।

(5) आर्थिक स्वतन्त्रता—वर्तमान समय में आर्थिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य व्यक्ति की ऐसी स्थिति से है जिसमें व्यक्ति अपने आर्थिक प्रयत्नों का लाभ स्वयं प्राप्त करने की स्थिति में हों तथा किसी प्रकार उसके श्रम का दूसरे के द्वारा शोषण न किया जा सके। लॉस्की के अनुसार, "आर्थिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका कमाने की समुचित सुरक्षा तथा सुविधा प्राप्त हो। व्यक्ति को बेरोजगारी और अपर्याप्तता के निरन्तर भय से मुक्त रखा जाना चाहिए जो कि अन्य किसी भी अपर्याप्तता की अपेक्षा व्यक्तित्व की समस्त शक्ति को बहुत अधिक आघात पहुँचाती है। व्यक्ति को कल की आवश्यकताओं से मुक्त रखा जाना चाहिए।"[1] कुछ विचारक आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ 'उद्योग में प्रजातन्त्र' की स्थापना से भी लगाते हैं। 'उद्योग में प्रजातन्त्र' की स्थापना का अर्थ यह है कि एक श्रमिक केवल अपने श्रम को बेचने वाला ही नहीं, वह उत्पादन व्यवस्था का निर्णायक भी है। कुछ भी हो, उद्योग में प्रजातन्त्र की स्थापना श्रमिक वर्ग के हित का एक साधन ही है और मूल रूप में आर्थिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य सभी व्यक्तियों की अनिवार्य आवश्यकताओं की सन्तुष्टि और गम्भीर आर्थिक विषमताओं के अन्त से ही है।

(6) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता—प्रत्येक व्यक्ति के स्वतन्त्रता के अधिकार के समान ही प्रत्येक राष्ट्र को भी स्वतन्त्र होने का अधिकार होना चाहिए और राष्ट्रों की स्वतन्त्रता सम्बन्धी इस व्यवस्था को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता कहा जाता है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के विचार के अनुसार भाषा, धर्म, संस्कृति, नस्ल, ऐतिहासिक परम्परा, आदि की एकता पर आधारित राष्ट्र का यह अधिकार है कि वह स्वतन्त्र राज्य का निर्माण करे तथा अन्य किसी राज्य के अधीन न हो।

किन्तु जिस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता दूसरे व्यक्तियों की समान स्वतन्त्रता से सीमित होती है, उसी प्रकार एक राष्ट्र की स्वतन्त्रता दूसरे राष्ट्रों की समान स्वतन्त्रता से सीमित होनी है। सम्पूर्ण मानवता के हित में ऐसा होना भी चाहिए।

---

[1] By economic liberty, Laski means "Security and the opportunity to find reasonable significance in the earning of daily bread I must that is be free from the constant fear of unemployment and insufficiency which perhaps be safeguarded against the wants of tomorrow."

—H. Laski, *Grammar of Politics*, p 148.

(7) नैतिक स्वतन्त्रता—व्यक्ति को अन्य सभी प्रकार की स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होने पर भी यदि वह नैतिक दृष्टि से परतन्त्र हो, तो उसे स्वतन्त्र नही कहा जा सकता । नैतिक स्वतन्त्रता ही वास्तविक एव महान स्वतन्त्रता है । नैतिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य व्यक्ति की उस मानसिक स्थिति से है जिसमे वह अनुचित लोभ-लालच के बिना अपना सामाजिक जीवन व्यतीत करने की योग्यता रखता हो । काण्टे के विचार में व्यक्ति की विवेकपूर्ण इच्छा शक्ति ही उसकी वास्तविक स्वतन्त्रता है । प्लेटो, अरस्तू, ग्रीन, बोसाके तथा काण्ट ने इस बात पर बल दिया है कि नैतिक स्वतन्त्रता मे ही मनुष्य का विकास सम्भव है ।

वैसे तो सभी प्रकार के जीवन और शासन व्यवस्थाओ के लिए नैतिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता होती है किन्तु लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के लिए तो नैतिक स्वतन्त्रता नितान्त आवश्यक ही है ।

आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता निरर्थक है— राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक समानता का सम्बन्ध स्पष्ट करने के पूर्व, इन दोनो का तात्पर्य समझ लेना उपयोगी होगा ।

राजनीतिक स्वतन्त्रता—राजनीतिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य राज्य के कार्यों मे सक्रिय रूप से भाग लेना है अर्थात् राजनीतिक स्वतन्त्रता एक ऐसी स्थिति का नाम है जिसमे नागरिकता के अधिकारो का उपभोग किया जा सके या दूसरे शब्दो में व्यक्ति अपने विवेकपूर्ण निर्णय का राजनीतिक क्षेत्र मे उपयोग कर सके । उसे अपने प्रतिनिधियो को चुनने और स्वय प्रतिनिधि रूप मे निर्वाचित होने का अधिकार होना चाहिए । इस प्रकार राजनीतिक स्वतन्त्रता शासन कार्यों मे भाग लेने और शासन व्यवस्था को प्रभावित करने की शक्ति का नाम है ।

आर्थिक समानता—आर्थिक समानता के दो अर्थ बताये जा सकते हैं। इसका प्रथम तात्पर्य यह है कि सम्पत्ति की अधिकाधिक समानता होनी चाहिए । सभी व्यक्तियो की भोजन, वस्त्र, निवास, स्वास्थ्य और शिक्षा की अनिवार्य आवश्यकताएँ आवश्यक रूप से पूरी होनी चाहिए और जब तक सभी व्यक्तियो की अनिवार्य आवश्यकताएँ सन्तुष्ट न हो जायँ, जब तक समाज के किन्हीं भी व्यक्तियो को आराम और विलासिता के साधनों के उपभोग का अधिकार प्राप्त नही होना चाहिए । लॉस्की के शब्दो मे, "मुझे स्वादिष्ट भोजन करने का अधिकार नहीं है यदि मेरे पड़ोसी को मेरे इस अधिकार के कारण सूखी रोटी से वंचित रहना पड़े ।"[1] आर्थिक समानता का दूसरा तात्पर्य 'उद्योग मे प्रजातन्त्र' की स्थापना से है । एक श्रमिक केवल अपने श्रम को बेचने वाला ही नही वरन् इसके साथ साथ उत्पादन व्यवस्था का निर्णायक भी होना चाहिए ।

[1] "I have no right to cake, if my neighbour because of that is compelled to go without bread." —Laski

राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक समानता पर आधारित—यह ठीक ही कहा गया है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता का आधार आर्थिक समानता है। राजनीतिक स्वतन्त्रता मूल रूप से निम्न तीन अनिवार्य परिस्थितियों पर निर्भर करती है

(1) जनता में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि होनी चाहिए ताकि वह राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय रूप से भाग लेवे और शासन-व्यवस्था को प्रभावित करने के लिए उत्सुक हो।

(2) व्यक्ति शिक्षित होने चाहिए ताकि वे स्वस्थ जनमत का निर्माण कर सकें और शासन की रचनात्मक आलोचना कर सकें। शिक्षा की आवश्यकता इस कारण और भी अधिक हो जाती है कि केवल शिक्षा ही नागरिकों को उनके अधिकार और कर्तव्यों के प्रति जागरूकता प्रदान करती है।

(3) राजनीतिक स्वतन्त्रता के आदर्श को प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि व्यक्ति को सही सूचनाएँ और विचारों की जानकारी प्राप्त हो। इस कार्य को ठीक प्रकार से करने के लिए स्वस्थ और सबल प्रेस नितान्त आवश्यक है।

उपर्युक्त तीनों ही परिस्थितियों की विद्यमानता के लिए आर्थिक समानता नितान्त आवश्यक है। एक साधारण व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति उसी समय रुचि ले सकता है जबकि उसके पास अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के पर्याप्त साधन हों। एक निर्धन व्यक्ति का धर्म, ईमान और राजनीति सभी कुछ रोटी तक सीमित हो जाता है और पं० नेहरू के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'भूखे व्यक्ति के लिए मत का कोई मूल्य नहीं होता। इसके अतिरिक्त व्यक्तियों को साधारण कार्य व्यापार से इतना अवकाश प्राप्त होना चाहिए कि वे सार्वजनिक क्षेत्र के सम्बन्ध में विचार कर सकें और यह भी आर्थिक समानता की स्थापना से ही सम्भव है। वर्तमान समय में जिन राज्यों के अन्तर्गत धनी और निर्धन का भेद गम्भीर रूप से विद्यमान है, वहाँ पर निर्धन व्यक्तियों के लिए न तो मताधिकार का कोई महत्व है और न ही प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने के अधिकार का। इन दोनों ही बातों के सम्बन्ध में धनी व्यक्ति निर्धन को अपनी इच्छानुसार दबा लेता है और आर्थिक समानता के अभाव के कारण राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं रह जाता।

यदि साधारण व्यक्ति के पास अपना सामान्य जीवन बिताने के साधन ही नहीं हैं तो वह शिक्षित होने का विचार कैसे कर सकता है ? ऐसा व्यक्ति राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने में नितान्त असमर्थ होगा।

इसी प्रकार आर्थिक समानता के अभाव में प्रेस और विचार एवं अभिव्यक्ति के अन्य साधनों पर धनिक वर्ग का अधिकार हो जाता है और यह धनिक वर्ग इन साधनों का प्रयोग जनता को सही सही जानकारी एवं ज्ञान प्रदान करने के लिए नहीं वरन् एक प्रकार से अपने विचार दूसरों पर लादने के लिए करता है। इस प्रकार

आर्थिक समानता के अभाव में धनिक वर्ग निर्धन वर्ग के जीवन पर आधिपत्य स्थापित कर लेता है और निर्धन वर्ग का मनमाने तरीके से शोषण करता है।

आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता कभी वास्तविक नहीं हो सकती है। लॉस्की ने ठीक ही कहा है कि 'यदि राज्य सम्पत्ति को अधीन नहीं रखता, तो सम्पत्ति राज्य को वशीभूत कर लेगी।'[1]

उपर्युक्त विवेचना से कोल के इस कथन की सत्यता नितान्त स्पष्ट है कि 'आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक भ्रम है।'[2] लॉस्की ने भी कहा है कि आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता कभी भी वास्तविक नहीं हो सकती।[3]

स्वतन्त्रता और कानून का सम्बन्ध

स्वतन्त्रता और कानून के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर राजनीतिक विचारकों में बहुत अधिक मतभेद है। एक ओर तो कुछ विद्वानों और विचारधाराओं के अनुसार स्वतन्त्रता और कानून का परस्पर विरोधी बताते हुए कहा गया है कि जितने अधिक कानून होंगे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता उतनी ही सीमित हो जायेगी। दूसरी ओर अनेक विचारकों द्वारा इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि स्वतन्त्रता के अस्तित्व के लिए कानून की विद्यमानता नितान्त आवश्यक है और कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में वृद्धि करते हैं कमी नहीं।

प्रथम विचार का प्रतिपादन अराजकतावादी व्यक्तिवादी और कुछ सीमा तक साम्यवादी विचारधारा द्वारा किया गया है। अराजकतावादियों के अनुसार स्वतन्त्रता का तात्पर्य व्यक्तियों की अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है और राज्य के कानून शक्ति पर आधारित होने के कारण व्यक्तियों के इच्छानुसार कार्य करने में बाधक होते हैं अतः स्वतन्त्रता और कानून परस्पर विरोधी हैं। इससे आगे चलकर वे यह भी कहते हैं कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के हित में राज्य जैसी कानून निर्मात्री संस्था का अन्त हो जाना चाहिए। विलियम गाडविन के शब्दों में "कानून सबसे अधिक घातक-प्रकृति की संस्था है।[4]

व्यक्तिवादी राज्य को एक आवश्यक बुराई समझते हैं। उनका विचार है कि स्वतन्त्रता और कानून परस्पर विरोधी हैं। इसी विचारधारा के आधार पर डायसी ने कहा है कि 'एक की मात्रा जितनी अधिक होगी दूसरे की उतनी ही कम हो जायगी।[5] साम्यवादी विचारधारा के अन्तर्गत भी कानून को उच्च वर्ग के हितों को

---

1 'Either the state must control or property will control the state." —Laski
2 'Political liberty in the absence of economic equality is a mere myth." —G D H Cole
3 "Political liberty therefore is never real unless it is accompanied by virtual economic equality —Laski
4 Law is an institution of the most pernicious type —William
5 The more there is of the one the less there is of the other —Dicey

साम पहुँचाने का एक साधन कहा गया है और इसी कारण वर्गविहीन समाज को आदर्श अवस्था मे राज्य के विलुप्त हो जाने की कल्पना की गयी है।

किन्तु वर्तमान समय में स्वतन्त्रता और कानून के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर अराजकतावाद, व्यक्तिवाद और साम्यवाद की धारणा को स्वीकार नहीं किया जाता। वर्तमान समय मे तो उपर्युक्त धारणा के नितान्त विपरीत इस विचार को मान्यता प्राप्त है कि कानून स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करते, वरन् स्वतन्त्रता की रक्षा करते और उसमें वृद्धि करते हैं। लॉक के शब्दों मे "जहाँ कानून नहीं होता, वहाँ स्वतन्त्रता भी नहीं हो सकती है।"[1] विलोबी के अनुसार, "जहाँ नियन्त्रण होते हैं, वहीं स्वतन्त्रता का अस्तित्व होता है।"[2] उपर्युक्त मत को स्पष्ट करते हुए प्रो रिची ने कहा है कि "व्यक्तित्व के विकास के यथार्थ अवसर के रूप में स्वतन्त्रता कानून की उत्पत्ति अथवा परिणाम ही है। यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका अस्तित्व राज्य के कार्य क्षेत्र से बाहर हो।" लॉक और प्रो रिची से आगे बढ़कर हॉकिंग ने तो यहाँ तक कहा है कि "व्यक्ति जितनी अधिक स्वतन्त्रता चाहता है, उतनी अधिक सीमा तक उसे शासन की अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिए।"

लॉक, विलोबी, रिची, हॉकिंग, आदि विद्वानों द्वारा व्यक्त विचार बहुत कुछ सीमा तक सही हैं और कानून निम्नलिखित तीन प्रकार से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करते और उसमें वृद्धि करते हैं

(1) राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अन्य व्यक्तियों के हस्तक्षेप से रक्षा करते हैं—यदि समाज के अन्तर्गत किसी भी प्रकार के कानून न हों तो समाज के शक्तिशाली व्यक्ति निर्बल व्यक्तियों पर अत्याचार करेंगे और संघर्ष की इस अनवरत प्रक्रिया मे किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रहेगी।

(2) कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की राज्य के हस्तक्षेप से रक्षा करते हैं—साधारणतया वर्तमान समय के राज्यों मे दो प्रकार के कानून होते हैं—साधारण कानून और संवैधानिक कानून। इन दोनो प्रकार के कानूनो मे से संवैधानिक कानूनों द्वारा राज्य के हस्तक्षेप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को रक्षित करने का कार्य किया जाता है। भारत और अमरीका, आदि देशों के संविधानों में मौलिक अधिकारों की जो व्यवस्था है, वह इस सम्बन्ध में श्रेष्ठ उदाहरण है। यदि राज्य इन मौलिक अधिकारों (संवैधानिक कानूनों) के विरुद्ध कोई कार्य करता है तो व्यक्ति न्यायालय की शरण ले, राज्य के हस्तक्षेप से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकता है।

(3) स्वतन्त्रता के नकारात्मक स्वरूप के अतिरिक्त इसका एक सकारात्मक स्वरूप भी होता है। इसका तात्पर्य है व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करना। कानून व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास की सुविधाएँ प्रदान

---

1 "Where there is no law, there is no freedom." —Locke

2 "Freedom exists only where there is restraint." —Willoughby

करते हुए उनकी स्वतन्त्रता मे वृद्धि करते या दूसरे शब्दों में इन्हें सकारात्मक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। वर्तमान समय मे लगभग सभी राज्यो द्वारा जनकल्याणकारी राज्य के विचार को अपना लिया गया है और राज्य कानूनो के माध्यम से ऐसे वातावरण के निर्माण में संलग्न है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें। राज्य द्वारा की गयी शिक्षा की व्यवस्था, अधिकतम श्रम और न्यूनतम वेतनों के सम्बन्ध में कानूनी व्यवस्था, कारखानों में स्वस्थ जीवन की सुविधाओं की व्यवस्था और जनस्वास्थ्य का प्रबन्ध आदि कार्यों द्वारा नागरिकों को व्यक्तित्व के विकास की सुविधाएँ प्राप्त हो रही हैं और इस प्रकार राज्य नागरिको को वह सकारात्मक स्वतन्त्रता प्रदान कर रहा है जिसे ग्रीन ने 'करने योग्य कार्यों को करने की स्वतन्त्रता' के नाम से पुकारा है।

यदि राज्य सड़क पर चलने के सम्बन्ध मे किसी प्रकार के नियमो का निर्माण करता है, मद्यपान पर रोक लगाता या अनिवार्य शिक्षा और टीके की व्यवस्था करता है, तो राज्य के इन कार्यों से व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित नहीं होती, वरन् उसमें वृद्धि ही होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साधारण रूप से राज्य के कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा करते और उसमें वृद्धि करते हैं।

सभी कानून स्वतन्त्रता के साधक नहीं—लेकिन राज्य द्वारा निर्मित सभी कानूनों के सम्बन्ध में इस प्रकार की बात नहीं कही जा सकती है कि वे मानवीय स्वतन्त्रता मे वृद्धि करते हैं। यदि शासक वर्ग अपने ही स्वार्थों को दृष्टि में रखकर कानूनों का निर्माण करता है, जनसाधारण के हितो की अवहेलना करता है और बिना किसी विशेष कारण के व्यक्तियों की नागरिक स्वतन्त्रता सीमित करता है तो राज्य के इन कानूनो से व्यक्तियो की स्वतन्त्रताएँ सीमित ही होती हैं। उदाहरणार्थ, हिटलर और मुसोलिनी के द्वारा जिन कानूनो का निर्माण किया गया था, उनमे से अधिकांश व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विरोधी थे। इस प्रकार वर्तमान समय मे साम्यवादी देशों की सरकारों द्वारा साम्यवादी दल के अतिरिक्त अन्य दलो को संगठित न होने देने और नागरिको द्वारा सरकार की आलोचना न कर सकने की जो व्यवस्था की गयी है, उससे इन साम्यवादी देशों के नागरिकों की स्वतन्त्रता बहुत अधिक सीमित हो गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी कानून नागरिको की स्वतन्त्रता मे वृद्धि नहीं करते, वरन् ऐसा केवल उन्हीं कानूनो के सम्बन्ध में कहा जा सकता है जिनके सम्बन्ध मे लॉस्की के शब्दों मे "व्यक्ति यह अनुभव करते हैं कि मैं उन्हें स्वीकार कर सकता और उनका पालन कर सकता हूँ।"[1]

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि यदि राज्य का कानून जनता की इच्छा

[1] "Laws of the state should be those, which should embody an experience that I can follow and I can generally accept." —*Laski*

पर आधारित हैं तो स्वतन्त्रता का पोषण होगा और यदि वह निरंकुश शासन की इच्छा का परिणाम है तो स्वतन्त्रता का विरोधी हो सकता है।

स्वतन्त्रता के संरक्षण
(SAFEGUARDS OF LIBERTY)

स्वतन्त्रता प्राप्त करने से अधिक कठिन कार्य स्वतन्त्रता को बनाये रखना है। यह बात व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता दोनों के सम्बन्ध में पूर्णतया सत्य है। जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता का ठीक से उपयोग नहीं कर पाते और उसकी सुरक्षा के लिए आवश्यक प्रयत्न नहीं करते, उनकी स्वतन्त्रता को सदैव ही सकट बना रहता है। विभिन्न लेखकों के अनुसार, स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए कुछ दशाओं का होना आवश्यक और वांछनीय है, जिनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(1) आदर्श कानून—व्यक्ति अपनी विविध स्वतन्त्रताओं का उपयोग राज्य मे रहकर ही कर सकता है और राज्य कानूनों के माध्यम से ही इस प्रकार की स्वतन्त्रताओं की रक्षा करता है। इस प्रकार साधारणतया कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं किन्तु राज्य द्वारा निर्मित सभी प्रकार के कानूनों के सम्बन्ध में इस प्रकार की बात नहीं कही जा सकती है। अतः स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए राज्य द्वारा ऐसे आदर्श कानूनों का निर्माण किया जाना चाहिए, जो व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकें और उन्हें व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक सुविधाएँ भी प्रदान कर सकें। स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु आदर्श कानूनों के निर्माण की आवश्यकता बताते हुए माण्टेस्क्यू ने कहा है कि "मुख्यतया स्वतन्त्रता की रक्षा और हनन कानून के स्वभाव और इसके द्वारा दिये गये दण्ड की मात्रा पर निर्भर करती है।"

(2) विशेषाधिकार का अन्त—जिस समाज में कुछ व्यक्तियों को धर्म, जाति या सम्पत्ति के आधार पर कुछ विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं वहाँ पर सभी नागरिकों की स्वतन्त्रता की पूर्ण रक्षा नहीं हो पाती। जिन लोगों को विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं, वे अह भाव के कारण उनका दुरुपयोग करते हैं और दूसरे लोग हीनता की भावना के कारण इन स्वतन्त्रताओं का उचित उपयोग नहीं कर पाते हैं। इसलिए स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु विशेषाधिकारों का अन्त नितान्त आवश्यक है। लॉस्की के शब्दों मे "यदि समाज के किसी भाग को विशेषाधिकार दिये गये हों तो उस दशा में जनसाधारण स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं कर सकता।"

(3) लोकतन्त्रीय शासन—व्यक्तियों की अपनी स्वतन्त्रता के हनन का सबसे अधिक भय शासन से होता है, किन्तु यदि लोकतन्त्रीय शासन हो तो जनता का यह भय कुछ सीमा तक समाप्त हो जाता है। लोकतन्त्र में जनता शासित होने के साथ-साथ शासक भी होती है और शासन की अन्तिम सत्ता जनता में निहित होने के कारण स्वतन्त्रता का हनन हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा और व्यक्तित्व के विकास हेतु लोकतन्त्रात्मक शासन ही सर्वोच्च समझा

जाता है। परन्तु इस लोकतन्त्रात्मक शासन के साथ-साथ यह आवश्यक है कि जनता में भी लोकतन्त्रीय भावना हो अर्थात् बहुमत मे न्यायप्रियता और अल्पमतो मे सहनशीलता का भाव होना चाहिए।

(4) मौलिक अधिकार—मौलिक अधिकार संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदत्त ऐसे अधिकार होते हैं जिनका उपयोग राज्य के विरुद्ध किया जा सकता है। ये मौलिक अधिकार दूसरे व्यक्तियो के हस्तक्षेप से नहो, वरन् राज्य के हस्तक्षेप से भी व्यक्तियो की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं। इसी कारण वर्तमान समय मे स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मौलिक अधिकारो को आवश्यक समझा जाता है। इसी दृष्टि से भारत, अमरीका, रूस, आयरलैण्ड, फ्रास आदि राज्यो के संविधान मे मौलिक अधिकारो की व्यवस्था की गयी है।

(5) स्वतन्त्र न्यायालय - नागरिको की स्वतन्त्रता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि न्यायालय स्वतन्त्र हो और न्यायालयो के कार्यों मे किसी प्रकार का सरकारी हस्तक्षेप न हो। इस प्रकार की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता की स्थिति मे ही न्यायालय नागरिको के अधिकारो की रक्षा कर सकते हैं। न्यायालयो के व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के अधीन होने पर वे शासन सत्ता के हस्तक्षेप से नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा नही कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त न्याय सर्वजन सुलभ और शीघ्र होना चाहिए और निर्धन व्यक्ति निःशुल्क कानूनी सहायता प्राप्त कर सकें, ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिए। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के अभाव मे स्वतन्त्रता एक ढकोसला मात्र बनकर रह जाती है।

(6) सतत् जागरूकता—स्वतन्त्रता की रक्षा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपाय नागरिको की सतत् जागरूकता ही है। इसके लिए नागरिको मे स्वतन्त्रता की इच्छा मात्र ही नही वरन् इसकी रक्षा हेतु प्रत्येक प्रकार के त्याग करने की भावना भी होनी चाहिए। स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि व्यक्ति अपने अधिकारो के प्रति जागरूक रहे और स्वतन्त्रता का अतिक्रमण होने पर उसका विरोध करें। इगलैण्ड के नागरिको द्वारा तो सतत् जागरूकता के कारण ही इतनी अधिक स्वतन्त्रता का उपयोग किया जाता है। कहावत भी है कि "सतत् जागरूकता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है।"[1] लॉस्की के शब्दो मे, "नागरिकों की महान् भावना, न कि कानून की शब्दावली, स्वतन्त्रता की वास्तविक सुरक्षा है।" इस सम्बन्ध मे थामस जैफरसन के शब्द महत्वपूर्ण हैं कि "कोई भी देश तब तक अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकता जब तक कि समय-समय पर वहाँ की जनता अपनी विरोधी भावना का प्रदर्शन करके अपने शासकों को सजग न करती रहे।"[2]

---

1 "Eternal vigilance is the price of liberty."

2 "What country can preserve its liberties, if its rulers are not warned from time to time that the people preserve the spirit of resistance."
—Thomas Jefferson, *On Democracy*, ed by S K. Padover, p 861.

(7) शक्तियों का पृथक्करण तथा अवरोध और सन्तुलन—स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए कुछ सीमा तक शक्ति पृथक्करण तथा कुछ सीमा तक अवरोध एव सन्तुलन के सिद्धान्त को अपनाना आवश्यक है। शक्ति पृथक्करण को अपनाते हुए एक ही हाथों में शक्तियों के एकीकरण को रोका जाना चाहिए तथा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की व्यवस्था की जानी चाहिए। इसके साथ ही जहाँ तक व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का सम्बन्ध है, अवरोध और सन्तुलन के सिद्धान्त को अपनाते हुए इन दोनों के बीच गहरे सम्बन्ध की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे स्वतन्त्रता की रक्षा के हित में उचित प्रकार के कानूनों का निर्माण हो सके और ठीक प्रकार से उन्हें क्रियान्वित किया जा सके।

(8) आर्थिक न्याय—यदि हमें स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है तो हमारे द्वारा जीवन की वास्तविकताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है और यह वास्तविकता है कि बहुत अधिक सीमा तक आर्थिक समानता की स्थापना के बिना स्वतन्त्रता का उपभोग सम्भव नहीं। जब तक व्यक्तियों के लिए भोजन, वस्त्र और आवास की व्यवस्था नहीं हो पाती, तब तक यह कैसे सोचा जा सकता है कि वे स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेंगे। अतः आर्थिक न्याय स्वतन्त्रता की सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली गारण्टी है। इसके बिना स्वतन्त्रता एक ही वर्ग का हित बनकर रह जाती है।

(9) स्वतन्त्र प्रेस—स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न बहुत अधिक सीमा तक स्वतन्त्र प्रेस के साथ जुड़ा हुआ है। यदि समाचार-पत्र स्वतन्त्र हैं तो उनके द्वारा शासन को मर्यादित रखने का कार्य किया जा सकता है, जनता में स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आवश्यक वातावरण स्थापित करने का कार्य किया जा सकता है। स्वतन्त्रता का सार मानवीय चेतना है और मानवीय चेतना के विकास का सर्वप्रमुख साधन स्वतन्त्र प्रेस ही है।

(10) स्थानीय स्वशासन—नागरिकों में स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम उत्पन्न करने और उन्हें स्वतन्त्रता के प्रति जागरूक बनाने की दिशा में स्थानीय स्वशासन द्वारा भी अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है। लॉस्की के विचारों में, 'राज्य में सत्ता का जितना अधिक विस्तृत वितरण होगा जितना अधिक विकेन्द्रीकृत उसकी प्रकृति होगी, मनुष्य में अपनी स्वतन्त्रता के प्रति उतना ही अधिक उत्साह होगा।

समानता
(EQUALITY)

साधारणतया समानता का यह अर्थ लगाया जाता है कि मनुष्य जन्म से ही समान होते हैं और इसी कारण सभी व्यक्तियों को व्यवहार और आय का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए, किन्तु स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय उतना ही भ्रमपूर्ण है जितना यह कहना कि पृथ्वी समतल है। प्रकृति के द्वारा भी सभी व्यक्तियों को समान शक्तियाँ प्रदान नहीं की गयी हैं। मानवीय समाज में मोटे, पतले, लम्बे, नाटे कुशाग्र और मन्द बुद्धि के जो विभिन्न प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं, वे प्राकृतिक असमानता के उदा-

हरण है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार की असमानता की धारणा को समाज द्वारा अपनाया जाना अनुचित ही नही वरन् असम्भव भी है।

वर्तमान समय मे हम समाज म जिस प्रकार की असमानता देखते हैं, उस असमानता के कारण दो प्रकार के हैं और इन दो प्रकार के कारणों के आधार पर असमानता भी दो प्रकार की है। एक प्रकार की असमानता वह है जिसका मूल व्यक्तियों म प्राकृतिक भद है। प्रकृति के द्वारा विभिन्न व्यक्तियों में बुद्धि, बल और प्रतिभा को दृष्टि से भद किया जाता है और इस भेद के कारण जो असमानता उत्पन्न होती है उस प्राकृतिक असमानता कहते हैं। इस प्राकृतिक असमानता का निराकरण सम्भव और उचित नही है।

समाज म विद्यमान दूसरे प्रकार की असमानता वह है जिसका मूल समाज द्वारा उत्पन्न की गयी विषमताएँ हैं। अनेक बार बुद्धि बल और प्रतिभा की दृष्टि से श्रेष्ठ होने पर भी निर्धन व्यक्तियों के बच्चे अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाते, जैसा विकास उनसे निम्नतर बुद्धिबल के धनिक बच्चे कर लेते हैं। इस सामाजिक असमानता का मूल कारण समाज द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों का वह वैषम्य होता है जिसके कारण सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर प्राप्त नहीं हो पाते हैं। राजनीति विज्ञान की एक धारणा के रूप में समानता का तात्पर्य सामाजिक वैषम्य द्वारा उत्पन्न इस असमानता के अन्त से है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य के सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर दिये जाने चाहिए, ताकि किसी भी व्यक्ति को कहने का अवसर न मिले कि यदि उसे यथेष्ठ सुविधाएं प्राप्त होतीं तो वह भी अपने जीवन का विकास कर सकता था। अत समानता की विधिवत परिभाषा करत हुए कहा जा सकता है कि "समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व स होता है जिसके कारण व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हो सकें और इस प्रकार उस असमानता का अन्त हो सके, जिसका मूल कारण सामाजिक वैषम्य है।' लॉस्की ने इसी प्रकार का विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'समानता मूल रूप में समानीकरण की एक प्रक्रिया है। इसलिए प्रथमत समानता का आशय विशेषाधिकारों के अभाव से है द्वितीय रूप में इसका आशय यह है कि सभी व्यक्तियों को विकास हेतु पर्याप्त अवसर प्राप्त होने चाहिए।"[1]

समानता के विविध रूप

स्वतन्त्रता के समान ही समानता क भी अनेक प्रकार हैं, जिनम अग्रलिखित प्रमुख हैं

---

1 "Equality implies fundamentally a certain levelling process Equality there fore means, first of all the absence of special privilege Equality means in the second place, that adequate opportunities are laid open to all."

—H J Laski, *Grammar of Politics* pp 153 54

(1) प्राकृतिक समानता—प्राकृतिक समानता के प्रतिपादक इस बात पर बल देते हैं कि प्रकृति ने मनुष्यों को समान बनाया है और सभी मनुष्य आधारभूत रूप मे बराबर हैं। सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्यों की समानता का विशेष रूप से उल्लेख किया है। वर्तमान समय मे प्राकृतिक समानता की इस धारणा को अमान्य किया जा चुका है और इसे 'कोरी कल्पना' बताया जाता है। कोल के शब्दो मे, "मनुष्य शारीरिक बल, पराक्रम, मानसिक योग्यता, सृजनात्मक शक्ति, समाज-सेवा की भावना और सम्भवत सबसे अधिक कल्पना-शक्ति मे एक-दूसरे से मूलत भिन्न हैं।"

(2) सामाजिक समानता—सामाजिक समानता का तात्पर्य यह है कि समाज के विशेषाधिकारों का अन्त हो जाना चाहिए और समाज मे सभी व्यक्तियों को व्यक्ति होने के नाते ही महत्व दिया जाना चाहिए। समाज मे जाति, धर्म, लिंग और व्यवसाय के आधार पर विभिन्न व्यक्तियो मे किसी प्रकार का भेद नही किया जाना चाहिए। सामाजिक दृष्टिकोण से सभी व्यक्ति समान होने चाहिए और उन्हें सामाजिक उत्थान के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। भारत की जाति व्यवस्था और दक्षिण अफ्रीका मे प्रचलित रंगभेद सामाजिक समानता के घोर विरुद्ध हैं।

(3) नागरिक समानता—नागरिक समानता के सामान्यत दो अभिप्राय लिये जाते हैं। प्रथम, राज्य के कानूनों की दृष्टि मे सभी व्यक्ति समान होने चाहिए और राज्य के कानूनो द्वारा दण्ड या सुविधा प्रदान करने मे व्यक्ति-व्यक्ति मे कोई भेद नहीं किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त सभी व्यक्तियो को नागरिकता के अवसर अर्थात नागरिक अधिकार एवं स्वतन्त्रताएँ समान रूप से प्राप्त होनी चाहिए। सारांशत सभी व्यक्तियों को कानून का समान संरक्षण प्राप्त होना चाहिए।

(4) राजनीतिक समानता—वर्तमान समय मे राजनीतिक समानता पर भी बहुत अधिक बल दिया जाता है। राजनीतिक समानता का अभिप्राय सभी व्यक्तियों को समान राजनीतिक अधिकार एव अवसर प्राप्त होने से है। परन्तु इस सम्बन्ध मे पागल, नाबालिग और घोर अपराधी व्यक्ति अपवाद कहे जा सकते हैं, क्योंकि इनके द्वारा अपने मत का उचित प्रयोग नही किया जा सकता। राजनीतिक समानता का आशय यह है कि राजनीतिक अधिकार प्रदान करने के सम्बन्ध मे रंग, जाति, धर्म और लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नही किया जाना चाहिए और सभी व्यक्तियो को समान राजनीतिक अवसर प्रदान किये जाने चाहिए।

(5) आर्थिक समानता—वर्तमान समय में इस तथ्यपूर्ण विचार को लगभग सभी पक्षों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है कि मानव जीवन में आर्थिक समानता का महत्व सबसे अधिक है और आर्थिक समानता के अभाव मे राजनीतिक एव नागरिक समानता का कोई मूल्य नहीं है। आर्थिक समानता का तात्पर्य केवल यह है कि मनुष्यों की आय में बहुत अधिक असमानता नहीं होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, उनकी आय मे इतना अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए कि एक व्यक्ति अपने धन के

बल पर दूसरे व्यक्तियों के जीवन पर अधिकार कर ले। जब तक सभी व्यक्तियों की अनिवार्य आवश्यकताएँ सन्तुष्ट नहीं हो जाती हैं, उस समय तक समाज के किन्हीं भी व्यक्तियों को आरामदायक एवं विलासिता के साधनों के उपभोग का अधिकार नहीं प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार आर्थिक समानता धन के उचित वितरण पर बल देती है।

स्वतन्त्रता और समानता का सम्बन्ध

स्वतन्त्रता और समानता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर राजनीति-शास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ व्यक्तियों द्वारा स्वतन्त्रता और समानता के लोक प्रचलित अर्थों के आधार पर इन्हें परस्पर विरोधी बताया गया है। उनके अनुसार स्वतन्त्रता अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति का नाम है जबकि समानता का तात्पर्य प्रत्येक प्रकार से सभी व्यक्तियों को समान समझने से है। इन व्यक्तियों का विचार है कि यदि सभी व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती है तो जीवन के परिणाम नितान्त असमान होंगे और शक्ति के आधार पर सभी व्यक्तियों को समान कर दिया जाय तो यह समानता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नष्ट कर देगी। केवल सामान्य व्यक्ति ही नहीं वरन् डी टाकविले और लार्ड एक्टन जैसे राजनीति विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वानों का भी यह विचार है कि स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी हैं। लॉर्ड एक्टन एक स्थान पर कहते हैं कि 'समानता की उत्कृष्ट अभिलाषा के कारण स्वतन्त्रता की आशा ही व्यर्थ हो गयी है।'[1]

किन्तु टाकविले और लार्ड एक्टन, आदि विद्वानों का यह विचार सत्य नहीं है। वस्तुतः लार्ड एक्टन आदि विद्वानों द्वारा स्वतन्त्रता और समानता के जिस रूप की कल्पना की गयी है, स्वतन्त्रता और समानता का वह रूप न तो समाज में कहीं प्राप्त है और न ही राजनीति विज्ञान में स्वतन्त्रता और समानता को उस रूप में स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में लॉस्की ने लिखा है कि "डी टाकविले और लार्ड एक्टन के मस्तिष्क में स्वतन्त्रता के प्रति उत्कृष्ट अभिलाषा होने के कारण ही उनके द्वारा स्वतन्त्रता और समानता को परस्पर विरोधी समझा गया। किन्तु यह एक गलत निष्कर्ष है और उनके द्वारा समानता का तात्पर्य गलत रूप से लेने के कारण ही ऐसा किया गया।'[2] सभी व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता तो हॉब्स के बर्बर समाज में ही प्राप्त थी, जिसमें वास्तविक अर्थ में कोई भी स्वतन्त्र नहीं था। इसी प्रकार सभी व्यक्तियों की प्राकृतिक समानता या आय की समानता तो स्वप्नलोक की वस्तु है जिसे समानता पर आधारित साम्यवादी शासन की व्यवस्था के प्रमुख स्टालिन ने भी "मूर्खतापूर्ण बकवास" कहा है।

राजनीति विज्ञान में स्वतन्त्रता और समानता का जो तात्पर्य लिया जाता है, उस अर्थ में स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी नहीं वरन् पूरक हैं। स्वतन्त्रता

---

1 "The passion for equality made vain the hope for liberty" —*Lord Acton*

2 Laski, *A Grammar of Politics*, p. 151.

की ठीक परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "स्वतन्त्रता जीवन की ऐसी व्यवस्था का नाम है जिसमें व्यक्ति के जीवन पर न्यूनतम प्रतिबन्ध हों, विशेषाधिकार का नितान्त अभाव हो और व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिकतम सुविधाएँ प्राप्त हों।" इसी प्रकार समानता की सही रूप में परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से होता है जिनके अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हों और इस प्रकार उस असमानता का अन्त हो सके जिसका मूल सामाजिक वैषम्य है।"

स्वतन्त्रता और समानता की इन परिभाषाओं के अनुसार स्वतन्त्रता और समानता दोनों का ही उद्देश्य मानवीय व्यक्तित्व का उच्चतम विकास है और इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे के सहायक और पूरक हैं, परस्पर विरोधी नहीं। इस सम्बन्ध में एक्टन ने लिखा है कि "विरोधाभास यह है कि समानता और स्वतन्त्रता जो कि परस्पर विरोधी विचार के रूप में प्रारम्भ होते हैं, विश्लेषण करने पर एक-दूसरे के लिए आवश्यक हो जाते हैं। यह सत्य है कि समानता के अर्थ की उचित व्याख्या स्वतन्त्रता के सन्दर्भों में ही की जा सकती है।" यदि समान अवसरों के द्वार सबके लिए खुले रहते हैं तो व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार अपनी शक्तियों का विकास करने की यथार्थ स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। जिस समाज में किसी एक वर्ग को विशेषाधिकार प्राप्त रहते हैं और सामाजिक तथा आर्थिक अन्तर पाये जाते हैं, वहाँ वह वर्ग अन्य वर्गों पर दबाव डालने की अनुचित शक्ति प्राप्त कर लेता है और निम्न वर्गों को केवल नाममात्र की ही स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। *लॉस्की के मतानुसार, "सम्पत्ति की असमानता स्वतन्त्रता की विरोधी है। साधनों के अभाव के कारण निर्धन व्यक्ति न्यायालयों में उचित न्याय नहीं प्राप्त कर सकते हैं और मुकदमेबाजी की लम्बी प्रक्रिया से धनी लोग अपने निर्धन पड़ोसियों को तबाह कर देते हैं।"*

वास्तव में, समानता के द्वारा स्वतन्त्रता के आधार के रूप में कार्य किया जाता है। *एक ऐसे राज्य में जिसमें समानता नहीं है, स्वतन्त्रता हो ही नहीं सकती।* इस बात को निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है

(1) यदि राजनीतिक समानता नहीं होगी तो स्वतन्त्रता व्यर्थ हो जायेगी और जनता के एक बहुत बड़े भाग को शासन में कोई भाग प्राप्त नहीं होगा।

(2) यदि नागरिक समानता नहीं होगी, तो जो व्यक्ति नागरिक अयोग्यताओं से पीड़ित हैं, उन्हें स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं होगी।

(3) यदि सामाजिक समानता नहीं होगी, तो स्वतन्त्रता कुछ ही व्यक्तियों का विशेषाधिकार हो जायेगा।

(4) यदि आर्थिक समानता नहीं होगी, तो धन कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जायेगा और केवल वही वर्ग स्वतन्त्रता का लाभ उठा सकेगा।

ऐसी स्थिति मे डॉ आशीर्वादम ने ठीक ही कहा है कि "फ्रास के क्रान्तिकारी न तो पागल थे और न मूर्ख, जब उन्होंने स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा लगाया था।"[1]

प्रो पोलर्ड ने इस सच्चाई को एक ही वाक्य मे इस प्रकार व्यक्त किया है "स्वतन्त्रता की समस्या का केवल एक हल है और वह हल समानता में निहित है।" वास्तव मे, स्वतन्त्रता और समानता मानव जीवन सरिता के दो तट हैं, ये मानव कल्याण रूपी रथ के दो पहिए हैं सत्य तथा शिव का जो अभिन्न सहयोग है, वही मानवीय जीवन मे स्वतन्त्रता और समानता का है।

यह नितान्त सम्भव है कि भारत के गरीब किसानो और मजदूरो मे अनेक व्यक्ति नेहरू और टैगोर के समान ही प्रतिभा सम्पन्न हो, लेकिन पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त न होने क कारण वे अपने जीवन का विकास न कर सके हो। वस्तुत समानता के अभाव मे सबसे अधिक योग्य व्यक्तियो की खोज उसी प्रकार से बहुत अधिक कठिन है जिस प्रकार एक ऐसी दौड मे सबसे तेज दौडने वाले व्यक्ति का पता लगाना, जिसके अन्तर्गत प्रतियोगी अलग-अलग स्थानो से दौड शुरू करते हैं। इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता एक दूसरे की पूरक और सहायक हैं। आर एच टॉनी ने सत्य ही कहा है कि 'समानता की एक बडी मात्रा स्वतन्त्रता की विरोधी न होकर इसके लिए आवश्यक है।"

प्रश्न

1 स्वतन्त्रता के विभिन्न अर्थो की व्याख्या कीजिए।
2 कानून और स्वतन्त्रता की परिभाषा कीजिए। यह कहना कहाँ तक सत्य है कि कानून स्वतन्त्रता का रक्षक है ?
3 स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक शर्तों अथवा परिस्थितियो का सक्षेप मे वर्णन कीजिए।
4 समानता से आप क्या समझते हैं ? इसके विभिन्न स्वरूपो का सक्षिप्त वर्णन कीजिए।
5 "आर्थिक समानता के अभाव मे राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल एक भ्रम है।' (कोल) इस कथन की व्याख्या कीजिए।
6 "स्वतन्त्रता और समानता एक-दूसरे के पूरक हैं क्योकि कुछ समानता के अभाव मे स्वतन्त्रता प्राप्त नही हो सकती।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

---

1 "The French revolutionists were neither mad nor stupid, when they made their war cry Liberty, Equality and Fraternity" —*Dr Ashirvadam*

13
धर्म निरपेक्षता
[SECULARISM]

"यदि विश्व इतिहास स्थायी महत्व का कोई पाठ पढ़ाता है तो वह यह है कि धर्म को राजनीति से मिश्रित नहीं किया जाना चाहिए।"[1]

—डॉ॰ लंकासुन्दरम्

राजनीतिक क्षेत्र में आधुनिक प्रगतिशील विश्व के सबसे अधिक लोकप्रिय शब्द 'लोकतन्त्र समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता' हैं और विश्व के कुछ साम्यवादी तथा कट्टर धर्मावलम्बी राज्यों को छोड़कर प्रायः सभी राज्य इन आदर्शों को क्रियान्वित करने के लिए अपने आपको संकल्पबद्ध बताते हैं। धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त न केवल लोकप्रिय, वरन् एक युगीन आवश्यकता बन गया है और लोकतन्त्र तथा समाजवाद के आदर्श को भी विशुद्ध रूप में उस समय तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि धर्मनिरपेक्षता को न अपना लिया जाय।

धर्म और राज्य का सम्बन्ध

व्यक्ति के जीवन में धर्म का सदैव ही प्रमुख स्थान रहा है, अतः यह नितान्त स्वाभाविक है कि व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलू पर धर्म का प्रभाव पड़े। जीवन के राजनीतिक पहलू पर भी धर्म का प्रभाव पड़ा और एक लम्बे समय तक धर्म तथा राजनीति एक-दूसरे से अत्यन्त घनिष्ट रूप में सम्बन्धित रहे।

मानव जाति के राजनीतिक इतिहास में बहुत काल तक ऐसा समय रहा जबकि धर्म का राज्य पर बहुत अधिक प्रभाव था। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के धर्माचार्य राज्यों की स्थापना हुई, जिनके द्वारा किसी एक विशेष धर्म को राजधर्म के रूप में स्वीकार किया जाता था केवल इस धर्म के अनुयायी ही राज्य के पूर्ण नागरिक समझे जाते थे और केवल उन्हें ही सभी नागरिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त होते थे। साधारणतया अन्य धर्मों के अनुयायियों पर अनुचित कर लगाये जाते थे और उनकी स्वतन्त्रताओं को बहुत अधिक सीमित कर दिया जाता था। धर्म

---

1 "If the history of the world yield any lesson of a lasting character it is that religion cannot be mixed up with politics."
—Dr. Lanka Sundaram, *A Secular State for India*, p. 2.

राजनीतिक जीवन पर इस प्रकार से छा गया था कि सम्पूर्ण राजनीतिक कार्यों का नियन्त्रण धार्मिक कानूनों द्वारा ही होता था। इस प्रकार इतिहास में एक ऐसा समय रहा है जबकि राजनीति पर धर्म की प्रधानता थी।

किन्तु राज्य और धर्म के इस गठबन्धन का दोनों पर ही बुरा प्रभाव पड़ा। इस गठबन्धन के परिणामस्वरूप जब राजा को ईश्वर के प्रतिनिधि का रूप प्रदान कर दिया गया, तो राजा के द्वारा मनमाने तरीके से जनता पर अत्याचार किये गये, राज्याज्ञा को ईश्वरीय आज्ञा कहा गया और भोली-भाली जनता से उचित-अनुचित का विचार किये बिना इनका पालन कराया गया। इस प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया गया और उसे धर्म पर आधारित राज्य का एक साधन मात्र बना दिया गया। धर्म और राजनीति के गठबन्धन का एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि अन्य धर्मों के अनुयायी राज्य के प्रति उदासीन हो गये और उन्हें राज्य तथा सरकार से किसी भी प्रकार की सहानुभूति नहीं रही।

धर्म व राज्य का गठबन्धन धर्म के लिए भी अहितकर सिद्ध हुआ। राज्य के आश्रय में सांसारिक सत्ता के प्रभाव से धर्म का रूप बहुत अधिक विकृत हो गया और इस कारण यह सोचा जाने लगा कि धर्म का विकास राज्य से अनाश्रित और स्वतन्त्र रूप में होना चाहिए।

इस प्रकार धर्म और राज्य का गठबन्धन राज्य, व्यक्ति और धर्म सभी के लिए अहितकर सिद्ध हुआ। इसलिए वर्तमान समय में प्राय सर्वत्र ही माना जाता है कि राज्य और धर्म एक दूसरे से स्वतन्त्र रहने चाहिए और इस विचारधारा के आधार पर राज्य के जिस स्वरूप का विकास हुआ है, उसे 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' कहते हैं।

धर्मनिरपेक्षता के इस विचार का प्रतिपादन मध्यकाल में मार्टिन लूथर, जॉन काल्विन और मैकियावेली के द्वारा किया गया और आधुनिक काल के धर्मनिरपेक्ष विचारकों में हेनरी डेविड थोरो, जॉन रस्किन, टॉलस्टाय, महात्मा गांधी और प जवाहरलाल नेहरू, आदि का नाम उल्लेखनीय है। टॉल्सटाय और महात्मा गांधी की यद्यपि धर्म में गहरी आस्था थी किन्तु उनके धार्मिक विचार किसी एक धर्म विशेष पर आधारित न होकर नैतिकता, आध्यात्मिकता और मानव धर्म के सर्वमान्य सिद्धान्तों पर आधारित थे।

धर्म निरपेक्ष और धर्म निरपेक्षता
(SECULAR AND SECULARISM)

'धर्म निरपेक्षता' की धारणा का उदय 'धर्म निरपेक्ष' दृष्टिकोण के आधार पर ही हुआ है। अत 'धर्म निरपेक्षता' के सन्दर्भ में 'धर्म निरपेक्ष' का आशय भी समझ लिया जाना चाहिए।

धर्म निरपेक्ष—'धर्म निरपेक्ष' के लिए आंग्ल भाषा का जो शब्द 'सिक्यूलर' है, उसका उदय लैटिन भाषा से हुआ है। लैटिन भाषा में 'सिक्यूलर' का अर्थ

'सांसारिक' होना है। इस दृष्टि से धर्म निरपेक्ष का अर्थ है, वह प्रवृत्ति जो राजनीतिक गतिविधियों को केवल लौकिक क्षेत्र तक सीमित करने की समर्थक है और जिसे धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है। नकारात्मक दृष्टि से इसका अर्थ है—धर्म, धार्मिक परम्पराओं और धार्मिक गतिविधियों से अलगाव। सकारात्मक दृष्टि से इसका अर्थ है—सभी विषयों के सम्बन्ध में विचार की एक लौकिक दृष्टि। जॉर्ज ऑसलर के अनुसार, "धर्म निरपेक्ष का अर्थ है, इस विश्व या वर्तमान जीवन से सम्बन्धित दृष्टिकोण, जो धार्मिक या द्वैतवादी विचारों से बँधा हुआ न हो।"[1]

धर्म निरपेक्षता—धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण से ही 'धर्म निरपेक्षता' की धारणा का उदय हुआ है। होलिओक के शब्दों में, "धर्म निरपेक्षता वह सिद्धान्त है जो जीवन के तत्काल कर्तव्य के रूप में, सम्भावित उच्चतम बिन्दु तक मानव के नैतिक और बौद्धिक स्वभाव के विकास की खोज करता है।"[2]

धर्मनिरपेक्षता की आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या डॉ० सक्सेना के द्वारा की गयी है, जो इस प्रकार है—"धर्मनिरपेक्षता वह नीति या सिद्धान्त है जो धार्मिक नैतिकता और सहिष्णुता पर आधारित होता है और जो अपने सभी नागरिकों को उनके वर्ण, जाति, लिंग, धर्म, विश्वास और अन्य भेदों पर विचार किये बिना उन्हें उचित सीमा तक धर्म और विश्वास की स्वतन्त्रता प्रदान करता है।"[3]

धर्मनिरपेक्षता के रूप (School of Secularism)

वर्तमान समय में धर्मनिरपेक्षता के तीन विभिन्न रूप हैं, जो इस प्रकार हैं :

(i) धर्मनिरपेक्षता का यह प्रथम सम्प्रदाय या रूप धर्म से बिल्कुल सम्बन्ध नहीं रखता और विशुद्ध भौतिकवादी विचारधारा में विश्वास करता है। इसके अनुयायी सामान्यतया धर्म विरोधी होते हैं। उन्हें आधुनिक विज्ञान और मानवीय सेवा में लगी हुई प्राकृतिक शक्तियों में ही विश्वास होता है। उनका विश्वास है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य के द्वारा बिना किसी भेदभाव के अपनी समस्त जनता के हित में कार्य किया जाना चाहिए। वे अपने सभी नागरिकों के लिए धार्मिक स्वतन्त्रता और इसके साथ-साथ धर्म के विरोध की स्वतन्त्रता भी प्रदान करते हैं।

(ii) धर्मनिरपेक्षता का दूसरा सम्प्रदाय धर्म के प्रति भौतिकवादी व्यवहार पर बल देता है और अधार्मिक नैतिकता द्वारा निर्देशित होता है। यह ईश्वर में पूर्ण विश्वास करता है और अपने नागरिकों को धर्म विरोधी प्रचार की स्वतन्त्रता प्रदान नहीं

1 "Secular is pertaining to this world or the present life, not ecclesiastical, not found by the monastic views."

—George Osler, *Oxford Dictionary of Current English*

2 "Secularism is that which seeks the development of the moral and intellectual nature of man to the highest possible point, as the immediate duty of life." —C. J. Holyack, *Principles of Secularism*, p. 20.

3 Dr. Umakant Saxena, *Secular State and Its Institutional Pattern*, p. 3.

करता। इस प्रकार के राज्य में सरकारी शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा निषिद्ध होती है किन्तु निजी संस्थाओं के द्वारा धार्मिक और नैतिक शिक्षा प्रदान करने में महत्वपूर्ण रूप से भाग लिया जा सकता है।

(iii) धर्मनिरपेक्षता का तीसरा सम्प्रदाय आध्यात्मिकता पर आधारित होना है और यह केवल इस अर्थ में धर्मनिरपेक्ष है कि इसके द्वारा किसी विशेष धर्म को राज्याश्रय प्रदान नहीं किया जाता। यह धर्म के प्रति उदासीन नहीं होता। यह सभी धर्मों की आधारभूत एकता और इस प्रकार सभी धर्मों के प्रति सम्मान की भावना रखता है। धर्मनिरपेक्षता के इसी रूप की व्याख्या करते हुए महात्मा गाँधी लिखते हैं—"मैं सदैव नैतिक धर्म की बात करता रहा हूँ क्योंकि सभी धर्मों के नैतिक नियम सामान्य हैं। सभी धर्म कुछ नैतिक नियमों पर आधारित होते हैं।"[1] धर्मनिरपेक्षता का यह तीसरा रूप नैतिक और आचारिक नियमों पर आधारित होता है।

इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता का प्रथम रूप विज्ञान की ओर उन्मुख व धर्म से विमुख, दूसरा रूप विज्ञान और धर्म दोनों की ओर समान रूप से उन्मुख, किन्तु तीसरा रूप आध्यात्मिकता और नैतिकता पर आधारित है। धर्मायार्य राज्य से यह केवल इस रूप में भिन्न है कि वह किसी एक धर्म पर आधारित नहीं वरन सभी धर्मों के सामान्य सिद्धान्तों या दूसरे शब्दों में मानव धर्म पर आधारित है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत धर्मनिरपेक्षता को, धर्मनिरपेक्षता के इस तीसरे रूप में ही अपनाया गया है। भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन धर्मनिरपेक्षता के इस तीसरे रूप के इस सम्बन्ध में ही कहते हैं—यदि हम अपने आपको विश्व की वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप बनाना चाहते हैं तो हमें धर्म और विज्ञान में समन्वय स्थापित करना होगा। इस प्रकार हमारे द्वारा सर्वाधिक श्रेष्ठ जनकल्याणकारी राज्य की स्थापना की जा सकेगी जो वर्ण, जाति, धर्म या अन्य किसी भी भेद पर विचार किये बिना सभी के लिए समान रूप से लाभकारी होगा। ऐसे राज्य उन सभी नागरिकों को धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान करते हैं, जो भी इसे चाहें।"[2]

धर्मनिरपेक्ष राज्य (Secular State)

धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म तथा राजनीति की पृथकता में विश्वास करता है और यह मानता है कि राज्य की ओर से न तो किसी धर्म विशेष को मान्यता दी जा सकती है और न ही किसी धर्म का विरोध किया जा सकता है। इस प्रकार का राज्य धर्म को व्यक्ति के आन्तरिक विश्वास की वस्तु मानता है और इस धारणा पर आधारित है कि राज्य के द्वारा न तो व्यक्ति के धार्मिक विचारों को प्रभावित किया जा सकता है और न ही उसके द्वारा इस प्रकार का प्रयत्न किया जाना चाहिए। अतः धर्मनिरपेक्ष राज्य की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि 'धर्मनिरपेक्ष राज्य वह राज्य

---

1 Dr Prasad, *Gandhi and Sarvodaya*, p 70

2 *Hindustan Daily*, 9th August, 1963.

होता है, जिसकी ओर से किसी धर्म विशेष का प्रचार, प्रसार, या नियन्त्रण नहीं किया जाता और धार्मिक सहिष्णुता में विश्वास करते हुए सभी धर्मों को समान समझता है तथा राज्य के सभी नागरिकों को बिना किसी प्रकार के धार्मिक भेदभाव के समान सुविधा प्रदान करता है।"

धर्मनिरपेक्ष राज्य के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये कुछ विचार इस प्रकार हैं

वेंकटरमण के शब्दों में, "ऐसा राज्य न धार्मिक होता है और न धर्मविरोधी। यह धार्मिक क्रियाओं और मत-मतान्तरों से परे और इस प्रकार धार्मिक मामलों में तटस्थ रहता है।"

पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "*धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ है धर्म और* आत्मा की स्वतन्त्रता, जिनका कोई धर्म नहीं उनके लिए भी स्वतन्त्रता, इसका अभिप्राय यह है कि सब धर्मों के लिए स्वतन्त्रता—इसका अर्थ है सामाजिक और राजनीतिक समानता।"

डोनाल्ड ई० स्मिथ के शब्दों में, "धर्मनिरपेक्ष राज्य, निजी और सामूहिक रूप में, धार्मिक स्वतन्त्रता की गारन्टी देता है। यह व्यक्ति के साथ, उसके धर्म का विचार किये बिना, नागरिक के रूप में व्यवहार करता है। संवैधानिक तौर पर वह किसी धर्म से सम्बन्धित नहीं होता। वह न किसी धर्म की वृद्धि की कोशिश करता है और न ही धर्म में हस्तक्षेप करता है।"[1]

धर्मनिरपेक्ष राज्य की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह नहीं समझ *लिया जाना चाहिए कि धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म विरोधी राज्य होता है या धर्म-*निरपेक्ष राज्य के नागरिक या कर्मचारी ईश्वर या किसी धर्म में आस्था नहीं रख सकते। हरिविष्णु कामथ ने संविधान सभा में ही कहा था कि, "एक धर्मनिरपेक्ष राज्य न तो ईश्वर रहित राज्य है, न ही वह अधर्मी राज्य है और न ही धर्म-निरपेक्ष होने का यह अर्थ है कि इसमें ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना जाता। भारतीय संविधान में ईश्वर के अस्तित्व को मान्यता प्रदान की गयी है। देश के प्रमुख अधिकारियों को पद ग्रहण करते समय ईश्वर के नाम पर शपथ लेनी होती है।"

धर्मनिरपेक्ष राज्य की विशेषताएँ (Salient Features of Secular State)

धर्मनिरपेक्ष राज्य को सही रूप में समझने के लिए धर्मनिरपेक्ष राज्य की *विशेषताओं का अध्ययन उपयोगी होगा। धर्मनिरपेक्ष राज्य की विशेषताएँ निम्न* प्रकार हैं

---

1 "The secular state is a state which guarantees individual and corporate freedom of religion, deals with the individual as a citizen irrespective of his religion, who is not constitutionally connected to a particular religion, nor does it seek either to promote or interfere with the religions

—Donald Eugene Smith, *India as a Secular State*, p. 4.

(1) धर्म समाज का सामूहिक कार्य न होकर व्यक्ति का व्यक्तिगत कार्य—प्राचीन और मध्ययुग मे धर्म को सामान्यतया समाज का सामूहिक कार्य माना जाता था और राजा तथा प्रजा सभी के द्वारा राजा के नेतृत्व मे प्राकृतिक शक्तियों की पूजा की जाती थी। लेकिन धार्मिक जीवन के जो दो अंग (विश्वास और बाहरी आडम्बर) होते हैं उनमे धर्मनिरपेक्ष राज्य विश्वास को ही महत्वपूर्ण मानता है। उसकी मान्यता है कि धर्म आन्तरिक विश्वास की वस्तु है, अत धर्म को समाज का सामूहिक कार्य न माना जाकर व्यक्ति का व्यक्तिगत कार्य माना जाना चाहिए और सभी व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार धार्मिक जीवन व्यतीत करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(2) धर्मनिरपेक्ष राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होता—धर्म और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से दो प्रकार के राज्य होते हैं—धर्मनिरपेक्ष राज्य और धर्माचार्य राज्य। धर्माचार्य राज्य का अपना एक विशेष धर्म होता है और उसके द्वारा इस धर्म की वृद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किये जाते हैं। पाकिस्तान इस्लामी राज्य के रूप मे धर्माचार्य राज्य का एक उदाहरण है। लेकिन धर्मनिरपेक्ष राज्य का अपना कोई धर्म नही होता। यह सभी धर्मों को समान समझता है और इसके द्वारा किसी विशेष धर्म के प्रभाव का बढाने या कम करने का कोई प्रयत्न नही किया जाता।

(3) धर्म विशेष पर आधारित न होने पर भी अधार्मिक नहीं—धर्मनिरपेक्ष *राज्य किसी धर्म विशेष पर आधारित नही होता* और इसके द्वारा किसी प्रकार की धार्मिक क्रियाओ का सम्पादन भी नही किया जाता है। किन्तु धर्म से पृथकता का तात्पर्य यह नही है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य पूर्ण रूप से भौतिक या अनाध्यात्मिक हो। इस प्रकार के राज्य को अधर्मी, विधर्मी, धर्म विरोधी, अनाचारी या अधार्मिक नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि किसी विशेष धर्म से सम्बन्धित न होने पर भी इस प्रकार का राज्य सत्य, अहिंसा, प्रेम और विश्वबन्धुत्व आदि सर्वमान्य सिद्धान्तो के प्रति आस्था रखता है और इसका धर्म एव नैतिकता से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य किसी विशेष धर्म से सम्बन्धित नहीं होता, वरन् सभी धर्मों के सार मानव धर्म पर आधारित होता है। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने संविधान सभा मे ठीक ही कहा था कि "धर्मनिरपेक्ष होने का तात्पर्य अधर्मी होना अथवा संकुचित धार्मिकता पर चलना नहीं होता, वरन इसका तात्पर्य पूर्णतया आध्यात्मिक होना है।"

(4) सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता—धर्मनिरपेक्ष राज्य इस बात का प्रतिपादन करता है कि सभी धर्म आधारभूत रूप मे एक हैं, अत धर्म के आधार पर एक दूसरे के प्रति असहनशीलता का बर्ताव नही किया जाना चाहिए। हमारे द्वारा दूसरे धर्मों का भी सम्मान किया जाना चाहिए। धर्मनिरपेक्ष राज्य गांधीजी के इस विचार को स्वीकार करता है कि .

"विश्व के सभी धर्म विशाल वृक्ष की पत्तियों की भांति हैं और विभिन्न धर्मों के अनुयायी दूसरे धर्मों के साथ अपने प्रमुख या गौण भेदों पर जोर दिये बिना एक-दूसरे के साथ प्रसन्नतापूर्वक रह सकते हैं।"[2]

(5) धार्मिक कट्टरता (Bigotry) को निरुत्साहित करना—धर्मनिरपेक्ष राज्य धार्मिक उदारवाद का प्रशंसक और धार्मिक कट्टरता का विरोधी होता है। धर्म निरपेक्ष राज्य राष्ट्रीय एकता की दिशा में कार्य करने वाली प्रगतिशील संस्थाओं, शक्तियों और प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करता है।

(6) सर्वाधिकारवाद का विरोध—सर्वाधिकारवाद का तात्पर्य यह है कि राज्य व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन पर नियन्त्रण रखे। लेकिन धर्मनिरपेक्ष राज्य इस प्रकार की सर्वाधिकारवादी धारणा का विरोधी होता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य की मान्यता यह है कि धर्म व्यक्ति के आन्तरिक विश्वास और व्यक्तिगत जीवन की वस्तु है और इसलिए राज्य के द्वारा उस समय तक व्यक्ति के धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए, जब तक कि व्यक्ति का धार्मिक जीवन सार्वजनिक हित में बाधक न हो। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता का आदर्श इस विचार पर आधारित है कि राज्य का अधिकार व कार्यक्षेत्र सर्वव्यापी न होकर प्रतिबन्धित और सीमित होना चाहिए।

(7) सभी नागरिकों को समान अधिकार—धर्मनिरपेक्ष राज्य अपने सभी नागरिकों को, किसी भी धर्म के साथ बिना कोई पक्षपात किये समान सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्रदान करता है। सरकारी सेवाओं या जीवन के अन्य क्षेत्रों में धर्म, जाति, वर्ण या अन्य किसी आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाता।

(8) धर्मनिरपेक्ष राज्य मौलिक रूप से लोकतन्त्रात्मक—लोकतन्त्र का विचार मूल रूप से समानता और स्वतन्त्रता की धारणा पर आधारित है और धर्म निरपेक्ष राज्य में इन दोनों ही विचारों को उचित महत्व प्रदान किया गया है। धर्म-निरपेक्ष राज्य सभी धर्मों को समान समझता है और धार्मिक आधार पर किसी प्रकार का विभेद नहीं करता। धर्मनिरपेक्षता की धारणा धार्मिक क्षेत्र में व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर भी आधारित है। यह धार्मिक क्षेत्र में व्यक्ति के आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता प्रदान करता है और विभिन्न धर्मों के अनुयायियों को समान समझता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्षता का विचार मूल रूप से लोकतन्त्रात्मक होता है। वस्तुतः इसे 'आध्यात्मिक लोकतन्त्र' कहा जा सकता है।

(9) धर्मनिरपेक्ष राज्य का सर्वोच्च कर्तव्य : जनकल्याण—धर्म के दो पक्ष होते हैं—लौकिक और पारलौकिक। पारलौकिक पक्ष का तात्पर्य है ईश्वर की सेवा, पूजा, आराधना कर आगे आने वाले जीवन को सुधारना और लौकिक पक्ष का

[2] Dr Prasad, *Gandhi and Sarvodaya*, p. 71

तात्पर्य है मानव जाति की सेवा कर स्वय अपने और अन्य व्यक्तियो के इसी जीवन को सुधारना। धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म के लौकिक रूप मे विश्वास करता है और इसके द्वारा सामूहिक रूप से अपने सभी नागरिको के कल्याण का कार्य किया जाता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य ग्रीन की इस धारणा मे विश्वास करता है कि राज्य 'नैतिक जीवन के मार्ग की बाधाओं को बाधित करें।' इस दृष्टि से इसके द्वारा निर्धनता, अशिक्षा, अज्ञान और अस्वास्थ्य की बाधाओ को दूर करने का कार्य किया जाता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य का सर्वोच्च कर्तव्य जनकल्याण होता है और इस प्रकार का राज्य जनकल्याण हेतु सभी आवश्यक प्रयत्न करता है।

(10) शासन द्वारा धार्मिक शिक्षा का निषेध—धर्मनिरपेक्ष राज्य स्वय धार्मिक शिक्षा प्रदान नही करता और सामान्यतया उनके द्वारा ऐसी सस्थाओ को आर्थिक सहायता भी प्रदान नही की जाती जिनके पाठ्यक्रम मे किसी विशेष धार्मिक मत मतान्तर से जुडी हुई धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था हो। धर्मनिरपेक्ष राज्य मे, जिसके अन्तर्गत विभिन्न धर्मों के अनुयायी रहते हैं, सार्वजनिक शिक्षा के अन्तर्गत किसी एक धर्म से सम्बन्धित सिद्धान्तो को अपनाये जाने पर सदैव ही मतभेद और सघर्ष की आशका बनी रहती है। अत धर्मनिरपेक्ष राज्य न तो धार्मिक शिक्षा के लिए अनुदान देता है और न ही स्वय इस प्रकार की सस्थाओ की स्थापना करता है। ऐसी स्थिति मे धर्मनिरपेक्ष राज्य के हितो की रक्षा धार्मिक मत-मतान्तरो से परे रहकर नैतिक शिक्षा को पाठ्यक्रम के अन्तर्गत अपनाने पर हो सकती है।

(11) नैतिकता के नियमों को अस्वीकार नहीं करता—धर्मनिरपेक्ष राज्य मे धार्मिक शिक्षा के निषेध का तात्पर्य यह नही लिया जाना चाहिए कि धर्मनिरपेक्ष राज्य नैतिकता के नियमों को स्वीकार नहीं करता। नैतिकता धर्मनिरपेक्ष राज्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार होता है। इस प्रकार के राज्य मे विभिन्न प्रकार के धर्मों और सस्कृतियो से सम्बन्धित व्यक्ति सामूहिक रूप से राज्य के कल्याण हेतु कार्य करते हैं। इस प्रकार के विभिन्न हितो और धार्मिक मतो के बीच सहयोग उनमे निहित सामान्य नैतिक भावना के आधार पर ही सम्भव होता है। वास्तव मे धर्मनिरपेक्ष राज्य के सभी नागरिक नैतिकता के बन्धनो से ही आबद्ध होते हैं। इस प्रकार एक सच्चा धर्मनिरपेक्ष राज्य नैतिकता को अस्वीकार नही करता और न ही उसके द्वारा ऐसा किया जाना चाहिए।

(12) व्यक्तियों को अन्य धर्मों के विरोध का अधिकार नहीं—धर्मनिरपेक्ष राज्यो मे सभी नागरिकों को अपनी इच्छानुसार धार्मिक जीवन व्यतीत करने का तो अधिकार होता है, किन्तु उन्हें अन्य धर्मों के विरोध का अधिकार नहीं होता। उनके द्वारा ऐसा कोई भी कार्य नही किया जा सकता है जिससे अन्य धर्मों के अनुयायियों की धार्मिक भावनाओ को आघात पहुँचे।

(13) कोई भी धर्मनिरपेक्ष राज्य के कानूनों से मुक्त नहीं—धर्मनिरपेक्ष राज्य के अन्तर्गत कोई भी धर्म या उस धर्म से सम्बन्धित पुरोहित वर्ग राज्य के

कानूनों से मुक्त नहीं होता। यदि कोई धर्म या उसके सिद्धान्त, उसके अनुयायियों या सार्वजनिक व्यवस्था के लिए हानिकारक हैं, तो राज्य कानून द्वारा ऐसे हानिकारक सिद्धान्तों या धार्मिक व्यवहारों की मनाही कर सकता है। यदि किसी धर्मस्थान की सम्पत्ति का धर्माधिकारियों द्वारा दुरुपयोग किया जा रहा हो तो राज्य कानून द्वारा सम्बन्धित व्यवस्था को ठीक कर सकता है।

क्या धर्मविरोधी राज्य धर्मनिरपेक्ष राज्य हो सकता है ?

धर्मनिरपेक्ष और धर्मविरोधी राज्य में आधारभूत भेद है और धर्मविरोधी राज्य कभी भी धर्मनिरपेक्ष राज्य नहीं हो सकता है। धर्मविरोधी राज्य में धर्म, नैतिकता या ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं होता, व्यक्तियों को धर्म का पालन करने से भी अधिक धर्म का विरोध करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, राज्य के प्रमुख पदों पर कोई ऐसा व्यक्ति प्रतिष्ठित नहीं किया जाता जो ईश्वर में आस्था रखता हो और राजकाज के अन्तर्गत धर्म या ईश्वर के नाम के लिए कोई स्थान नहीं होता। लेकिन धर्मनिरपेक्ष राज्य किसी विशेष धर्म पर आधारित न होते हुए भी सभी धर्मों के सार नैतिकता या मानव धर्म पर आधारित होता है। इस प्रकार के राज्य द्वारा अपने नागरिकों को नैतिक आचरण करने और सामान्य धार्मिक मर्यादाओं के अन्तर्गत रहने के लिए प्रेरित किया जाता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य अपने सभी नागरिकों को अधिकाधिक धार्मिक, नैतिक और परोपकारी कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। उदाहरणार्थ, भारतीय संविधान के 27वें अनुच्छेद में कहा गया है कि 'धार्मिक या परोपकारी कार्यों में खर्च की जाने वाली सम्पत्ति पर कोई कर नहीं लगाया जायेगा।' धर्मविरोधी राज्यों में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं रहती।

वस्तुतः धर्मनिरपेक्ष राज्य तो नैतिकता और मानव धर्म पर आधारित एक लोककल्याणकारी राज्य होता है, किन्तु धर्मविरोधी राज्य उस भवन की भाँति होता है जिसका कोई आधार न हो और इसी कारण इसके कभी भी नष्ट हो जाने की आशंका बनी रहती है। धर्मविरोधी राज्य और धर्मनिरपेक्ष राज्य में मौलिक भेद है। भारत, इंगलैण्ड आदि राज्य धर्मनिरपेक्ष राज्यों के उदाहरण हैं किन्तु सोवियत रूस और साम्यवादी चीन धर्मविरोधी राज्यों के। धर्मविरोधी राज्य धर्मनिरपेक्ष राज्य हो ही नहीं सकता।

धर्मनिरपेक्षता की धारणा का मूल्यांकन

प्राचीन और मध्य युग में धर्म और राजनीति का गठबन्धन था, लेकिन इस प्रकार के गठबन्धन के परिणामस्वरूप धर्म और राजनीति दोनों का ही स्वरूप विकृत हो गया। इसलिए इस प्रकार के धर्माचार्य राज्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई और धर्म तथा राजनीति के पृथक्करण पर आधारित धर्मनिरपेक्षता के विचार का उदय हुआ। किन्तु धर्मनिरपेक्षता के विचार या धर्मनिरपेक्ष राज्य की आलोचना की जाती है। इस प्रकार की आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं

(1) शासन प्रणाली का आधार भौतिक—आलोचकों के अनुसार, धर्म-

निरपेक्ष राज्य, राज्य की धर्म से पृथकता पर आधारित होने के कारण आवश्यक रूप से भौतिक होता है और इसके अन्तर्गत मनुष्यों के नैतिक एवं आध्यात्मिक हितों की साधना नहीं हो सकती। प्रो पुन्ताम्बेकर ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि—"इसके अन्तर्गत किसी धर्म या नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं होता " धर्मनिरपेक्ष राज्य गांधीवादी राज्य हो ही नहीं सकता न तो वह प्राचीन धार्मिक विचार-धाराओं पर और न आधुनिक सांस्कृतिक विचारों पर चल सकता है।"

(2) राज्य का छिन्न भिन्न हो जाना सम्भव—आलोचकों का कथन है कि राज्य मे एक धर्म विशेष को मान्यता प्रदान करने मे धार्मिक एकता के आधार पर एक ऐसी राजनीतिक एकता स्थापित हो जाती है, जो राज्य को स्थायित्व प्रदान करती है। किन्तु धर्म से पृथक होने के कारण धर्मनिरपेक्ष राज्य मे इस प्रकार की धार्मिक एकता नहीं होती और इस प्रकार की धार्मिक एकता के अभाव मे राज्य के छिन्न भिन्न हो जाने की आशंका बनी रहती है। आलोचकों के अनुसार एक धर्म-निरपेक्ष राज्य मे विभिन्न धर्मों के जो अनुयायी होते हैं, उनके द्वारा धार्मिक भेदों के कारण परस्पर निरन्तर लड़ाई झगड़े किये जाते हैं और ये लड़ाई झगड़े राज्य की एकता को नष्ट कर देते हैं।

(3) लोककल्याणकारी राज्य नहीं हो सकता—लोककल्याणकारी राज्य जनहित और सामाजिक कल्याण पर आधारित होता है और लोककल्याण की यह भावना नैतिक आदर्शों और धार्मिक मान्यताओं के आधार पर ही उत्पन्न हो सकती है। लेकिन धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म व नैतिकता के प्रति उदासीन होता है और इस कारण यह कभी सच्चा लोककल्याणकारी राज्य नहीं हो सकता। आलोचकों के अनुसार धर्मनिरपेक्ष राज्य मे लोककल्याण की भावनाओं का पतन हो जाता है और इसमे उन स्वार्थपूर्ण तत्वों को बढ़ावा मिलता है, जो लोककल्याण के विरुद्ध होते हैं।

(4) सरलता से विकृत हो सकता है—आलोचकों का यह भी कथन है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य मे शासन का कोई नैतिक आधार नहीं होता, इसलिए इस प्रकार का राज्य सरलतापूर्वक विकृत हो सकता और तानाशाही का रूप ग्रहण कर सकता है। राज्य मे धार्मिक तथा नैतिक भावनाओं का पोषण न होने के कारण इस बात की आशंका रहती है कि कोई एक व्यक्ति शासन शक्ति हथियाकर तानाशाही की स्थापना न कर ले, जैसा कि मुसोलिनी ने 1922 मे और हिटलर ने 1933 मे किया।

(5) धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था न होने के दुष्परिणाम—धर्मनिरपेक्ष राज्य के अन्तर्गत शिक्षण संस्थाओं मे विद्यार्थियों को किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती। इस प्रकार की धार्मिक शिक्षा के अभाव मे विद्यार्थी पूर्ण भौतिकता के वातावरण मे पलकर बड़े होते हैं और अनैतिक मार्ग से भौतिक साधनों की प्राप्ति ही उनके द्वारा अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लिया जाता है। जिस देश को

युवा पीढ़ी नैतिक और धार्मिक आचरण से हटकर इस प्रकार का कलुषित मार्ग अपना लेती है उस देश का भविष्य अन्धकारमय ही कहा जा सकता है।

(6) बहुसंख्यक धार्मिक वर्ग की भावनाओं को आघात—एक राज्य के अन्तर्गत धर्म की दृष्टि से जो वर्ग बहुमत में है, वह सदैव ही यह चाहता है कि उसे राज्य के अन्तर्गत अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिए। धर्म की दृष्टि से बहुमत वर्ग को विशेष स्थिति प्राप्त होने या धर्माचार्य राज्य होने पर इस बहुमत वर्ग के द्वारा राज्य के प्रति धर्म-मिश्रित देशभक्ति का दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है और वे राज्य के कल्याण को अपना विशेष कर्तव्य समझते हैं। लेकिन धर्मनिरपेक्ष राज्य मे जब बहुमत और अल्पमत वर्ग को समान स्थिति प्राप्त होती है और बहुमत वर्ग को अल्पमत वर्ग की भावनाओं और हितों को दृष्टि मे रखते हुए अपनी भावनाओं पर अंकुश रखना पड़ता है, तो इससे बहुमत वर्ग की भावनाओं पर आघात पहुँचता है और वे राज्य के प्रति उस श्रद्धाभक्ति का परिचय नहीं दे पाते, जिसका परिचय वे अन्यथा दे सकते थे।

धर्मनिरपेक्षता या धर्मनिरपेक्ष राज्य के पक्ष मे तर्क

धर्मनिरपेक्ष राज्य के प्रति की गयी उपर्युक्त सभी आलोचनाएँ निर्मूल हैं और उनमे कोई सार नहीं है। धर्मनिरपेक्ष राज्य लोकतन्त्र और लोककल्याण के मार्ग मे बाधक होना तो दूर रहा, यही एकमात्र ऐसा मार्ग है जिसके आधार पर लोकतन्त्र और लोककल्याण के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य के पक्ष में निम्नलिखित प्रमुख और ठोस तर्क हैं।

(1) धर्मनिरपेक्ष राज्य की आलोचनाएँ मिथ्या धारणा पर आधारित—धर्मनिरपेक्ष राज्य की आलोचना करते हुए जो विभिन्न बातें कही गयी हैं, वे सभी इस मिथ्या धारणा पर आधारित हैं कि धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्मविरोधी राज्य होता है, जबकि वस्तुस्थिति इसके नितान्त विपरीत है। धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्मविरोधी राज्य नहीं होता वरन् सभी धर्मों के सार मानव धर्म पर आधारित वास्तविक आध्यात्मिक राज्य होता है। इस प्रकार का राज्य, उसके कानून और सत्ता सब कुछ नैतिकता पर आधारित होते हैं। न्यायमूर्ति रामास्वामी के शब्दों मे—'धर्मनिरपेक्ष राज्य का तात्पर्य यह नहीं है कि कानून नैतिक आचार विचार से पृथक हो।'[1]

(2) राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति धर्मनिरपेक्ष राज्य में ही सम्भव—एक राज्य जिसके अन्तर्गत विविध धर्मों के अनुयायी रहते हैं, यदि किसी एक विशेष धर्म को राज्यधर्म के रूप मे अपना लेता है तो अन्य धर्मों के अनुयायी राज्य के प्रति उदासीनता का भाव अपना लेते हैं और बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक वर्ग मे सदैव ही संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। लेकिन धर्मनिरपेक्ष राज्य के अन्तर्गत सभी धर्मों

---

1 "A Secular State does not mean that laws be disasso.iated from the ethical standards"—Justice Ramaswami of the Patna High Court, *Indian Law Review*, Vol 13, p 13.

के अनुयायियों को समान समझा जाता है और स्वतन्त्रता तथा समानता पर आधारित यह भ्रातृभाव राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य की प्राप्ति में बहुत अधिक सहायक होता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अकबर की धर्मनिरपेक्षता ने मुगल साम्राज्य को एकता और सुदृढ़ता प्रदान की लेकिन औरंगजेब की धार्मिक पक्षपात की नीति ने मुगल साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। भारतीय संविधान सभा के सदस्यों का भी यही विचार था कि धर्मनिरपेक्षता ही राज्य की एकता को बनाये रख सकती है और इसलिए उन्होंने भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को अपनाया।

(3) धर्मनिरपेक्षता लोकतन्त्र के आदर्श का पूरक—धर्मनिरपेक्षता का विचार लोकतन्त्र के आदर्श का भी पूरक है। लोकतन्त्र का आदर्श मूल रूप से समानता और स्वतन्त्रता की धारणा पर आधारित है और धर्मनिरपेक्ष राज्य में इन दोनों ही विचारों को उचित महत्व प्रदान किया गया है। धर्मनिरपेक्ष राज्य सभी धर्मों को समान समझता है और धर्मनिरपेक्षता की धारणा धार्मिक क्षेत्र में व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर भी आधारित है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्षता का विचार मूल रूप से लोकतन्त्रात्मक होता है। वस्तुतः इसे 'आध्यात्मिक लोकतन्त्र' कहा जा सकता है।

आलोचक कहते हैं कि धर्मनिरपेक्ष राज्य विकृत होकर तानाशाही का रूप ग्रहण कर लेता है, किन्तु वास्तव में इस प्रकार की आशंका धर्मनिरपेक्ष राज्य की अपेक्षा धर्माचार्य राज्य में ही अधिक है। धर्माचार्य राज्य में शासक अपने आपको ईश्वर का प्रतिनिधि बतलाकर जनता पर मनमाने अत्याचार करते हैं। भूतकाल में इन धर्माचार्य राज्यों में धर्म के नाम पर दूसरे धर्मों के अनुयायियों पर जिस प्रकार के अत्याचार किये गये, उनकी कल्पना ही भयावह है। धर्मनिरपेक्ष राज्य तो सर्वाधिकारवाद की धारणा का विरोधी होने और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा समानता पर आधारित होने के कारण अधिनायकवाद का विरोधी और प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था का पूरक है।

(4) धर्मनिरपेक्षता के आदर्श को अपनाकर ही लोककल्याणकारी राज्य सम्भव—आलोचक कहते है कि लोककल्याणकारी राज्य धर्मनिरपेक्ष राज्य नहीं हो सकता लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि एक धर्मनिरपेक्ष राज्य ही लोककल्याणकारी राज्य हो सकता है। लोककल्याण का तात्पर्य है राज्य द्वारा सभी व्यक्तियों का कल्याण लेकिन जब धर्माचार्य राज्य के अन्तर्गत एक वर्ग के व्यक्तियों को उच्च और दूसरे वर्ग के व्यक्तियों को निम्न स्थिति प्राप्त होती है तो लोककल्याण के लक्ष्य को प्राप्त किया ही नहीं जा सकता। धर्मनिरपेक्ष राज्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और समानता के उस विचार पर आधारित होता है, जो एक लोककल्याणकारी राज्य का प्राण है। वर्तमान अनुभव इस बात का साक्षी है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य ही लोककल्याण के आदर्श को अपना सकते हैं और इस आदर्श के आधार पर शासन-व्यवस्था का

सचालन कर सकते हैं। भारत इसका प्रमाण है। डॉ सक्सेना के शब्दों में—"धर्मनिरपेक्ष राज्य एक लोककल्याणकारी राज्य होता है और बहुधर्मी राज्य में तो लोककल्याण की सिद्धि इसी से सम्भव है।"[1] वस्तुत 'लोककल्याण' धर्मनिरपेक्ष राज्य का राज्यधर्म होता है। वर्तमान समय मे राज्य के आदर्श के रूप मे 'लोकतन्त्र, लोककल्याण और धर्मनिरपेक्षता' इन शब्दों का जो प्रयोग किया जाता है, उससे भी नितान्त स्पष्ट है कि ये पूरक और सहायक ही हैं।

(5) धार्मिक साम्राज्यवाद की आशका नहीं—इतिहास के अन्तर्गत धार्मिक साम्राज्यवाद के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमे राज्यधर्म से भिन्न मत रखने वाले व्यक्तियों के प्रति अमानवीय अत्याचार किये गये। किन्तु धर्मनिरपेक्ष राज्य में शासन-व्यवस्था का समस्त सचालन इस प्रकार से होता है कि धार्मिक साम्राज्यवाद का कोई भय नही रहता। धर्मनिरपेक्ष राज्य के सविधान मे इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि धार्मिक साम्राज्यवाद जैसी कोई स्थिति उत्पन्न न हो। यदि इस प्रकार की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो भी जाय, तो धर्मनिरपेक्ष कानूनो के आधार पर अल्पमतो के हितों और विश्वासो की रक्षा का कार्य किया जा सकता है।

(6) विश्व राज्य के आदर्श की पूर्ति मे सहायक—विश्व राज्य एक अत्यधिक उदार और भव्य आदर्श है जिसकी प्राप्ति शनै-शनै ही की जा सकती है। धर्मनिरपेक्ष राज्य मानवीय स्वतन्त्रता और समानता पर आधारित होता है। इसके द्वारा प्रेम, दया, सहिष्णुता, सहयोग और मानवीय सद्भावना के गुणों पर बल दिया जाता है और इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि सभी व्यक्ति धर्म, जाति और अन्य भेदों पर विचार किये बिना परस्पर बन्धुत्व के विचार को अपनाएँ। धर्मनिरपेक्षता के विचार की उदार व्याख्या तो यही कहती है कि मानव मानव है और उसके सम्बन्ध मे जाति, धर्म, भाषा, राष्ट्रीयता और अन्य किसी भेद को महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। विश्व राज्य का आदर्श भी यही कहता है और इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता विश्व राज्य के आदर्श की पूर्ति मे सहायक होती है।

(7) प्रगतिशील विचारधारा—धर्मनिरपेक्षता का विचार मानवीय मन और मस्तिष्क में उदारवादी दृष्टिकोण को जन्म देता है। इस दृष्टि से यह एक प्रगतिशील विचारधारा और वर्तमान समय की परिस्थितियों के नितान्त अनुरूप है।

उपर्युक्त तर्क-वितर्क के अतिरिक्त व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर भी कहा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्षता की विचारधारा वर्तमान समय के लिए एक श्रेष्ठ आदर्श है और लोकतन्त्र तथा लोककल्याण के आदर्श की प्राप्ति एक धर्मनिरपेक्ष राज्य में ही की जा सकती है।

---

1 Dr Saxena, *Secular State and its Institutional Pattern*

भारत मे धर्म निरपेक्षता

भारत में सदैव से ही धम का जीवन के अन्तगत विशेष महत्व रहा है। किन्तु कालान्तर म धम के सकुचित रूप का प्रचलन हो गया उसके आडम्बरमय रूप को ही तब कुछ समझ लिया गया और इससे भारत की राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक प्रगति को गहरा आघात पहुँचा। भारतीय समाज म धम क नाम पर इतने अधिक मत मतान्तर प्रचलित हो गये है कि इसम भारतीय समाज विभिन्न टुकडो मे विभक्त हो गया और राष्ट्रीय एकता का भीषण आघात पहुँचा। सदियो तक परतन्त्रता इन परिस्थितियो का स्वाभाविक परिणाम हुआ। धार्मिक मत मतान्तरो के इन दुष्परिणामो को देखते हुए भारतीय सविधान निर्माताओ द्वारा धम निरपेक्षता के आदश को अपनाया गया। लेकिन सविधान सभा के अनेक प्रमुख सदस्यों द्वारा यह बात नितान्त स्पष्ट कर दी गयी कि धमनिरपेक्षता का आशय धम विरोध से नही है और भारत राज्य एक धमविरोधी राज्य न होकर नैतिकता आध्यात्मिक और मानव धम पर आधारित एक वास्तविक धार्मिक राज्य होगा। धमनिरपेक्षता क आदश को प्राप्त करने क लिए भारतीय सविधान के अन्तगत निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गयी है

(1) अस्पृश्यता का अन्त—धमनिरपेक्षता का उदार आदश इस बात पर बल देता है कि सामाजिक जीवन मे भी जाति या अन्य किसी आधार पर कोई भेदभाव नही किया जाना चाहिए। इसी दृष्टि से सविधान की धारा 17 के अनुसार अस्पश्यता का उन्मूलन कर दिया गया है। इस प्रकार धम की आड म भारतीय समाज के अन्तगत मनुष्य पर जो अत्याचार करते रहे, उसे इस व्यवस्था के आधार पर समाप्त कर दिया गया है।

(2) धम के आधार पर भेदभाव नहीं—सविधान के द्वारा नागरिको का यह विश्वास दिया गया है कि धम क आधार पर उनके साथ कोई भदभाव नहीं किया जायगा। सविधान की धारा 15(ii) के अनुसार किसी भी व्यक्ति को धम के आधार पर किसी सावजनिक स्थान मे प्रवेश से नहीं रोका जायगा। धारा 16(i) के अनुसार सावजनिक पदो पर नियुक्तियाँ करने म धम क आधार पर कोई भेदभाव नही किया जायगा।

(3) धार्मिक स्वतन्त्रता—भारतीय सविधान क द्वारा प्रत्यक नागरिक को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है और सविधान की धारा 25 के द्वारा प्रत्येक नागरिक को यह मौलिक अधिकार दिया गया है कि वह किसी भी धम मे विश्वास और उस पर आचरण कर। इसका अभिप्राय यह है किसी भी नागरिक को किसी धम विशेष का पालन करने या न करने के लिए बाध्य नही किया जा सकता।

(4) धार्मिक सस्थाओं की स्थापना और धम प्रचार की स्वतन्त्रता—सविधान के द्वारा धार्मिक क्षत्र मे सामूहिक स्वतन्त्रता भी प्रदान की गयी है। सविधान की धारा 26 मे कहा गया है कि प्रत्येक सम्प्रदाय को धार्मिक तथा परोपकारी उद्देश्य

के लिए संस्थाएँ स्थापित करने और उन्हें चलाने, धार्मिक मामलों का प्रबन्ध करने, चल तथा अचल सम्पत्ति रखने और प्राप्त करने और ऐसी सम्पत्ति का कानून के अनुसार प्रबंध करने का अधिकार है। संविधान के द्वारा नागरिकों को धर्म के प्रचार और प्रसार की स्वतन्त्रता दी गयी है किन्तु उनके द्वारा इस सम्बन्ध में लोभ, लालच और दबाव आदि अनुचित साधनों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

(5) धार्मिक कार्यों के लिए किया जाने वाला व्यय कर-मुक्त—भारतीय संविधान अपने नागरिकों को न केवल धार्मिक स्वतन्त्रता और धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की स्वतन्त्रता प्रदान करता है, वरन् इस सम्बन्ध में संविधान के अनुच्छेद 27 में कहा गया है कि "धार्मिक या परोपकारी कार्यों के लिए खर्च की जाने वाली सम्पत्ति पर कोई कर नहीं लगाया जायगा।" संविधान की इस व्यवस्था से यह *नितान्त स्पष्ट है कि भारत राज्य एक धर्मविरोधी राज्य नहीं, वरन् विशुद्ध धर्म को* प्रोत्साहित करने वाला राज्य है।

(6) धार्मिक शिक्षा का निषेध—धर्मनिरपेक्षता की परम्परा के अनुरूप संविधान की धारा 28 में कहा गया है कि किसी सरकारी शिक्षण संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती तथा गैर-सरकारी, किन्तु सरकार से आर्थिक सहायता या मान्यता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में किसी को धार्मिक शिक्षा या उपासना में भाग लेने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। 42वें संवैधानिक संशोधन (सन् 1976) द्वारा भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भारत के लिए 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द जोड़ा गया है।

इन सभी उपबन्धों से यह नितान्त स्पष्ट है कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है, धर्मविरोधी राज्य नहीं। इस धर्मनिरपेक्ष राज्य के अन्तर्गत उच्च धार्मिक पदाधिकारी पद ग्रहण के समय ईश्वर के नाम पर शपथ ले सकते हैं, भारत राज्य के सर्वोच्च अधिकारी उपासना आदि में भाग ले सकते हैं, धार्मिक कार्यों के लिए होने वाले व्यय पर कर-मुक्ति की व्यवस्था की गयी है और शिक्षण संस्थाओं में नैतिक शिक्षा प्रारम्भ करने पर भी विचार किया जा रहा है। भारतीय इतिहास और संविधान में प्रतिपादित लोकतन्त्र एवं लोककल्याण के आदर्श को दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि भारत के लिए धर्मनिरपेक्षता का यह आदर्श ही नितान्त औचित्यपूर्ण है।

अन्य राज्यों के सम्बन्ध में स्थिति—न केवल भारत, वरन् विश्व के अन्य प्रगतिशील राज्यों द्वारा भी धर्मनिरपेक्षता के मार्ग को ही अपनाया गया है। स्विट्जरलैण्ड, पश्चिमी जर्मनी, बर्मा, श्रीलंका, आस्ट्रेलिया, इंगलैण्ड, आयरलैण्ड, फ्रांस, इण्डोनेशिया, जापान, संयुक्त राज्य अमरीका और विश्व के अन्य राज्य धर्मनिरपेक्ष ही हैं। सोवियत रूस और अन्य साम्यवादी राज्यों को धर्मनिरपेक्ष तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन सोवियत रूस के नागरिकों को भी कुछ सीमा तक धार्मिक स्वतन्त्रता

प्राप्त है। वर्तमान समय मे पाकिस्तान, लीबिया, यूगाण्डा, सऊदी अरब और मध्य-पूर्व के अन्य कुछ राज्य ही धर्माचार्य राज्य के उदाहरण हैं।

प्रश्न

1. धर्मनिरपेक्ष राज्य से आप क्या समझते हैं? क्या धर्मनिरपेक्षता का विचार लोकतन्त्र और लोककल्याण के आदर्शों के अनुरूप है?
2. धर्मनिरपेक्ष, धर्मनिरपेक्षवादी और धर्मनिरपेक्षता शब्दों से आप क्या समझते हैं? धर्मनिरपेक्षता के विभिन्न सम्प्रदायो का वर्णन कीजिए।
3. धर्मनिरपेक्ष राज्य की विशेषताएँ बताइए और इस प्रकार के राज्य का मूल्या-कन कीजिए।
4. धर्मनिरपेक्षता का विचार लोकतन्त्र और लोककल्याण के अनुरूप है। स्पष्ट कीजिए।
5. धर्मनिरपेक्षता के मूल सिद्धान्तो की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

14

राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार : लोकतन्त्र और अधिनायक तन्त्र

[FORMS OF POLITICAL SYSTEM DEMOCRACY AND DICTATORSHIP]

> "शासन के रूपों के लिए मूर्खों को लड़ने दो। जो शासन ठीक प्रकार से चले, वही सर्वश्रेष्ठ शासन है।"[1] —एलेक्जेण्डर पोप
>
> "परिवार और सत्य, सूर्य के प्रकाश और फ्लोरेन्स नाईटिंगल की भांति, लोकतन्त्र की श्रेष्ठता सन्देह के परे है।"[2]
>
> —जे के गेलब्रेथ

मानव जाति के प्रारम्भिक काल से लेकर अब तक विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्थाएं विद्यमान रही हैं और शासन के इन विभिन्न रूपों का मानव जाति के राजनीतिक विकास मे विशेष महत्त्व रहा है। इस प्रकार की महत्वपूर्ण शासन व्यवस्थाओं मे राजतन्त्र, अधिनायकतन्त्र, कुलीनतन्त्र व लोकतन्त्र अधिक प्रमुख है। वर्तमान समय की दृष्टि मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण शासन व्यवस्थाएँ निश्चित रूप से लोकतन्त्र और अधिनायकतन्त्र ही हैं।

लोकतन्त्र
(DLMOCRACY)

अरस्तू के समय से लेकर आज तक साधारणतया शासन-व्यवस्था के तीन रूप प्रचलित रहे हैं—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र। भूतकाल मे साधारण रूप से राजतन्त्रात्मक या कुलीनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्थाएं प्रचलित थीं, किन्तु एक लम्बे समय के ऐतिहासिक अनुभव से यह स्पष्ट हो गया कि राजतन्त्र या कुलीनतन्त्र

---

1 "For forms of government let the fools contest Whatever is best administered is best " —*Alexander Pope*

2 "Like the family and truth and sunshine and Florence Nightingale, democracy stands above doubt "

—J K Galbraith in Reith lectures 1966 67 (Quoted from Pickle s *Democracy*, p 11)

जनसाधारण के हित मे कार्य न करके कुछ विशेष व्यक्तियो या एक वर्ग विशेष के स्वार्थों का ही ध्यान रखते हैं। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र मे इस प्रकार की प्रवृत्ति पाये जाने के दो कारण बताये जा सकते हैं

(1) शासन व्यवस्था के ये रूप एक वर्ग विशेष से ही सम्बन्धित होने के कारण शासक वर्ग जनसाधारण की भावनाओ से परिचित नही होता।

(2) शासक वर्ग जनता के प्रति उत्तरदायी नही होता, इस कारण वह निरकुश हो जाता है और उसके द्वारा शासन शक्ति का भ्रष्ट रूप मे प्रयोग किया जाता है।

इन दो तथ्यों के कारण शासन व्यवस्था के मूल रूप मे परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव की गयी और इस प्रकार के परिवर्तन के रूप मे लोकतन्त्र को अपनाया गया। प्रारम्भ मे शासन के प्रकार के रूप मे लोकतन्त्र का उदय हुआ और इसके अन्तर्गत या तो जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासन किया जाने लगा या जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो के द्वारा शासन किया जाने लगा। लोकतन्त्रीय शासन का यह द्वितीय रूप ही व्यावहारिक था और अधिकाश देशो मे इस द्वितीय रूप—अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र—को ही अपनाया गया। लेकिन कालान्तर मे यह अनुभव किया गया कि शासन-व्यवस्था मे किया गया यह परिवर्तन अपने मूल उद्देश्य—शासन शक्ति का सर्वसाधारण के हित मे प्रयोग—को प्राप्त करने मे असमर्थ रहा है। अत शासन-व्यवस्था के प्रकार के रूप मे लोकतन्त्र के साथ साथ राज्य के प्रकार के रूप मे लोकतन्त्र, समाज-व्यवस्था के प्रकार के रूप मे लोकतन्त्र और आर्थिक व्यवस्था के प्रकार के रूप मे भी लोकतन्त्र की स्थापना की गयी। इन अलग अलग रूपो मे लोकतन्त्र की व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है

शासन के प्रकार के रूप मे लोकतन्त्र—लोकतन्त्र का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'डेमोक्रेसी' (Democracy) ग्रीक शब्द विधान के अनुसार 'डेमोस' (Demos) और 'क्रेटिया' (Kratia) इन प्रकार के दो शब्दो से मिलकर बना है, जिनका तात्पर्य 'शासन की शक्ति' से होता है। इस प्रकार के रूप में लोकतन्त्र उस शासन-प्रणाली को कहते हैं जिनमे जनता स्वय प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियो के द्वारा सम्पूर्ण जनता के हित को दृष्टि मे रखकर शासन करती है।

एक लम्बे समय तक लोकतन्त्र का तात्पर्य शासन के एक प्रकार से ही लिया जाता था और विभिन्न विद्वानों द्वारा इस रूप मे लोकतन्त्र की अलग अलग प्रकार से व्याख्याएँ की गयी हैं। राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन की सर्वप्रसिद्ध परिभाषा इस प्रकार है. "लोकतन्त्र शासन का वह रूप है जिसमे जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए शासन हो।"[1] ब्राइस के शब्दो मे, 'लोकतन्त्र शासन का वह प्रकार है जिसमे

[1] 'Democracy is a government of people, by the people, and for the people'
—*Abraham Lincoln*

राज्य के शासन की शक्ति किसी विशेष वर्ग या वर्गों में निहित न होकर सम्पूर्ण जन-समुदाय में निहित है।"[1] सीले के अनुसार, "लोकतन्त्र वह शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का एक भाग हो।"[2]

लोकतन्त्र की परिभाषा करते हुए यद्यपि इन विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है, लेकिन फिर भी इन परिभाषाओं के आधार पर लोकतन्त्र की सामान्य रूप में निम्न तीन विशेषताएँ बतायी जा सकती हैं

(1) जनता का प्रतिनिधित्व—इसके अन्तर्गत जनता की प्रतिनिधि सरकार द्वारा ही शासन किया जाता है और इस प्रकार शासन का आधार दैवीय न होकर लौकिक ही होता है।

(2) जनता के हितों का रक्षण—लोकतन्त्र में शासन का अस्तित्व जनता के हितों की रक्षा के लिए होता है अर्थात लोकतन्त्र में सरकार सदैव एक साधन के रूप में ही होती है, साध्य रूप में नहीं।

(3) जनता के प्रति उत्तरदायित्व—इसके अन्तर्गत सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है, अर्थात यदि शासक द्वारा अपनी शक्ति का प्रयोग सर्वसाधारण के हित में नहीं किया जाता, तो सर्वसाधारण द्वारा शासन में परिवर्तन किया जा सकता है।

उपर्युक्त तीन विशेषताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शासन के प्रकार के रूप में *लोकतन्त्र के अन्तर्गत सर्वसाधारण जनता ही सरकार की स्थापना* करती है, सरकार सर्वसाधारण के हितों की रक्षा करती है और उनकी इच्छानुसार ही पदासीन रहती है।

राज्य के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र—यह अनुभव किया गया कि जनता के प्रतिनिधि भी कम-से-कम एक निश्चित समय तक राजा या कुलीन वर्ग के समान ही शक्ति का भ्रष्ट रूप में प्रयोग कर सकते हैं। इसी बात को लक्ष्य करते हुए रूसो ने ब्रिटिश प्रजातन्त्र पर कटाक्ष किया था कि "इंगलैंड केवल चुनाव के दिन ही स्वतन्त्र होता है।"[3] लोकतन्त्र को वास्तविक रूप में जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जनता न केवल अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करे वरन् वह अपने प्रतिनिधियों पर व्यवहार में नियन्त्रण भी रखे और अन्तिम रूप में महत्त्वपूर्ण राजनीतिक नियमों का निर्णय जनता द्वारा ही किया जाए। हर्नशा के शब्दों में, "राज्य के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र शासन की ही एक विधि नहीं अपितु वह

---

1 "Democracy is a form of government in which the ruling power of the state is invested not in a particular class or classes, but in the members of the community as a whole." —Bryce, *Modern Democracy*, Vol 3, p 20.

2 "Democracy is a government in which every one has a share" —Seeley, *Introduction to Political Science*, p 324.

3 "England is free only on the day of election" —Rousseau

सरकार की नियुक्ति करने, उस पर नियन्त्रण करने तथा उस पर उसे अपदस्थ करने की विधि है।"[1]

सामाजिक व्यवस्था के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र—समानता की घोषणा भर कर देने से ही व्यवहार में सभी व्यक्ति समान नहीं हो जाते हैं। सामाजिक स्थिति राजनीतिक क्षेत्र पर बहुत अधिक प्रभाव डालती है और जब तक सामाजिक क्षेत्र मे सभी व्यक्तियो को समान महत्व प्राप्त न हो, राजनीतिक समानता एक भ्रम बनकर रह जाती है। समाज के प्रकार के रूप मे लोकतन्त्र से उस समाज का ज्ञान होता है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य व्यक्ति रूप में ही होता है और जाति, रंग, लिंग, सम्पत्ति और धर्म के भेद के बिना सभी व्यक्ति समान समझे जाते हैं तथा समान अधिकार एवं अवसर का उपयोग करते हैं। लोकतन्त्रात्मक समाज के सम्बन्ध में डॉ बेनीप्रसाद ने कहा है कि "यह जीवन का एक ढंग है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्व उतना ही है जितना कि अन्य किसी के सुख का महत्व हो सकता है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधन मात्र नहीं समझा जा सकता।"[2]

इसी प्रकार डॉ हर्नशा के अनुसार भी "लोकतान्त्रिक समाज वह है जिसमे समानता के विचार की प्रबलता हो तथा जिसमे समानता का सिद्धान्त प्रचलित हो।"[3]

आर्थिक व्यवस्था के प्रकार के रूप मे लोकतन्त्र—वर्तमान समय मे अर्थ ने मानव जीवन मे बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है और साधारणतया मानव के सभी कार्य—प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से—अर्थ से ही चालित होते हैं। ऐसे वातावरण मे जीवन का आर्थिक पक्ष सबसे अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है और जब तक कि इस क्षेत्र मे समानता की स्थापना न हो जाय, सामाजिक और राजनीतिक समानता निरर्थक हो जाती है। आर्थिक व्यवस्था के प्रकार के रूप मे लोकतन्त्र का तात्पर्य आर्थिक समानता की स्थापना से है। यहाँ इस बात को दृष्टि मे रखा जाना चाहिए कि आर्थिक समानता का तात्पर्य समान पुरस्कार जैसी कल्पनात्मक बात से नहीं है, वरन् इसका तात्पर्य केवल यह है कि सभी व्यक्तियो को जीवन की ऐसी सामान्य सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए, जिनके आधार पर वे अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें। सभी व्यक्तियो को आवश्यक रूप से 'आर्थिक न्यूनतम' (economic

---

1 "Democracy as a form of state is not merely a mode of government, but it is a mode of appointing controlling and dismissing government"
—Hearnshaw

2 "It is a way of life It proceeds on the axiom that the happiness of every person counts for as much as a mere means to the happiness of other"
—Dr Beni Prased, *ABC of Civics*, p 102

3 "Democratic society is merely one in which the spirit of equality is strong and in which the principle of the equality prevails"
—Hearnshaw, *Democracy at the Crossways*, p 17.

minimum) प्रदान किया जाना चाहिए और उद्योगों के प्रबन्ध के सम्बन्ध में प्रजातन्त्रात्मक धारणा को अपनाया जाना चाहिए।

जीवन का विशिष्ट दृष्टिकोण—प्रजातन्त्र राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का एक प्रकार ही नहीं है, वरन् यह तो जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण भी है। इसके अन्तर्गत मनुष्य का एक विशेष प्रकार का स्वभाव तथा सामाजिक व्यवहार होना चाहिए। "सबके हृदय में क्षमा, सहिष्णुता, सेवा, परोपकार, विरोधी के दृष्टिकोण के प्रति आदर भाव, मानवीय व्यक्तित्व के प्रति सम्मान और समझौते की प्रवृत्ति विद्यमान हो। प्रजातन्त्र में सभी व्यक्तियों द्वारा दूसरे के प्रति वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए जैसा व्यवहार वह अपने प्रति पसन्द करता है।"

इस प्रकार वर्तमान समय में लोकतन्त्र का अर्थ शासन-व्यवस्था का एक रूप विशेष ही नहीं है वरन् इसका तात्पर्य राज्य के एक प्रकार, सामाजिक जीवन के एक प्रकार आर्थिक व्यवस्था के एक प्रकार और जीवन के एक ढंग से है। गिडिंग्स के मत में, "प्रजातन्त्र केवल सरकार का ही रूप नहीं है वरन् राज्य और समाज का रूप अथवा इन तीनों का मिश्रण भी है।"[1] वस्तुतः लोकतन्त्र मानवीय समानता और व्यक्ति के रूप के महत्व पर आधारित एक ऐसा जीवन मार्ग है जिसका उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के इन विविध क्षेत्रों में अधिकाधिक समानता की स्थापना करना और एक सहयोगी समाज की रचना करना है।

लोकतन्त्रात्मक शासन के भेद

साधारणतया लोकतन्त्रात्मक शासन के दो भेद माने जाते हैं—(1) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Direct Democracy), और (2) अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र (Indirect or Representative type of Democracy)।

प्रत्यक्ष लोकतन्त्र—जब प्रभुसत्तावान् जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्यों में भाग लेती है, नीति निर्धारित करती, कानून बनाती और प्रशासनाधिकारी नियुक्त कर उन पर नियन्त्रण रखती है, तो उसे प्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहते हैं। हर्नशा के अनुसार "शुद्ध रूप में लोकतन्त्रीय शासन वह शासन है जिसमें सम्पूर्ण जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से बिना कार्यवाहकों या प्रतिनिधियों के प्रभुसत्ता का प्रयोग करती है।"

प्राचीनकाल में ग्रीक नगर राज्यों और भारत के वज्जिसंघ में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक शासन ही प्रचलित था। वर्तमानकाल में स्विट्जरलैण्ड के केवल 5 केण्टनों—आउटर अपनजैल, इनर अपनजैल, उरी, अण्टरवाल्डेन तथा ग्लारस—में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक शासन पद्धति प्रचलित है। इस प्रकार की प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था कम जनसंख्या वाले छोटे राज्यों में ही सम्भव हो सकती है और वर्तमान समय के विशाल राष्ट्रीय राज्यों में इसे अपनाना सम्भव नहीं है।

---

1 "Democracy may be either a form of government, a form of state, a form of society or a combination of the three." —Giddings

प्रतिनिध्यात्मक या अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र—जब प्रभुसत्तावान् जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार की प्रभुसत्ता का प्रयोग न कर अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से कार्य करती है तो इसे प्रतिनिध्यात्मक या अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहते हैं। मिल के शब्दों में, "प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र वह होता है जिसमें सम्पूर्ण जनता अथवा उसका बहुसंख्यक भाग शासन की शक्ति का प्रयोग अपने उन प्रतिनिधियों द्वारा करती है, जिन्हें वह समय-समय पर चुनती है।" इसी प्रकार हर्नशा के शब्दों में, "यह प्रतिनिधियों के माध्यम से सर्वोच्च सत्तावान जनता का शासन होता है।"

इस शासन प्रणाली में जनता संविधान द्वारा निर्धारित निश्चित अवधि के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करती है जिससे कानून निर्माण करने वाली व्यवस्थापिका का गठन होता है। संसदात्मक शासन व्यवस्था में तो इस व्यवस्थापिका में से ही कार्यपालिका का गठन हो जाता है, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था में जनता कार्यपालिका के प्रधान का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चुनाव करती है। वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश राज्यों में अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र ही है।

लोकतान्त्रिक शासन के मूल लक्षण या विशेषताएँ
(BASIC FEATURES OF DEMOCRATIC GOVERNMENT)

लोकतन्त्र स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व पर आधारित एक ऐसी शासन व्यवस्था है जिसमें सर्वसाधारण जनता द्वारा निश्चित समय के लिए निर्वाचित शासक वर्ग सत्ता का प्रयोग करता है। लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था के कुछ सामान्य लक्षण हैं जिनके आधार पर इस बात का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है कि एक राजनीतिक व्यवस्था कितनी सीमा तक लोकतान्त्रिक है। लोकतान्त्रिक शासन और लोकतान्त्रिक राज व्यवस्था के लक्षणों का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है

(1) लोक प्रभुता में विश्वास (Belief in Popular Sovereignty)—लोक प्रभुता का आशय है कि 'सत्ता लोगों से उत्पन्न होती है और शासन सत्ता अन्तिम रूप से समस्त जनता में निवास करती है' तथा लोक प्रभुता की यह धारणा लोकतन्त्र का मूल विश्वास है। लोक प्रभुता की स्थिति को निम्न प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है

(i) लोकप्रिय और नियतकालिक चुनाव—लोकतान्त्रिक व्यवस्था का यह आवश्यक लक्षण है कि शासक वर्ग समस्त वयस्क जनता द्वारा और एक निश्चित समय के लिए ही निर्वाचित होना चाहिए और इन चुनावों में संविधान और कानून द्वारा निर्धारित योग्यता रखने वाले सभी व्यक्तियों को जन प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने का अधिकार होना चाहिए। चुनाव जनता का विश्वास प्राप्त करने के साधन हैं, अतः शासक वर्ग द्वारा चुनावों को टालने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए।

(ii) लोकप्रिय नियन्त्रण—न केवल शासक वर्ग जनता द्वारा निर्वाचित हों,

वरन् जनता को शासक वर्ग पर प्रत्यक्ष या परोक्ष नियन्त्रण की स्थिति भी प्राप्त होनी चाहिए। जनता द्वारा शासक वर्ग पर यह नियन्त्रण जन प्रतिनिधियों के माध्यम से ही रखा जा सकता है।

(iii) लोकप्रिय प्रभाव और उत्तरदायित्व—ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि जनता का शासक वर्ग पर निरन्तर प्रभाव बना रहे। इसके लिए आवश्यक है कि जनता को शासन की आलोचना करने के अधिकार सहित सभी नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हों, संचार साधनों (प्रेस, रेडियो और टेलीविजन) को स्वतन्त्रता की स्थिति प्राप्त हो और जनता तथा शासक वर्ग में निरन्तर सम्पर्क की स्थिति विद्यमान हो। शासन जनता और जन प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी भी होना चाहिए।

(2) राजनीतिक और नागरिक समानता—समानता लोकतन्त्र का मूल आधार है, अतः सभी नागरिकों को समान राजनीतिक शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। वयस्क मताधिकार इस स्थिति को प्राप्त करने का साधन है। इसके अतिरिक्त सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष समानता की स्थिति प्राप्त होनी चाहिए।

वर्तमान समय में राजनीतिक और नागरिक समानता से आगे बढ़कर सामाजिक और आर्थिक समानता को लोकतन्त्र का लक्ष्य समझा जाने लगा है। समाज में धर्म, जाति, वर्ण, लिंग और सामाजिक स्थिति के आधार पर भेदभाव का प्रचलन नहीं होना चाहिए और पूर्ण आर्थिक समानता चाहे व्यावहारिक न हो, लेकिन इस सीमा तक आर्थिक समानता अवश्य होनी चाहिए कि एक व्यक्ति धन सम्पदा के बल पर दूसरे का शोषण न कर सकें और सभी व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास के लिए लगभग समान अवसर प्राप्त हों।

(3) राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रताएँ—स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की आत्मा है और लोकतन्त्र तभी सम्भव है जबकि सभी व्यक्तियों को राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हों। राजनीतिक स्वतन्त्रता में ये बातें सम्मिलित हैं : मत देने का अधिकार, प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने का अधिकार, सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार और शासन की आलोचना करने का अधिकार। नागरिक स्वतन्त्रता में ये बातें सम्मिलित हैं : विचार और भाषण की स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता, सम्मेलन की स्वतन्त्रता, राजनीतिक दल और अन्य संगठन स्थापित करने की स्वतन्त्रता, निवास स्थान, आवागमन, व्यापार-व्यवसाय और सीमित मात्रा में सम्पत्ति की स्वतन्त्रता आदि। लोकतन्त्र प्रतियोगी राजनीति में विश्वास करता है, अतः लोकतान्त्रिक व्यवस्था वाले देश में एक से अधिक राजनीतिक दलों का अस्तित्व नितान्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति को अपने धार्मिक विश्वास के आधार पर आचरण की स्वतन्त्रता और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त होनी चाहिए। जनता को शासन का सम्मित विरोध करने की स्वतन्त्रता भी प्राप्त होनी चाहिए। ये राज-

नैतिक और नागरिक स्वतन्त्रताएँ न केवल बहुमत वर्ग को, वरन् शासन की नीति से असहमत अल्पमत वर्ग को भी प्राप्त होनी चाहिए।

(4) व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्मान और गौरव—लोकतन्त्र मानवीय व्यक्तित्व के सम्मान और गौरव में विश्वास करता है और स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व इस स्थिति को प्राप्त करने के साधन ही हैं। व्यक्ति का आत्मविश्वास और आत्मगौरव, व्यक्ति की सजीवता, सक्रियता और उसमें पहल की प्रवृत्ति लोकतान्त्रिक व्यवस्था की मूल मान्यताएँ हैं और व्यक्ति का सर्वांगीण विकास लोकतन्त्र का सर्वोच्च लक्ष्य।

(5) मानवीय विवेक में विश्वास—लोकतन्त्र 'बर्गसन के अबुद्धिवाद' में विश्वास नहीं करता, जिसके अनुसार व्यक्ति को मात्र 'भावनाओं का पुतला' बतलाया गया है। लोकतन्त्र की मान्यता है कि मानवीय जीवन में विवेक की प्रधानता होती है राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में उचित निर्णय तक पहुँचने का मार्ग विचारों का आदान-प्रदान ही हो सकता है और तीव्र मतभेद तथा विवाद की स्थिति में भी संघर्ष के बजाय विचारों के आदान प्रदान से ही समस्या का समाधान ढूंढने की चेष्टा की जानी चाहिए। कोरी तथा हाजट्स के शब्दों में लोकतान्त्रिक राजनीतिक प्रक्रिया **वाद विवाद मेल मिलाप और समझौते की प्रक्रिया है।**

(6) बहुमत शासन—लोकतन्त्र मतपेटी में विश्वास करता है और मतपेटी की प्रक्रिया के अनुसार जिसे बहुमत प्राप्त हो, उसे शासन करने का अधिकार होता है। लोकतन्त्र बहुमत शासन को यह सोचकर स्वीकार नहीं करता है कि बहुमत आवश्यक रूप से और सदैव सही होता है, वरन् यह सोचकर स्वीकार करता है कि 'जनता के शासन का एकमात्र व्यावहारिक मार्ग बहुमत शासन ही है।' 'बहुमत शासन' में यह बात निहित है कि बहुमत वर्ग को अल्पमतों के प्रति न्यायपूर्ण होना चाहिए और अल्पमत वर्ग में सहनशीलता होनी चाहिए। अल्पमत वर्ग द्वारा सभी संवैधानिक तरीकों से अपने आपको बहुमत में परिणित करने का प्रयत्न किया जा सकता है, लेकिन उसे गैर-संवैधानिक तौर-तरीके अपनाने का अधिकार नहीं हो सकता।

(7) शक्ति विभाजन और न्यायपालिका की स्वतन्त्रता—माण्टेस्क्यू ने सरकार के तीन अंगों, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका, के बीच शक्तियों के विभाजन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। माण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त की अपनी कुछ कमियाँ हो सकती हैं लेकिन लोकतान्त्रिक व्यवस्था वाले देश में किसी न किसी रूप में शक्ति विभाजन को अवश्य ही अपनाना होगा। शक्ति विभाजन सिद्धान्त में यह भाव निहित है कि विभिन्न कार्यों का सम्पादन करने हेतु अलग अलग राजनीतिक संस्थाएँ होनी चाहिए और इन राजनीतिक संस्थाओं की मान मर्यादा को बनाये रखा जाना चाहिए। इसके साथ ही न्यायपालिका को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका सहित अन्य सभी दबावों से भी स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए।

(8) संविधानवाद (Constitutionalism)—संविधानवाद का आशय है, 'सीमित शक्तियों वाला शासन' और लोकतन्त्र की यह मूल मान्यता है कि शासन को सीमित शक्तियाँ ही प्राप्त होनी चाहिए, असीमित शक्तियाँ नहीं। इस प्रकार लोकतन्त्र संविधानवाद में विश्वास करता है और यह एक संविधानवादी शासन है। हैरिंगटन के अनुसार, 'लोकतन्त्र की मान्यता है—विधियों का शासन, विधि की सर्वोच्चता—व्यक्तियों का शासन नहीं' और इसके अन्तर्गत संविधानवाद के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लिखित संविधान। संविधान में नागरिकों के लिए अधिकार पत्र की व्यवस्था और शक्ति विकेन्द्रीकरण आदि साधनों को अपनाया जा सकता है।

इन सबके अतिरिक्त लोकतान्त्रिक व्यवस्था प्रशासकों के व्यवस्थित परिवर्तन में विश्वास करती है और लोकतन्त्र की मान्यता है कि राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में जो भी परिवर्तन किये जाने हों, उन सभी परिवर्तनों को शान्तिपूर्ण तरीके से सम्भव बनाया जाना चाहिए।

लोकतन्त्र के गुण (Merits of Democracy)

राजतन्त्रात्मक और कुलीनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्थाओं में शासन शक्ति का प्रयोग एक वर्ग-विशेष के कल्याण के लिए ही किया जाता था और प्रमुख रूप से इस प्रकार के दोष को दूर करने के लिए ही प्रजातन्त्रात्मक पद्धति की स्थापना की गयी। इस शासन-व्यवस्था के प्रमुख रूप से निम्नलिखित गुण कहे जाते हैं

(1) जनकल्याण की साधना—लोकतन्त्र में जनता के उन प्रतिनिधियों के द्वारा शासन किया जाता है जिनका चुनाव जनता एक निश्चित समय के लिए करती है। जनता के प्रतिनिधि जनता की इच्छाओं, भावनाओं और आवश्यकताओं से पूर्णतया परिचित होते हैं, और उनको शासन के अधिकार इसी आधार पर प्राप्त होते हैं कि वे इसका प्रयोग जनता के हितों और इच्छाओं के अनुसार करेंगे। शासकों के जनता के प्रति उत्तरदायी होने के कारण उन्हें जनता के हितों के प्रति सजग रहना पड़ता है। इस प्रकार लोकतन्त्र का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें शासन आवश्यक रूप से लोक-कल्याण के लिए होता है।

(2) सर्वाधिक कार्यकुशल शासन—प्रजातन्त्र किसी भी दूसरी शासन व्यवस्था की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल होता है और इसके अन्तर्गत सबसे अधिक शीघ्रतापूर्वक तथा आवश्यक रूप से जनता के हित में कार्य किये जाते हैं। गार्नर के शब्दों में "लोकप्रिय निर्वाचन, लोकप्रिय नियन्त्रण और लोकप्रिय उत्तरदायित्व की व्यवस्था के कारण दूसरी किसी भी शासन-व्यवस्था की अपेक्षा यह शासन अधिक कार्यकुशल होता है।"[1]

---

1 "Popular election, popular, control and popular responsibility, are more likely to ensure a greater degree of efficiency than any other system of ... —Garner

(3) सार्वजनिक शिक्षण—लोकतन्त्र शासन का ही एक प्रकार नहीं है अपितु वह राज्य, समाज और आर्थिक व्यवस्था का एक प्रकार भी है। अतः स्वभावतः इसके प्रयोग द्वारा जनता को प्रशासनिक, राजनीतिक तथा सामाजिक सभी प्रकार का शिक्षण प्राप्त होता है। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र के अन्तर्गत जनता सार्वजनिक कर्तव्यों के प्रति उदासीन रह सकती है, लेकिन लोकतन्त्र में मताधिकार और जन-नियन्त्रण के कारण जनता स्वाभाविक रूप से सार्वजनिक क्षेत्र में रुचि लेने लगती है। लोकतन्त्र के इसी गुण को दृष्टि में रखते हुए बर्न्स ने लिखा है कि "सभी शासन शिक्षा के साधन होते हैं किन्तु सबसे अच्छी शिक्षा स्वशिक्षा है, इसलिए सबसे अच्छा शासन स्वशासन है जिसे लोकतन्त्र कहते हैं।" इस गुण के कारण ही गैटल ने लोकतन्त्र को 'नागरिकता की शिक्षा प्रदान करने वाला स्कूल' (A training school for citizenship) कहा है।

(4) मनोविज्ञान के अनुकूल—लोकतन्त्र का एक महत्वपूर्ण गुण मानवीय मस्तिष्क पर उनका स्वस्थ प्रभाव है। कोई भी शासन सारे समाज का नहीं हो सकता, लेकिन लोकतन्त्र में लोगों को जो मताधिकार प्राप्त होता है, उससे उन्हें यह मानसिक सन्तुष्टि मिलती है कि उनके पास सरकार पर नियन्त्रण रखने का एक प्रभावशाली साधन है और इस आधार पर वे शासन-व्यवस्था को दृढ़ व स्थायी बनाये रखने के लिए प्रत्येक सम्भव चेष्टा करते हैं। डॉ० आशीर्वादम लिखते हैं कि "लोकतन्त्र में सरकार और जनता के बीच एक सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। व्यक्ति चुपचाप स्वीकृति देने वाले के बजाय एक सक्रिय सहयोगी बन जाता है।"[1] सम्भवतया इसी बात को दृष्टि में रखते हुए हॉकिंग ने लिखा है कि, "लोकतन्त्र चेतन और उपचेतन मन की एकता है।"[2]

(5) जनता का नैतिक उत्थान—प्रजातन्त्र का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह व्यक्ति के व्यक्तित्व और उनके नैतिक चरित्र को उच्चता प्रदान करता है। जनता को राजनीतिक शक्ति प्रदान कर लोकतन्त्र उनमें आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता की भावना उत्पन्न करता है। जैसा कि ब्राइस ने कहा है कि "राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व की शान बढ़ जाती है और वह स्वभावतः उस कर्तव्य भावना के उच्चतर स्तर तक उठ जाता है जिसका पालन उसे राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के कारण करना पड़ता है।"[3] जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है कि, "यह किसी भी अन्य शासन की अपेक्षा उच्च और श्रेष्ठ राष्ट्रीय चरित्र का विकास

---

[1] आशीर्वादम, राजनीतिशास्त्र पृ 360।

[2] "Democracy is the union of the conscious and sub-conscious mind."
—*Hocking*

[3] "The manhood of the individual is dignified by his political enfranchisement and that he is usually raised to a higher level of the sense of duty which it throws upon him."
—*Bryce*

करता है।"[1] लावेल ने कहा है, "अन्त में, वही सरकार सर्वश्रेष्ठ है जो मनुष्य की नैतिकता, उद्योग, साहस, आत्मबोध व पवित्रता को दृढ़ बनाये। क्योंकि प्रजातन्त्र इन बातों को पूरा करता है, इसलिए वह सबसे अच्छा शासन है।"

(6) <u>देश भक्ति का स्रोत</u>—लोकतन्त्र मे जनता को राजनीतिक शक्ति प्राप्त होने के कारण जनता शासन और राज्य के प्रति एक प्रकार का लगाव अनुभव करती है और निजी लगाव के इस विचार से देशभक्ति की भावना का उदय होता है। मिल ऐसा ही विचार व्यक्त करते हुए कहता है कि "लोकतन्त्र लोगों की देशभक्ति को बढ़ाता है क्योंकि नागरिक यह अनुभव करते हैं कि सरकार उन्हीं की उत्पन्न की हुई वस्तु है और अधिकारी उनके स्वामी न होकर सेवक हैं।"[2] इसी प्रकार लेवेलिये (Leveleye) ने कहा है कि फ्रांसीसी जनता क्रान्ति के बाद से ही फ्रांस से प्रेम करने लगी थी, जबकि उन्हें देश की शासन व्यवस्था मे भाग मिला।

(7) <u>क्रान्ति से सुरक्षा</u>—जब शासक वर्ग द्वारा एक लम्बे समय तक शासितो पर अत्याचार किये जाते हैं और इस प्रकार के अत्याचारों से मुक्ति पाने का कोई संवैधानिक मार्ग शेष नहीं रह जाता, तभी जनता द्वारा क्रान्ति की जाती है। लोकतन्त्र मे क्रान्ति की सम्भावना बहुत कम हो जाती है क्योंकि शासक वर्ग लोकमत के अनुसार ही शासन का सचालन करता है और यदि शासक अनुचित कार्य करे तो जनता उन्हें एक निश्चित समय के बाद और विशेष परिस्थितियो मे पहले भी अपदस्थ कर सकती है। गिलक्राइस्ट ने कहा है कि "लोकप्रिय शासन सार्वजनिक सहमति का शासन है, अत स्वभाव से ही यह क्रान्तिकारी नहीं हो सकता।"[3] बर्न्स के शब्दो मे, "मन्त्रियों और विधानसभाओं में बहुमत को बदलने की प्रक्रिया सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए क्रान्ति का एक विकल्प प्रदान करती है।"[4]

(8) <u>समानता और स्वतन्त्रता पर आधारित</u>—लोकतन्त्र व्यक्तियों की समानता के आदर्श पर आधारित है और जितनी स्वतन्त्रता जनता को लोकतन्त्र मे प्राप्त होती है उतनी स्वतन्त्रता सरकार के अन्य किसी भी रूप मे नहीं मिलती। लोकतन्त्र कुलीनतन्त्र की इस बात को स्वीकार नहीं करता कि कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए और शेष शासित होने के लिए पैदा हुए हैं वरन् यह तो जाति, धर्म, वर्ण, रंग, लिंग और सम्पत्ति के भेद को महत्त्व न देते हुए मानव मात्र की आधारभूत समानता मे

---

1 "It promotes a better and higher form of national character than any other polity whatsoever." —J. S. Mill

2 "Democracy strengthens the love of country because citizens feel that the government is their own creation and the magistrates are their servants rather than masters." J. S. Mill

3 "Popular government is a government by common consent from its very nature therefore, it is not likely to be revolutionary." —Gilchrist

4 "The process of changing ministers and majorities in the elected assembly provides an alternative method to revolution, for meeting social changes." —C. D. Burns, *Democracy*, p. 135.

विश्वास करता है। स्वतन्त्रता और समानता के मानवीय आदर्शों पर आधारित होने के कारण निःसन्देह यही श्रेष्ठ है। गैटल ने इस सम्बन्ध में कहा है, क्योंकि लोकतन्त्र समानता के सामान्य सिद्धान्त पर आधारित है अतः इससे न्याय की वृद्धि होना सम्भव है जो कि राज्य के अस्तित्व के प्रधान लक्ष्यों में से एक है।[1]

(9) विचार विनिमय और समझौते की भावना उत्पन्न करना—एक देश की शासन-व्यवस्था नागरिकों के व्यवहार पर बहुत अधिक प्रभाव डालती है। शक्ति पर आधारित अधिनायकवादी शासन व्यवस्था लोगों में संघर्ष की भावना पैदा करती है तो जनइच्छा पर आधारित लोकतन्त्र नागरिकों में सहिष्णुता, उदारता, सहानुभूति रनेह व्यवहार, विचार विनिमय और समझौते की भावना उत्पन्न करता है। नागरिक पारस्परिक व्यवहार में अपनी प्रवृत्तियों के आधार पर श्रेष्ठ सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

(10) विश्व शान्ति का समर्थन—विश्वशान्ति वर्तमान समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है और इसे विश्वबन्धुत्व पर आधारित लोकतन्त्र के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। राजतन्त्र, सैनिकतन्त्र और फासिस्ट तानाशाही सरकारों में दूसरे देशों की विजय पर बल दिया जाता है और साम्यवादी सरकारें भी विस्तारवादी नीति में विश्वास करती हैं। अपनी व्यवस्थाओं में निहित आधारभूत दोषों के कारण उनके लिए ऐसा करना जरूरी होता है किन्तु लोकतन्त्रीय सरकारें सह अस्तित्व की नीति में विश्वास करती हैं और सभी समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाना चाहती हैं। बीसवीं सदी का यूरोपीय इतिहास और पाकिस्तान तथा चीन के साथ भारत के सम्बन्ध उपयुक्त विचार की पुष्टि करते हैं। बर्क के शब्दों में, लोकतन्त्रीय आन्दोलन शान्ति का आन्दोलन रहा है।

(11) विज्ञान का श्रेष्ठ प्रोत्साहक—राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र के अन्तर्गत स्वतन्त्रता के वातावरण का लगभग अभाव ही होता है और स्वतन्त्रता के अभाव में विज्ञान का विकास सम्भव नहीं हो पाता। लेकिन लोकतन्त्र में विज्ञान का बहुत अधिक श्रेष्ठ रूप में विकास सम्भव है। सर्वप्रथम तो लोकतन्त्र और विज्ञान दोनों के नैतिक मूल्य एक जैसे होते हैं और सत्य के सम्बन्ध में इसका दृष्टिकोण भी एक-सा ही है। दोनों का विश्वास है कि अभिव्यक्ति और प्रयोग सत्य तक पहुँचने के सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। अतः जैसा कि मेयो (Mayo) ने कहा है, एक स्वतन्त्र समाज में वैज्ञानिक विकास की बहुत अधिक सम्भावनाएँ हैं।

लोकतन्त्र के दोष (Demerits of Democracy)

यदि एक ओर लोकतन्त्र के गुणों का विशद विवेचन किया जाता है तो दूसरी ओर अत्यन्त कटु शब्दों में इसकी भर्त्सना भी की जाती है। टैलीरेण्ड (Telleyrand)

---

1 Since it is based on the general Principle of equality it is likely to promote justice one of the main purposes for which the state exists. —*Gettell*

इसे 'दुष्टों का कुलीनतन्त्र' (An aristocracy of blackguards) कहते हैं और लुडोविसी (Ludovici) कहते हैं कि "प्रजातन्त्र मृत्यु की ओर से जाता है।" प्रजातन्त्र की आलोचना मे प्रमुख रूप से निम्नलिखित तर्कों का प्रयोग किया जाता है .

(1) अयोग्यता की पूजा (Cult of incompetence)—लोकतन्त्रीय शासन इस सिद्धान्त पर आधारित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक ही मत दिया जाना चाहिए। लेकिन योग्यता की दृष्टि से भी व्यक्ति समान नही होते हैं और इस प्रकार लोकतन्त्र मे गुण की अपेक्षा सख्या पर अधिक बल दिया जाता है। इस सम्बन्ध मे यूरोप के प्रसिद्ध विद्वान कार्लायल (Carlyle) ने कहा है कि "विश्व मे एक योग्य व्यक्ति के साथ लगभग 9 मूर्ख होते हैं सभी को समान राजनीतिक शक्ति देने का परिणाम मूर्खों की सरकार की स्थापना होती है।" इसीलिए लैकी (Lecky) ने इसे निर्धनतम, अनभिज्ञतम और अयोग्यतम लोगों की सरकार कहा है।"[1]

इसके अतिरिक्त चिकित्सा, भवन निर्माण तथा शिक्षण के समान ही शासन कार्य भी एक कला है, लेकिन लोकतन्त्र मे ऐसे व्यक्तियो के हाथ में शासन शक्ति आ जाती है, जो इस कला से नितान्त अनभिज्ञ होते हैं। "न्यायाधीश जेम्स स्टीफन के अनुसार, "एक महान देश का अच्छे प्रकार से प्रशासन करने के लिए विशेष ज्ञान और उच्चतम योग्यताओं के निरन्तर एव समस्त प्रयोग की आवश्यकता होती है लेकिन लोकतन्त्र तो अज्ञानी, अप्रशिक्षित और अयोग्य व्यक्तियों की सरकार होती है।" इसी आधार पर फ़ैगेट ने लोकतन्त्र को 'अज्ञानता भरा शासन' कहा है और एच जी वैल्स ने इसे 'बुद्धिहीन तथा अज्ञानियों का शासन' कहा है। प्रो हर्नशा ने लोकतन्त्र की अक्षमता का सुन्दर चित्रण किया है। उन्होंने लिखा है कि "लोकतन्त्र के नेताओं की स्थिति उन स्कूल मास्टरों जैसी होती है जिनकी नियुक्ति विद्यार्थियों की इच्छा से की जाती है और जिन्हें विद्यार्थियों की ही इच्छा से हटाया भी जा सकता है।" ऐसी स्थिति में लोकतन्त्र की अकुशलता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

(2) दल प्रणाली का अहितकर प्रभाव—वर्तमान समय के प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र के सचालन के लिए राजनीतिक दल एक अनिवार्य आवश्यकता होती है किन्तु ये राजनीतिक दल अपने व्यवहार से लोकतन्त्र को भ्रष्ट कर देते हैं। राजनीतिक दलों का निर्माण तो साधारणतया राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक कार्यक्रम के आधार पर किया जाता है किन्तु व्यवहार में ये राजनीतिक दल 'येन केन प्रकारेण' शासन शक्ति प्राप्त करना ही अपना लक्ष्य निश्चित कर लेते हैं। ये राजनीतिक दल उन नेताओं के अखाड़े बन जाते हैं जो भाषण देने, लोगों को बहकाने और अपना स्वार्थ सिद्ध करने में चतुर रहते हैं। ये राजनीतिक दल जनता के प्रतिनिधियों के विचार स्वातन्त्र्य का भी अन्त कर देते हैं और चुनाव के समय तो इन दलों के

1 "It is the government by the poorest the most ignorant, the most incapable who are necessarily the most numerous." —Lecky

विरोधी प्रचार के कारण सम्पूर्ण देश का वातावरण ही विषाक्त हो जाता है। कार्लायल ने कहा है कि "राजनीतिक दल कुछ व्यक्तियों के लाभ के लिए अनेकों का पागलपन होता है—इन दलों के कारण धूर्त और बकवासी व्यक्तियों के हाथ में शासन शक्ति आ जाती है।"[1] ब्राइस के शब्दों में, "राजनीतिक दल कपट को उत्साहित करते स्वाभाविक आदर्शों को हीन बनाते और राष्ट्र के जीवन में फूट डालकर लूट का माल बाँट सकते हैं।"[2] प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र के लिए राजनीतिक दल अपरिहार्य होने के कारण राजनीतिक दलों की ये बुराइयाँ लोकतन्त्र में आ जाती हैं।

(3) भ्रष्ट-शासन व्यवस्था—सैद्धान्तिक स्थिति चाहे जो भी हो, व्यवहार में लोकतन्त्रीय शासन बहुत अधिक भ्रष्ट हो जाता है। व्यवहार में शासन एक राजनीतिक दल विशेष की इच्छानुसार ही किया जाता है और ऐसा देखा गया है कि निर्वाचन में जो लोग सत्तारूढ़ दल के सहायक होते हैं, उन्हें शासन की ओर से अनेक प्रकार की सहायता पहुँचायी जाती है। इसके अतिरिक्त जनता के प्रतिनिधि भी लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए अनेक भ्रष्ट तरीके अपना लेते हैं। ब्राइस ने 'राजनीति में धन का बल' (The Money Power in Politics) शीर्षक अध्याय में कहा है कि ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें निर्वाचकों, विधायकों, प्रशासकीय अधिकारियों और न्यायाधिकारियों तक ने धन के लोभ के सम्मुख सिर झुका दिया।

(4) सार्वजनिक धन और समय का अपव्यय—लोकतन्त्र में धन और समय का अत्यधिक अपव्यय होता है। जिन कानूनों का निर्माण कुछ दिनों में किया जा सकता है, लोकतन्त्रीय विधानसभाओं की लम्बी और जटिल प्रक्रिया के कारण उन कानूनों के निर्माण में वर्षों लग जाते हैं और अनेक बार तो कानून पारित होने तक कालातीत (out of date) हो जाते हैं। ब्राइस ने लोकतन्त्र की तुलना एक ऐसी समिति से की है जिसके अन्तर्गत 7 सदस्यों द्वारा 7 दिनों में उतना ही कार्य किया जाता है जितना एक व्यक्ति एक दिन में करता है। इसके अतिरिक्त चुनाव के समय बहुत बड़ी संख्या में सरकारी अधिकारियों को नियुक्त करने, मतदाता सूचियाँ तैयार करवाने और उन्हें प्रकाशित करवाने में बहुत अधिक सार्वजनिक धन व्यय होता है। बार्कर ने ठीक ही लिखा है कि "लोकतन्त्र अपनी प्रकृति से ही शीघ्र निर्णय के अनुकूल नहीं है।"[3]

(5) सर्वतोमुखी प्रकृति की असम्भावना—राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में सामान्यतया शासक वर्ग साहित्य, कला और संगीत का प्रेमी होता है और शासक

[1] "Political party is a madness of the many for the gain of the few It places power into the hands of windbags and charlatans." —Carlyle

[2] "Political parties encourages hollownes and insincerity, create cleavages in the life of nation, debut normal standards and distribute the spoils." —Bryce

[3] "Democracy is not in its nature congenial to rapid decision." —Barker, Reflection on Government, p 100.

वर्ग का आश्रय पाकर साहित्यकार, कलाकार और विद्वान निश्चिन्ततापूर्वक अपने कार्यों में लगे रह सकते हैं, लेकिन लोकतन्त्र मे समस्त ध्यान राजनीति पर ही केन्द्रित हो जाने के कारण साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र मे उदासीनता व्याप्त हो जाती है। विद्वानों को अपने क्षेत्रो मे समुचित आदर न मिलने से उन्हे अपने कार्य मे प्रोत्साहन नहीं मिलता और मानव जीवन का सर्वतोमुखी विकास नहीं हो पाता है। बर्न्स के शब्दों मे, प्रजातन्त्र जिस सभ्यता को जन्म देता है वह दूषित, साधारण एवं मन्द होती है।"[1] सर हेनरी मेन और ली वॉन (Lee Von) के द्वारा भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया गया है।

(6) लोकतान्त्रिक समानता—एक भ्रम—लोकतन्त्र को समानता के आदर्श पर आधारित कहा जाता है, किन्तु व्यवहार मे ऐसा नहीं है। लोकतन्त्र में चुनाव के द्वारा ही राजनीतिक शक्ति प्राप्त हो पाती है और व्यवहार में चुनाव कार्य इतना अधिक व्ययसाध्य हो गया है कि एक निर्धन व्यक्ति चुनाव मे खड़े होने और विजय प्राप्त करने की कल्पना भी नहीं कर सकता है। इसके अतिरिक्त जब अधिकतर धनवान ही विधानसभाओं के लिए निर्वाचित होते हैं तो कानून निर्माण भी वर्ग विशेष के हित साधन के लिए किया जाता है। समानता की घोषणा कर देने मात्र से ही समानता की स्थापना नहीं हो जाती, व्यवहार मे आर्थिक समानता के अभाव और प्रेस आदि प्रचार साधनों पर धनिक वर्ग का अधिकार होने के कारण समानता और स्वतन्त्रता केवल कल्पनाओं मे रह जाती है। इसी आधार पर बर्क ने कहा है कि "प्रजातान्त्रिक समानता एक भयानक प्रपंच मात्र है।"[2]

(7) अनुत्तरदायी शासन—उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की धारणा प्रजातन्त्र की विशेषता मानी जाती है परन्तु वास्तव मे यह धारणा कोरी कल्पना है। सबके प्रति उत्तरदायी होने का अर्थ है किसी के प्रति उत्तरदायी न होना, और प्रजातन्त्र मे शासक अपने उत्तरदायित्व को एक-दूसरे पर टाल देते हैं। हर्नशा के शब्दों मे, "लोकतन्त्र की प्रवृत्ति सार्वजनिक मामलों मे एक ऐसे अविचार, एक ऐसे असंयम, एक ऐसे पागलपन के प्रदर्शन की ओर होती है जिन्हें उनका कोई सदस्य अपने व्यक्तिगत मामलों में प्रदर्शित करने का स्वप्न नहीं देख सकता है।"[3]

(8) राजनीतिक शिक्षा का भ्रम—यह कहना बिल्कुल गलत है कि लोकतन्त्र जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करता है। राजनीतिक दल प्रत्येक बात

1 "The civilization which a democracy produces is said to be banal, mediocre or dull" —C D Burns

2 "Democratic equality is a monstrous fiction" —Burke

3 "Democracy tends to display in public affairs an imprudence a recklessness, an insanity which no member of it, would dream of displaying it in his private affairs" —Hearnshaw

को जनता के सामने एक विशेष रंग में रंगकर प्रस्तुत करते हैं और निर्वाचन के समय तो समस्याओं को अत्यन्त विकृत रूप प्रदान कर जनता को भ्रमित कर दिया जाता है। लोकतन्त्र में किए जाने वाले इस प्रकार और कार्यों से नागरिक शिक्षित नहीं होते वरन ऐसी बातें सीखते हैं जो सार्वजनिक जीवन के लिए बहुत हानिकारक होती हैं।

(9) मतदाताओं की उदासीनता—लोकतन्त्र मतदाताओं की सक्रिय रुचि पर आधारित व्यवस्था है लेकिन व्यवहार में सामान्यतया मतदाताओं की उदासीनता ही सर्वत्र देखने में आती है। मतदाताओं को बार बार प्रेरित करने व दलों और उम्मीदवारों द्वारा उन्हें उनके घर और कार्यालय में मत देने के लिए निकालने पर भी सामान्यतया लगभग 50 प्रतिशत मतदाता ही अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में लोकतन्त्र के अन्तर्गत जनता की इच्छाओं का सही प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। व्यवहारवादी लेखक राबर्ट ए डहाल लिखते हैं कि 'चुनावों से हमारी अपेक्षा यह होती है कि उनसे कुछ निश्चित विषयों के सम्बन्ध में 'बहुमत की इच्छा' अथवा 'वरीयता' का पता लग सकेगा। पर चुनावों में ऐसा बहुत कम होता है।'[1] इससे उत्पन्न स्थिति के सम्बन्ध में डॉ. आशीर्वादम लिखते हैं, 'मतदाताओं की उदासीनता का नतीजा यह होता है कि शक्ति कुछ ऐसे अविवेकी लोगों के हाथ में चली जाती है जो लम्बे-चौड़े वायदों और झूठे सच्चे तर्कों से जनता को बहलाने और उससे अनुचित लाभ उठाने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं।'[2]

(10) पेशेवर राजनीतिज्ञों का विकास—लोकतन्त्र में यह आशा की जाती है कि योग्य और ईमानदार व्यक्ति राजनीति में रुचि लेंगे, लेकिन व्यवहार में स्थिति विपरीत ही होती है। परिश्रमी और कार्यकुशल व्यक्ति अपने जीविकोपार्जन में लगे रहते हैं और राजनीति में सक्रिय रूप में भाग नहीं ले पाते। दूसरी ओर जो व्यक्ति किसी व्यापार, शिल्प या पेशे का ईमानदारी और योग्यता के साथ नहीं कर पाते, वे राजनीति को ही अपना धन्धा बना लेते हैं और भ्रष्ट साधनों के आधार पर अधिक शक्ति प्राप्त करने की निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं। भारत आदि अनेक देशों में इस प्रकार की प्रवृत्ति विशेषतया देखी गयी है।

(11) युद्ध और संकट के समय निर्बल—लोकतन्त्रीय सरकारें प्रायः युद्ध और संकट के समय निर्बल सिद्ध होती हैं, क्योंकि इन अवसरों पर बहुत अधिक शीघ्रता पूर्वक निर्णय लेने की आवश्यकता होती है और लोकतन्त्र ऐसी गति का परिचय नहीं दे पाता। उदाहरण के लिए, सन् 1914 में जर्मनी के सम्राट ने बेल्जियम पर आक्रमण करने का निश्चय सभा में कर डाला था, लेकिन ब्रिटिश संसद स्थिति पर कई दिनों

---

1 "We expect elections to reveal the will of the preferences of a majority on a set of issues. This is the elections rarely do."
—Robert Dhal, *A Preface to Democratic Theory*, p. 125

2 आशीर्वादम, राजनीतिशास्त्र, पृ. 364।

तक वाद-विवाद करती रही। वस्तुतः 'सत्ता के एकीकरण' के स्थान पर 'सत्ता का फैलाव' (Diffusion of Authority) होने के कारण लोकतन्त्र संकट का दृढ़ता के साथ मुकाबला करने में असमर्थ सिद्ध होता है।

इन सबके अतिरिक्त जैसा कि सारटोरी ने विचार व्यक्त किया है, 'अन्य राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना में प्रजातन्त्र अधिक जटिल और अधिक दुर्बोध शासन है।'[1] पिकल्स के द्वारा भी अपनी पुस्तक 'Democracy' में परिभाषित करने और संचालित करने की दृष्टि से इसे एक कठिन शासन-व्यवस्था कहा गया है।"[2]

निष्कर्ष—लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था के अनेक दोष बतलाये जाते हैं और इस शासन व्यवस्था में निश्चित रूप से कुछ कमियाँ हैं। लेकिन लोकतान्त्रिक शासन के जो विविध दोष बतलाये जाते हैं, उनमें से अनेक दोष तो वर्तमान समय की विशेष परिस्थितियों के परिणाम या मानवीय प्रकृति के परिणाम हैं और जैसा कि लावेल ने कहा है, 'कोई भी शासन व्यवस्था सभी मानवीय दोषों के लिए रामबाण औषधि नहीं है।'

इसके साथ ही एक अन्य तथ्य यह है कि अन्य शासन व्यवस्थाओं राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र या अधिनायकतन्त्र—के दोष, लोकतन्त्र की तुलना में निश्चित रूप से बहुत अधिक गम्भीर हैं। ऐसी कोई शासन व्यवस्था नहीं है, जिसे लोकतन्त्र से श्रेष्ठ कहा जा सके। ब्राइस के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "लोकतन्त्र पर अनेक आक्षेप किये जा सकते हैं, लेकिन लोकतन्त्र से अच्छी शासन व्यवस्था की खोज मानव जाति ने अब तक नहीं की है।" इन सबके अतिरिक्त डीरे, एलवुड, हाब्हाउस, जोड, ब्राइस और मिल आदि सभी लेखकों ने इस बात को स्वीकार किया है कि केवल लोकतन्त्र ही मानवीय व्यक्तित्व और चरित्र का विकास करने में समर्थ है।

वस्तुतः लोकतन्त्र से बढ़कर 'आत्म सुधारवादी' (Self corrective) सरकार या राजनीतिक व्यवस्था कोई भी दूसरी नहीं है। अतः लोकतन्त्र को आज की सर्वोत्तम शासन व्यवस्था कहा जा सकता है।

लोकतन्त्र की सफलता हेतु आवश्यक परिस्थितियाँ

लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में जिन दोषों का उल्लेख किया गया है, वे दोष स्वयं लोकतन्त्रात्मक शासन के न होकर उन व्यक्तियों एवं प्रवृत्तियों के हैं, जिनके माध्यम से लोकतन्त्रीय शासन में प्रभुसत्ता का प्रयोग किया जाता है। लोकतन्त्रीय शासन एक प्रकार से "यथा प्रजा तथा राजा" के सिद्धान्त पर आधारित

---

1 "Democracy is more complex and more intricate than any other political form." —Giovanni, Sartori, *Democratic Theory*.

2 "Democracy is not only the most difficult system to define but also the most difficult system to work." —Pickles, *Democracy*, p. 28.

होता है और इसलिए इस शासन व्यवस्था में सुधार करने का एकमात्र व्यावहारिक मार्ग मानव व्यवहार को सुधारना है। इसके अतिरिक्त एक ऐसे वातावरण के निर्माण की भी आवश्यकता है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके और अपनी बुद्धि का सार्वजनिक हित मे प्रयोग कर सके। लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था की सफलता के लिए प्रमुख रूप से निम्नलिखित परिस्थितियाँ आवश्यक कही जा सकती हैं :

(1) नागरिकों का नैतिक उत्थान—हर्नशा ने लिखा है कि "लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्त का रूप अनिवार्यत धार्मिक होता है।"[1] इसका तात्पर्य यही है कि लोकतन्त्र नागरिकों की चरित्रशीलता और नैतिकता पर आधारित होता है। नागरिको को नैतिक दृष्टि से उच्च एव ईमानदार होना चाहिए, उनमे परमार्थ एव कर्तव्य-परायणता की भावना होनी चाहिए। यदि किसी राज्य के नागरिक अपने मताधिकार का दबाव या लोभ के वशीभूत होकर प्रयोग करते हैं या जनता के प्रतिनिधि भ्रष्ट हो जाते हैं तो लोकतन्त्रीय शासन कभी भी सफल नही हो सकता। वर्तमान समय मे लोकतन्त्र का एक बडा दोष शासन शक्ति का भ्रष्ट रूप मे प्रयोग कहा जाता है, जिसे नैतिकता के उत्थान के आधार पर ही दूर किया जा सकता है। लावेल ने ठीक ही कहा है कि "जनप्रिय सरकारें उस समय तक भ्रष्टाचार से बिलकुल मुक्त नहीं हो सकतीं जब तक कि राह चलते साधारण नागरिक का नैतिक स्तर ऊँचा नहीं होता और भ्रष्टाचारियों का सामाजिक बहिष्कार नहीं किया जाता।"

(2) शिक्षित एवं जागरूक जनता—लोकतन्त्रीय शासन जनमत पर आधारित शासन होता है। अत शिक्षित एव सजग जनता लोकतन्त्र की सफलता के लिए सबसे प्रमुख आवश्यकता है। यह ठीक ही कहा गया है कि, "सतत् जागरूकता ही लोकतन्त्र का मूल्य है।"[2] लोकतन्त्र की सफलता के लिए साधारण जनता मे इतनी सहज बुद्धि होनी चाहिए कि बुद्धिमत्ता से देश की आवश्यकताएँ समझ सके, प्रतिनिधियों का निर्वाचन कर सके और अपने अधिकार तथा कर्तव्यों का पालन कर सके। सहज बुद्धि एव स्वतन्त्र विवेक शक्तिसम्पन्न नागरिक ही लोकतन्त्र के आधार बन सकते हैं। प्रो हर्नशॉ (Hearnshaw) कहते हैं विवेक के बिना लोगों की अयोग्यता के कारण प्रजातन्त्र या तो कोलाहल करने वालों के शासन में परिणित हो जायगा या तानाशाही के रूप में विकृत हो जायगा।"

(3) आर्थिक समानता—समानता की घोषणा मात्र कर देने से ही राजनीतिक समानता की स्थापना नही हो जाती, व्यवहार मे राजनीतिक समानता स्थापित करने के लिए आर्थिक समानता एक पूर्व-आवश्यकता है और कोल के शब्दो मे कहा

---

1 "The democratic principle is essentially religious in character."
—Hearnshaw, *Democracy at Crossway*, p 34.

2 "Eternal vigilance is the price of democracy"

जा सकता है कि "आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता एक भ्रम मात्र है।"[1]

एक निर्धन व्यक्ति का सम्पूर्ण ध्यान, शक्ति और नैतिकता रोटी तक ही सीमित हो जाती है, उसमें आत्मविश्वास नहीं होता और आत्मविश्वास के अभाव में निर्धन वर्ग धनिक वर्ग के अनुचित प्रभाव मे आ जाता है। निर्धन व्यक्ति या तो राजनीति में रुचि नही लेता और यदि रुचि लेता है तो वह शीघ्र ही वर्ग-संघर्ष की भावना के वशीभूत हो जाता है। हॉब्सन (Hobson) ने ठीक ही कहा है कि "धनिकों का धन और निर्धनों की निर्धनता लोकतन्त्र को भ्रष्ट कर देती है। इस प्रकार प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आर्थिक समानता एक अनिवार्य आवश्यकता है। आर्थिक समानता का तात्पर्य समान वेतन या पुरस्कार नही है, वरन् इसका तात्पर्य केवल यही है कि धन सम्बन्धी असमानता को अधिक से अधिक सम्भव सीमा तक दूर कर दिया जाय, सभी व्यक्तियों का आर्थिक सुरक्षा और अर्थ सम्बन्धी न्यूनतम की प्राप्ति हो।

(4) नागरिक स्वतन्त्रताएँ—लोकतन्त्र में शासन विचार द्वारा होता है, अतः सभी व्यक्तियों को नागरिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होनी चाहिए। नागरिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता, साहित्य के प्रकाशन की स्वतन्त्रता, सम्मेलन और सगठन की स्वतन्त्रता से है। लोकतन्त्रीय शासन में लोकमत ही शासक को मर्यादा और नियन्त्रण में रख सकता है। अतः लोकमत के विकास हेतु आवश्यक स्वतन्त्र वातावरण निर्मित किया जाना चाहिए।

(5) लिखित संविधान और प्रजातान्त्रिक परम्पराएँ—साधारण व्यक्ति लिखित सविधान के द्वारा सरकार के रूप, अपने अधिकार एव कर्तव्यों का सरलता से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त लिखित सविधान अलिखित सविधान की अपेक्षा जनता के अधिकारों का अच्छा रक्षक होता है। अतः लोकतन्त्र की रक्षा के लिए लिखित सविधान आवश्यक कहा जा सकता है। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए प्रजातान्त्रिक परम्पराओं का पालन भी आवश्यक है। इगलैण्ड, अमरीका और स्विट्जरलैण्ड मे प्रजातन्त्र की सफलता का श्रेय वहाँ की श्रेष्ठ राजनीतिक परम्पराओं को ही है। ब्रिटेन में विरोधी राजनीतिक दल को सम्मान, दल बदलने पर पदत्याग और छाया मन्त्रिमण्डल के रूप में इस प्रकार की अनेक श्रेष्ठ परम्पराएँ विद्यमान हैं।

(6) समानता पर आधारित सामाजिक व्यवस्था—समाज व्यवस्था न्याय और समानता पर आधारित होनी चाहिए और समाज के अन्तर्गत जन्म, जाति, रंग, धर्म, सम्प्रदाय, आदि के भेदभाव के बिना प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को समान महत्व दिया जाना चाहिए। समानता पर आधारित समाज व्यवस्था में ही लोकतन्त्र उचित रूप में कार्य कर सकेगा।

---

1 "Political liberty in the absence of economic equality is a mere myth."
—G. D. H. Cole

(7) समाज में एकता की भावना—लोकतन्त्रीय शासन की सफलता के लिए जनता में आधारभूत एकता की भावना विद्यमान होनी चाहिए, जिससे वे पारस्परिक सहयोग के आधार पर सामुदायिक जीवन व्यतीत कर सकें। जिस राज्य की जनता भाषागत, जातिगत और प्रान्तीय भेदों को बहुत अधिक महत्व देती हो, उसमे लोकतन्त्र सफल नही हो सकता। प्रत्येक राज्य में आवश्यक रूप से इस प्रकार के भेद विद्यमान रहते हैं और इनका अन्त नही किया जा सकता, पर इस प्रकार के भेदों को राजनीतिक क्षेत्र मे विशेष महत्व नही दिया जाना चाहिए। हर्नशा के शब्दों में, 'एकता का दृढ़ भाव व सामुदायिक जीवन की व्यापकता लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है।"

(8) स्थानीय स्वशासन—अल्फ्रेड स्मिथ ने ठीक ही लिखा है कि "प्रजातन्त्र के सभी रोगों का निदान अधिक प्रजातन्त्र के द्वारा ही हो सकता है।"[1] अत लोकतन्त्र की सफलता के लिए स्थानीय क्षेत्रों मे लोकतन्त्र की स्थापना की जानी चाहिए जिसका दूसरा नाम ही स्थानीय स्वशासन है। स्थानीय स्वशासन जनता में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि उत्पन्न करता है और सामान्य जनता तथा जनता के प्रतिनिधियों दोनों को ही सार्वजनिक शिक्षण प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। ब्राइस के शब्दों में, "प्रजातन्त्र का सर्वश्रेष्ठ शिक्षणालय और प्रजातन्त्र की सफलता की सबसे बड़ी गारण्टी स्थानीय स्वशासन का चलन है।"[2]

(9) स्वस्थ और सुदृढ़ राजनीतिक दल—विशाल क्षेत्रफल और लाखों या करोड़ों जनसंख्या वाले वर्तमान राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सम्भव ही नही रहा है और आज लगभग सभी राज्यों मे प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र ही प्रचलित है। प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र राजनीतिक दलों के माध्यम से ही कार्य करता है। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि राजनीतिक दल आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम पर ही आधारित होने चाहिए और इनका सगठन धर्म, जाति, भाषा या प्रान्तीय भेदों के आधार पर नही किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्र के हित में यह भी जरूरी है कि इन राजनीतिक दलों की संख्या एक से अधिक किन्तु बहुत अधिक नही होनी चाहिए और ये राजनीतिक दल अधिक अच्छे प्रकार से सगठित होने चाहिए। इसके साथ ही राजनीतिक क्षेत्र मे सन्तुलन भी होना चाहिए, जिससे कोई भी राजनीतिक दल मनमानी करने का साहस न कर सके। इगलैण्ड और अमरीका मे प्रजातन्त्र की सफलता का एक बड़ा कारण उन देशों के स्वस्थ एवं सुदृढ़ राजनीतिक दल ही हैं।

---

[1] "All the ills of democracy can be cured by more democracy." —*Alfred Smith*

[2] "The best school of democracy and the best guarantee for its success is the practice of local self government." —*Bryce*

(10) न्यायप्रिय बहुमत और सहनशील अल्पमत—लोकतन्त्र का अर्थ परस्पर विचार-विमर्श या परामर्श द्वारा शासन है और व्यवहार में इस शासन व्यवस्था के अन्तर्गत बहुमत द्वारा शासन किया जाता है। लेकिन बहुमत को मनमानी करने के स्थान पर सदैव ही न्यायप्रियता का परिचय देना चाहिए, जिससे लोकतन्त्र को 'बहुमत के अत्याचार' (Tyranny of the majority) की संज्ञा न दी जा सके। अल्पमत वर्ग में भी संविधान और विधियों का सम्मान करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

(11) बुद्धिमान और सतर्क नेतृत्व—प्रजातन्त्र की सफलता के लिए बुद्धिमान और सतर्क नेतृत्व भी नितान्त आवश्यक है। प्रजातन्त्र के नेताओं में उचित निर्णय-शक्ति, साहस, अच्छी योग्यता, विशिष्ट प्रारम्भिक शक्ति व चारित्रिक गुणों का समावेश होना चाहिए। यदि इन शुद्ध गुणों वाले नेताओं के हाथ में राज्य की बागडोर हो तो प्रजातन्त्र अवश्य सफल होगा। जनता को इन नेताओं में पूर्ण विश्वास होना चाहिए तथा उसे नायक पूजा (Personality cult) और चापलूसी से अलग रहना चाहिए।

(12) विश्व शान्ति की स्थापना—प्रजातन्त्र की सफलता के लिए विश्व-शान्ति की स्थापना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि युद्ध के समय प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया को छोड़ कर स्वेच्छाचारिता की प्रवृत्ति अपना ली जाती है। डॉ. धवन का कहना है कि "युद्ध से प्रजातन्त्र को क्षति पहुँचती है क्योंकि युद्ध के समय एक दूसरे को मनाने, सोच-विचार करने और मतों को गिनने की साधारण प्रजातान्त्रिक प्रक्रियाएँ शीघ्र कार्य करने, अनुशासन रखने तथा आवेग की एकता कायम रखने के लिए छोड़नी पड़ती हैं।"

(13) योग्य और निष्पक्ष नागरिक सेवाएँ—लोकतन्त्र में भी जनता के प्रतिनिधि केवल नीति का निर्माण करते हैं और इस नीति को क्रियान्वित करने का कार्य नागरिक सेवाओं के द्वारा ही किया जाता है। यदि इस नागरिक सेवाओं के सदस्य योग्य, निष्पक्ष और कार्यकुशल हों, तो प्रशासनिक कुशलता रहती है और श्रेष्ठ शासन सम्भव हो सकता है। वास्तव में, लोकतन्त्र की सफलता के लिए योग्य और निष्पक्ष नागरिक सेवाएँ नितान्त आवश्यक हैं।

आज लोकतन्त्र चौराहे पर खड़ा है और हम ए. एल. नावेल (A L Nowell) के शब्दों में कह सकते हैं कि "यदि उपर्युक्त बातें पूरी हो जायें हैं तो प्रचण्ड वायु के झोंके भी लोकतन्त्र की नींव को हिला नहीं पायेंगे किन्तु यदि ये बातें पूरी नहीं होंगी तो लोकतन्त्र के शक्तिशाली पाँव कीचड़ में धँस जायेंगे।"।

भारत में लोकतन्त्र
(DEMOCRACY IN INDIA)

स्वतन्त्रता प्राप्त होने के कुछ समय पूर्व ही भारत में एक संविधान सभा की स्थापना की गयी थी, जिसने 26 नवम्बर, 1949 को संविधान निर्माण का कार्य

पूर्ण किया और 26 जनवरी, 1950 से यह संविधान लागू किया गया। संविधान के द्वारा भारत में एक प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना की गयी है और प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त 'वयस्क मताधिकार' को स्वीकार किया गया है। संविधान के द्वारा एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गयी है और नागरिकों को शासन के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रूप में मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। व्यवहार में भी भारतीय नागरिक इन स्वतन्त्रताओं का पूर्ण उपयोग कर रहे हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान आदर्श रूप में एक लोकतन्त्रात्मक संविधान है।

संविधान निर्माण के समय संविधान सभा के अन्दर व बाहर भारत व विदेशों में भारतीय जनता की राजनीतिक जागरूकता के प्रति बहुत अधिक शंका व्यक्त की गयी थी, लेकिन अब तक जिस शान्तिपूर्ण ढंग से 'आम चुनाव सम्पन्न हुए और भारत की अशिक्षित जनता ने अब तक जिस विवेक के आधार पर अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय नागरिक एक प्रजातन्त्रात्मक देश के सुयोग्य नागरिकों के समान आचरण कर सकते हैं और उन्होंने ऐसी रूप में आचरण किया है।

भारतीय जनता चन्द वर्षों में दो बार अपनी राजनीतिक जागरूकता और परिपक्वता तथा लोकतन्त्र के प्रति अपनी आस्था का परिचय दे चुकी है। मार्च 1977 ई के लोकसभा चुनाव में उसके द्वारा अधिनायकवाद की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्तियों का विरोध करते हुए लोकतन्त्र का समर्थन किया गया, लेकिन जब शासन के संचालन में तत्कालीन शासक वर्ग की अक्षमता स्पष्ट हो गयी और केन्द्र में राजनीतिक अस्थायित्व की स्थिति पैदा होने लगी, तब जनता ने इस राजनीतिक सत्य को समझा कि लोकतन्त्रीय व्यवस्था और देश के हित में क्षमतावान् शासन तथा राजनीतिक स्थायित्व आवश्यक है। भारत पहला विकासशील देश है जिसमें मतपेटी के आधार पर दो बार (1977 तथा 1980) सत्ता परिवर्तन किया। इस प्रकार भारत विश्व के अन्तर्गत प्रजातान्त्रिक प्रणाली का सर्वाधिक सफल प्रयोग करने वाले देशों की श्रेणी में आ गया है। अभी हाल ही में लोकतन्त्र की दिशा में एक श्रेष्ठ कार्य 'दल-बदल पर कानूनी रोक' (भारतीय संविधान के 52वें संवैधानिक संशोधन) के रूप में हुआ है।

लेकिन इन सबका तात्पर्य यह नहीं है कि हमने एक पूर्ण प्रजातन्त्र की स्थापना कर ली है। भारतीय प्रजातन्त्र के मार्ग में निश्चित रूप से कुछ बाधाएँ हैं। लगभग 35 वर्षों के समय में बार-बार और ऊँचे स्वरों में 'समाजवादी ढाँचे के समाज' (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना की घोषणा करने पर भी आर्थिक विकास की दिशा में नहीं के बराबर ही प्रगति हुई। जैसा कि बी के नेहरू ने कहा है ' विश्व के कम विकसित देशों के स्तर से भी यदि आंका जाय तो भारत सर्वाधिक निर्धन देशों की श्रेणी में आता है।" शिक्षित बेरोजगारों की संख्या

भारतीय प्रजातन्त्र के लिए एक नवीन सकट के रूप में बढ़ती ही जा रही है। बेरोज-गारों का यह समूह भारतीय प्रजातन्त्र के लिए निश्चित रूप से बहुत अधिक घातक है। शिक्षा के क्षेत्र में हमने शिक्षित व्यक्तियों का प्रतिशत भले ही कुछ बढ़ा लिया हो, यह शिक्षा न तो रोजगार की ओर उन्मुख है और न ही इसके द्वारा स्वतन्त्र रूप से विचार करने की प्रवृत्ति को उत्पन्न किया जा सकता है।

दलीय व्यवस्था की दृष्टि से स्थिति नितान्त असन्तोषजनक है। 1977 में ऐसा सोचा गया था कि हम दो सुदृढ़ और सन्तुलित दलों की पद्धति (राजनीतिक ध्रुवीकरण) की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं, लेकिन घटनाचक्र से स्पष्ट हो गया कि राजनीतिक ध्रुवीकरण के समीप पहुँचने के बजाय हम उससे दूर हो गये हैं।

भारत में लोकतान्त्रिक और ससदीय परम्पराओं का सामान्यतया अभाव है और इसी कारण राष्ट्रपति एव राज्यपाल आदि पदधारी व्यक्तियों के आचरण के सम्बन्ध में भी निरन्तर विवाद उत्पन्न होते रहते हैं जो स्वस्थ लोकतन्त्र का परिचय नहीं देते। हड़ताल, भूख हड़ताल, प्रदर्शन और आन्दोलन की प्रवृत्तियाँ भी समय-समय पर बहुत अधिक प्रबल हो उठती हैं जिन्हें मर्यादित किया जाना नितान्त आवश्यक है। अभी 81-87 के वर्षों में तो पजाब जैसे कुछ राज्यों में शान्ति और व्यवस्था की बिगड़ी हुई स्थिति लोकतन्त्र के लिए सकट का नया कारण बन गयी है। भारतीय नागरिकों को यह बात समझनी होगी कि भारत जैसे विकासशील देश का लक्ष्य अनुशासित लोकतन्त्र ही हो सकता है।

भारतीय जनता लोकतन्त्रीय व्यवस्था के प्रति प्रतिबद्ध है और भविष्य में किसी भी शासन वर्ग के द्वारा लोकतन्त्र की अवहेलना का दुस्साहस नहीं किया जा सकेगा। लेकिन लोकतन्त्रीय शासन के ढाँचे को बनाये रखना ही पर्याप्त नहीं है; लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि लोकतन्त्र के लक्ष्य को प्राप्त किया जाय और यह लक्ष्य है—सामाजिक आर्थिक न्याय। हम इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाये हैं और दुखद तथ्य यह है कि हम इस लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में भी आगे नहीं बढ़ रहे हैं। भारत और भारतीय मनोभूमि में लोकतन्त्र गहरा बैठ गया है और यही भविष्य में इसकी सफलता का सबसे बड़ा आधार है।

अधिनायकतन्त्र
(DICTATORSHIP)

अधिनायकतन्त्र में भी राजतन्त्र की भाँति सम्प्रभुता एक ही व्यक्ति में निहित होती है और शासन कार्य सत्ताधारी व्यक्ति की इच्छानुसार ही चलता है। राजतन्त्र और अधिनायकतन्त्र में प्रमुख अन्तर शासक द्वारा पद ग्रहण करने की विधि में निहित है। राजतन्त्र में शासक साधारणतया वशानुक्रम के आधार पर अपना पद ग्रहण करता है। अधिनायकतन्त्र में निर्वाचन, सैनिक योग्यता अथवा एक विशेष राजनीतिक समुदाय का नेता होने के आधार पर व्यक्ति शासन का नेतृत्व करता है।

परिभाषा

अधिनायकतन्त्र की जो विभिन्न परिभाषाएँ की गयी हैं, उसमें कुछ इस प्रकार हैं :

न्यूमैन के अनुसार, "अधिनायकतन्त्र से हमारा अभिप्राय एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह के शासन से है जो राज्य में सत्ता पर बलपूर्वक अधिकार कर लेते हैं और उसका असीमित रूप से प्रयोग करते हैं।"[1]

फोर्ड के शब्दों में "राज्य के अध्यक्ष द्वारा असाधारण और विधानेत्तर (extralegal) सत्ता प्राप्त कर लेना ही अधिनायकतन्त्र है।"[2]

इनकी तुलना में सोल्टाऊ की परिभाषा अधिक स्पष्ट है जिसमें कहा गया है कि "यह एक व्यक्ति का शासन होता है जो अपने पद की मुख्यतया वंश परम्परा से प्राप्त नहीं करता, अपितु शक्ति या सहमति सामान्यतया दोनों के संयोग से प्राप्त करता है। उसके पास पूर्ण सम्प्रभुता होनी चाहिए, जिसका प्रयोग वह कानूनों की अपेक्षा मनमाने आदेश जारी करके करें।"[3]

अधिनायकतन्त्र—प्राचीन और नवीन—अधिनायकतन्त्र भी प्राचीन और नवीन इन दो रूपों में हमारे सामने आता है। प्राचीन अधिनायकतन्त्र उनको कहा जा सकता है जिनमे सत्ताधारी व्यक्ति सैनिक शक्ति की सर्वोच्चता के आधार पर अधिनायक बन जाते थे। नेपोलियन बोनापार्ट का अधिनायकतन्त्र इसी प्रकार का था। आधुनिक युग में अधिनायकवाद का रूप अधिनायक के पदारूढ होने की दृष्टि से बदल गया है और अब अधिनायक उस दल का नेता होता है जो किसी देश विशेष का शासन प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के अधिनायक जनता अथवा कम-से-कम किसी दल विशेष की पसन्दगी के आधार पर पद ग्रहण करते हैं तथापि पदारूढ होने के बाद तानाशाही ढंग से ही देश के शासन का संचालन करते हैं।

इस प्रकार के अधिनायकवाद का प्रमुख रूप से प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उदय हुआ। उदाहरणार्थ, सन् 1922 में फासीदल की सहायता से मुसोलिनी, सन् 1923 में प्रीमो दि रिवेरा स्पेन में और सन् 1933 मे हिटलर नाजी दल की सहायता से जर्मनी का अधिनायक बन बैठा। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्थापित अधिनायकवाद के इस रूप को अपनी आर्थिक विचारधारा के आधार पर दक्षिणपन्थी कहा जा सकता है लेकिन कार्ल मार्क्स के विचारों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए सन् 1917 में सोवियत रूस में और दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पूर्वी यूरोप एवं चीन मे एक भिन्न प्रकार के अधिनायकत्व की स्थापना की गयी है जिसे वामपन्थी अधिनायकत्व या सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का नाम दिया गया है।

---

1. F. Newmann *The Democratic and Authoritarian State*, p 233.
2. Ford, *Dictatorship in the Modern World*, p 27.
3. R. H. Soltau, *An Introduction to Politics*. p. 286.

आधुनिक अधिनायकवाद का उत्कर्ष—प्रथम विश्वयुद्ध को स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध लोकतन्त्र का युद्ध कहा गया था और इसीलिए युद्ध समाप्त होने पर यह आशा की जाती थी कि अब सम्पूर्ण यूरोप में लोकतन्त्र स्थापित हो जायगा, लेकिन वर्साय की सन्धि में ही लोकतन्त्र के विनाश के बीज निहित थे और युद्धोपरान्त परिस्थितियों में इन्हें पल्लवित होने का पर्याप्त अवसर मिला। परिणामस्वरूप सन् 1939 तक इटली, स्पेन, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, रूमानिया, जर्मनी और चीन में अधिनायकवाद की स्थापना हो गयी।

अधिनायकवाद के इस उत्कर्ष के लिए युद्धोपरान्त की निम्नलिखित परिस्थितियों को उत्तरदायी कहा जा सकता है :

(1) संसदीय संस्थाओं के प्रति अविश्वास—प्रथम विश्वयुद्ध से भीषण विनाश से पीड़ित मानव संसदीय संस्थाओं के प्रति विश्वास खो चुके थे। युद्ध से लौटे हुए सैनिक उस लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था से पूर्णतः असन्तुष्ट थे जिसके कारण उन्होंने अपने स्वजनों को खो दिया था और जो अब युद्ध का हर्जाना माँग रही थी। कालान्तर में यही असन्तुष्टि अधिनायकवाद के रूप में हमारे सामने आयी।

(2) वार्साय सन्धि—इस सन्धि में विजेता पक्ष ने विजित पक्ष पर बहुत अधिक कड़ी शर्तें लाद दी थी और यह सन्धि न्याय भावना पर आधारित नहीं थी। इटली में मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर ने सन्धि के विरुद्ध लोकमत का नेतृत्व किया और अधिनायक बन बैठे।

(3) कई देशों के लिए प्रजातन्त्र नया था—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पोलैण्ड, यूगोस्लोवाकिया आदि देशों की रचना कर इनमें प्रजातन्त्र स्थापित किया गया था, लेकिन इन देशों के लिए प्रजातन्त्र बिलकुल नया अनुभव था और प्रजातन्त्रीय परम्पराओं के अभाव के कारण शीघ्र ही अधिनायकवाद की स्थापना हो गयी।

(4) आर्थिक आत्मनिर्भरता की नीति का प्रतिपादन—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद आर्थिक स्वावलम्बन की नीति का प्रतिपादन किया गया था और व्यवहार में इस नीति के लक्ष्य को एक अधिनायकवादी शासन में ही प्राप्त किया जा सकता था।

(5) आर्थिक संकट—सन् 1929 के विश्वव्यापी आर्थिक संकट और इस संकट के समय अमरीका, फ्रांस आदि देशों द्वारा अपनायी गयी आर्थिक नीति के कारण सभी देशों की आर्थिक स्थिति बहुत अधिक खराब हो गयी थी। आर्थिक संकट से मुक्ति प्राप्त करने के लिए देश के आर्थिक स्रोतों का पूर्ण उपयोग आवश्यक था, जो कि एक नियोजित अर्थ व्यवस्था में ही किया जा सकता था। इस नियोजित अर्थ-व्यवस्था को एक अधिनायक ही भली प्रकार कार्यरूप में परिणित कर सकता था।

(6) राष्ट्र-संघ की असफलता—स्थापना के थोड़े समय बाद ही राष्ट्र संघ अपना सम्मान खो चुका था और निःशस्त्रीकरण सम्मेलन असफल होते जा रहे थे। बड़े देशों द्वारा किया जाने वाला शस्त्रीकरण छोटे देशों में उनके अस्तित्व के प्रति

शक्ता उत्पन्न कर रहा था। ऐसी परिस्थितियों में उन्होंने भी सैनिक तानाशाही के मार्ग को अपनाकर शक्तिशाली बनना आवश्यक समझा।

(7) प्रजातन्त्र के कठिन आदर्श—प्रजातन्त्र के आदर्श कार्यरूप में बहुत अधिक कठिन हैं और इनकी तुलना में अधिनायकवाद एक सरल शासन-व्यवस्था थी, जिसके अन्तर्गत जनता का एकमात्र कार्य आज्ञापालन ही था। यही कारण था कि युद्धोपरान्त परिस्थितियों में प्रजातन्त्र एक भ्रम और अधिनायकवाद एक वास्तविकता बन गया।

आधुनिक अधिनायकतन्त्र के लक्षण—न्यूमैन ने अधिनायकवादी राज्य के 5 लक्षण बताये हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) यह एक पुलिस राज्य होता है।
(2) उसमें शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है।
(3) उसमें एक सर्वाधिकारवादी राजनीतिक दल होता है।
(4) उसमें सार्वजनिक जीवन पर कठोर नियन्त्रण होता है।
(5) वह नागरिकों में भय उत्पन्न करने में विश्वास करता है।[1]

इसी प्रकार अन्य विद्वानों द्वारा जो विचार व्यक्त किये गये हैं, उनके आधार पर अधिनायकतन्त्र के निम्नलिखित लक्षण कहे जा सकते हैं :

(1) सर्वाधिकारवाद—आधुनिक अधिनायकतन्त्र का यह सर्वप्रमुख लक्षण है कि यह एक अधिकेन्द्रित या सर्वाधिकारवादी राज्य (Totalitarian State) होता है। इस प्रकार के राज्य में समाज, राज्य और सरकार के भेदों को समाप्त कर शासक वर्ग सर्वशक्तिमान सत्ता की स्थिति प्राप्त कर लेता है और नागरिक जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं होता, जिस पर उसका नियन्त्रण न हो। हिटलर एवं मुसोलिनी के अनुसार राज्य ही सब कुछ था। इटली के लोगों के लिए मुसोलिनी का प्रवचन था कि "सब कुछ राज्य के अन्तर्गत है, राज्य के बाहर कुछ भी नहीं है राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं है।"[2]

(2) प्रजातन्त्र का विरोध—इन अधिनायकतन्त्रों की स्थापना प्रजातन्त्र के प्रति विरोधी भावना के कारण हुई थी और यह स्वाभाविक रूप से प्रजातन्त्र का विरोध करते रहे। इन अधिनायकों और उनके समर्थकों के अनुसार लोकतन्त्र एक 'सड़ा हुआ शव' (decaying corpse) है और संसद केवल 'बकवास की दुकानें' (talking shops) हैं। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद भी लोकतन्त्र को घृणा की दृष्टि से ही देखता है।

---

1 F. Newmann, *The Democratic and Authoritarian State*, p. 233.
2 "Everything within the state, nothing outside the state and nothing against the state." —*Mussolini*

(3) एक दल, एक नेता और एक कार्यक्रम—वर्तमान समय के वामपन्थी और दक्षिणपन्थी दोनों ही प्रकार के अधिनायकवाद एकदलीय राज्य में विश्वास करते हैं तथा स्वयं से सम्बन्धित राजनीतिक दल के अतिरिक्त अन्य राजनीतिक दलों के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते। अधिनायकवाद में एक ही व्यक्ति आवश्यक रूप से सर्वोत्तम नेता होता है जिसे राष्ट्रीय एकता और सम्मान के प्रतीक के रूप में श्रद्धा और विश्वास का पात्र माना जाता है। इस नेता को सभी बातों के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णायक शक्ति प्राप्त होती है और उसके शब्द ही कानून होते हैं। अधिनायकतन्त्र के अन्तर्गत शासक दल का अपना एक निश्चित कार्यक्रम होता है।

(4) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु—आधुनिक अधिनायकतन्त्र एक व्यक्ति या एक दल का शासन होता है और इसीलिए वह राजनीतिक विरोध को पसन्द नहीं करता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु है। साम्यवाद के अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बुर्जुआ लोगों की धारणा है और फासीवाद एवं नाजीवाद इसे, अतीत की मान्यता मानते थे। इटली के युवक संगठन को मुसोलिनी का आदेश था 'विश्वास, आज्ञापालन और युद्ध।' हिटलर 'कर्तव्य, अनुशासन और त्याग' को जीवन का मूल मन्त्र बताता था।

(5) जनमत निर्माण के साधनों पर कठोर नियन्त्रण—आधुनिक अधिनायकतन्त्र की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह विचारों पर नियन्त्रण रखना चाहता है और 'प्रचार मन्त्र' की प्रभावशीलता में विश्वास करता है। इस दृष्टि से जनमत निर्माण के साधनों, जैसे साहित्य, समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविजन और चलचित्र, आदि, पर कठोर नियन्त्रण रखा जाता है। प्रेस, रेडियो, आदि निरन्तर अधिनायक के पक्ष में प्रचार करते रहते हैं जिससे उसके पक्ष में जनमत बना रहे।

(6) उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास—अधिनायकतन्त्र में उग्र राष्ट्रवाद का भाव होता है। शासक वर्ग जनता को अपने पूर्ण नियन्त्रण में बनाये रखने के लिए उनमें राष्ट्र के प्रति भक्ति की भावना को भड़काकर उसे चरम सीमा तक पहुँचा देते हैं। इसमें अपनी जाति, संस्कृति, देश और उसकी व्यवस्था का यशोगान किया जाता है और दूसरे देशों को तुच्छ व हीन सिद्ध करने की कोशिश की जाती है।

(7) युद्ध और औपनिवेशिक विस्तार—जब अपने राष्ट्र की अत्यधिक प्रशंसा की जाती है तो स्वाभाविक रूप से युद्ध का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। हिटलर और मुसोलिनी ने स्पष्ट रूप से युद्ध का प्रचार किया। हिटलर कहा करता था कि *"पुरुष के जीवन में युद्ध का वही स्थान है जो स्त्री के जीवन में मातृत्व का है।"*[1] इन तानाशाहों ने अपने देश की आर्थिक उन्नति और अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए औपनिवेशिक विस्तार की नीति अपनायी। मुसोलिनी ने कहा था कि

---

1 "War is to man, what maternity is to woman." —*Hitler*

"साम्राज्यवाद जीवन का चिरस्थायी और अक्षुण्ण नियम है। इटली का विस्तार होगा या अन्त।"

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अधिनायकवादी शासन व्यवस्था हीगल आदि आदर्शवादी दार्शनिकों के 'राज्य की सर्वोच्चता' के सिद्धान्त पर आधारित है और इसके अन्तर्गत मानव स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जाता है।

अधिनायकतन्त्र के गुण—अधिनायकतन्त्र के प्रमुख गुण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं

(1) शासन में एकता और कुशलता—अधिनायकतन्त्र मे शासन शक्ति एक व्यक्ति मे ही निहित होती है। कानून निर्माण, प्रशासन एव न्यायिक निर्णय सभी कार्य इस एक व्यक्ति के द्वारा ही किये जाते हैं। एक ही व्यक्ति के अधिकार के अन्तर्गत सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था होने के कारण इसमे शासन सगठन मे कार्यकुशलता एव सरलता आ जाती है। अधिनायक का शासन सक्षम, शीघ्र एव मितव्ययी होता है। जैक्सन द्वारा अपनी पुस्तक Recent Political Thought' मे स्पेन के अधिनायक रिवेरा की सफलताओ का जो वर्णन किया गया है, वह इस सम्बन्ध मे उदाहरण रूप मे है। उसने लिखा है कि "स्पेनवासियों के इतिहास मे यह पहला मौका है जबकि रेलें समय पर चलती हैं, नयी रेल सड़कें बनायी गयी हैं और स्पेन के परम्परागत खच्चरी मार्गों की जगह मोटर सडकों ने ले ली है। अधिनायक के अधीन व्यापार और उद्योग समृद्ध हुए हैं कृषि फली-फूली है और श्रम सकट दूर हो गया है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अव्यवस्थित वातावरण मे एक अधिनायक ही आर्थिक और सामाजिक जीवन का पुनरुद्धार कर सकता था।

(2) उत्तरदायित्व का विभाजन नहीं—प्रजातन्त्र मे उत्तरदायित्व का विभाजन हो जाता है और यह कहावत ठीक ही है कि बहुतों का उत्तरदायित्व किसी का भी उत्तरदायित्व नही रहता। लेकिन अधिनायकत्व मे एक ही व्यक्ति सम्पूर्ण राष्ट्रीय हितों का सरक्षक होता है और यह अधिनायक अपने राजनीतिक कर्तव्यों को धार्मिक क्रियाओं के समान ही उत्साहपूर्वक करता है।

(3) सकटकाल के लिए सर्वाधिक उपयुक्त—राष्ट्रीय सकट के समय शीघ्रता-पूर्वक एव अपूर्व साहसिकता के साथ कार्य करने की आवश्यकता होती है और प्रजातन्त्र या कुलीनतन्त्र मे इस प्रकार कार्य नही किया जा सकता है। सकटकाल के अन्तर्गत केवल एक अधिनायक ही आन्तरिक प्रशासन एव वैदेशिक सम्बन्ध का कार्य भलीभाँति करते हुए अपने देश की प्रतिष्ठा मे वृद्धि कर सकता है।

(4) मितव्ययी—अधिनायकवाद म प्रशासनिक अपव्यय बहुत कम हो जाता है क्योंकि न तो शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध मे लम्बा चौडा प्रबन्ध करना पडता है और न ही चुनावो आदि के प्रबन्ध मे धन का अपव्यय होता है।

(5) राष्ट्रीय भावना का जागरण—अधिनायकवादी व्यवस्था राष्ट्रीय भावना जागृत करने की दिशा मे बहुत अधिक सहायक सिद्ध होती है। जर्मनी और इटली इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

दोष—अधिनायकवाद के इन गुणों की तुलना में दोषों की गिनती बहुत अधिक लम्बी है। इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1) विवेक एवं स्वत प्रेरणा का अन्त—अधिनायकतन्त्र लोगों को खाने पीने की और दूसरी भौतिक सुविधाएँ दे सकता है, किन्तु मानव जीवन का लक्ष्य यही नहीं है। एक भौतिक प्राणी होने के साथ-साथ मानव एक विवेकशील प्राणी है और मानव जीवन का एक ढर्रे पर चलना और उसे पूर्णत राज्य के अधीन कर देना विवेक और स्वत प्रेरणा का अन्त कर देना है जो मानव जीवन का सबसे बहुमूल्य गुण है।

(2) युद्ध को प्रोत्साहन—अधिनायकवाद का अस्तित्व उत्साहपूर्ण सफलताओं पर निर्भर करता है और जनता के मस्तिष्क को सदैव अपनी ओर आकर्षित रखने के लिए अधिनायकवाद युद्ध आदि कार्यों का आश्रय लेता है। वर्तमान समय में चीन और पाकिस्तान की विदेश नीति के आधार पर यह बात अधिक स्पष्टतापूर्वक समझी जा सकती है। फ्रेडमैन ने 'विश्व राजनीति की प्रस्तावना' में लिखा है कि "अब तक का मानव इतिहास इस बात का स्पष्ट परिचायक है कि मानव जाति के मध्य हुए भीषण युद्ध किसी न किसी रूप में अधिनायकवादी राज्यों द्वारा ही आरम्भ किये गये।"

(3) योग्य उत्तराधिकारी का आश्वासन नहीं—अधिनायकवाद के अधीन अच्छे प्रशासन को एक लम्बे समय तक जारी नहीं रखा जा सकता, क्योंकि एक योग्य अधिनायक का सुयोग्य उत्तराधिकारी प्राप्त करना अत्यधिक कठिन होता है। साधारणतया तो एक अधिनायक की मृत्यु के बाद में अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

(4) शासन शक्ति का दुरुपयोग—अधिनायकवाद के अन्तर्गत शासक को बिना किन्हीं प्रतिबन्धों के शासन की पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है और यह एक तथ्य है कि 'निरंकुश शक्ति शासक को पूर्णतया भ्रष्ट कर देती है।' अधिनायक के द्वारा अत्याचार और अनाचार का मार्ग अपना लिया जाता है और कभी कभी तो ये अत्याचार सीमातीत हो हो जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि अधिनायकवाद के अन्तर्गत एक ही व्यक्ति के हाथ में सम्पूर्ण शक्ति होने के कारण शासन में कुशलता आ जाती है लेकिन इस प्रकार की प्रशासनिक कुशलता केवल कुछ समय के लिए होती है और कुछ समय के बाद स्थिति बदतर हो जाती है। अधिनायकवाद मानव स्वतन्त्रता के सिद्धान्त और वर्तमान समय के अनुकूल भी नहीं है। अत यह स्पष्ट है कि अधिनायकवाद एक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था नहीं है।

क्या अधिनायकवाद लोकतन्त्र का विकल्प है? (अधिनायकवाद और लोकतन्त्र)

यदि वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश देशों में लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था विद्यमान है किन्तु इस लोकतन्त्रात्मक शासन में कुछ कमियाँ हैं। लोकतन्त्र

एक धीमी शासन व्यवस्था है। इसके अन्तर्गत निर्णय लेने और इन निर्णयो के कार्य रूप मे परिणित करने मे आवश्यक रूप से बहुत अधिक समय लग जाता है। राजनीतिक दलो के द्वारा इसे अनैतिक और शक्तिहीन बना दिया जाता है और स्थानीय तथा क्षेत्रीय हित राष्ट्रीय हितो पर इस प्रकार हावी हो जाते हैं कि राष्ट्रीय एकता क लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है। लोकतन्त्र मे धन का अपव्यय, भ्रष्टाचार तथा प्रशासकीय अकुशलता भी देखी गयी है। लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के इन दोषो को देखकर अनेक व्यक्ति इस बात का प्रतिपादन करत हैं कि लोकतन्त्र के स्थान पर अधिनायकवाद को अपना लिया जाना चाहिए। उनका कथन है कि लोकतन्त्रगत अनियमितताएँ पक्षपात, स्वार्थ तथा भ्रष्टाचार को एक शक्तिशाली अधिनायक के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। अधिनायक ही स्थिति मे सुधार कर जनता म सरकार के प्रति विश्वास उत्पन्न कर सकता है। किन्तु वास्तव मे, अधिनायकवाद कभी भी स्थिति म स्थायी रूप से सुधार करन म समर्थ नही हो सकता। सभी अधिनायको मे यह प्रवृत्ति देखी गयी है कि वे थोडे समय के बाद भ्रष्ट हो जाते हैं। लोकतन्त्र के दोषों को देखकर, लोकतन्त्र के स्थान पर अधिनायकवाद को अपनाने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता लोकतन्त्र में ही सुधार करने की है। लोकतन्त्र मे चाहे कितनी ही कमियाँ क्यो न हों, वह अधिनायकवाद की तुलना मे एक श्रेष्ठ शासन व्यवस्था है। अधिनायकवाद पर लोकतन्त्र की श्रेष्ठता निम्नलिखित रूपो मे स्पष्ट की जा सकती है

(1) लोकतन्त्रात्मक शासन समानता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और व्यक्ति के मौलिक अधिकारो की धारणा पर आधारित होता है किन्तु अधिनायकवाद मे समानता, स्वतन्त्रता और मौलिक अधिकारो के लिए कोई स्थान नही होता। ऐसी स्थिति मे लोकतन्त्र के अन्तगत तो व्यक्ति का सर्वांगीण विकास सम्भव हो सकता है किन्तु अधिनायकवाद म व्यक्ति की मौलिक प्रवृत्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं और परिणामत उसके व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाता है। एक आधुनिक लेखक के शब्दों मे, "अधिनायक एक राक्षस होता है और इसका सर्वाधिकारवादी राज्य एक कारागृह है। साधारण जनता अदृश्य कारागृह की इस चहारदीवारी में बन्द रहती है।'

(2) लोकतन्त्र के अन्तर्गत स्वशासन के अधिकाधिक अवसर विद्यमान होते हैं और इस कारण नागरिक चेतना का पूर्ण विकास सम्भव होता है। लेकिन अधिनायकवाद मे स्वशासन के अवसर विद्यमान नहीं होते हैं और इस कारण नागरिक चेतना का विकास सम्भव नहीं हो पाता। वर्तमान समय मे तो सुशासन के स्थान पर स्वशासन को प्राथमिकता दी जाती है और गार्नर की इस बात पर विश्वास किया जाता है कि 'कोई भी सरकार जो लोकप्रियता पर आधारित नहीं है, और लोगों में सार्वजनिक कार्यों के प्रति लगन उत्पन्न नहीं कर सकती, आदर्श नहीं कही जा सकती है।"

(3) लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और

इसके अन्तर्गत शासक वर्ग को सीमित शक्तियाँ ही प्राप्त होती हैं। इस कारण लोकतन्त्र में शासक वर्ग कभी भी मनमानी करने का साहस नहीं कर सकता। लेकिन इसके विपरीत अधिनायक की शक्तियाँ असीमित होती हैं और उसे जनता के द्वारा पदच्युत भी नहीं किया जा सकता। इस कारण अधिनायक के द्वारा भ्रष्टतापूर्ण आचरण की प्रवृत्ति अपनायी जा सकती है।

(4) लोकतन्त्र में सभी व्यक्तियों को राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करने का अवसर मिलता है जिससे वे अपनी योग्यता का विकास करते हैं। इसके विपरीत, अधिनायकवाद में केवल कुछ गिने-चुने व्यक्तियों को ही राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करने का अवसर मिलता है।

(5) लोकतन्त्र एक ऐसी व्यवस्था है जिसके द्वारा अपनी त्रुटियों को समझकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। आलोचनाओं द्वारा सरकार को अपने दोषों और जनमत का पता लगता रहता है और जनमत के भय से सरकार अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक रहती है। इस प्रकार लोकतन्त्र एक स्वयं-सुधारक व्यवस्था है किन्तु अधिनायकवाद में आलोचकों और विरोधियों का दमन कर दिया जाता है और इसमें सुधार के लिए गुंजाइश नहीं रहती।

(6) लोकतन्त्र उदार राष्ट्रवाद में विश्वास करता है जो अपने साथ साथ अन्य देशों के विकास को भी ध्यान में रखते हुए अन्तरराष्ट्रवाद, विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व का मार्ग प्रशस्त करता है, किन्तु अधिनायक उग्र राष्ट्रवाद को जन्म देता है जो युद्ध और साम्राज्यवाद का कारण बनता है। बीसवीं सदी के दो विश्व-युद्ध अधिनायकवादी व्यवस्थाओं के द्वारा ही प्रारम्भ किये गये थे।

(7) लोकतन्त्र परिवर्तनशील होता है, अतः काल और परिस्थितियों के अनुसार इसमें परिवर्तन होता रहता है। इस कारण लोकतन्त्र बदलती हुई परिस्थितियों का बहुत अधिक अच्छे प्रकार से सामना कर सकता है, किन्तु अधिनायकवाद पर यह बात लागू नहीं होती।

(8) यह कहा जाता है कि संगठन और अनुशासन की एकता के कारण अधिनायकवादी शासन युद्ध और अन्य प्रकार के संकट का बहुत अधिक अच्छे प्रकार से सामना कर सकता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। लोकतन्त्र के अन्दर भी राष्ट्रीय संकट के समय विभिन्न राजनीतिक दल अपने पारस्परिक मतभेदों को भुला देते हैं और उनके द्वारा एक इकाई के रूप में संकट का सामना किया जाता है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध में लोकतन्त्रीय राज्यों ने जिस प्रकार से प्रबल सैनिक शक्ति-सम्पन्न अधिनायकवादी राज्यों को मिटा दिया, वह इस बात का प्रमाण है।

(9) जहाँ तक कार्यकुशलता का सम्बन्ध है, अधिनायकतन्त्र तात्कालिक रूप में ही लोकतन्त्र से अधिक कार्यकुशल शासन है, अन्तिम रूप में नहीं। क्लेमेण्ट एटली ने बिलकुल ठीक ही लिखा है कि "लोकतन्त्र में तात्कालिक रूप से तो कार्यक्षमता

को कुछ आघात पहुँचता है लेकिन लम्बे समय की दृष्टि से इसके अन्तर्गत काय-क्षमता में वृद्धि होती है।[1]

(10) उपयुक्त सभी बातों के अतिरिक्त अधिनायकवाद की अपेक्षा लोकतन्त्र का नागरिकों के चरित्र पर अधिक श्रेष्ठ प्रभाव पड़ता है। डॉ फाइनर ने लिखा है कि 'अधिनायकतन्त्र की विपन्न एवं भयभीत प्रजा जीवन के उन उच्चतम नैतिक मूल्यों से गिर जाती है जिनका सम्बन्ध समस्त मानव समाज की जीवन-प्रणाली से है क्योंकि उनकी महानता की खुले आम निन्दा की जाती है।[2]

अत यह कहा जा सकता है कि अधिनायकतन्त्र लोकतन्त्र का विकल्प नहीं है। लोकतन्त्र के अपने कुछ दोष हो सकते हैं किन्तु वह अधिनायकवाद की भाँति क्रूर निदयी, मानवता का विरोधी तथा दासता का प्रतीक नहीं है। लोकतन्त्र के दोषों से भयभीत होकर लोकतन्त्र के स्थान पर अधिनायकवाद को अपनाने की *आवश्यकता नहीं है, वरन जैसा कि एल्फ्रेड स्मिथ (Alfred Smith) ने लिखा है* "लोकतन्त्र के सभी रोगों का निदान अधिक लोकतन्त्र के द्वारा ही हो सकता है।

प्रश्न

1 बीसवीं सदी के अधिनायकवाद की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं? उसके गुण-दोषों का वर्णन कीजिए और यह बताइए कि क्या अधिनायकवाद प्रजातन्त्र का 'सन्तोषजनक विकल्प (satisfactory substitute) है।

2 'लोकतन्त्र एक शासन पद्धति समाज की एक व्यवस्था तथा जीवन का एक भाग है। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

3 लोकतन्त्र के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए और लोकतन्त्र के दोषों को दूर करने के सुझाव दीजिए।

4 "अधिनायकवाद लोकतन्त्र का विकल्प नहीं हो सकता।' इस कथन की लोकतन्त्र के गुणों के प्रकाश में विवेचना कीजिए।

5 आपके विचार में लोकतन्त्र की सफलता के लिए क्या-क्या बातें आवश्यक हैं? भारत में ये बातें कहाँ तक पायी जाती हैं?

6 लोकतन्त्र की परिभाषा देकर उसका महत्व स्पष्ट कीजिए। क्या यह कहना सत्य है कि आर्थिक क्षेत्र में लोकतन्त्र के अस्तित्व के बिना राजनीतिक क्षेत्र में लोकतन्त्र असम्भव है।

---

1 "Democracy necessarily involves some loss of immediate efficiency but in the long run makes for its increase —*Clement Attlee*
The Labour Party in Perspective and 12 years later (Quoted by Pickles *Ibid* p 169)

2 "The miserable subject of dictatorship are cast out from the highest choices, those which concerns the way of life of all mankind for their dignity is openly despised."— Dr Finer *Theory of Modern Governments*, p 591

15

संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन

[PARLIAMENTARY AND PRESIDENTIAL TYPE OF GOVERNMENT]

"संसदात्मक व्यवस्था शासन के सामयिक मूल्यांकन के साथ-साथ दिन-प्रतिदिन के मूल्यांकन का भी अवसर प्रदान करती है।"[1]

—डॉ अम्बेडकर

सरकार के तीन अंग होते हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर शासन व्यवस्थाओं का संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक रूप में वर्गीकरण किया जाता है।

संसदात्मक शासन-व्यवस्था

यह शासन की वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर सम्बन्धित होती हैं और कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। गार्नर के अनुसार, "संसदात्मक शासन वह शासन प्रणाली है जिसमें वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका अथवा उसके लोकप्रिय सदन के प्रति, तथा अन्तिम रूप में निर्वाचक मण्डल के प्रति अपनी राजनीतिक नीतियों तथा कार्यों के लिए कानूनी रूप से उत्तरदायी होती है और राज्य का प्रधान नाममात्र का तथा अनुत्तरदायी होता है।"[2] इसी प्रकार गैटल लिखते हैं कि "संसदात्मक शासन, शासन के उस रूप को कहते हैं जिसमें प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद् अर्थात् वास्तविक कार्यपालिका अपने कार्यों के लिए कानूनी दृष्टि

1 "Parliamentary system provides a daily, as well as a periodic assessment of the government." —Dr Ambedkar, *Constituent Assembly Debates*

2 "Cabinet Government is that system in which the real executive—the cabinet or ministry—is immediately and legally responsible to the legislature for its political policies and acts, and mediately or ultimately responsible to the electorate while the titular or nominal executive the chief of state—occupies a position of irresponsibility."—Dr. Garner, *Political Science and Government*, pp 296

मे व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। क्योंकि आधुनिक राज्यो की व्यवस्थापिका के दो सदन होते हैं, अत मन्त्रिमण्डल वास्तव में उस सदन के नियन्त्रण मे होता है जिसे वित्तीय मामलो पर अधिक शक्ति प्राप्त होती है और जो निर्वाचकों का भी अधिक सीधे ढंग से प्रतिनिधित्व करता है।' इस शासन व्यवस्था को मन्त्रिमण्डलात्मक शासन या उत्तरदायी शासन के नाम से भी पुकारा जाता है। इसके अन्तर्गत कार्यपालिका शक्ति किसी एक व्यक्ति में निहित न होकर मन्त्रिमण्डल या केबीनेट नामक एक समिति मे निहित होती है, इसलिए इसे मन्त्रिमण्डलात्मक शासन कहते हैं। इसके अतिरिक्त, इस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होने के कारण इसे *उत्तरदायी शासन* के नाम से भी पुकारा जाता है।

संसदात्मक शासन व्यवस्था का व्यावहारिक रूप—इसमे शासन का प्रधान (राजा या राष्ट्रपति) नाममात्र का प्रधान होता है और शासन के वास्तविक प्रधान के रूप में मन्त्रिपरिषद् के द्वारा कार्य किया जाता है। लोकप्रिय या निम्न सदन मे जिस राजनीतिक दल का बहुमत प्राप्त हो, राज्य के प्रधान द्वारा उस राजनीतिक दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। मन्त्रिपरिषद् को सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर काम करना होता है इसलिए प्रधानमन्त्री साधारणतया अपने ही राजनीतिक दल में से मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करता है। साधारणतया मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों के लिए व्यवस्थापिका का सदस्य होना आवश्यक होता है किन्तु प्रधानमन्त्री किसी ऐसे सदस्य को भी मन्त्रिपरिषद् में शामिल कर सकता है जो व्यवस्थापिका का सदस्य न हो। इस मन्त्री को संविधान द्वारा निर्धारित निश्चित अवधि के भीतर व्यवस्थापिका का सदस्य बनना आवश्यक होता है। मन्त्रिपरिषद् के सदस्य व्यवस्थापिका मे उपस्थित होकर कानून निर्माण के कार्य मे भाग लेते हैं और व्यवस्थापिका प्रश्न पूछने तथा आलोचना करने के आधार पर मन्त्रिपरिषद् पर नियन्त्रण रखती है। विशेष परिस्थितियों मे व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पास कर मन्त्रिपरिषद् को भी पदच्युत कर सकती है और मन्त्रिपरिषद् को भी यह अधिकार होता है कि वह राज्य के प्रधान को व्यवस्थापिका के विघटन की सिफारिश करे। इगलैण्ड, भारत आदि देशों मे संसदात्मक शासन पद्धति ही है।

संसदात्मक शासन की मुख्य विशेषताएँ—संसदात्मक शासन की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित कही जा सकती हैं

(1) नाममात्र की व वास्तविक कार्यपालिका का भेद—इस शासन व्यवस्था मे नाममात्र की व वास्तविक कार्यपालिका मे भेद होता है। राज्य का प्रधान नाममात्र की कार्यपालिका होती है जबकि वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रिपरिषद् होती है। नाममात्र की यह कार्यपालिका इगलैण्ड के सम्राट की तरह वशक्रमानुगत या भारत के राष्ट्रपति की तरह निर्वाचित हो सकती है। प्रत्येक स्थिति मे सैद्धान्तिक तौर

पर यह पूर्ण शक्तिसम्पन्न होती है लेकिन व्यवहार में वह इन शक्तियों का प्रयोग अपने विवेक के अनुसार नहीं कर सकती। व्यवहार में उसकी उन शक्तियों का प्रयोग वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद् द्वारा ही किया जाता है।

(2) व्यवस्थापिका व कार्यपालिका में घनिष्ट सम्बन्ध—इसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक-दूसरे से पृथक् न होकर परस्पर घनिष्ट रूप में सम्बन्धित होते हैं। कार्यपालिका की नियुक्ति व्यवस्थापिका में से ही की जाती है और कार्यपालिका अपने कार्यों और नीतियों के लिए व्यवस्थापिका के ही प्रति उत्तरदायी होती है। व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पास कर कार्यपालिका को उसके पद से हटा सकती है। दूसरी ओर कार्यपालिका केवल प्रशासन सम्बन्धी कार्य ही नहीं करती वरन् कानून निर्माण से सम्बन्धित सभी कार्यों में भी भाग लेती है। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के घनिष्ट सम्बन्ध में यह बात भी सम्मिलित है कि यदि कार्यपालिका यह सोचती है कि व्यवस्थापिका जनता के हितों का सही रूप में प्रतिनिधित्व नहीं कर रही है तो कार्यपालिका को अधिकार होना चाहिए कि वह कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान को व्यवस्थापिका के विघटन का परामर्श दे।

(3) कार्यपालिका के कार्यकाल की अनिश्चितता—इस शासन-व्यवस्था में मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल निश्चित नहीं होता है। कार्यपालिका उसी समय तक अपने पद पर बनी रह सकती है जब तक कि उसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त रहता है।

(4) सामूहिक उत्तरदायित्व—संसदीय शासन में वास्तविक कार्यपालिका का निर्माण करने वाले मन्त्री सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। संसदीय शासन का नियम है 'सब एक के लिए तथा एक सबके लिए' और जैसी कि कहावत है 'वे इकट्ठे ही तैरते या इकट्ठे ही डूबते हैं।'[1] इसका अर्थ यह है कि मन्त्रिमण्डल में जब एक निर्णय हो जाता है तो प्रत्येक मन्त्री का कर्तव्य है कि उसका संसद और जनता में समर्थन करे, चाहे मन्त्रिमण्डल की बैठक में वह इस निर्णय से सहमत था या असहमत। मन्त्रिमण्डल जनता, विधानमण्डल और कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान के सम्मुख एक इकाई के रूप में कार्य करता है।

(5) व्यक्तिगत उत्तरदायित्व—प्रत्येक मन्त्री अपने अधीन विभाग का प्रबन्धक होता है। इस प्रकार उसे व्यक्तिगत रूप से उस विभाग को सुयोग्य ढंग से चलाने के लिए विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी रहना होता है।

(6) प्रधानमन्त्री का नेतृत्व—संसदीय शासन में प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का नेता होता है। वह मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब की आधारशिला है और मॉर्ले के शब्दों में, "मन्त्रिमण्डल के निर्माण, जीवन और अन्त में केन्द्रीय स्थिति रखता है।" संसद के निम्न सदन में बहुमत दल का नेता होने के कारण वह सदन का भी नेता

---

1 "They swim and sink together."

कहलाता है। आर एच सोल्टाऊ (R H Soltau) के अनुसार, "प्रधानमन्त्री में एक साथ चार व्यक्तित्व मिले हुए होते हैं। प्रथमत: वह केबीनेट अर्थात् देश की सरकार का प्रधान होता है। द्वितीयतः, वह ससद का नेता होता है। तृतीयत, वह केबीनेट का राज्य के प्रधान के साथ सम्बन्ध स्थापितकर्त्ता होता है और चतुर्थत वह राजनीतिक दल का प्रधान होता है।"

ससदात्मक शासन के गुण—ससदात्मक शासन पद्धति के प्रमुख गुण निम्नलिखित कहे जा सकते है·

(1) व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग और सामजस्य—मानव शरीर के समान ही शासन व्यवस्था में भी एक प्रकार की आगिक एकता होती है और श्रेष्ठ प्रशासन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि शासन के इन अगों में पारस्परिक सहयोग हो। केवल ससदात्मक शासन-व्यवस्था मे ही इस प्रकार का सहयोग और सामजस्य पाया जाता है और इस सहयोग के आधार पर कुशलतापूर्वक प्रशासन किया जा सकता है। वर्तमान समय मे कानून निर्माण का कार्य बहुत अधिक जटिल हो गया है और व्यवस्थापिका के द्वारा यह जटिल कार्य शासन कार्य मे पर्याप्त ज्ञान और अनुभव रखने वाले कार्यपालिका के सदस्यो की सहायता से ही ठीक प्रकार से किया जा सकता है। इसी प्रकार शासन व्यवस्था का सचालन जन-कल्याण के लिए हो, इसके लिए कार्यपालिका के सदस्यों का जनप्रतिनिधियो से सम्पर्क बना रहना आवश्यक होता है। इस प्रकार ससदात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के पारस्परिक सहयोग के आधार पर श्रेष्ठ कानूनो का निर्माण और जनकल्याणकारी प्रशासन सम्भव हो सकता है।

(2) शासन-व्यवस्था जनता के प्रति उत्तरदायी—ससदात्मक शासन में मन्त्रिगण व्यवस्थापिका के सदस्य और इस रूप में जनता के प्रतिनिधि होते हैं। इसके अतिरिक्त ये मन्त्रिगण व्यवस्थापिका के माध्यम से जनता के प्रति उत्तरदायी भी होते हैं। मन्त्री लोगों को अपने पद पर बने रहने के लिए जनता के दृष्टिकोण का ध्यान रखकर उसके अनुसार ही कार्य करना पडता है। इस प्रकार इस शासन व्यवस्था में लोकमत का उचित आदर होता है और लोकहित की साधना सम्भव हो पाती है। डायसी का कथन है कि "संसदीय प्रणाली के अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल को जनमत के प्रति अत्यधिक सचेत रहना पडता है, क्योंकि उसी पर उसका अस्तित्व निर्भर करता है।"

(3) सरकार निरकुश नहीं हो पाती—ससदीय शासन मे क्योंकि सरकार व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है, इसलिए वह कभी भी निरकुश नहीं हो पाती। व्यवस्थापिका में विद्यमान विरोधी दल शासन पर अकुश बनाये रखने का कार्य करता है। ससदीय शासन में मन्त्रिमण्डल अपनी सीमाओं का उल्लघन अथवा अथवा अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करने की बात सोच ही नहीं सकता, क्योंकि प्रश्न, निन्दा प्रस्ताव, कामरोको प्रस्ताव, कटौती प्रस्ताव और अविश्वास का प्रस्ताव सदैव उनके सिर पर तलवार की भाँति बने रहते हैं तथा उन्हें कर्तव्यपरायण होने का

आदर्श पाठ पढ़ाते रहते हैं। इगलैण्ड और भारत के संसदीय शासन मे ऐसे अनेक उदाहरण हैं जबकि व्यवस्थापिका के द्वारा किसी एक भ्रष्ट मन्त्री या मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य किया गया।

(4) गत्यावरोध की कम आशंका—अध्यक्षात्मक शासन शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण इसमे व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में परस्पर कोई सम्बन्ध नही होता और अनेक बार ये एक-दूसरे के कार्य मे रुकावट डालने का प्रयत्न करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप शासन में गत्यावरोध उपस्थित हो जाता है। किन्तु ससदीय शासन मे व्यवस्थापिका और कार्यपालिका बहुत अधिक श्रेष्ठ रूप मे परस्पर सहयोग करती रहती हैं और गत्यावरोध होने की कोई आशंका नहीं रहती है।

(5) अवसर अनुकूलन परिवर्तनशीलता—ससदात्मक शासन मे इस बात की गुंजाइश रहती है कि राष्ट्रीय संकट के किसी असाधारण अवसर पर राजशक्ति का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों मे परिवर्तन किया जा सके। उदाहरण के लिए, प्रथम महायुद्ध के समय इगलैण्ड ने एस्क्विथ के स्थान पर लायड जार्ज और द्वितीय विश्वयुद्ध के समय चैम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल को अपना प्रधानमन्त्री बनाया था। अध्यक्षात्मक व्यवस्था मे जहाँ अध्यक्ष निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित होता है, ऐसा होना असम्भव है। ससदीय शासन व्यवस्था मे विपत्ति के अवसर पर व्यवस्थापिका देश के सर्वमान्य नेता को असाधारण शक्ति प्रदान कर सकती है और सभी राजनीतिक दलों का सहयोग प्राप्त करने के लिए मिले जुले मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जा सकता है।

(6) योग्यतम, अनुभवी एवं लोकप्रिय व्यक्तियों का शासन—व्यवस्थापिका के जिन सदस्यों को अपने अनुभव एवं योग्यता के आधार पर व्यवस्थापिका, अपने राजनीतिक दल और देश की राजनीति में बहुत अधिक लोकप्रियता और सम्मान प्राप्त हो जाता है, वे व्यक्ति साधारणतया मन्त्रिपरिषद् के सदस्य नियुक्त होते हैं। इन योग्य एवं अनुभवी सदस्यों को शासन के आधारभूत सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान होता है और लोकप्रिय होने के कारण इनके द्वारा शासन का सचालन जनहित के लिए ही किया जाता है। मन्त्रियों के सम्बन्ध में ये दो बातें—योग्यता एवं लोकप्रियता—अध्यक्षात्मक शासन में सम्भव नहीं होतीं, क्योंकि उसके अन्तर्गत केवल राष्ट्रपति ही लोकप्रिय शासक होता है और मन्त्रिपरिषद् के सदस्य उसके द्वारा नामजद तथा केवल उसके प्रति ही उत्तरदायी होते हैं।

(7) राजनीतिक शिक्षा—ससदात्मक शासन मे जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिक अच्छा अवसर मिलता है। व्यवस्थापिका मे विभिन्न विभागों के कार्यों की आलोचना होती है और मन्त्रिगण भी पूर्ण योग्यता के साथ अपनी नीति एवं कार्यों के पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। जनता व्यवस्थापिका के इस कार्य विवरण को रुचिपूर्वक पढ़ती है और सार्वजनिक समस्याओं के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त

करती है। अध्यक्षात्मक शासन में जनता इतने अधिक अच्छे प्रकार से राजनीतिक शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाती।

(8) वंशानुगत राजतन्त्र को प्रजातान्त्रिक रूप प्रदान करता—संसदीय शासन ने वंशानुगत राजतन्त्र को लोकतन्त्रीय बनाया है। सम्राट के पद की व्यवस्था होने के बावजूद यदि इंगलैण्ड को लोकतन्त्र का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माना जाता है तो इसका श्रेय संसदीय शासन को ही है जो दो प्रकार की—नाममात्र की और वास्तविक—कार्यपालिकाओं की व्यवस्था करता है। सम्राट नाममात्र का कार्यपालिका प्रधान है और प्रधानमन्त्री कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान।

दोष—इस प्रकार के गुणों के साथ साथ संसदात्मक शासन के कुछ दोष भी बताये जा सकते हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं

(1) शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का विरोध—शक्ति पृथक्करण लोकतन्त्र का एक मुख्य सिद्धान्त है और इस सिद्धान्त के अनुसार शासन के अन्तर्गत व्यवस्थापन, शासन और न्याय सम्बन्धी शक्तियाँ अलग अलग हाथों में रहनी चाहिए लेकिन संसदात्मक पद्धति शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि इसके अन्तर्गत कार्यपालिका और व्यवस्थापिका परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

(2) दलीय तानाशाही का भय—संसदात्मक शासन में राजशक्ति सम्पूर्ण जनता के हाथ में न रह कर एक दल विशेष के हाथ में रहती है। व्यवस्थापिका के लोकप्रिय सदन में जिस राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त होता है, उसी के द्वारा कार्यपालिका का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार शासन के इन दोनों विभागों की शक्ति आवश्यक रूप से एक ही राजनीतिक दल के हाथ में निहित होती है और यह राजनीतिक दल मनमाने तरीके से इस शक्ति का प्रयोग कर सकता है।

(3) निर्बल शासन—संसदात्मक शासन में कोई एक ऐसा व्यक्ति नहीं होता जिसके हाथ में शासन की सम्पूर्ण शक्ति हो और राज्य के प्रशासन के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी हो। यद्यपि प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद् का नेता होता है, लेकिन सभी मन्त्री अपने अपने विभाग के स्वतन्त्र अध्यक्ष होते हैं और प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद् की सलाह के आधार पर ही किसी प्रकार के निर्णय करता है। शासन की इस निर्बलता के कारण आवश्यक निर्णय करने में काफी समय लग जाता है और निर्णयों को गुप्त रखने में भी कठिनाई होती है। शासन की यह निर्बलता युद्ध अथवा अन्य संकटकालीन अवसरों पर असहनीय हो जाती है। अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में निहित होने के कारण शासन में यह निर्बलता नहीं रहती।

(4) बहुदलीय व्यवस्था में सरकार के निर्माण में कठिनाई—संसदीय शासन वाले देश में बहुदलीय व्यवस्था होने पर सरकार का निर्माण करना बहुत अधिक कठिन हो जाता है। बहुदलीय व्यवस्था होने पर व्यवस्थापिका में किसी भी एक राजनीतिक दल को सामान्यतः बहुमत प्राप्त नहीं हो पाता, तोड़-फोड़ के आधार पर

मिले जुले मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जाता है, किन्तु मन्त्रिमण्डल बनने के साथ ही विघटन के आसार शुरू हो जाते हैं और सरकार ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर पाती। चतुर्थ आम चुनाव के बाद भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों में यह कठिनाई प्रत्यक्षतः देखी गयी है। इसके कारण बहुमत जुटाने के लिए सभी भ्रष्ट साधनों का प्रयोग किया जाता है।

(5) कार्यपालिका की अस्थिरता—इस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका का कार्यकाल व्यवस्थापिका के विश्वास पर निर्भर होने के कारण निश्चित नहीं होता है। कार्यकाल की इस अस्थिरता के कारण मन्त्रिगण ऐसी योजनाएँ प्रस्तावित करने के लिए उत्साहित नहीं होते, जिन्हें कार्यान्वित करने के लिए काफी समय की आवश्यकता हो। जिस देश में छोटे-छोटे अनेक राजनीतिक दल हों, वहाँ पर तो मन्त्रिपरिषद् में जल्दी-जल्दी परिवर्तन के कारण शासन-कार्य असम्भव ही हो जाता है। सन् 1950 से सन् 1958 तक फ्रांस में और चतुर्थ आम चुनाव के बाद सन् 1972 तक भारतीय संघ के बिहार, हरियाणा, प. बगाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में यह बात प्रत्यक्षतः देखी गयी है।

(6) नीति में अविच्छिन्नता व अनुरूपता नहीं—शासन की अस्थिरता नीति की अविच्छिन्नता और अनुरूपता को नष्ट कर देती है जो शासन को योग्यतापूर्वक चलाने के लिए आवश्यक है। सम्भावना इसी बात की होती है कि नया मन्त्रिमण्डल अपने पूर्वाधिकारी द्वारा अपनायी गयी नीति के विपरीत नीति ही अपनायेगा।

(7) अक्षम व्यक्तियों का शासन—संसदात्मक शासन में प्रधानमन्त्री द्वारा मन्त्रिपरिषद् का निर्माण योग्यता एवं विभागीय ज्ञान के आधार पर नहीं वरन् लोकप्रियता और अपने राजनीतिक दल में विभिन्न सदस्यों की स्थिति के आधार पर किया जाता है। लेकिन जनता में लोकप्रिय होना या दल का नेता होना एक बात है और उत्तम शासक होना बिलकुल दूसरी बात है। अनेक बार मन्त्री स्वयं से सम्बन्धित विभाग के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रखते और सम्बन्धित मन्त्री के इस अज्ञान के कारण सम्पूर्ण शक्ति स्थायी अधिकारियों के हाथ में आ जाती है। सर सिडनी लो ने लिखा है कि "राजस्व विभाग में क्लर्की प्राप्त करने के लिए एक युवक को हिसाब की परीक्षा पास करना अनिवार्य है, परन्तु वित्तमन्त्री तो कोई भी ऐसा अधेड़ दुनियादार हो सकता है जो ईटन या ऑक्सफोर्ड में पढ़ा हुआ हिसाब भूल चुका हो और दशमलव अंकों को समझने की चेष्टा कर रहा हो।"[1]

---

[1] "A youth must pass an examination in Arithmetic before he can hold a second class clerkship in treasury, but a chancellor of the Exchequer may be a middle-aged man of the world, who has forgotten what little he ever learn about figures at Eton or Oxford and is innocently anxious to know the meaning of the little dots when confronted with treasury accounts worked out in decimals" —Sydney Low, *Government of England*, p. 120

(8) मन्त्रिपरिषद् के अधिनायकवाद की प्रवृत्ति—वर्तमान समय में संसदात्मक शासन की यह प्रवृत्ति देखने में आयी है कि सम्पूर्ण राजशक्ति मन्त्रिपरिषद् के हाथों में केन्द्रित हो जाती है और व्यवस्थापिका उसके हाथों में कठपुतली मात्र रह जाती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से जहाँ व्यवस्थापिका को कार्यपालिका पर-नियन्त्रण रखना चाहिए, वहाँ व्यवहार में कार्यपालिका व्यवस्थापिका पर नियन्त्रण रखती है। नेता होने के कारण प्रधानमन्त्री का अपने दल पर विशेष नियन्त्रण होता है और विरोध करने पर वह असहयोगी सदन को राज्य के प्रधान से अपील करके भंग करवा सकता है। रैम्जे म्योर ने ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की तानाशाही का उल्लेख किया है। प्रो लॉस्की भी इस खतरे को समझते हुए कहते हैं, "यह निश्चित ही कार्यपालिका को अत्याचारी बनने का अवसर प्रदान करता है। यह चाहे तो छोटे से छोटे विषय को विश्वास का प्रश्न बनाकर विधान मण्डल को अपनी बात मानने के लिए बाध्य कर सकता है।"[1]

(9) प्रशासन कार्य की ओर उचित ध्यान नहीं—कार्यपालिका के व्यवस्थापिका से सम्बन्ध होने के कारण मन्त्रियों का बहुत समय कानून निर्माण में चला जाता है। इसके अतिरिक्त मन्त्रिपरिषद् लोकप्रियता पर निर्भर करता है और इसलिये अपनी लोकप्रियता को बनाये रखने के लिए भी उन्हें अन्य अनेक कार्य करने पड़ते हैं। परिणामस्वरूप मन्त्रिगण शासन सम्बन्धी कार्यों पर यथोचित ध्यान नहीं दे पाते। सिजविक ने ठीक ही कहा है कि "मन्त्रियों को कानून निर्माण से सम्बन्धित इतने अधिक कार्य करने होते हैं कि वे कार्यपालिका से सम्बन्धित कार्यों को ठीक प्रकार से नहीं कर पाते।"

(10) उग्र राजनीतिक दलबन्दी—अध्यक्षात्मक शासन में तो राजनीतिक दल केवल निर्वाचन के समय ही सक्रिय होते हैं किन्तु संसदात्मक शासन में शासन शक्ति प्राप्त करने की आशा में राजनीतिक दल सदैव ही अत्यधिक सक्रिय रहते हैं। सत्तारूढ़ दल और विरोधी दलों में सत्ता हथियाने के लिए सदैव आरोप-प्रत्यारोप चलते रहते हैं, जिससे सारा वातावरण खराब हो जाता है। ब्राइस ने इस विषय में कहा है, "यह प्रथा दलबन्दी की भावनाओं को बढ़ाती और सदैव तीव्रतम बनाये रखती है।"

(11) संकटकाल में कार्यपालिका की निर्बलता—संसदात्मक शासन युद्ध या अन्य संकटकाल की स्थिति में बहुत अधिक निर्बल होता है। ऐसी स्थिति में मन्त्रिपरिषद् को न केवल युद्ध का संचालन या संकटकाल का सामना करना पड़ता है,

---

[1] "It certainly gives the executive an opportunity for tyranny It can, if he so pleases, make the most minor issue a question of confidence . and legislature may be reduced an organ of registration of decision "

—Laski, *Grammar of Politics*, p 347,

वरन् इसके साथ ही दिन-प्रतिदिन की आलोचना भी सहन करनी होती है और ये आलोचनाएँ मन्त्रिपरिषद् के कार्य में बाधक होती हैं। इसके अतिरिक्त संसदात्मक शासन में मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को अपनी पदच्युति का जो भय रहता है, उसके कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वे अपने कर्तव्यों का उचित रूप से सम्पादन करने की स्थिति में नहीं रहते।

(12) मन्त्रिमण्डलों का बढ़ता हुआ आकार—वर्तमान समय में संसदात्मक शासन का एक और दोष देखा गया है और वह है संसदीय शासन वाले प्रत्येक देश में मन्त्रिमण्डलों का बढ़ता हुआ आकार। भारतीय संघ के अनेक छोटे राज्यों में भी मन्त्रिमण्डलों का आकार बहुत अधिक बढ़ा है जिससे एक ओर तो प्रशासनिक व्यय में बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है तथा दूसरी ओर शासन का उचित रूप से संचालन भी सम्भव नहीं हो पाता।

निष्कर्ष—इसमें सन्देह नहीं कि संसदात्मक शासन के अपने कुछ दोष हैं, परन्तु यह एक तथ्य है कि संसदात्मक शासन अधिक प्रजातान्त्रिक है। इसमें सरकार जनता के प्रतिनिधियों और अन्तिम रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी बनी रहती है और व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका परस्पर सहयोगपूर्वक कार्य करती रहती हैं। यदि एक देश में स्वस्थ और सुदृढ़ दलीय पद्धति विद्यमान हो तो संसदात्मक शासन की सफलता की बहुत अधिक आशा की जा सकती है।

अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था

जिस शासन व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका विभाग व्यवस्थापन विभाग से सर्वथा पृथक् होता है और कार्यपालिका विभाग का प्रधान एक ऐसा व्यक्ति होता है जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, उसे अध्यक्षात्मक शासन कहते हैं। डॉ० गार्नर के अनुसार, "अध्यक्षात्मक सरकार वह होती है जिसमें कार्यपालिका अर्थात् राज्य का अध्यक्ष तथा उसके मन्त्री अपनी अवधि के बारे में संविधान की दृष्टि से विधानमण्डल से स्वतन्त्र होते हैं और अपनी राजनीतिक नीतियों के बारे में भी उसके प्रति अनुत्तरदायी होते हैं।" गैटल लिखते हैं कि "अध्यक्षात्मक शासन वह प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका प्रधान अपने कार्यकाल और बहुत कुछ सीमा तक अपनी नीतियों और कार्यों के बारे में विधानमण्डल से स्वतन्त्र होता है।" अमरीका, ब्राजील और दक्षिणी अमरीका के राज्यों में इसी प्रकार की शासन-व्यवस्था है।[1]

---

[1] "Presidential Government is that system in which the executive (including both the head of the state and his ministers) is constitutionally independent of the legislature in respect to the duration of his or their tenure and irresponsible to it for his or their political policies."

—*Dr Garner, Political Science and Government* pp 311 12.

इस शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका के प्रधान अर्थात् राष्ट्रपति को देश के नागरिकों द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है। निर्वाचित होने के बाद राष्ट्रपति किन्हीं भी व्यक्तियो को मन्त्रिपद पर नियुक्त कर सकता है और इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् का निर्माण होता है। मन्त्रिपरिषद् मे सामूहिक उत्तरदायित्व की व्यवस्था नही होती और ये मन्त्री व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मन्त्रिपरिषद् का अस्तित्व और कार्य सम्पूर्णतया राष्ट्रपति पर ही निर्भर करते हैं। राष्ट्रपति या मन्त्रिपरिषद् व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होते और राष्ट्रपति कांग्रेस के नियन्त्रण से पृथक रहकर शासन शक्ति का संचालन करता है। राष्ट्रपति या मन्त्रिपरिषद् के सदस्य व्यवस्थापिका की कार्यवाहियों मे भाग नहीं लेते हैं और संसदीय शासन के समान कार्यपालिका व्यवस्थापिका का विघटन भी नहीं कर सकती।

अध्यक्षात्मक शासन की विशेषताएँ

(1) कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का पृथक्करण—यह शासन व्यवस्था माण्टेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित है और इसके अन्तर्गत कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका एक दूसरे से स्वतन्त्र रहती है। व्यवस्थापिका के अविश्वास एव निन्दा प्रस्तावों का कार्यपालिका पर कोई प्रभाव नहीं पडता और न ही कार्यपालिका कानून निर्माण सम्बन्धी कार्यों मे भाग लेती है।

(2) नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका अलग अलग नहीं—अध्यक्षात्मक शासन म संसदात्मक शासन के समान नाममात्र की एव वास्तविक कार्यपालिका अलग अलग नही होते हैं। राष्ट्रपति जो देश का वैधानिक प्रधान होता है, वास्तविक रूप म भी कार्यपालिका की सभी शक्तियो का उपयोग करता है।

(3) कार्यपालिका के कार्यकाल की निश्चितता—कार्यपालिका के प्रधान का निर्वाचन एक निश्चित समय के लिए किया जाता है और उसके कार्यकाल पर व्यवस्थापिका के विश्वास-अविश्वास का कोई प्रभाव नहीं पडता। सिवाय महाभियोग (impeachment) के उस उसकी कार्य विधि के पूर्व उसके पद से नहीं हटाया जा सकता है। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था की मन्त्रिपरिषद् के सदस्य केवल राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं अन्य किसी के भी प्रति नही।

संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों में अन्तर

इन दोनो शासन प्रणालियो मे प्रमुख रूप से निम्नलिखित अन्तर बताये जा सकते हैं

(1) कार्यपालिका प्रधान की स्थिति में अन्तर—संसदात्मक शासन में कार्यपालिका प्रधान कार्यपालिका का नाममात्र का प्रधान होता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से वह पूर्ण शक्तिसम्पन्न होता है लेकिन व्यवहार मे उसकी इन शक्तियो का प्रयोग मन्त्रिपरिषद् के द्वारा ही किया जाता है, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन मे कार्यपालिका

का प्रधान न केवल औपचारिक वरन् वास्तविक प्रधान भी होता है। वही मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों को नियुक्त करता है और ये सदस्य पूर्णतया उनके अधीन होते हैं। इंगलैण्ड के सम्राट और अमरीका के राष्ट्रपति में यह अन्तर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

(2) व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अन्तर—संसदात्मक शासन में कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका में से ही किया जाता है और यह व्यवस्थापिका के प्रति ही उत्तरदायी होती है। व्यवस्थापिका कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य करने के साथ-साथ कार्यपालिका द्वारा किये गए कार्यों की जाँच भी करती है। कार्यपालिका के सदस्य विधानमण्डल में उपस्थित होने और कानून निर्माण सम्बन्धी कार्यों में भाग लेते हैं लेकिन अध्यक्षात्मक शासन शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित होता है। इसके अन्तर्गत कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र रूप में किया जाता है। कार्यपालिका के सदस्य सामान्यतया व्यवस्थापिका में उपस्थित नहीं हो सकते और विधि-निर्माण सम्बन्धी कार्यों में भाग नहीं ले सकते हैं। इसी प्रकार व्यवस्थापिका भी कार्यपालिका के कार्यों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रखती है।

(3) कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार—संसदात्मक शासन में कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित नहीं होता और व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पास कर कभी भी कार्यपालिका को पदच्युत कर सकती है। लेकिन अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित होता है और महाभियोग के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से कार्यपालिका को पदच्युत नहीं किया जा सकता है। व्यवहार में, महाभियोग की पद्धति को अपनाना अत्यधिक कठिन होता है।

(4) मन्त्रियों की स्थिति से सम्बन्धित अन्तर—संसदात्मक शासन में मन्त्रियों की स्थिति बहुत उच्च होती है। वे अपने विभाग में सर्वेसर्वा होते हैं और कानून-निर्माण कार्य पर भी पर्याप्त प्रभाव रखते हैं किन्तु अध्यक्षात्मक शासन में मन्त्रियों की स्थिति इतनी उच्च नहीं होती। ये मन्त्री पूर्णतया राष्ट्रपति के अधीन होते हैं और कानून निर्माण पर इनके द्वारा कोई प्रभाव नहीं डाला जा सकता है। वस्तुतः ये मन्त्री न होकर विभागीय सचिव होते हैं।

(5) स्वतन्त्रता के संरक्षक के रूप में तुलना—मानवीय स्वतन्त्रता का रक्षण संसदात्मक या अध्यक्षात्मक किस व्यवस्था में अधिक श्रेष्ठ रूप में सम्भव है, यह एक जटिल प्रश्न है और इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार भेद हैं। यद्यपि संसदीय शासन के विरोधियों का यह विचार है कि दलीय अनुशासन की बढ़ती हुई कठोरता, कार्यपालिका में विकसित होती हुई स्वेच्छाचारिता और व्यवस्थापिका के पतन की प्रवृत्ति के कारण आजकल संसदीय शासन में स्वतन्त्रता की सुरक्षा समाप्त होती जा रही है लेकिन इस प्रकार की आलोचना के बावजूद सामान्य धारणा यही है कि संसदीय शासन में कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व,

शासन व शासितो के मध्य सीधा सम्पर्क और शक्तिशाली विरोधी दल के कारण स्वतन्त्रता की रक्षा अधिक अच्छे रूप मे सम्भव है। अध्यक्षात्मक शासन के सम्बन्ध मे सामान्यतया यही समझा जाता है कि राष्ट्रपति के तानाशाह के समान अधिकार एव शासन की उत्तरदायित्वहीनता के कारण, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सुरक्षित नही होती।

इस प्रकार ससदीय शासन को स्वतन्त्रता का अधिक अच्छा सरक्षक कहा जा सकता है, लेकिन ससदीय शासन भी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकेगा या नही यह परिस्थितियो पर निर्भर करता है। वस्तुत स्वतन्त्रता की सुरक्षा शासन के रूप पर निर्भर होने के बजाय सामान्य जनता की जागरूकता पर निर्भर करती है। लॉस्की के शब्दो मे, 'स्वतन्त्रता का मूल्य सतत जागरूकता ही है।"

(6) जनतन्त्रात्मक सिद्धान्तो के आधार पर—इस सम्बन्ध मे यह कहना उचित है कि ससदीय शासन अध्यक्षात्मक शासन की तुलना मे अधिक जनतन्त्रात्मक है। व्यक्ति की राजनीतिक प्रवृत्ति की वास्तविक अभिव्यक्ति ससदीय शासन मे ही सम्भव है, अध्यक्षात्मक शासन मे नही। इसके अतिरिक्त, जनतन्त्र का तात्पर्य जनता की इच्छा के अनुसार शासन है और ऐसा केवल ससदीय शासन मे ही सम्भव है, क्योकि यही एकमात्र ऐसी व्यवस्था है जिसमे वास्तविक शासक मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है।

ससदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन का अन्तर स्पष्ट करते हुए बैजहॉट (Bagehot) ने लिखा है कि 'व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शक्तियों की एक-दूसरे से स्वतन्त्रता अध्यक्षात्मक शासन का विशेष लक्षण है और इन दोनों का एक-दूसरे से सयोग तथा घनिष्ठता ससदीय शासन का।"[1]

इस तुलनात्मक समीक्षा के आधार पर कहा जा सकता है कि ससदात्मक शासन अध्यक्षात्मक शासन की तुलना मे अधिक लोकप्रिय है। यूरोप, एशिया व अफ्रीका महाद्वीप के अधिकाश राज्यो तथा आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि उत्तरी अमरीका व अनेक राज्यो द्वारा इसे अपनाया गया है। अध्यक्षात्मक शासन की लोकप्रियता अब तक सयुक्त राज्य अमरीका व लैटिन अमरीका के राज्यों तक ही सीमित है। सन् 1958 मे फ्रास के द्वारा ससदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन के मिश्रण को अपनाया गया है। श्रीलका में भी 1977 मे नवीन सविधान का निर्माण कर ऐसी ही व्यवस्था को अपनाया गया है।

---

1 "The independence of the legislative and executive powers is the specific quality of Presidential Government just as their fusion and combination is the precise principle of Cabinet Government."

—Bagehot, *The English Constitution*.

अध्यक्षात्मक शासन के गुण

अध्यक्षात्मक शासन के गुण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं .

(1) शासन में स्थायित्व—इस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका का प्रधान एक निश्चित समय के लिए चुना जाता है, व्यवस्थापिका का निर्माण भी एक निश्चित समय के लिए होता है और इस अवधि के पूर्व दोनों में से किसी को भी नहीं हटाया जा सकता है। इस कारण राष्ट्रपति और मन्त्री दीर्घकालीन योजनाएँ बनाकर निश्चिततापूर्वक उनके आधार पर कार्य कर सकते हैं। ऐसा केवल उसी समय किया जा सकता है जबकि शासन में स्थायित्व हो। वस्तुत शासन में स्थायित्व अध्यक्षात्मक व्यवस्था का सबसे बड़ा गुण है। 5 जनवरी, सन् 1970 को 'अखिल भारतीय आदर्श संसद' (All India University Students Model Parliament) में समापन भाषण देते हुए श्री मोहम्मद करीम छागला ने इस बात पर बल दिया था कि "अध्यक्षात्मक पद्धति व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से स्वतन्त्र स्थायी कार्यपालिका की व्यवस्था कर स्थायित्व प्रदान करती है।"[1] अध्यक्षात्मक शासन के इसी गुण के कारण अनेक व्यक्तियों द्वारा भारत में इसे अपनाने पर बल दिया जा रहा है।

(2) शासन में कुशलता—कार्यपालिका शक्ति व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होने के कारण कार्यपालिका अधिक साहस एवं स्वतन्त्रतापूर्वक प्रशासन सम्बन्धी कार्य कर सकती है। इसके अतिरिक्त अध्यक्षात्मक शासन में मन्त्री केवल राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी होते हैं। उन्हें विधायी कार्यों में भाग लेने और लोकप्रिय होने के लिए समय नहीं खर्च करना पड़ता, इसलिये वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति और समय का उपयोग शासन कार्यों में कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त सामान्यतया राष्ट्रपति विभिन्न विभागों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों को मन्त्रिपरिषद् में शामिल करता है, जिसका परिणाम कुशल शासन होता है, इस सम्बन्ध में मैरियट ने दो लाभों की चर्चा की है। उसके शब्दों में, "इस व्यवस्था में मन्त्रियों को बार बार व्यवस्थापिका में नहीं आना पड़ता है, इससे वे अपने शासन सम्बन्धी कार्यों को अच्छी तरह से करते हैं। दूसरी ओर व्यवस्थापिका के सदस्य भी पूर्ण रूप से अपना मस्तिष्क विधि-निर्माण में ही लगाते हैं, क्योंकि उन्हें अपने विशेष कार्य से ही मतलब रहता है।"

(3) प्रशासन में एकता—इस शासन व्यवस्था में सम्पूर्ण शासन शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में निहित होती है और उसे किसी शासन नीति के अनुसरण के

---

1 "A presidential system by giving a permanent executive, independent of the legislature ensured stability" —M. C. Chagla (Quoted from '*The Hindustan Times*', dated 17 Jan., 1970).

लिए व्यवस्थापिका की सहमति की भी आवश्यकता नही होती है। अत प्रशासन मे पूर्ण एकता बनी रहती है। प्रशासनिक एकता के कारण सकटकाल मे यह पद्धति बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। ऐसे असाधारण अवसरो पर राष्ट्रपति अपने विवेक के अनुसार शीघ्र ही निर्णय कर सकता है।

(4) शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का पालन—यह शासन पद्धति लोकतन्त्रवाद के उस सिद्धान्त के अधिक अनुकूल है, जिसे शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त कहते हैं क्योंकि इसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका एक दूसरे से स्वतन्त्र रहती हैं। यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की अनेक त्रुटियाँ हैं, लेकिन फिर भी इस सिद्धान्त को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा मे सहायक समझा जाता है। इसलिये इस सिद्धान्त का पालन भी इस शासन-व्यवस्था का एक गुण कहा जा सकता है।

(5) दलबन्दी की बुराइयाँ कम—यद्यपि अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था वाले देशो मे भी सुसगठित राजनीतिक दल होते हैं, पर ये दल केवल निर्वाचन के समय सक्रिय रहते हैं। किसी भी राजनीतिक दल का आन्दोलन राष्ट्रपति को एक निश्चित अवधि के पूर्व उसके पद से नहीं हटा सकता है, इसलिये राष्ट्रपति का चुनाव हो जाने के बाद दलबन्दी की भावना प्रकट होने के विशेष अवसर नहीं रहते। निर्वाचित हो जाने पर राष्ट्रपति दलबन्दी से अलग होकर शासन कार्य कर सकता है। इस प्रकार "ससदीय शासन की तुलना में अध्यक्षात्मक शासन मे दलबन्दी की बुराइयाँ कम हो जाती हैं और राष्ट्रीय एकता का सवर्द्धन होता है।"[1]

(6) बहुदलीय प्रणाली के लिए अत्यन्त उपयुक्त—जिस देश मे बहुदलीय प्रणाली हो, वहाँ ससदीय पद्धति मे सरकार बहुत जल्दी-जल्दी बदलती रहती है और प्रजातन्त्र सफलतापूर्वक कार्य नही कर पाता। बहुदलीय प्रणाली मे तो लोकतन्त्रीय शासन का अध्यक्षात्मक रूप ही सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है।

(7) योग्यतम व्यक्तियो के मन्त्रिमण्डल का निर्माण सम्भव—ससदात्मक शासन के अन्तर्गत मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करने मे प्रधानमन्त्री को अनेक बातें दृष्टि मे रखनी होती हैं। सामान्यतया वह अपने राजनीतिक दल के सदस्यो को ही मन्त्रि-मण्डल मे सम्मिलित कर सकता है और इन सदस्यों के लिए भी व्यवस्थापिका का सदस्य होना अनिवार्य है लेकिन अध्यक्षात्मक शासन के अन्तर्गत राष्ट्रपति जिन किन्हीं योग्य व्यक्तियो को मन्त्रिपरिषद मे सम्मिलित करना चाहे, वह उन व्यक्तियो को मन्त्रिपरिषद में सम्मिलित कर सकता है और इस प्रकार श्री ब्रजमोहन नेहरू के शब्दो में, "राष्ट्रपति योग्यतम व्यक्तियों के मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सकता है।"[2]

(8) संकटकाल के लिए श्रेष्ठ—अध्यक्षात्मक सरकार स्थायी और मजबूत

---

[1] Bryce, *Modern Democracies*, p 468.

[2] B M. Nehru, *The State*, Independence Day, November, 1970.

होती है। इसके अन्तर्गत कार्यपालिका के कार्य मे सरकार का कोई दूसरा अंग आवश्यक रोड़ा नहीं अटका सकता और अकेला राष्ट्रपति कार्यपालिका क्षेत्र मे जिस प्रकार के भी निर्णय लेना चाहे, ले सकता है। इन बातों के कारण गिलक्राइस्ट इसे युद्ध और अन्य संकटकाल में एक अच्छी सरकार मानते हैं।"[1]

(9) कार्यपालिका विधानमण्डल पर छा नहीं सकती—अध्यक्षात्मक सरकार शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण व्यवस्थापिका और कार्यपालिका अलग अलग संगठित होती हैं। इसके अन्तर्गत दलीय आधार पर कार्यपालिका व्यवस्थापिका पर छा नहीं सकती और व्यवस्थापिका स्वतन्त्रतापूर्वक कानून-निर्माण का कार्य करती रहती है।

अध्यक्षात्मक शासन के दोष

उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी अध्यक्षात्मक शासन पूर्णतया दोषरहित नहीं है। इस शासन व्यवस्था के प्रमुख दोष निम्नलिखित कहे जा सकते हैं

(1) प्रशासनिक एकता के सिद्धान्त का विरोध—वर्तमान समय में प्रशासन के सम्बन्ध में 'आंगिक सिद्धान्त' (Organic Theory) का प्रतिपादन किया जाता है जिसके अनुसार प्रशासन में भी मानवीय शरीर के समान ही एकता और अंगों की परस्पर निर्भरता होती है, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन इस सिद्धान्त के विरुद्ध है, क्योंकि इसके अन्तर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक-दूसरे से सम्बन्ध नहीं रखती हैं।

(2) विधायी और प्रशासनिक विभागों मे सहयोग का अभाव—अध्यक्षात्मक शासन का सर्वप्रमुख दोष विधायी और कार्यपालिका विभाग में सहयोग और सामञ्जस्य का अभाव है, जिससे कानून निर्माण व प्रशासन दोनों ही कार्य ठीक प्रकार से नहीं हो पाते। वर्तमान समय में कानून-निर्माण का कार्य इतना अधिक जटिल हो गया है कि कार्यपालिका के अधिक योग्य और अनुभवी सदस्यों के बिना व्यवस्थापिका इस कार्य को ठीक प्रकार से पूर्ण नहीं कर सकती। इसी प्रकार प्रशासन जनसाधारण के हित में हो, इसके लिए व्यवस्थापिका के सदस्यों का परामर्श अत्यन्त उपयोगी होता है। ऐसी स्थिति में यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक दूसरे को प्रभावित करने की शक्ति नहीं रखते, तो प्रशासन के इन दोनों ही विभागों का कार्य ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है।

अध्यक्षात्मक शासन में तो अनेक बार शासन के इन दोनों विभागों में सहयोग के स्थान पर उग्र विरोध दिखायी पड़ता है। यदि राष्ट्रपति एक राजनीतिक दल का हो और व्यवस्थापिका में दूसरे राजनीतिक दल का बहुमत हो, तो ये दोनों विभाग पारस्परिक विरोध की ऐसी प्रवृत्ति अपना लेते हैं कि शासन व्यवस्था में गत्यावरोध

---

1 "It is clear, that in times of war, presidential is the better system."
—R. N. Gilchrist, *Principles of Political Science*, p. 249.

(deadlock) उपस्थित हो जाता है। अमरीकी सवैधानिक इतिहास मे राष्ट्रपति विल्सन, ट्रूमैन और आइजनहावर के समय मे ऐसा ही गत्यावरोध उपस्थित हो गया था और अभी 1987 मे भी ऐसी ही स्थिति है।

(3) **वैदेशिक सम्बन्धों के सचालन में कठिनाई**—अध्यक्षात्मक शासन म व्यवस्थापिका का कार्यपालिका के साथ सम्बन्ध न होने के कारण शक्तिशाली विदेश-नीति अपनाने मे कठिनाई पडती है। ऐसा भी हो सकता है कि कार्यपालिका के द्वारा अपनायी गयी विदेश नीति को व्यवस्थापिका मे समर्थन प्राप्त न हो। उदाहरण के लिए, राष्ट्रपति विल्सन जैसे शक्तिशाली और प्रभावशाली राष्ट्रपति को राष्ट्रसघ से सम्बन्धित अपनी नीति में व्यवस्थापिका का समर्थन प्राप्त नही हुआ। राष्ट्रपति विल्सन चाहते थे कि अमरीका राष्ट्रसघ का सदस्य बने, किन्तु सीनेट द्वारा यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया।

(4) **कम राजनीतिक शिक्षा**—समदात्मक शासन म मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों स व्यवस्थापिका मे प्रश्न पूछे जाते हैं, विभिन्न विभागो के कार्यों की आलोचना की जाती है और मन्त्रिपरिषद् के सदस्य इन आलोचनाओ का उत्तर देते हैं। इन सब बातो मे जनता की भी रुचि रहती है और जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती रहती है, लेकिन अध्यक्षात्मक शासन मे व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच सम्बन्ध न होने के कारण जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करने के अवसर बहुत कम हो जाते हैं।

(5) **निरकुशता की आशका**—इसके अन्तगत राष्ट्रपति के निरकुश हो जाने की बहुत अधिक आशका रहती है क्योंकि राष्ट्रपति एक निश्चित समय के लिए निर्वाचित होने के पश्चात् न तो जनता के और न ही जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो के नियन्त्रण मे रहता है। यद्यपि राष्ट्रपति को उसके पद से महाभियोग सिद्ध करके हटाया जा सकता है किन्तु महाभियोग अत्यन्त गम्भीर अपराधों के लिए ही लगाया जा सकता है और व्यवहार में यह अत्यधिक कठिन हो जाता है। अत राष्ट्रपति बहुत अधिक सीमा तक निरकुश आचरण कर सकता है। इसी कारण एग्जीम ने कहा है कि 'यह प्रणाली स्वेच्छाचारी, अनुत्तरदायी एव हानिकारक है।'

(6) **परिवर्तनशीलता का अभाव**—इस शासन मे परिवर्तित परिस्थितियो के अनुसार कार्यपालिका के प्रधान मे परिवर्तन नही किया जा सकता है। राष्ट्रपति और व्यवस्थापिका का चुनाव एक निश्चित समय के लिए होता है और निश्चित अवधि के पूर्व दोनों मे से किसी को भी हटाया नही जा सकता है, चाहे जनता के विचारों और परिस्थितियों में कैसा ही अन्तर क्यो न आ गया हो। इस सम्बन्ध मे बेजहॉट ने लिखा है कि "आप अपनी सरकार को पहले से ही निश्चित कर देते हैं। यह आपके लिए उपयुक्त है या नहीं, यह आपकी इच्छा के अनुकूल है या नहीं, यह ठीक प्रकार से कार्य करता है या नहीं, इन सब बातों से अब आपको कोई वास्ता नहीं

होता। कानून के अनुसार इसे आपको रखना ही पड़ेगा।"[1] इसके विपरीत, संसदात्मक शासन में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है।

(7) उत्तरदायित्व की अनिश्चितता—इस शासन व्यवस्था में प्रशासनिक बुराइयों के लिए व्यवस्थापिका अथवा प्रशासन में से किसी एक को निश्चित रूप में उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों ही स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं और यदि प्रशासन में कोई बुराई उत्पन्न होती है तो इसके लिए ये दोनों विभाग एक-दूसरे को उत्तरदायी ठहराने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार दोनों विभागों में एक-दूसरे पर उत्तरदायित्व डालने की प्रवृत्ति रहती है और उत्तरदायित्व की इस अवहेलना से राज्य के हितों को हानि पहुँचती है।

निष्कर्ष—दोनों शासन व्यवस्थाओं के गुण-दोषों की विवेचना के उपरान्त स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि दोनों में से कौन-सी प्रणाली उत्तम है। अध्यक्षात्मक शासन को संयुक्त राज्य अमरीका और अमरीकी महाद्वीप के कुछ अन्य राज्यों में अपनाया गया है, जबकि विश्व के अन्य पुराने तथा प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के बाद स्थापित अन्य लोकतन्त्रों में संसदात्मक पद्धति को ही अपनाया गया है। इसका कारण यह है कि संसदात्मक शासन में शासक जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे तभी तक अपने पदों पर रह सकते हैं जब तक कि उन्हें जनता और जनता के प्रतिनिधियों का विश्वास प्राप्त रहे। उत्तरदायित्व की इस व्यवस्था के कारण वे सरलता से स्वेच्छाचारी और निरंकुश भी नहीं हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, इस शासन-व्यवस्था में प्रशासन और व्यवस्थापन विभाग में ऐसा समन्वय एवं सामंजस्य पाया जाता है, जो अध्यक्षात्मक पद्धति में सम्भव नहीं है। अमरीकी राजनीतिज्ञ भी सरकार के इन दोनों अंगों में सहयोग और सामंजस्य की आवश्यकता अनुभव करने लगे हैं।

संसदात्मक शासन लोकतन्त्रवाद के अधिक समीप भी है। इस शासन व्यवस्था के इन्हीं गुणों ने इसे बहुत अधिक लोकप्रिय बना दिया है। संसदात्मक शासन-व्यवस्था के प्रमुख दोष राजनीतिक दलबन्दी की बुराइयों और असाधारण परिस्थितियों के लिए अनुपयुक्त बताए जाते हैं। स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर राजनीतिक दलों के महत्व को कम करते हुए प्रथम बुराई को सीमित किया जा सकता है और दूसरे दोष को दूर करने के लिए संकटकाल के सम्बन्ध में संविधान के द्वारा विशेष व्यवस्था की जा सकती है जैसा कि भारतीय संविधान में की गयी है।

इस प्रकार सामान्य तर्क और अनुभव के आधार पर संसदात्मक शासन अध्यक्षात्मक शासन से अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है किन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं जिनके अन्तर्गत अध्यक्षात्मक शासन संसदात्मक शासन की तुलना

[1] "You have been spoken your government in advance and whether it suits you or not, whether it work well or ill, whether it is what you want or not, by law, you must keep it." —Bagehot

मे श्रेष्ठतापूर्वक कार्य कर सके। उदाहरण के लिए, बहुदलीय प्रणाली के परिणामस्वरूप उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता को अध्यक्षात्मक शासन के द्वारा ही दूर कर प्रजातन्त्र को व्यावहारिक सफलता प्रदान की जा सकती है।

भारत के लिए उपयुक्त व्यवस्था—संसदात्मक या अध्यक्षात्मक

राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में भारत में संसदीय शासन की स्थापना ही हमारा लक्ष्य था और ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीय जनता का नेतृत्व करने वाले वर्ग के द्वारा इसी शासन-व्यवस्था का प्रशिक्षण प्राप्त किया गया था। इसीलिये जब भारतीय संविधान सभा के सम्मुख संसदात्मक या अध्यक्षात्मक, दोनों में से किसी एक व्यवस्था को अपनाने का प्रश्न उपस्थित हुआ, तो लगभग सर्वसम्मति से संसदात्मक व्यवस्था को अपनाने का निश्चय किया गया। चतुर्थ आम चुनाव के पूर्व तक संसदात्मक व्यवस्था को सामान्यतया सन्तोषजनक समझा जाता रहा, लेकिन चौथे आम चुनाव ने भारतीय राजनीति को एक नया मोड़ प्रदान किया। चुनाव के बाद भारतीय संघ के अनेक राज्यो मे राजनीतिक अस्थिरता और कमजोर शासन का एक चिन्ताजनक दौर प्रारम्भ हो गया। व्यवहार मे यह देखा गया कि मुख्यमन्त्री की समस्त शक्ति अपने राजनीतिक दल के आन्तरिक विवादों या शासन में भागीदार दलो के पारस्परिक विवादो को सुलझाने की चेष्टा मे ही व्यय हो जाती है और शासन की उत्तमता या श्रेष्ठता की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिलता। ऐसी स्थिति मे अनेक व्यक्तियों द्वारा[1] इस बात का प्रतिपादन किया गया कि राजनीतिक स्थिरता और प्रशासनिक कुशलता की दृष्टि से भारत मे 'संसदात्मक व्यवस्था' के स्थान पर अध्यक्षात्मक व्यवस्था को अपना लिया जाना चाहिए।

लेकिन समस्त स्थिति पर पूर्णतया विचार करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्यक्षात्मक शासन यदि भारतीय राजनीति की कुछ समस्याओं को हल करेगा, तो दूसरी ओर कुछ नवीन समस्याएँ उत्पन्न कर देगा और भारत के लिए संसदात्मक व्यवस्था ही उपयुक्त है।

प्रथमतः, भारत में प्रजातन्त्र नया-नया ही स्थापित हुआ है और ऐसी स्थिति में यदि कार्यपालिका पर नियन्त्रण के प्रभावशाली साधन न हो तो इसके निरकुश हो जाने की प्रबल आशंका रहती है। अतः लोकतन्त्र को सजीव बनाये रखने की दृष्टि से संसदात्मक व्यवस्था ही उपयुक्त है।

द्वितीयतः, भारत जैसे नवस्थापित प्रजातन्त्र मे अनेक बार जनता सही निर्णय नहीं कर पाती और चुनाव के शीघ्र बाद ही नेतृत्व म परिवर्तन की आवश्यकता होती है। नेतृत्व मे इस प्रकार का परिवर्तन संसदात्मक व्यवस्था मे ही सम्भव है।

1 'The States' के स्वतन्त्रता दिवस अक सन् 1971 मे श्री बी एम नेहरू, छागला, चरणसिंह, न्यायमूर्ति सुब्बाराव आदि व्यक्तियो द्वारा ऐसे ही विचार व्यक्त किए गये।

तृतीयत, भारत जैसे विकासशील देश में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच पारस्परिक सहयोग और समस्त शासन का एक इकाई के रूप में कार्य करना बहुत अधिक आवश्यक होता है। इस स्थिति को संसदात्मक व्यवस्था में ही प्राप्त किया जा सकता है।

चतुर्थतः, भारत में लोकतन्त्र नया-नया ही स्थापित हुआ है और इसकी सफलता के लिए जन चेतना बहुत आवश्यक है। जन चेतना की इस स्थिति को संसदात्मक व्यवस्था में ही अधिक अच्छे प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय लोकतन्त्र और व्यक्ति स्वातन्त्र्य के हित में भारत के लिए संसदात्मक व्यवस्था ही उपयुक्त प्रतीत होती है।

प्रश्न

1 संसदात्मक शासन से आप क्या समझते हैं ? इसके गुण दोष बताइए।
2 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के लक्षणों का वर्णन कीजिए तथा इसके गुण दोषों की व्याख्या कीजिए।
3 शासन के संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक स्वरूपों का अन्तर स्पष्ट कीजिए। इनमें से आप व्यक्ति स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए किसे अधिक उपयुक्त समझते हैं ?
4 संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों के गुणों व अवगुणों की विवेचना कीजिए। इनमें से कौन सी प्रणाली आप भारत के लिए पसन्द करते हैं और क्यों ?

16

एकात्मक व संघात्मक शासन

[UNITARY AND FEDERAL GOVERNMENT]

"एकात्मक का तात्पर्य राज्य की शक्ति एक ही केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में केन्द्रित होना है जबकि संघात्मकता का तात्पर्य राज्य की शक्ति का ऐसी सहयोगी सत्ताओं में विभाजित होना है, जिसमें प्रत्येक अपने क्षेत्र में वैधानिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो।[1]

—वेंकटरंगया

एक राज्य के संविधान द्वारा क्षेत्र के आधार पर शक्तियों का जो केन्द्रीयकरण या वितरण किया जाता है और राज्य के अन्तर्गत शासन की केन्द्रीय एवं स्थानीय इकाइयों के बीच जो सम्बन्ध पाया जाता है उसके आधार पर दो प्रकार की शासन व्यवस्थाएँ होती हैं—'एकात्मक शासन-व्यवस्था' और संघात्मक शासन व्यवस्था'।

एकात्मक शासन

एकात्मक शासन वह होता है जिसके अन्तर्गत संविधान के द्वारा शासन की सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित कर दी जाती है और स्थानीय सरकारों का अस्तित्व एवं शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करती हैं। विभिन्न विद्वानों ने एकात्मक शासन की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं

डॉ॰ फाइनर के अनुसार, "एकात्मक राज्य वह है जिसमें शासन सत्ता एवं शक्ति एक केन्द्र में निहित रहती है और जिनकी इच्छा एवं जिसके अधिकारी समस्त क्षेत्र पर कानूनन सर्वशक्तिमान होते हैं।"[2]

---

1 "Unitarianism means the concentration of the strength of the state in one single central legislative body federalism on the other hand, means the distribution of the strength of the state among cordinate bodies each of which is legally independent within its own sphere.'

—Venkatarangaiya, *Federalism Government* p. 11

2 "The unitary state is one in which all authority and power are lodged in a single centre whose will and agents are legally omnipotent over the whole area."

—*Dr Finer*

डायसी के अनुसार, "एक केन्द्रीय शक्ति के द्वारा सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग किया जाना ही एकात्मक शासन है।"

गार्नर के शब्दों में, "यह शासन की वह प्रणाली है जिसमें संविधान केन्द्रीय शासन के एक अथवा एक से अधिक अंगों को पूरी शक्ति प्रदान करता है और इन्हीं से स्थानीय सरकारों को अपनी सारी शक्ति तथा अपना अस्तित्व प्राप्त होता है।"[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि एकात्मक शासन में केन्द्र तथा प्रान्तों में वैधानिक दृष्टि से शक्तियों का कोई विभाजन नहीं होता है अपितु सारी शक्तियाँ केन्द्र के पास ही होती हैं। यह केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर है कि व्यवहार में भी समस्त शक्तियों का वह स्वयं ही प्रयोग करे अथवा प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने की दृष्टि से कुछ शक्तियाँ स्थानीय सरकारों को दे दे। वर्तमान समय में इंगलैण्ड, जापान, नार्वे, स्वीडेन, बेल्जियम, हॉलैण्ड, फ्रांस, इटली आदि राज्यों में एकात्मक शासन है।

एकात्मक शासन की विशेषताएँ—एकात्मक शासन की प्रमुख रूप से निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं

(1) संविधान द्वारा शक्तियों का विभाजन नहीं—एकात्मक शासन में संविधान के अनुसार सम्पूर्ण राजशक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित होती है और केन्द्र तथा इकाइयों की सरकार में उसका विभाजन नहीं किया जाता। केन्द्रीय सरकार सम्पूर्ण देश में और सभी विषयों के सम्बन्ध में सर्वोच्च होती है और इस प्रकार सरकार द्वारा प्रत्येक प्रकार का कार्य किया जा सकता है।

(2) स्थानीय सरकारों की केन्द्र पर निर्भरता—एकात्मक शासन के अन्तर्गत स्थानीय सरकारों का स्वरूप एवं शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करती हैं। प्रशासनिक सुविधा के लिए राज्यों को अनेक इकाइयों एवं प्रान्तों में विभक्त किया जा सकता है किन्तु इन प्रान्तीय सरकारों का सम्पूर्ण अस्तित्व केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करता है। संविधान के अनुसार प्रान्तीय सरकारों की अपनी कोई पृथक् एवं स्वतन्त्र शक्ति नहीं होती है।

(3) इकहरी नागरिकता—एकात्मक शासन प्रणाली वाले राज्यों में इकहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है, यद्यपि इकहरी नागरिकता होने का तात्पर्य आवश्यक रूप से एकात्मक शासन नहीं होता।

एकात्मक शासन के गुण—एकात्मक शासन के प्रमुख रूप से अग्रलिखित गुण कहे जाते हैं

---

1 "Unitary is that system where the whole power of government is conferred by the Constitution upon a single central organ or organs from which the local government derive whatever authority or autonomy they may possess." —Garner

(1) प्रशासनिक एकरूपता—एकात्मक शासन के अन्तर्गत सम्पूर्ण राज्य में एक ही प्रकार के कानून होते हैं और इन सभी कानूनों को केन्द्रीय शासन के निर्देशन के अन्तर्गत कार्यरूप मे परिणित किया जाता है। परिणामत सम्पूर्ण राज्य में प्रशासन की एकरूपता बनी रहती है। इस शासन मे प्रशासनिक एकरूपता के साथ साथ नीति सम्बन्धी एकरूपता भी बनी रहती है। प्रशासन से सम्बन्धित सभी विषयों के सम्बन्ध मे नीति का निर्धारण केन्द्रीय शासन द्वारा ही किया जाता है। अत स्वाभाविक रूप से नीति निर्धारण सम्बन्धी वह एकरूपता आ जाती है जो कि राज्य की उन्नति के कुशल प्रशासन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(2) प्रशासनिक शक्तिसम्पन्नता—केन्द्रीय शासन के हाथ मे ही सम्पूर्ण शक्ति निहित होने के कारण केन्द्रीय सरकार जनता के हित को दृष्टि मे रखकर सभी विषयो के सम्बन्ध मे ठीक प्रकार से और दृढता के साथ कार्य कर सकती है। इस शासन व्यवस्था मे शक्ति का केन्द्रीयकरण होने के कारण प्रशासन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार का ही होता है और इस निश्चित उत्तरदायित्व के कारण प्रशासन मे कुशलता आ जाती है।

(3) वैदेशिक सम्बन्धों का कुशलतापूर्ण सचालन—वर्तमान समय मे प्रत्येक सरकार का एक अनिवार्य कार्य वैदेशिक सम्बन्धो का सचालन होता है और इन सम्बन्धो का सचालन एकात्मक शासन के द्वारा ही ठीक प्रकार से किया जा सकता है। अन्तरराष्ट्रीय युद्ध, सन्धि समझौते आदि जिन समस्याओं का राज्य को सामना करना पड़ता है, उनके समाधान के लिए नीति और कार्य सम्बन्धी एकरूपता की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। अत वैदेशिक सम्बन्धो का सचालन करने की दृष्टि से एकात्मक सरकार ही अधिक उपयुक्त होती है।

(4) सकटकाल के लिए उपयुक्त—युद्ध आर्थिक सकट और अन्य साधारण परिस्थितियों के अन्तर्गत शीघ्रतापूर्वक निर्णय करने, उन्हे गुप्त रखने और शीघ्र ही उन्हें कार्यरूप में परिणत करने की आवश्यकता होती है और इस प्रकार से शीघ्रतापूर्वक कार्य केवल एक एकात्मक शासन के द्वारा ही किया जा सकता है जिसके अन्तर्गत शक्ति का केन्द्रीयकरण होता है। इसी बात को दृष्टि मे रखकर भारतीय सविधान के अन्तर्गत सकटकाल के समय सघात्मक शासन को एकात्मक शासन में परिवर्तित करने की व्यवस्था की गयी है।

(5) सगठन की सरलता—सगठन की दृष्टि से एकात्मक शासन बहुत सरल होता है। सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय शासन म निहित होने के कारण केन्द्रीय शासन और इकाइयों की सरकारों के बीच किसी भी प्रकार के विवाद उत्पन्न होने की गुंजाइश नही रहती। इसके अतिरिक्त इस शासन व्यवस्था के सगठन मे पर्याप्त परिवर्तनशीलता भी रहती है। केन्द्रीय सरकार जब चाहे तब आन्तरिक व्यवस्था में परिवर्तन कर सकती है।

(6) राष्ट्रीय एकता—शासन की एकात्मकता के कारण सम्पूर्ण देश के लिए

एक जैसे कानून होते हैं, एक ही प्रकार से उन्हें कार्यरूप में परिणित करने की व्यवस्था होती है और एक ही प्रकार की न्याय व्यवस्था होती है। सभी देशवासियों के एक ही प्रकार की परिस्थितियों में रहने के कारण स्वाभाविक रूप से उनमें राष्ट्रीयता के बन्धन बहुत अधिक दृढ़ हो जाते हैं।

(7) मितव्ययता—इसमें विविध स्थानों पर केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के दोहरे कर्मचारी नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं होती और शासन में मितव्ययता रहती है।

(8) छोटे देशों के लिए बहुत उपयुक्त—एकात्मक शासन छोटे देशों के लिए बहुत उपयुक्त सिद्ध होता है क्योंकि यह उनमें सब भेद समाप्त करके सगठन और एकता स्थापित कर देता है।

दोष—एकात्मक शासन में प्रमुख रूप से निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं :

(1) केन्द्रीय सरकार के निरंकुश बनने का भय—एकात्मक शासन में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय शासन में निहित होती है, अतः स्वाभाविक रूप से यह भय रहता है कि केन्द्रीय सरकार शासन के सभी क्षेत्रों में मनमानी न करने लगे। व्यावहारिक अनुभव के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि शक्तियों के केन्द्रीयकरण के परिणामस्वरूप कम या अधिक रूप में निरंकुशता की प्रवृत्ति पनपती ही है।

(2) शासन की असफलता—एकात्मक शासन में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार के हाथों में निहित रहती है, किन्तु राज्य के किसी एक विशेष स्थान पर स्थित केन्द्रीय सरकार से इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि वह देश के विभिन्न भागों की आवश्यकताओं को ठीक प्रकार से समझकर उचित रूप में शासन कर सकेगी। यद्यपि एकात्मक शासन में भी प्रान्तीय सरकारों की स्थापना की जा सकती है किन्तु ये प्रान्तीय और स्थानीय सरकारें पूर्ण रूप से केन्द्रीय सरकार पर निर्भर होने के कारण ठीक प्रकार से प्रशासन कार्य नहीं कर सकती हैं।

(3) राजनीतिक चेतना जाग्रत करने में असमर्थ—प्रजातन्त्रीय शासन की सफलता नागरिकों की राजनीतिक चेतना पर निर्भर करती है किन्तु यह राजनीतिक चेतना एकात्मक शासन में ठीक प्रकार से उत्पन्न नहीं होती। एकात्मक शासन में एक ही मन्त्रिमण्डल और विधानमण्डल होने तथा स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था भी न होने के कारण जनता को सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि लेने तथा शासन में हाथ बँटाने का पूर्ण अवसर नहीं मिलता है। इसलिये जनता की सार्वजनिक कार्यों में रुचि कम हो जाती है और वह उदासीन होने लगती है। प्रशासन में भाग लेने का अवसर न मिलने के कारण जनता का राजनीतिक प्रशिक्षण नहीं हो पाता है।

(4) स्थानीय स्वशासन में बाधा—स्थानीय संस्थाओं की सफलता के लिए इन संस्थाओं के पास पर्याप्त शक्ति और आय के स्वतन्त्र स्रोत होने चाहिए। यद्यपि एकात्मक शासन-व्यवस्था वाले देशों में भी स्थानीय संस्थाएँ होती हैं, लेकिन केन्द्रीय शासन का नियन्त्रण बहुत अधिक होने के कारण ये संस्थाएँ ठीक प्रकार से कार्य नहीं

कर पातीं। ऑग (Ogg) ने कहा है कि "संघात्मक शासन व्यवस्था की अपेक्षा एकात्मक शासन व्यवस्था में स्थानीय सरकारों पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण बहुत अधिक रहता है।"

(5) नौकरशाही का शासन—एकात्मक शासन मे जनता को शासन में सभी स्तरों पर सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर नही मिलता है, इसलिये शासन शक्ति सरकारी कर्मचारियो के हाथ में केन्द्रित हो जाती है और नौकरशाही का स्वेच्छाचारी शासन स्थापित हो जाता है।

(6) विविधताओं वाले विशाल राज्यों के लिए अनुपयुक्त—छोटे राज्यों में एकात्मक शासन भले ही सफल हो जाय, लेकिन बड़े क्षेत्रफल और अधिक जनसख्या वाले राज्यों मे, जहाँ पर भाषा, नस्ल, धर्म और सस्कृति की विविधताएँ हों, एकात्मक शासन के आधार पर कार्य किया ही नहीं जा सकता है। इस प्रकार की विविधताओ वाले विशाल राज्यो के लिए तो सघात्मक शासन पद्धति ही उपयुक्त होती है।

डॉ गार्नर ने एकात्मक शासन के दोषों का चित्रण करते हुए कहा है कि "एकात्मक शासन के अन्तर्गत स्थानीय जनता में अपनी ओर से कार्य करने की शक्ति मन्द पड़ जाती है, सार्वजनिक कार्यों के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणा के स्थान पर उत्साहहीनता दृष्टिगोचर होती है, स्थानीय शासन की शक्ति दुर्बल हो जाती है और केन्द्रीकृत नौकरशाही का विकास होता है।"[1]

एकात्मक शासन के गुण दोषों की उपर्युक्त विवेचना के आधार पर कहा जा सकता है कि क्षेत्र और जनसख्या की दृष्टि से छोटे तथा आधारभूत एकता सम्पन्न राज्यों में ही एकात्मक शासन उपयुक्त सिद्ध हो सकता है।

सघात्मक शासन

सघीय शासन, शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत एक नवीन देन है। 'सघ' शब्द का अंग्रेजी पर्यायवाची 'फेडरेशन' (Federation) लैटिन भाषा के शब्द 'फोएडस' (Foedus से निकला है जिसका अर्थ है सन्धि या समझौता। अतः शब्द व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से समझौते द्वारा निर्मित राज्य को सघ राज्य कहा जा सकता है। सवैधानिक दृष्टिकोण से सघात्मक शासन का तात्पर्य एक ऐसे शासन से होता है जिसमें सविधान द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारो के बीच शक्ति विभाजन कर दिया जाता है और ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाता है कि इन दोनों पक्षों मे से कोई एक अकेला इस शक्ति-विभाजन मे परिवर्तन न कर सके। सघीय राज्य की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं :

---

[1] "Unitary Government tends to repress local initiative, discourages rather than stimulates interest in public affairs, impairs the vitality of governments and facilitates the development of centralized bureaucracy."

—Dr Garner, *Political Science and Government*, p. 381.

डायसी का कथन है कि "संघात्मक राज्य, एक ऐसे राजनीतिक उपाय के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता तथा राज्यों के अधिकारों में मेल स्थापित करना है।"[1]

फाइनर के अनुसार, "संघीय राज्य वह है जिसमें अधिकार व शक्ति का कुछ भाग स्थानीय क्षेत्रों में निहित हो व दूसरा भाग स्थानीय क्षेत्रों के समुदाय द्वारा विचारपूर्वक बनायी गयी केन्द्रीय संस्था को दिया जाय।"[2]

अमरीकन लेखक हैमिल्टन का कथन है कि "संघ राज्यों का एक ऐसा समुदाय है जो नये राज्य का निर्माण करता है।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं की तुलना में डॉ गार्नर की परिभाषा अधिक स्पष्ट और महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं कि "संघ ऐसी प्रणाली है जिसमें केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें एक ही प्रभुत्व शक्ति के अधीन होती हैं। ये सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में, जिसे संविधान अथवा संसद का कोई कानून निश्चित करता है, सर्वोच्च होती है। संघ सरकार, जैसा कि प्रायः कह दिया जाता है, अकेली केन्द्रीय सरकार नहीं होती, वरन् यह केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों को मिलाकर बनती है। स्थानीय सरकारें उसी प्रकार संघ का भाग हैं जिस प्रकार केन्द्रीय सरकार। वे केन्द्र द्वारा निर्मित अथवा नियन्त्रित नहीं होती।"[4] वर्तमान समय में संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत रूस, भारत, कनाडा, स्विट्जरलैण्ड आदि राज्यों में संघात्मक शासन ही है।

संघ राज्य की विशेषताएँ—संघ राज्य की विशेषताओं को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है.

(1) प्रभुत्व शक्ति का दोहरा प्रयोग—यद्यपि सम्प्रभुता का विभाजन नहीं हो सकता और संघ राज्य में भी सम्प्रभुता अविभाज्य होती है किन्तु सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति अवश्य हो—केन्द्रीय सरकार और स्थानीय सरकार—इस प्रकार के दो साधनों द्वारा होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संघात्मक राज्य के अन्तर्गत जो इकाइयाँ

---

[1] "A federal state is nothing but a political contrivance intended to reconcile national unity with the maintenance of State rights" —Dicey

[2] "A federal State is one in which part of authority and power is vested in the local area while another part is vested in a central institution deliberately constituted by an association of the local areas." —Dr Finer

[3] "Federation is an association of states that forms a new one" —Hamilton

[4] "Federal government may, therefore, be defined as a system of central and local government combined under a common sovereignty, both the central and local organizations being supreme within definite spheres, marked out for them by the act of parliament which creates the system." —Garner, *Political Science and Government*, p 319

होती हैं, उन्हे अपनी सत्ता केन्द्रीय सरकार से प्राप्त न होकर संविधान द्वारा ही प्राप्त होती है और उनकी स्थिति अधीनता की न होकर समानता की होती है।

(2) शक्तियों का विभाजन—संघीय सरकार के अन्तर्गत संविधान द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और स्थानीय सरकारो के बीच शक्ति का विभाजन कर दिया जाता है साधारणतया यह विभाजन इस आधार पर किया जाता है कि राष्ट्रीय महत्व के विषय अर्थात् सघ की सभी इकाइयों से समान रूप से सम्बन्धित विषय केन्द्रीय सरकार के सुपुर्द कर दिये जाते हैं और स्थानीय महत्व के विषय इकाइयो की सरकारो के सुपुर्द किय जाते है।

(3) संविधान की सर्वोच्चता—सघ शासन समझौते द्वारा स्थापित शासन होता है। यह समझौता संविधान मे निहित होता है और संविधान मे ही इस समझौते को परिवर्तन विधि का भी उल्लेख होता है। संघात्मक राज्य के अन्तर्गत संविधान सर्वोच्च होता है और केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारें तथा सरकार के विभिन्न अग संविधान के प्रतिकूल किसी प्रकार का कार्य नही कर सकते।

(4) न्यायपालिका की सर्वोच्चता—सभी संघात्मक राज्यो के अन्तर्गत एक सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की जाती है जिसका कार्य संविधान की व्याख्या एव रक्षा करना होता है। यह सर्वोच्च न्यायालय केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार या सरकार के किसी अग द्वारा संविधान क प्रतिकूल किये गये कार्यों को अवैधानिक घोषित कर सकता है। केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारों या प्रान्तीय सरकारों मे परस्पर किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने पर सर्वोच्च न्यायालय ही इस विवाद को हल करता है। हस्किन (Haskin) के शब्दो मे, 'संघीय शासन मे सर्वोच्च न्यायालय शासनतन्त्र मे सन्तुलन रखने वाला पहिया है।'

(5) दोहरी नागरिकता—सघ राज्य क अन्तर्गत साधारणतया दोहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है। एक व्यक्ति केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकार जिसमे वह रहता है—इन दोनों का नागरिक होता है तथा इन दोनो के प्रति भक्ति रखता है किन्तु दोहरी नागरिकता सघ राज्यो का आवश्यक तत्व नही है। भारतीय संविधान ने एक सघ राज्य की स्थापना की है किन्तु दोहरी नागरिकता की व्यवस्था नही।

एकात्मक तथा संघात्मक सरकारो मे अन्तर

एकात्मक शासन, शक्तियों के केन्द्रीयकरण और संघात्मक शासन, शक्तियो के विकेन्द्रीकरण क सिद्धान्त पर आधारित होता है। राज्य और शासन-व्यवस्था के इन दो रूपों मे प्रमुख रूप से निम्नलिखित अन्तर बताये जा सकते हैं

(1) शक्तियो के विभाजन का अन्तर—एकात्मक शासन मे संविधान द्वारा शक्तियो का विभाजन नही किया जाता और संविधान द्वारा सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रीय सरकार को प्रदान कर दी जाती है। प्रादेशिक सरकारों मे शक्ति का विभाजन केन्द्रीय शासन की इच्छा पर निर्भर करता है। लेकिन संघात्मक शासन मे संविधान

द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों के बीच शक्ति का विभाजन कर दिया जाता है।

(2) प्रान्तीय सरकारों की स्थिति में अन्तर—एकात्मक शासन मे प्रान्तीय सरकारें पूर्णतया केन्द्रीय शासन के अधीन होती हैं और ये इकाइयाँ केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदत्त शक्तियो का ही उपयोग कर सकती हैं लेकिन संघात्मक शासन में प्रान्तीय सरकारों को संविधान से ही शक्ति प्राप्त होती है और ये सरकारें केन्द्रीय सरकार के अधीन नहीं वरन् समकक्ष होती हैं।

(3) नागरिकों की स्थिति में अन्तर—एकात्मक शासन मे नागरिक केवल केन्द्रीय सरकार के प्रति ही भक्ति रखते हैं और एकहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है, लेकिन संघात्मक शासन मे नागरिक केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकार दोनों के प्रति भक्ति रखते हैं और दोहरी नागरिकता की व्यवस्था होती है। इस सम्बन्ध मे भारत की संघात्मक व्यवस्था अवश्य ही एक अपवाद है।

(4) संविधान के रूप का अन्तर—एकात्मक राज्य का संविधान लिखित, अलिखित, कठोर या लचीला किसी भी प्रकार का हो सकता है लेकिन संघात्मक राज्य समझौते का परिणाम होता है और यह समझौता संविधान का एक भाग होने के कारण संविधान आवश्यक रूप से लिखित होता है। इसके अतिरिक्त, इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि समझौते का कोई एक पक्ष अकेला ही शक्ति विभाजन मे परिवर्तन न कर सके। इस प्रकार संघात्मक राज्य के लिए लिखित और कठोर संविधान आवश्यक है, लेकिन एकात्मक राज्य के लिए नहीं।

(5) प्रशासकीय अंगों की शक्ति में अन्तर—सभी एकात्मक राज्यो के अन्तर्गत साधारणतया व्यवस्थापिका सम्प्रभु होती है और न्यायपालिका का कार्य तो व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों के आधार पर न्याय प्रदान करना मात्र होता है। किन्तु एक संघात्मक राज्य मे संविधान सर्वोच्च होता है, सम्प्रभुता संविधान में निहित होती है और इस संविधान की व्याख्या एवं रक्षा करने का कार्य सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किया जाता है। ऐसी स्थिति मे न्यायपालिका व्यवस्थापिका से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून संविधान के प्रतिकूल होने पर न्यायपालिका उन्हें अवैधानिक घोषित कर सकती है।

एकात्मक और संघात्मक शासन का भेद निम्न चित्र के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है :

एकात्मक ढाँचा	संघीय ढाँचा
आधारभूत अधिसत्ता	आधारभूत सत्ता
↓	↓
केन्द्रीय अथवा राष्ट्रीय सरकार	केन्द्रीय अथवा राष्ट्रीय सरकार ; राज्य अथवा इकाइयों की सरकारें
↓	
राज्य अथवा इकाइयों की सरकारें	
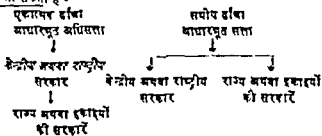
प्रसंघान या राज्य-मण्डल
(CONFEDERATION)

जब विभिन्न प्रभुत्वसम्पन्न राज्य कुछ निश्चित उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए अन्तरराष्ट्रीय समझौते द्वारा एक सगठन की स्थापना करते हैं, तो उसे राज्य-मण्डल की सज्ञा दी जाती है।

अन्तरराष्ट्रीय विधि के प्रसिद्ध वक्ता ओपनहेम के शब्दो मे, 'राज्य-मण्डल मे कई पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य सम्मिलित होते हैं। उनका राज्य मण्डल बनाने का उद्देश्य होता है अपनी आन्तरिक और वैदेशिक स्वतन्त्रता को कायम रखना। इस हेतु वे एक प्रकार की अन्तरराष्ट्रीय सन्धि भी करते हैं। उक्त सन्धि के द्वारा जो सघ बनता है उसे सदस्य राज्यों के ऊपर अधिकार अवश्य मिल जाते हैं किन्तु उक्त सदस्य राज्यो के नागरिक किसी प्रकार भी राज्य मण्डलीय सगठन के प्रति भक्ति नहीं रखते।"

सघ का निर्माण होता है, स्वतः जन्म नहीं
(A FEDERATION IS MADE, NOT BORN)

राज्य के सम्बन्ध मे तो सत्य यह है कि राज्य का किसी एक विशेष समय पर निर्माण नही किया गया, वरन् यह विकास का परिणाम है। लेकिन सघ राज्य, जो कि राज्य और शासन का एक विशेष प्रकार है, के सम्बन्ध मे स्थिति विपरीत ही है। सघ राज्य सामान्यतया एक समझौते का परिणाम होता है और इस नाते सघ का निर्माण होता है, स्वत विकास नहीं। यदि हम विश्व के विभिन्न सघ राज्यो का उदाहरण लें तो यह बात नितान्त स्पष्ट हो जाती है कि सघ निर्माण का परिणाम होता है। उदाहरणार्थ, अमरीकी सघ का निर्माण सन् 1789 में और सोवियत रूस के वर्तमान सघ राज्य का निर्माण सन् 1936 के सविधान द्वारा हुआ है। इसी प्रकार भारत मे सघ राज्य सन् 1950 के सविधान की देन है। मलेशिया सघ राज्य मलाया, सिंगापुर, साराबाक व साबा के मध्य हुए समझौते की देन है। इस दृष्टि से मैरियट (Marriott) का यह कथन बिलकुल सत्य है कि "सघ का निर्माण होता है स्वत जन्म नहीं।"

सघ का निर्माण—सघीय राज्य का निर्माण साधारणतया दो प्रक्रियाओं के आधार पर होता है, प्रथम केन्द्रोन्मुखी (Centripetal) प्रवृत्ति या सम्मिलन (Integration) की प्रक्रिया द्वारा और द्वितीय केन्द्रविमुखी (Centrifugal) प्रवृत्ति या पृथक्करण (Disintegration) की प्रक्रिया द्वारा।

जब प्रभुत्व शक्तिसम्पन्न स्वतन्त्र राज्य विदेशी आक्रमण का सामना करने या आर्थिक विकास के लिए स्वेच्छा से मिलकर अपने अस्तित्व को बनाये रखते हुए एक नवीन संघ की स्थापना के लिए सहमत हो जाते हैं तो इस प्रकार सघ का निर्माण हो जाता है। सयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया, स्विट्जरलैण्ड, आदि सघ राज्यो का निर्माण इसी प्रकार हुआ है।

इसके अतिरिक्त, केन्द्रविमुखी प्रवृत्ति या पृथक्करण की प्रक्रिया के आधार पर भी संघ का निर्माण हो सकता है। इस प्रकार से संघ की रचना तब हो सकती है जब कोई बड़े आकार वाला एकात्मक राज्य अपने अधीन राज्यों या प्रान्तों को पूर्ण आन्तरिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के उद्देश्य से स्वयं ही शक्तियों का विकेन्द्रीकरण स्वीकार कर ले।

संघ निर्माण के लिए आवश्यक शर्तें या संघ के आधार
(REQUISITES OF A FEDERATION)

वर्तमान समय में संघ राज्य के विकास की सर्वोच्च दशाई है। लेकिन संघ का निर्माण किसी भी प्रकार की परिस्थितियों में नहीं किया जा सकता है, संघ के निर्माण एवं उसकी सुदृढ़ता के लिए अनेक शर्तें आवश्यक होती हैं। संघ के निर्माण की प्रमुख आवश्यक शर्तें निम्नलिखित हैं

(1) अपने अस्तित्व की रक्षा के साथ व्यापक रूप से एक होने की भावना—संघ का निर्माण करने वाली इकाइयों में दो विरोधी भावनाएँ होनी चाहिए। एक ओर तो उनमें सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक होने की भावना होनी चाहिए दूसरी ओर उनमें अपने पृथक् अस्तित्व को बनाये रखने की भावना भी होनी चाहिए। डायसी के शब्दों में, "सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के हेतु संयुक्त होने की भावना के साथ-साथ राज्यों में अपने अस्तित्व को पृथक्-पृथक् बनाये रखने की भावना आवश्यक है। इस बात को प्रो ह्वीयर (Wheare) ने इस प्रकार कहा है कि, "संघ में राज्य संघ के अधीन मिलना तो चाहते हैं किन्तु वे एकात्मक शासन के निर्माण के इच्छुक नहीं होते।"

(2) भौगोलिक समीपता—जिन क्षेत्रों में संघ का निर्माण करने की इच्छा हो, वे भौगोलिक दृष्टि से पास-पास होने चाहिए अर्थात् वे भूमि अथवा जल द्वारा एक दूसरे से दूर नहीं होने चाहिए। इकाइयों के परस्पर अत्यधिक दूर होने की दशा में किन्हीं भी विषयों के सम्बन्ध में प्रशासनिक एकता स्थापित नहीं की जा सकेगी। इसके अतिरिक्त, जहाँ लोग भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे से अधिक दूर हों, वहाँ संघ के स्थायित्व के लिए आवश्यक भावात्मक एकता स्थापित नहीं की जा सकेगी। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश साम्राज्य एक संघ में इसलिये निर्मित नहीं हो सका क्योंकि इसके उपनिवेश दूर-दूर स्थित थे। अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और भारत के मानचित्रों को देखने से प्रतीत होता है कि इन संघों के क्षेत्रों में भौगोलिक समीपता है।

(3) भाषा, धर्म, संस्कृति व हितों की एकता—संघ की एक अन्य आवश्यकता है भाषा, धर्म, संस्कृति व हितों की एकता। संघ का उद्देश्य एकता स्थापित करना होता है और ऐसा तभी सम्भव है जबकि राज्य व राष्ट्रीयता की सीमाएँ अनुरूप हों। एक नवनिर्मित संघ राज्य की सफलता उन तत्वों पर आधारित है, जो मनुष्यों को इकट्ठा रखते और उनमें एकता की भावना का विकास करते हैं। मिल के शब्दों में, "संघ के उद्देश्य की पूर्ति धर्म, जाति, भाषा व सबसे अधिक राजनीतिक संस्थाओं,

जो राजनीतिक हितों की अनुरूपता को प्रोत्साहित करती हैं, की एकता पर निर्भर करती हैं।"[1] किन्तु इन तत्वों की एकता न होने पर भी सघ का निर्माण हो सकता है। कनाडा, दक्षिणी अफ्रीका व भारत के सघ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

(4) समान सामाजिक प्रथाएँ और राजनीतिक सस्थाएँ—सघ के निर्माण की इच्छा जाग्रत करने और उसे स्थायी बनाने म सामाजिक प्रथाओं और राजनीतिक सस्थाओ का याग भी कम नही होता। प्रो ह्वीयर ने लिखा है कि 'जिन लोगो मे समान राजनीतिक सस्थाएँ विद्यमान थी या जिनमे समान राजनीतिक सस्थाओ के बीज विद्यमान थे उ ही मे सघ निर्माण की इच्छा पैदा हुई है।' इस तथ्य का महत्व इसी बात से स्पष्ट है कि सघ के निर्माता चाहते हैं कि अवयवी एकका की राजनीतिक सस्थाएँ समान हो। अमरीका और स्विट्जरलैण्ड दोनो देशो के सविधान मे कहा गया है कि उनके एकका की शासन व्यवस्था गणतन्त्रीय ढग की होनी चाहिए। कनाडा, आस्ट्रेलिया, भारत, आदि सघ राज्यो में इकाइयो मे भी ससदात्मक शासन को ही अपनाया गया है।

(5) आकार और जनसख्या की दृष्टि से इकाइयों मे समानता—सघ क निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि उसकी इकाइयो म शक्ति एव स्थिति की दृष्टि से यथासम्भव समता होनी चाहिए। यदि इकाइयो की शक्ति और जनसख्या मे बहुत अधिक अन्तर हो तो सघ की शक्तिशाली इकाइयाँ अन्य कम शक्तिशाली इकाइयो पर हावी हो जाती हैं और ऐसी दशा मे सघ नष्ट हो जाता है। कुछ के द्वारा शेप पर प्रभुत्व का विचार दुबल इकाइया म सन्देह और अविश्वास की भावना पैदा करता है।

(6) पर्याप्त आर्थिक साधन—सघीय शासन एक बहुत खर्चीला शासन है। दोहरी सरकार मे बहुत खच होता है। अत अवयवी एककों के पास पर्याप्त आर्थिक साधन होने चाहिए, ताकि वे केन्द्रीय सरकार का आर्थिक सहायता दे सके और अपनी स्वतन्त्र सत्ता का पोषण कर सकें। यदि अवयवी एको के आर्थिक साधन अपर्याप्त हुए ता अपनी स्वत न सत्ता बनाय रखने मे असमर्थ होगे और व्यवहार म सघ कभी सफल नही हो सकेगा, चाहे अवयवी राज्यो मे सघ बनाये रखने की कितनी ही दृढ इच्छा हो।

(7) राजनीतिक चेतना—प्रत्येक प्रकार के राज्य के लिए जनता का राजनीतिक दृष्टि से योग्य होना उपयोगी होना है किन्तु सघ शासन के लिए इस बात की आवश्यकता बहुत अधिक है। राजनीतिक दृष्टि से सचेत जनता ही प्रान्तीयता की सकुचित भावना से ऊपर उठकर सघ की आवश्यकता को पूरा कर सकती है। सघ

[1] "The sympathies available for the purpose are thoe of race, language, relig ons and above all of political institutions as condencing most to a feeling of identity of political interests"

—Mill *Representative Government*, p 36.

की दोहरी नागरिकता का उत्तरदायित्व निभाने के लिए भी संघ के नागरिकों में अधिक राजनीतिक चेतना की आवश्यकता होती है।

संघ के निर्माण की इन पूर्व आवश्यकताओं का तात्पर्य यह नहीं है कि इन सभी शर्तों को पूरा किये बिना संघ का निर्माण हो ही नहीं सकता, वरन् इसका तात्पर्य यही है कि संघ के सफलतापूर्वक कार्य संचालन और स्थायित्व के लिए इनमें से अधिकांश शर्तें आवश्यक रूप से पूरी होनी चाहिए।

संघ में शक्तियों का विभाजन

संघीय शासन में केन्द्र और इकाइयों के बीच शक्ति-विभाजन साधारणतया इस आधार पर किया जाता है कि राष्ट्रीय महत्व के सभी विषय, जिनसे सम्पूर्ण राज्य के लिए एक ही प्रकार के नियमन और नियन्त्रण की आवश्यकता होती है, केन्द्रीय सरकार को दे दिये जाते हैं एवं विभिन्न इकाइयों के पृथक-पृथक हितों और स्थानीय समस्याओं से सम्बन्धित विषय प्रान्तीय सरकारों को दे दिये जाते हैं। संघ में शक्ति विभाजन निम्नलिखित तीन में से किसी एक पद्धति के आधार पर किया जा सकता है

(1) संविधान के द्वारा केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ स्पष्ट कर दी जाती हैं और शेष अधिकार राज्यों के पास छोड दिये जाते हैं। अमरीका में ऐसा ही किया गया है।

(2) प्रथम के नितान्त विपरीत शक्ति-विभाजन का दूसरा तरीका यह है कि राज्यों के अधिकार संविधान द्वारा निश्चित कर दिये जाते हैं और अवशिष्ट अधिकार केन्द्र के पास छोड दिये जाते हैं।

(3) केन्द्र और इकाइयाँ दोनों के अधिकार निश्चित कर दिये जाते हैं और इसके बाद अवशिष्ट अधिकार केन्द्र को दे दिये जाते हैं। भारतीय संविधान द्वारा ऐसा ही किया गया है।

संघीय शासन के लाभ

वर्तमान समय में संघीय शासन राज्य के विकास की सर्वोच्च इकाई है। इस शासन व्यवस्था के प्रमुख गुण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं

(1) राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वशासन में सामंजस्य—संघीय शासन के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों के बीच शक्ति विभाजन किया जाता है। यह शक्ति-विभाजन इस आधार पर किया जाता है कि राष्ट्रीय महत्व के सभी विषय, जिनमें नियमन और नियन्त्रण की एकरूपता आवश्यक होती है, केन्द्रीय सरकार को दे दिये जाते हैं और स्थानीय महत्व के विषय इकाइयों की सरकारों को दे दिये जाते हैं। इस प्रकार केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों के बीच सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया जाता है। इस सामंजस्य के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वशासन एवं स्वतन्त्रता दोनों के ही लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं और ऐसा केवल संघीय शासन में ही सम्भव है। डायसी ने ठीक ही कहा है कि

"संघ शासन राष्ट्रीय एकता और राज्यों के अधिकारों में सामंजस्य स्थापित करने की अद्भुत राजनीतिक पद्धति है।"[1]

गैटल संघ का लाभ बताते हुए लिखता है कि "सामान्य हितों पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण होने से तथा भिन्न भिन्न स्थानों के प्रश्नों का हल उसी स्थान के लोगों पर छोड़ देने से एकता से आने वाली शक्ति तथा भिन्नता से आने वाली प्रगति आपस में मिल जाती हैं।"

(2) निर्बल राज्यों को शक्तिशाली बनाने की पद्धति—संघीय शासन के द्वारा छोटे-छोटे राज्यों को यह अवसर प्राप्त होता है कि वे परस्पर मिलकर एक शक्तिशाली संगठन का निर्माण कर सकें। वर्तमान युग में तो संगठन से ही शक्ति प्राप्त होती है। संयुक्त राज्य अमरीका के अन्तर्गत जो विभिन्न 50 राज्य हैं, वे यदि पृथक रहते तो उन्हें अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में वह शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती थी, जो आज के अमरीकन संघ के कारण उन्हें प्राप्त है। भारतीय संघ के राज्यों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। न केवल अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र वरन् आन्तरिक क्षेत्र में भी उनकी शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है, आन्तरिक अव्यवस्था या विद्रोह की स्थिति में उन्हें इस बात का भरोसा रहता है कि संघ की सम्मिलित शक्ति उनकी सहायता के लिए उद्यत होगी।

(3) संघ में सम्मिलित राज्यों की अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा में वृद्धि—छोटे-छोटे राज्य यदि अकेले हों, तो उनकी अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा कुछ भी न होगी, किन्तु यदि वे परस्पर मिलकर संघ का निर्माण कर लें तो उनकी प्रतिष्ठा में बहुत अधिक वृद्धि हो जायेगी। संयुक्त राज्य अमरीका व सोवियत रूस की गणना आज विश्व की प्रमुख शक्तियों में न होती, यदि वे अपनी व्यक्तिगत प्रभुसत्ता पर टिके रहते और संघ का निर्माण न करते।

(4) स्थानीय स्वशासन का लाभ—संघात्मक शासन में संविधान द्वारा केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच शक्ति विभाजन किया जाता है, इस शक्ति विभाजन के कारण स्थानीय जनता को अपना शासन स्वयं ही करने का अवसर प्राप्त होता है स्थानीय जनता स्थानीय आवश्यकताओं से परिचित होने और उनमें बहुत अधिक रुचि होने के कारण अपनी उन्नति करने में अधिक सफल होती है। संघात्मक शासन में स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था अधिक श्रेष्ठ रूप में सम्भव होती है। स्थानीय स्वशासन लोकतन्त्र का आधार होता है। इस दृष्टि से संघात्मक शासन ही लोकतन्त्र के अनुकूल है।

(5) राजनीतिक चेतना—संघीय शासन आगे नागरिकों को श्रेष्ठ राजनीतिक प्रशिक्षण प्रदान करता है क्योंकि प्रत्येक नागरिक को अपने ही क्षेत्र में सर्वांगीण

[1] "Federation is a wonderful political contrivance intended to reconcile national unity with the maintenance of state rights." —*Dicey*

संघीय सरकार की छाया सरकार प्राप्त हो जाती है। इस छाया सरकार से निकट का सम्बन्ध होने के कारण उनमें उसकी रुचि भी अधिक होती है। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय सरकार के कार्यों में भाग लेना प्रत्येक नागरिक के लिए सहज भी होता है।

(6) केन्द्रीय शासन की कार्यकुशलता में वृद्धि—जनकल्याणकारी राज्य की धारणा के कारण वर्तमान समय में सरकार के कार्यों में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है और केन्द्रीय सरकार के पास अपनी कार्यक्षमता से अधिक कार्य एकत्रित हो गये हैं। लार्ड जैसे लेखक के शब्दों में, "केन्द्र को पक्षाघात हो गया है और दूरस्थ क्षेत्र रक्तहीनता से पीड़ित हैं।" संघीय शासन में शक्तियों का विभाजन होने के कारण केन्द्रीय सरकार का कार्यभार हल्का हो जाता है और वह अधिक महत्वपूर्ण कार्यों को कुशलता के साथ कर सकती है। इस प्रकार शासन की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

(6) निरंकुशता की आशंका नहीं—संघात्मक शासन में इस बात की आशंका नहीं रहती कि कोई एक व्यक्ति या जनसमुदाय सारी राजशक्ति अपने हाथों में लेकर एकतन्त्र या श्रेणीतन्त्र की स्थापना कर ले। एकात्मक शासन में सम्पूर्ण राजशक्ति का प्रयोग एक ही केन्द्र से होने के कारण, किसी एक व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण सत्ता प्राप्त करना कठिन नहीं होता। परन्तु संघात्मक राज्यों में शासन शक्ति अनेक इकाइयों में बँटी हुई होने के कारण यह बात सम्भव नहीं हो सकती है। लार्ड ब्राइस के शब्दों में, "संघ में एक निरंकुश शासक द्वारा जनता के अधिकार हड़प लिये जाने का खतरा नहीं रहता।"

मान्टेस्क्यू फेडरलिस्ट पेपर्स और लॉर्ड ऐक्टन से लेकर कार्ल जे फ्रेडरिक तथा अनेक लेखकों ने संघवाद का एक श्रेष्ठ तत्व इसका संविधानवाद (Constitutionalism) अर्थात् सीमित शासन के अनुरूप होना बताया है।"[1]

(8) राजनीतिक और प्रशासनिक प्रयोगों के लिए अवसर—संघ राज्य में राजनीतिक और प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण की जो व्यवस्था होती है, उसके आधार पर स्थानीय सरकारों के द्वारा विशेष समस्याओं को हल करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयोग किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, मृत्युदण्ड को समाप्त करने या बेरोजगारी मुआवजा प्रदान करने के सम्बन्ध में संघ की किसी इकाई में किसी नवीन प्रयोग को अपनाया जा सकता है और इस प्रकार के प्रयोग के व्यापक क्षेत्र में लाभ उठाये जा सकते हैं। पिनॉक और स्मिथ के द्वारा अपनी पुस्तक में संघात्मक व्यवस्था के इस लाभ का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।[2] भारत में भी 'प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण' की योजना को भारतीय संघ के एक राज्य राजस्थान में अपनाया गया और उसके अच्छे परिणाम प्रकट होने पर उसे अन्य राज्यों में अपनाया गया।

(9) विशाल राज्यों के लिए नितान्त उपयुक्त—विशाल राज्यों के लिए तो

---

[1] Pennock Smith, *Political Science—An Introduction* (1967), p. 537.

[2] Pennock Smith, *Political Science—An Introduction* (1957), p. 537.

संघात्मक शासन नितान्त उपयुक्त शासन प्रणाली है। प्राय बडे राज्यों मे भाषा, धर्म और हितों की विभिन्नता पायी जाती है और इन विभिन्नताओ के आधार पर अलग-अलग क्षेत्र निर्मित हो जाते हैं। संघात्मक शासन में इकाइयों को शक्ति प्रदान कर इस प्रकार की विभिन्नताओं की रक्षा की जाती है और राष्ट्रीय महत्व के विषयो का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता है। केवल बडे राज्यो के लिए ही नहीं वरन् स्विटजरलैण्ड जैसे छोटे राज्यों के लिए भी, जहां भाषा, धर्म और जाति की विभिन्नताएँ विद्यमान हों, संघ शासन उपयोगी होता है।

(10) मितव्ययता और आर्थिक विकास—आर्थिक बचत की दृष्टि से भी संघीय शासन उत्तम है, क्योंकि संघ की स्थापना से वे अनेक व्यय बच जाते हैं, जो संघ की प्रत्येक इकाई को अलग रहते हुए उन कार्यो पर करने पडते, जिन्हें संघीय सरकार सभी इकाइयो की ओर से करने लगती है। आर्थिक विकास की दृष्टि से भी संघात्मक शासन ही उपयुक्त है। औद्योगिक क्रान्ति के कारण वर्तमान समय मे जिस प्रकार के विशाल उद्योग धन्धों द्वारा उत्पादन कार्य किया जाता है, उन उद्योगो की स्थापना के साधन एक बडे संघ राज्य के अन्तर्गत ही प्राप्त हो सकते हैं। अमरीकी संघ की 50 इकाइयाँ अलग अलग रहकर इतना अधिक आर्थिक विकास नही कर सकती थी।

(11) विश्व संघ की ओर एक कदम—छोटे-छोटे राष्ट्रीय राज्यो को विशाल राज्य के रूप में संगठित करके संघ राज्य मानव दृष्टिकोण को उदार बनाता है। राज्य के वर्तमान समय तक के विकास को दृष्टि में रखते हुए इस बात की सहज ही आशा की जा सकती है कि संघीय राज्य भविष्य मे विश्व संघ के निर्माण की ओर प्रवृत्त हो सकेंगे।

इस प्रकार के सभी लाभों के अतिरिक्त संघ राज्य प्रजातन्त्र के अनुकूल है और इसने प्रजातन्त्र को लोकप्रिय बनाने की दिशा मे अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। गैटल के शब्दों में, "विशाल राज्यों मे प्रजातन्त्र की स्थापना करने में सम्भवतया प्रतिनिधित्व की व्यवस्था के अतिरिक्त संघ राज्यों ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया है।"

संघीय शासन के दोष—इन गुणों के बावजूद संघीय शासन मे अनेक दोष पाये जाते हैं, जिनका उल्लेख निम्न प्रकार है

(1) आन्तरिक प्रशासन सम्बन्धी निर्बलता—राजशक्ति की एकता के अभाव में संघ राज्य मे वह एकता और शक्ति नही होती, जो एकात्मक शासन मे होती है जिन विषयों का प्रबन्ध संघ की इकाइयों द्वारा किया जाता है, उनके सम्बन्ध मे विभिन्न क्षेत्रों मे भिन्नता होने के कारण शासन मे निर्बलता आ जाती है और दुहरे प्रशासन के कारण प्रबन्ध में अनावश्यक देर लगती है। प्रो डायसी ने ठीक कहा है, कि "एकात्मक शासन की तुलना में संघीय शासन निर्बल है एक सच्ची संघीय सरकार शक्तियों के विभाजन पर आधारित होती है। इसका अर्थ यह है कि

एक राज्य के विरुद्ध दूसरे राज्य को सन्तुलित करना ही नीतिकता का सतत् प्रयत्न रहता है।"[1] विशेष रूप से सकटकालीन परिस्थितियों मे यह प्रशासन सम्बन्धी निर्बलता बहुत अधिक दुखदायी हो जाती है।

(2) अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में दुर्बलता—यद्यपि प्रत्येक सघ राज्य मे अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन का कार्य केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता है लेकिन अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों का सचालन ठीक प्रकार से करने के लिए व्यापार, वाणिज्य, सूचना और पर्यटन आदि अनेक विभागों का सहयोग आवश्यक होता है। एक संघ राज्य में अन्तर्गत ये विभाग साधारणतया इकाइयो के अधिकारों के अन्तर्गत रहते हैं और इसलिये केन्द्रीय सरकार को अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के सचालन मे कठिनाई होती है। जब आन्तरिक विभेद विदेश नीति को प्रभावित करने लगते हैं तो विदेश मे राज्य की प्रतिष्ठा कम हो जाती है। अमरीका और दक्षिण अफ्रीका के सघ में अनेक बार यह निर्बलता देखी गयी है। ह्वीयर के शब्दों में, 'सघवाद और उत्साहपूर्ण विदेश नीति साथ साथ नहीं चल सकते।'[2]

(3) राष्ट्रीय एकता को खतरा—अनेक बार सघ राज्य के अन्तर्गत विविध इकाइयों के शासन पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण पर्याप्त दृढ़ नहीं होता है। ऐसा समय आ सकता है जबकि कोई इकाई सघ राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर दे या अनेक इकाइयाँ मिलकर सघ राज्य की नीति का प्रतिरोध करने के लिए तैयार हो जायें। अमरीका मे जब सघीय सरकार ने दास प्रथा का अन्त करने का निश्चय किया तो इस नीति से असहमत अनेक दक्षिणी राज्यों ने इसका विरोध किया और गृहयुद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी। एकात्मक राज्यों में सम्पूर्ण राजशक्ति एक ही स्थान पर निहित होने के कारण इस बात की आशका नहीं रहती है। गैटल ने लिखा है कि "संघीय शासन प्रणाली वाले देशों में केन्द्रीय सरकार और प्रादेशिक सरकारों के बीच वैमनस्य का खतरा सदैव बना रहता है। सदैव इस बात की आशका रहती है कि कोई राज्य विद्रोह न कर बैठे या साम्प्रदायिक तत्व सिर न उठाने लगें।"

(4) राज्य के प्रति भक्ति का विभाजन—सघीय शासन का यह एक गम्भीर और अनिवार्य दोष है कि व्यक्ति की राज्य के प्रति भक्ति का अपने प्रान्त के प्रति भक्ति के साथ सघर्ष होता है और अनेक बार व्यक्ति को इन दोनों में से एक को चुनने में बहुत कष्टप्रद स्थिति का सामना करना पड़ता है। पारस्परिक विरोध की इस स्थिति मे व्यक्ति राज्य के प्रति अपनी भक्ति का ठीक प्रकार से पालन नहीं कर पाता। इस सन्दर्भ में डायसी ने कहा है, "सघात्मक शासन प्रणाली दोहरी भक्ति का सृजन

---

1 "A federal constitution is as compared with a unitary constitution, a weak form of government. A true federal government is based on the division of powers. It means the constant effort of statesmanship to balance one state of the confederacy against another." —Dicey

2 "Federalism and a spirited foreign policy go ill together." —Wheare

करती है। शासन के इस रूप की यह बहुत बड़ी और गम्भीर दुर्बलता है क्योंकि इसके अन्तर्गत एक नागरिक की सम्पूर्ण संघ राष्ट्र के प्रति भक्ति का संघर्ष उसके अपने राज्य के प्रति भक्ति से हो सकता है।"

(5) उत्तरदायित्व की अनिश्चितता—एकात्मक शासन में शासन का उत्तरदायित्व सुगमता से स्थापित किया जा सकता है क्योंकि सभी प्रशासन सम्बन्धी दोषों के लिए केन्द्रीय सरकार ही उत्तरदायी होती है। संघीय शासन में विभिन्न प्रशासनिक त्रुटियों के लिए केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारें—दोनों ही एक-दूसरे को उत्तरदायी ठहराती हैं। ऐसी स्थिति मे उत्तरदायित्व निश्चित करना बहुत अधिक कठिन हो जाता है।

(6) संगठन की जटिलता—एकात्मक शासन की तुलना में संघीय शासन का संगठन बहुत अधिक जटिल होता है। संविधान द्वारा केन्द्रीय और इकाइयों की सरकारों मे शक्ति विभाजन किये जाने के कारण इन दोनों और विभिन्न इकाइयों के बीच प्रदेश और अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में सदैव ही विवाद उत्पन्न होने का खतरा रहता है। चण्डीगढ़ विवाद और महाराष्ट्र मैसूर सीमा विवाद मूल रूप में संघात्मक व्यवस्था के ही परिणाम हैं। ये मतभेद और विवाद संघ के सामूहिक हित के लिए अहितकर होते हैं।

(7) प्रगतिशीलता के विरुद्ध—लिखित और कठोर संविधान संघीय शासन की अनिवार्य आवश्यकता होती है। अनेक बार यह कठोर संविधान परिवर्तित परिस्थितियों के प्रति नितान्त उदासीन रहता है और सामान्यतया संविधान में संशोधन के लिए इकाइयों की स्वीकृति आवश्यक होने के कारण आवश्यकता के समय उचित परिवर्तन नहीं हो पाते और उन्नति रुक जाती है। परिवर्तित परिस्थितियों के कारण संविधान द्वारा किये गये शक्ति विभाजन में परिवर्तन की आवश्यकता होती है लेकिन यह परिवर्तन सुगमतापूर्वक सम्भव नहीं होता।

(8) समय और धन का अपव्यय—संघीय शासन व्ययसाध्य हैं क्योंकि इसके अन्तर्गत दोहरे कानून और दोहरी राजनीतिक संस्थाएँ होती हैं। संघीय शासन मे समय और शक्ति का भी अपार अपव्यय होता है क्योंकि समान विधियाँ और समान प्रशासन लाने के लिए राज्यों को बहुत कुछ मनाना-समझाना पड़ता है। संघीय शासन के स्थान पर एकात्मक शासन को अपनाकर समय और धन की बहुत बचत की जा सकती है। इसी प्रकार का दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए डॉ फाइनर ने कहा है कि "वित्तीय दृष्टिकोण से यह व्यवस्था अपव्ययी है क्योंकि इसमें प्रशासनिक मशीन तथा प्रक्रिया का बहुत दोहरापन होता है।"

(9) राज्यों के संघ से निकल जाने की आशंका—संघ में इस बात की सदैव ही आशंका बनी रहती है कि जिन इकाइयों के द्वारा मिलकर संघ का निर्माण किया गया है, उनमे से एक या कुछ इकाइयाँ (राज्य) संघ मे निकल न जाएँ। किसी इकाई के इस तरह से अलग होने की आशंका एकात्मक सरकार मे बहुत ही कम रहती है।

निष्कर्ष—यद्यपि संघीय शासन के उपर्युक्त दोष काफी ठोस प्रतीत होते हैं, किन्तु इस बात को मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस शासन व्यवस्था के गुण दोषों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। अमरीका, सोवियत रूस और भारत जैसे विशाल देशों में राष्ट्रीय एकता और प्रान्तीय स्वायत्तता के बीच सामंजस्य संघीय शासन के द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है और यह शासन व्यवस्था जनता में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि जाग्रत करने और उन्हें राजनीतिक प्रशिक्षण प्रदान करने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। संघ के आर्थिक लाभ भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं और यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि संघीय व्यवस्था शक्ति और अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त करने का एक श्रेष्ठ साधन है। आलोचकों के अधिकांश भय निराधार हैं और संघीय व्यवस्था के अनेक तथाकथित दोषों को बहुत अधिक सीमा तक दूर किया जा सकता है। वास्तव में, संघात्मक व्यवस्था वर्तमान अव्यवस्थित और अन्धकारपूर्ण विश्व के लिए आशा की एक सुनहरी किरण है। संघात्मक सरकार के गुण बताते हुए गैटल कहते हैं कि "संघात्मक सरकार में, राजनीतिक कार्यों में लोगों की रुचि बढ़ती है, छोटे क्षेत्रों में ऐसे प्रयोग करने का अवसर मिलता है जो सारे देश में लागू करने से खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं, विभिन्न हितों या राष्ट्रीयताओं से बने राज्यों के भय कम होते हैं, तथा केन्द्रीय सरकार के बहुत-से थकानेदार कार्य कम हो जाते हैं।"

भारत के लिए संघीय शासन का औचित्य

भारत के वर्तमान संविधान द्वारा भारत में एक संघात्मक शासन-व्यवस्था की स्थापना की गयी है। किन्तु एकात्मक शासन के समर्थक कहते हैं कि भारत के लिए संघात्मक शासन ठीक नहीं है। उनका विचार है कि संघीय शासन में केन्द्र और इकाइयों के लिए पृथक्-पृथक् विधानमण्डल और मन्त्रिमण्डल होने के कारण शासन में अत्यधिक अपव्यय होता है और संघात्मक शासन राष्ट्रीय एकता की स्थापना भी ठीक प्रकार से नहीं कर पाता। किन्तु एकात्मक शासन के समर्थकों के उपर्युक्त विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता और भारत के लिए अनेक कारणों से संघात्मक शासन ही नितान्त उपयुक्त है।

प्रथमतः, भारत क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से एक बहुत अधिक विशाल देश है और इतने विशाल देश में केन्द्रीय सरकार से इस बात की आशा नहीं की जा सकती है कि वह सम्पूर्ण देश के लिए ठीक प्रकार से शासन का संचालन कर सकेगा। एकात्मक शासन-व्यवस्था अपनाने पर केन्द्रीय शासन का कार्यभार बहुत बढ़ जायेगा, जिससे परिणामस्वरूप उसकी कार्यकुशलता और क्षमता में बहुत कमी आ जायेगी।

द्वितीयतः, भारत जैसे देश में जहाँ जाति, धर्म और संस्कृति की अत्यधिक विभिन्नताएँ हैं, एक क्षेत्र के रीति-रिवाज और जीवन-पद्धतियाँ दूसरे से नितान्त भिन्न हैं सबको एक लकड़ी से नहीं हाँका जा सकता और ऐसा करने के परिणाम भयंकर

हो सकते हैं। भारत मे राष्ट्रीय एकता का मार्ग सघात्मक व्यवस्था ही बन सकती है, एकात्मक व्यवस्था नहीं।

तृतीयत, एकात्मक शासन की प्रवृत्ति अधिनायकवादी होती है और भारत मे इसे अपनाने के परिणाम लोकतन्त्र के लिए घातक हो सकते हैं।

अत भारत के लिए सघात्मक शासन उपयुक्त है। सघात्मक शासन में राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य को प्राप्त करने तथा सकटकाल का सामना करने के लिए विशेष उपाय किये जा सकते हैं और भारत के वर्तमान सविधान द्वारा ऐसा ही किया गया है। प्रो के वी राव के शब्दों मे, 'भारत मूलत और स्वभावत सघात्मक व्यवस्था के उपयुक्त देश है।'[1]

सभी संघो मे केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति
(UNIVERSAL TENDENCY OF CENTRALIZATION)

वर्तमान समय मे प्राय विश्व के सभी सघ राज्यो मे इकाइयो की सरकारों की तुलना मे केन्द्रीय सरकार की शक्तियो को बढाने की प्रवृत्ति पायी जाती है। कनाडा, भारत आदि जिन सघों का निर्माण अभी हाल के वर्षों मे हुआ है, वहाँ पर तो सविधान द्वारा ही इकाइयो की सरकारो की तुलना मे केन्द्रीय सरकार को बहुत अधिक शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं, अमरीका, आस्ट्रेलिया और स्विट्जरलैण्ड आदि पुराने सघ राज्यो के अन्तर्गत भी वर्तमान समय की प्रवृत्ति केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में वृद्धि करने की है। वर्तमान समय की इस सामान्य प्रवृत्ति के लिए निम्नलिखित कारणो को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है

(1) युद्ध—युद्ध केन्द्रीयकरण का सबसे प्रमुख जनक है। युद्धकाल मे केन्द्रीय शासन का नियन्त्रण बहुत अधिक कडा हो जाता है क्योंकि ऐसे समय में समाज की सुरक्षा की नितान्त आवश्यकता होती है और इस प्रकार की सुरक्षा केन्द्रीय सरकार द्वारा ही प्रदान की जा सकती है। युद्ध मे सगठित शक्ति और निश्चित नेतृत्व की आवश्यकता के कारण राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध ने अमरीका आदि सघ राज्यों की केन्द्रीय सरकारो की शक्तियों मे बहुत अधिक वृद्धि की है और वर्तमान समय मे युद्ध की आशका तथा युद्ध के लिए तैयारी सभी सघात्मक राज्यों में केन्द्रीय सरकार की शक्तियों मे वृद्धि कर रही है।

(2) केन्द्रीय अर्थ-व्यवस्था और केन्द्रीकृत समाज व्यवस्था—वर्तमान समय मे अर्थ व्यवस्था और समाज व्यवस्था का केन्द्रीयकृत रूप विकसित होने के कारण सभी तरफ केन्द्रीयकरण हो रहा है। आजकल कोई भी समस्या स्थानीय नहीं रही है और न ही स्थानीय आधार पर उसका कोई हल सम्भव है। व्यापारिक निगमों की स्थापना और श्रमिक सघों के विस्तार के कारण श्रम, उत्पादन और वितरण सभी

[1] K. V. Rao, *Parliamentary Democracy in India*, p. 262.

केन्द्रीय विषय हो गये हैं। केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों की अपेक्षा अधिक बड़ी और सम्पन्न सत्ता होती है, इसलिये इस प्रकार के कार्यों का महत्व बढ़ने के साथ-साथ इन कार्यों को केन्द्रीय सरकार द्वारा ही किया जाने लगा है।

(3) न्यायपालिका द्वारा की गयी संविधान की उदार व्याख्या—संघीय राज्य का संविधान आवश्यक रूप से लिखित और कठोर होने के कारण संविधान की व्याख्या और रक्षा का कार्य न्यायपालिका द्वारा किया जाता है और लगभग सभी देशों में न्यायपालिका ने संविधान की ऐसी उदार व्याख्याएँ की हैं जिससे केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में बहुत वृद्धि हो गयी है। उदाहरण के लिए, अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने निहित शक्तियों के सिद्धान्त, अन्तर्निहित शक्तियों के सिद्धान्त और संविधान की पवित्रता के सिद्धान्त का जो प्रतिपादन किया है, उससे केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है।

(4) सशर्त सहायता अनुदान (Grants in aid)—साधारणतया संघ की इकाइयों के पास अपना शासन चलाने और अपने क्षेत्रों की आर्थिक उन्नति के लिए पर्याप्त आर्थिक साधन नहीं होते हैं। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय सरकार द्वारा इकाइयों की सरकारों को सशर्त सहायता अनुदान दिये जाते हैं और इस प्रकार के अनुदानों का स्वाभाविक परिणाम केन्द्रीय सरकार की शक्ति में वृद्धि होती है। इस सम्बन्ध में मेडीसन ने ठीक ही कहा है कि "धन देने वाली सत्ता का वास्तविक नियन्त्रण भी स्थापित हो जाता है।"[1] केन्द्रीय सरकार इन अनुदानों पर साधारणतया ये शर्तें लगाती हैं—राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकारों के आदेश का पालन करें अपना प्रशासन सुदृढ़ रखें, राज्य कर्मचारियों की नियुक्ति निश्चित नियमों के अनुसार करें, केन्द्रीय सरकार को प्रतिवेदन भेजती रहें और केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों को निरीक्षण और अधीक्षण की सुविधाएँ प्रदान करें। इन शर्तों के कारण केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ बहुत अधिक बढ़ जाती हैं।

(5) व्यक्तियों का परिवर्तित दृष्टिकोण—केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को सर्वाधिक प्रोत्साहन व्यक्तियों के परिवर्तित दृष्टिकोण से मिला है। जिस समय अमरीकी, स्विस या कनाडियन संघों का निर्माण हुआ था उस समय तीनों देशों के लोगों में विभिन्न जातीयता और राष्ट्रीयता की भावनाएं बलवती थीं किन्तु समय बीतने के साथ-साथ इन संघ राज्यों के लोगों में समान राष्ट्रीयता की भावनाएँ विकसित हुईं। अब वे यह समझने लगे हैं कि उनका हित समस्त राज्य की उन्नति में ही निहित है और केवल केन्द्रीय सरकार ही उनके सुखों में वृद्धि कर सकती है। राज्यों के विशेषाधिकारों के समर्थक अब खामोश हो गये हैं और अब सभी लोग सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक समस्याओं के हल के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर देखने लगे हैं। यह राज्यों के लिए यह एक उत्साहवर्द्धक प्रवृति है।

---

1 "One who gives money, has a loud voice in calling the tunes," —*Madison*

संघवाद का भविष्य

सभी संघ राज्यों के अन्तर्गत वर्तमान समय में केन्द्रीय सरकार की शक्तियों के बढ़ने की प्रवृत्ति पायी जाती है और इस प्रकार की प्रवृत्ति के आधार पर राजनीति विज्ञान के अनेक लेखकों का विचार है कि केन्द्रीयकरण की इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ये संघ राज्य शीघ्र ही एकात्मक राज्यों में परिणित हो जायेंगे। प्रो. विलोबी, लिप्सन, प्रो सेट, आदि विद्वानों द्वारा इस प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। प्रो विलोबी के शब्दों में, "संघ की स्थापना के साथ ही राष्ट्रीय भावनाएं हिलोरें लेने लगती हैं और आवश्यकताओं के अनुरूप केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ बढ़ने लगती हैं जबकि राज्य सरकारों की शक्ति में ह्रास आने लगता है। संघ की स्थापना के बाद से ही कुछ ऐसा परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है मानो संघ राज्य की शर्तों को तोड़कर एकात्मक सरकार की ओर बढ़े जा रहे हों।" गार्नर के द्वारा भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये गये हैं। इसी प्रकार सिजविक और फ्रेडरिक आदि विद्वानों द्वारा आर्थिक कारणों के आधार पर आशंका व्यक्त की गयी है कि संघवाद स्थायी सिद्ध नहीं होगा।

किन्तु ह्वीयर इस बात को स्वीकार नहीं करते कि संघात्मक सरकार अन्त में एकात्मक हो जायेगी। इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि "यह भविष्यवाणी है, ऐतिहासिक निर्णय नहीं, क्योंकि आज तक कोई भी संघात्मक सरकार एकात्मक सरकार में नहीं बदली है। इस बात की कोई प्रामाणिक गवाही नहीं है कि संघात्मक सरकार एकात्मक सरकार की ओर जाने की प्रक्रिया में एक स्तर से अधिक कुछ नहीं होगी।"[1] यह ठीक है कि संघों में केन्द्र कुछ शक्तिशाली होते जा रहे हैं, किन्तु संघ राज्यों के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार की शक्तियों के बढ़ने के साथ-ही-साथ राज्य सरकारों का भी महत्व बढ़ा है और राज्य सरकारों द्वारा कई ऐसे कार्य किये जाने लगे हैं जो संघ की स्थापना के समय स्वतन्त्र रूप से व्यक्तियों द्वारा किये जाते थे। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारें अपनी स्वतन्त्रता और अस्तित्व बनाये रखने के लिए अब भी उतनी ही उत्सुक हैं, जितनी वे संघ का निर्माण करते के समय थीं। अनेक नवीन राज्य भी संघ राज्य की स्थापना के प्रति आकर्षित होते लगे हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमी यूरोप के राज्यों में संघ की स्थापना का विचार बल पकड़ रहा है और एशिया तथा अफ्रीका के राज्यों में भी इस प्रकार की भावना पायी जाने लगी है। वस्तुतः संघवाद ने विश्व की अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है। अतः यह कहा जा सकता है कि संघात्मक शासन प्रणाली का भविष्य अति उज्ज्वल है और स्ट्रांग के शब्दों में कहा जा सकता है कि, "यदि विश्व अन्तरराष्ट्रीय अराजकता को छोड़कर विश्व राज्य तक पहुँचेगा, तो वह निश्चित रूप से संघात्मक प्रणाली

---

[1] Wheare, *Federal Government*, p 257

के द्वारा ही पहुँचेगा ।"[1] प्रो ह्वीयर के शब्दों में "संघवाद विजय की दिशा में निरन्तर आगे बढ़ रहा है ।"

प्रश्न

1 एकात्मक शासन-व्यवस्था के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए । क्या यह भारत के लिए उपयुक्त है ?
2. संघात्मक शासन के प्रमुख लक्षणों का वर्णन कीजिए और उसके गुण-दोष बताइए ।
3 "संघ का निर्माण होता है, स्वत जन्म नहीं ।" (मैरियट) व्याख्या कीजिए और संघ के निर्माण की आवश्यक शर्तों का वर्णन कीजिए ।
4 संघीय शासन की सफलता हेतु आवश्यक परिस्थितियों का वर्णन कीजिए ।
5 सभी संघों में केन्द्रीय या राष्ट्रीय सरकार की शक्तियों के बढ़ने की प्रवृत्ति पायी जाती है ।" इस प्रवृत्ति के कारणों की व्याख्या कीजिए ।
6 एकात्मक और संघात्मक शासन मे भेद स्पष्ट कीजिए और इसके गुण दोषों का वर्णन करिए ।

[1] C. F. Strong, *Modern Political Institutions*, p 98

17

सरकार का संगठन : शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त

[ORGANISATION OF GOVERNMENT : THEORY OF SEPARATION OF POWERS]

"व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी सारी शक्तियों का एक ही हाथों में एकत्रित होना, चाहे वह एक व्यक्ति हो, थोड़े हों या अधिक, और चाहे वंशानुगत (पैतृक) हो, स्वतः नियुक्त हो या निर्वाचित हो, अत्याचारी शासन की उपयुक्त परिभाषा कही जा सकती है।"[1]

—मेडीसन

सरकार का संगठन—गार्नर के अनुसार, "राज्य की इच्छाओं की पूर्ति जिस संगठन या ऐजेन्सी के द्वारा होती है, उसी का नाम सरकार है।" सरकार के तीन अंग होते हैं : व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। सरकार का संगठन किस प्रकार से होना चाहिए, इस प्रसंग में समय समय पर जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें सबसे अधिक प्रमुख है : माण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित, 'शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त'।

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का अर्थ—सरकार के तीन अंग होते हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। सरकार के इन तीनों अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होना चाहिए, यह समस्या राजनीति विज्ञान में अत्यन्त विवादग्रस्त रही है और इस सम्बन्ध में समय समय पर जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें माण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त सबसे अधिक प्रमुख है।

1 "The accumulations of all powers—legislative, executive and judicial—in the same hands whether of one, a few or many and whether hereditary, self-appointed or elective, may justly be pronounced the very definition of tyranny." —*Madison*

यह सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि निरंकुश शक्तियों के मिल जाने से व्यक्ति भ्रष्ट हो जाते हैं और अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने लगते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों का विचार है कि व्यवस्थापिका का काम कानून बनाना होना चाहिए, कार्यपालिका उन कानूनों को क्रियान्वित करे और उनके अनुसार शासन चलाये तथा न्यायपालिका उन कानूनों के अनुसार निर्णय करे। माण्टेस्क्यू ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि "इनमें से प्रत्येक अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होना चाहिए, उसे अपने कार्यक्षेत्र तक ही सीमित रहना चाहिए और उसके द्वारा दूसरे अंग के कार्य को प्रभावित करने या उस पर नियन्त्रण स्थापित करने की चेष्टा नहीं की जानी चाहिए।"

सिद्धान्त का इतिहास—यद्यपि शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का विधिवत प्रतिपादन माण्टेस्क्यू के द्वारा किया गया, किन्तु इस सिद्धान्त से सम्बन्धित आधारभूत विचार नवीन नहीं है। राजनीति विज्ञान के जनक अरस्तू ने सरकार को असेम्बली, मजिस्ट्रेट और जुडीशियरी नामक तीन विभागों में बाँटा था, जिससे आधुनिक व्यवस्थापन, शासन तथा न्याय विभाग का ही बोध होता है। इसी प्रकार के विचार की चर्चा रोमन लेखक सिसरो, पोलिबियस और लिपोस्यस की रचनाओं में भी मिलती है। सिसरो और पोलिबियस ने रोमन संविधान की बहुत प्रशंसा की है और इसकी सफलता का कारण सरकार के तीन अंगों में स्पष्ट विभाजन माना है। चौदहवीं सदी में मार्सीलिओ नामक विचारक ने भी सरकार के व्यवस्थापन तथा शासन विभाग में भेद का प्रतिपादन किया है और सोलहवीं सदी के फ्रेंच विचारक जीन बोदाँ ने स्पष्ट कहा है कि राजा को कानून-निर्माता तथा न्यायाधीश दोनों रूपों में एक साथ कार्य नहीं करना चाहिए। इंग्लैण्ड की 'गौरवपूर्ण क्रान्ति' (glorious revolution) के समय हैरिंगटन तथा जॉन लाक जैसे नेताओं का यह दृढ़ विश्वास था कि कानून बनाने तथा उन्हें लागू करने की शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में निहित नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इससे अत्याचारी शासन की स्थापना हो जाती है। संविदावादी विचारक, जॉन लॉक, ने भी कार्यपालिका और विधानमण्डल में शक्तियों के पृथक्करण का जोरदार समर्थन किया है।

माण्टेस्क्यू के विचार—इस प्रकार माण्टेस्क्यू के पूर्व अनेक विद्वानों ने इस प्रकार के विचार व्यक्त किये थे किन्तु इस सिद्धान्त की विधिवत व्याख्या फ्रेंच लेखक माण्टेस्क्यू ने अपनी पुस्तक 'स्प्रिट ऑफ लॉज' (Spirit of Laws, 1748) में की है। माण्टेस्क्यू के अपने देश फ्रांस में उस समय लुई चौदहवें का राज्य था, जो प्राय यह कहा करता था कि 'मैं ही राज्य हूँ' (I am the State) और जिसका विचार था कि 'राजा की इच्छा ही कानून होती है।' सन् 1726 में माण्टेस्क्यू इंगलैण्ड गया और इंगलैण्ड के नागरिकों की स्वाधीनता से वह बहुत अधिक प्रभावित हुआ। इंगलैण्ड की तत्कालीन सीमित राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था को देखकर माण्टेस्क्यू इस निर्णय पर पहुँचा कि इंगलैण्ड में राजशक्ति राजा के हाथों में केन्द्रित नहीं है वरन्

उसका पृथक्करण हो गया है और इंगलैण्ड की शासन-व्यवस्था की उत्तमता तथा नागरिकों की स्वाधीनता का रहस्य यही है। उसने स्वदेश लौटकर इसी आधार पर अपनी पुस्तक 'Espirit des Lois' (Spirit of Laws) में शासन शक्ति के पृथक्करण का प्रतिपादन किया। माण्टेस्क्यू के अनुसार

"यदि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की शक्तियाँ एक ही हाथों में केन्द्रित हो जायें, तो कोई स्वतन्त्रता नहीं रह सकती है क्योंकि इस बात का भय उत्पन्न हो जाता है कि कहीं राजा या सीनेट अत्याचारी कानून बनायें और उन्हें अत्याचारी ढंग से लागू करें। इसी तरह से यदि न्याय सम्बन्धी शक्ति को व्यवस्थापिका या कार्यपालिका शक्ति से पृथक नहीं किया जाता, तो भी स्वतन्त्रता सम्भव नहीं हो सकती। यदि न्याय शक्ति व्यवस्थापन शक्ति के साथ जोड़ दी जायगी, तो प्रजा के जीवन और उसकी स्वतन्त्रता को स्वेच्छाचारी नियन्त्रण का शिकार होना पड़ेगा, क्योंकि उस दशा में न्यायकर्ता ही कानून निर्माता भी हो जायगा। यदि न्याय शक्ति को कार्यपालिका के साथ जोड़ दिया जायगा, तो न्यायकर्ता का व्यवहार हिंसक एवं अत्याचारी हो जायगा।" "यदि एक ही व्यक्ति या समुदाय तीनों काम करने लगे अर्थात कानून बनाये, उन्हें लागू करे और विवादों का निर्णय करने लगे तो, स्वतन्त्रता बिलकुल नष्ट हो जायगी और राज्य अपनी मनमानी करने लगेगा।"[1]

इस प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति ब्लैकस्टोन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Commentaries on the Laws of England' में की है। उसके अनुसार, "सभी प्रकार के निरकुश राज्यों में कानून-निर्माण और उन्हें कार्यरूप में परिणित करने की शक्ति एक ही समूह में निहित होती है और जब ये शक्तियाँ संयुक्त हो जाती हैं तो सार्वजनिक स्वतन्त्रता का अस्तित्व नहीं रहता। ऐसी सम्भावना हो सकती है कि शासक अत्याचारी कानून बनाये और उन्हें अत्याचारी ढंग से क्रियान्वित करे, क्योंकि उसके पास वे समस्त शक्तियाँ होती हैं जो वह कानून-निर्माता के रूप में स्वयं को देना उचित समझता है। यदि न्याय शक्ति को विधानमण्डल के साथ मिला दिया

1 "When the legislative and executive powers are united in the same person or in the same body of magistrates, there can be no liberty because apprehension may arise lest the same monarch or senate should enact tyrannical laws and execute them in a tyrannical manner. Again there is no liberty if the judicial power be not separated from the legislative and the executive. Were it joined with the legislative, the life and liberty of the subject would be exposed to arbitrary control for the judge would then be legislator. Were it joined to the executive power, the judge might behave with violence and oppression."

"There would be an end of everything, were the same man or the same body, to exercise those three powers that of enacting laws, that of executing the public resolutions and of trying the case of individuals."

—Montesquieu, *Spirit of Law*, Book VI, pp. 151-52.

गया, तो लोगों का जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति स्वेच्छाचारी न्यायाधीशों के हाथों में आ जायगी। यदि न्यायपालिका को कार्यपालिका से मिला दिया जाय, तो उसका संगठन व्यवस्थापिका से अधिक शक्तिशाली हो जायगा।" अमरीकी संविधान सभा के एक प्रमुख सदस्य मेडीसन ने भी 'Federalist' नामक पत्रिका में इसी प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति की है। उसके अनुसार, "व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी सारी शक्तियों का एक हाथ में एकत्रित होना, अत्याचारी शासन की उपयुक्त परिभाषा कही जा सकती है।"

सिद्धान्त का प्रभाव—शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का तत्कालीन राजनीति पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। विशेष रूप से फ्रांस और अमरीका की शासन व्यवस्था पर इसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इस सिद्धान्त ने फ्रांस की क्रान्ति के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। सन् 1788 में फ्रांस की क्रान्ति के बाद 'मानवीय अधिकारों की जो घोषणा' (Declaration of Human Rights) हुई, उसमें यह कहा गया कि जिस देश में शक्तियों के पृथक्करण की व्यवस्था नहीं, उस देश में संविधान नाम की कोई चीज नहीं है। सन् 1791 के संविधान द्वारा फ्रांस में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका तीनों को एक-दूसरे से अलग और स्वतन्त्र रखा गया। *आज भी फ्रांस में विद्यमान प्रशासकीय विधि और प्रशासकीय न्यायालयों की व्यवस्था* इसी सिद्धान्त के प्रभाव का परिचय देती है।

अमरीकी संविधान-निर्माता शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त से विशेष प्रभावित थे और इस प्रभाव के कारण ही उनके द्वारा संसदात्मक शासन व्यवस्था के स्थान पर अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था को अपनाया गया है। फिलाडेल्फिया सम्मेलन का एक प्रमुख सदस्य मेडीसन तो बार-बार कहा करता था कि "हम निरन्तर माण्टेस्क्यू की अपूर्व छाया से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं।"[1] किलबार्न बनाम थाम्पसन (Kilborn vs Thompson) नामक विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने अमरीकी संविधान पर शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के प्रभाव को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है और इस सम्बन्ध में डॉ. फाइनर ने लिखा है "अमरीका का संविधान जान-बूझकर एवं प्रयास करके शक्तियों के पृथक्करण पर एक विस्तृत निबन्ध बनाया गया था। *यह संविधान इस सिद्धान्त पर चलने वाला विश्व में सर्वाधिक प्रसिद्ध राज्य शासन* है।"[2] फ्रांस और अमरीका के अतिरिक्त, मेक्सिको, अर्जेण्टाइना, आस्ट्रेलिया, चिली आदि अनेक देशों के संविधान में भी इस सिद्धान्त को मान्यता दी गयी है। सन् 1948

---

1 "The oracle who is always consulted and cited on the subject."

—*The Federalist*, No. XVIII

2 "The American Constitution was consciously and elaborately made an essay in the separation of powers and is today the most important polity in the world, which operates upon this principle."

—Finer, *The Theory and Practice of Modern Government*, p. 29.

में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा स्वीकृत 'मानवीय अधिकार के घोषणा-पत्र' (Declaration of Human Rights) की 16वीं धारा मे भी इस सिद्धान्त को, मान्यता प्रदान की गयी है। परन्तु फ्रास के अतिरिक्त यूरोप महाद्वीप के अन्य राज्यों ने इस सिद्धान्त की ओर विशेष ध्यान नही दिया है।

सिद्धान्त की आलोचना

यद्यपि तत्कालीन राजनीति पर शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का पर्याप्त प्रभाव पड़ा लेकिन तर्क और अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त अनेक दृष्टियो से त्रुटिपूर्ण है। शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारो पर की जाती है

(1) ऐतिहासिक दृष्टि से गलत—माण्टेस्क्यू के कथनानुसार उसने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन ब्रिटेन की तत्कालीन शासन पद्धति के आधार पर किया है, किन्तु आलोचको के अनुसार माण्टेस्क्यू ने ब्रिटिश सविधान का गलत अध्ययन किया है, इगलैण्ड की शासन-व्यवस्था कभी भी शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित नही है। माण्टेस्क्यू के समय रहो के पूर्व से लेकर आज तक इगलैण्ड मे ससदात्मक शासन व्यवस्था प्रचलित रही है और वह शासन व्यवस्था व्यवस्थापिका और कार्य-पालिका के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग पर ही आश्रित है। इस सम्बन्ध मे रेम्जे म्योर (Ramsay Muir) कहते हैं, "यदि शक्तियों का पृथक्करण अमरीकन सविधान का आवश्यक नियम है तो दायित्व का केन्द्रीयकरण ही ब्रिटिश सविधान का आवश्यक नियम है।" वास्तव मे, माण्टेस्क्यू ने अग्रेजो की स्वतन्त्रता की गलत खोज की है। अग्रेजों की स्वतन्त्रता का कारण शासन की शक्तियो का तीन भागों मे विभाजन नही है वरन् उनका स्वतन्त्रता की भावना से प्यार और विधि का शासन है।

(2) शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं—आलोचकों का कथन है कि सरकार एक 'अगीय एकता' (Organic unity) है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अग एक दूसरे पर आश्रित और परस्पर सम्बन्धित हैं, वही स्थिति शासन के अगो की है। इसलिये शासन के अगो का पूर्ण व कठोर पृथक्करण व्यवहार मे सम्भव नही है। गैटल के शब्दों मे, "शासन विभिन्न कार्य करने वाले कई अगों से बनता है, परन्तु उसका एक सामा कार्य और उद्देश्य होता है, जिसकी सफलता के लिए उनकी एक-रूपता तथा सहयोग आवश्यक है। विभिन्न विभागों मे पृथकता की एक दृढ़ रेखा नहीं खींची जा सकती है।"[1]

पूर्ण पृथक्करण का अर्थ है प्रत्येक अग को निरंकुश बनाना जो किसी भी दृष्टि से बुद्धिमत्तापूर्ण नही माना जा सकता है। एक साथ तीन सम्प्रभु शक्तियो के

---

[1] "Government consists of a group of organs differentiated functions but with a common task and purpose and their harmonious co-operation is essential to success. A strict line of separation cannot be drawn between the several departments." —Gettel *Political Science*, p 217.

रहते हुए शासन का कार्य ठीक प्रकार से सचालित हो ही नही सकता । प्रत्येक अग को उसके क्षेत्र में प्रभु मानना घातक सिद्ध होगा । वस्तुत चाहने पर भी शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को अपनाना सम्भव नहीं है । अमरीका मे सन् 1791 मे इस सिद्धान्त को उसके विशुद्ध रूप मे अपनाने की चेष्टा की गयी थी किन्तु इस दिशा मे कोई सफलता प्राप्त नही हुई ।

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की अव्यावहारिकता इस बात से भी स्पष्ट है कि यद्यपि अमरीकी सविधान निर्माता शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रभावित थे लेकिन वहाँ पर भी यह सम्भव नहीं हो सका है कि सरकार का प्रत्येक अग दूसरे *अगो से पूर्णतया पृथक रहकर अपना कार्य कर सके । अमरीकी संघ की* व्यवस्थापिका (काग्रेस) कानूनों का निर्माण करने के साथ राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्ति और सन्धियो पर भी नियन्त्रण रखती है । इसके साथ ही यदि राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालयो के न्यायाधीशों या इसी श्रेणी के अन्य पदाधिकारियो द्वारा अपनी सवैधानिक सीमा का उल्लघन किया जाय, तो कांग्रेस उन पर महाभियोग लगाकर उन्हें पदच्युत कर सकती है । इस प्रकार व्यवस्थापिका के द्वारा कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनो के ही क्षेत्रों मे कार्य किया जाता है । कार्यपालिका के प्रधान राष्ट्रपति को कानूनों के सम्बन्ध मे विशेषाधिकार की विधायी शक्ति प्राप्त है और राष्ट्रपति के द्वारा न्यायाधीशों को नियुक्त करने तथा इन्हें क्षमा प्रदान करने की न्यायिक शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है । इस प्रकार राष्ट्रपति, जो कि कार्यपालिका का प्रधान होता है, विधायी और न्यायिक क्षेत्रों मे भी कार्य करता है । इसी प्रकार अमरीका का सर्वोच्च न्यायालय व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के कार्यों की वैधानिकता की जाँच कर, यदि उन्हें सविधान के विरुद्ध पाये तो उन्हें अवैधानिक घोषित कर सकता है । इस प्रकार शक्ति विभाजन सिद्धान्त से सबसे अधिक प्रभावित देश सयुक्त सयुक्त राज्य अमरीका में भी इस सिद्धान्त का पालन करना सम्भव नहीं हुआ है । यह दृष्टान्त शक्ति विभाजन सिद्धान्त की अव्यावहारिकता का प्रमाण है।

वास्तव में, शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को अपनाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि वर्तमान समय में सरकार के विभिन्न अगो द्वारा विभिन्न प्रकार के कार्यों का सम्पादन होता है । न्यायाधीश कानूनो की व्याख्या करते तथा अपराधियों को दण्डित करते समय अपने विवेक के आधार पर कुछ ऐसे नियमो का निष्पादन भी करते हैं जो कालान्तर मे कानून का रूप ग्रहण कर लेते हैं। कार्यपालिका प्रधान द्वारा तत्कालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए अध्यादेश (Ordinance) जारी किये जाते हैं जो व्यवहार मे कानून के समान ही होते हैं । वर्तमान समय में प्रदत्त व्यवस्थापन का बहुत अधिक विकास हो जाने के कारण कार्यपालिका विभागों के द्वारा एक बहुत बड़ी सख्या में नियमों-उपनियमों के निर्माण का कार्य किया जाता है ।

वैसे तो शक्ति विभाजन के सिद्धान्त को अपनाना कभी भी व्यावहारिक नहीं

था, लेकिन वर्तमान समय मे तो औद्योगीकरण और नियोजन की पद्धति को अपना लिये जाने के कारण शासन के विभिन्न अगो के कार्य बहुत अधिक बढ गये हैं। ये कार्य एक-दूसरे से सयुक्त हो गये हैं और शक्ति विभाजन के सिद्धान्त को अपनाना और अधिक अव्यावहारिक हो गया है। वर्तमान समय मे राजनीतिक दलो के विकास के कारण भी शक्ति विभाजन की धारणा निरर्थक हो गयी है। फासीवादी, नाजीवादी और वर्तमान समय मे साम्यवादी सभी प्रकार के सर्वाधिकारवादी राज्यो मे तो शक्ति विभाजन के लिए कोई स्थान ही नही है। सोवियत सघ के एक भूतपूर्व विदेश मन्त्री विशिस्की लिखते हैं, "हम शक्ति विभाजन के बुर्जुआ सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्य का रूप चाहे कैसा भी क्यों न हो, शक्ति विभाजन सिद्धान्त को अपनाना सम्भव नहीं है।

(3) शक्ति पृथक्करण अवाछनीय भी है—शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को अपनाना न केवल असम्भव वरन् अवाछनीय भी है। सरकार एक शरीर की भाँति है और उसके अनेक विभाग उसके अग हैं। यदि शरीर के अगो को एक दूसरे से असम्बद्ध कर दिया जाय तो उनके कार्य करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार यदि सरकार के प्रत्येक अग का पृथक्करण कर दिया जाय तो शासन उचित रूप मे अपना कार्य नही कर सकेगा।

शासन के सुचारु सचालन के लिए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का पारस्परिक सम्बन्ध तो बहुत ही आवश्यक है। व्यवस्थापिका कानून निर्माण का कार्य तथा कार्यपालिका प्रशासन का कार्य ठीक प्रकार से कर सके, इसके लिए पारस्परिक सहयोग बहुत जरूरी है। कानून निर्माण का कार्य व्यवस्थापिका को करना होता है, किन्तु वर्तमान समय मे कानून निर्माण का कार्य इतना जटिल हो गया है कि व्यवस्थापिका के सदस्य कानून निर्माण के लिए आवश्यक ज्ञान नहीं रखते। इनके स्थान पर वे लोग जो शासन का भार सँभालते हैं और जो शान्ति एव व्यवस्था स्थापित करते हैं, वे समझते हैं कि किस प्रकार के कानून से किस उद्देश्य की पूर्ति होती है। अत. उचित कानूनो के निर्माण हेतु व्यवस्थापिका के द्वारा कार्यपालिका से सहयोग रखा जाना चाहिए। इसी प्रकार प्रशासन के सचालन का कार्य कार्यपालिका द्वारा किया जाता है लेकिन जनता के निकट सम्पर्क के कारण जनता के विचारो और आवश्यकताओ से व्यवस्थापिका के सदस्य ही अधिक अच्छे प्रकार से परिचित होते हैं। ऐसी स्थिति मे यदि व्यवस्थापिका कार्यपालिका से सहयोग न करे, तो प्रशासन को जनहितकारी रूप नही प्रदान किया जा सकता।

यदि इस सिद्धान्त को कठोरता से माना जाये, तो यह सिद्धान्त न्यायपालिका की कार्यकुशलता और निष्पक्षता का अन्त कर देगा। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर न्यायाधीशो की नियुक्ति न तो कार्यपालिका द्वारा होगी और न ही वे व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित होंगे, वरन् वे जनता द्वारा चुने जायेंगे। जनता

द्वारा निर्वाचित न्यायाधीश प्राय अयोग्य और पक्षपातपूर्ण प्रमाणित हुए हैं। ये तर्क और न्याय भावना के स्थान पर पक्षपात तथा दलीय भावना के आधार पर कार्य करेंगे।

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के नियन्त्रण से मुक्त कर देता है। इस प्रकार कार्यपालिका पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाती है और व्यवस्थापिका के प्रति उसका उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है। यह एक बहुत बुरी बात है क्योंकि जैसा कि ऑग (Ogg) ने कहा है, "कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण होना उत्तरदायी सरकार की प्रथम शर्त है। इस उत्तरदायित्व के अभाव में लोकतन्त्र सफल नहीं हो सकता।"

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को अपनाने से सरकार का उत्तरदायित्व भी बँट जाता है। विभिन्न विभागों म संघर्ष होने की आशंका बहुत बढ़ जाती है, जिससे शासन कमजोर हो सकता है। डॉ फाइनर ने इस बात का सुन्दर भाषा में चित्रण करते हुए कहा है, "शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त शासन को कभी तो निद्रित करने की स्थिति में और कभी ऐंठन की स्थिति में डाल देता है।"[1] इसी प्रकार जान स्टुअर्ट मिल ने कहा है कि "सरकारी विभागों को पूर्ण स्वतन्त्रता का अनिवार्य अर्थ होगा निरन्तर गतिरोध। प्रत्येक विभाग अपनी ही शक्तियों की रक्षा मे लगा रहेगा और अन्य किसी को सहयोग प्रदान नहीं करेगा। इसके फलस्वरूप कुशलता मे होने वाली क्षति स्वतन्त्रता के सम्भावित लाभों से कहीं अधिक होगी।"

इस प्रकार यह नितान्त स्पष्ट है कि शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को पूर्णतया अपनाना न तो व्यावहारिक है और न ही वांछनीय।

(4) <u>न्यायपालिका की कुशलता और निष्पक्षता का अन्त</u>—यदि इस सिद्धान्त को कठोरता से माना जाय तो यह सिद्धान्त न्यायपालिका की कार्यकुशलता और निष्पक्षता का अन्त कर देगा। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर न्यायाधीशों की नियुक्ति न तो कार्यपालिका द्वारा होगी और न ही वे व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित होंगे, वरन् वे जनता द्वारा चुने जायेंगे। जनता द्वारा निर्वाचित न्यायाधीश प्राय अयोग्य तथा पक्षपातपूर्ण प्रमाणित हुए हैं। वे तर्क और न्याय भावना के स्थान पर पक्षपात तथा दलीय भावना के आधार पर कार्य करेंगे।

(5) <u>तीनों विभागों की शक्तियों में असमानता</u>—शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि सरकार के तीनों विभाग समान रूप से शक्तिशाली और महत्वपूर्ण हैं, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। सरकार के तीनों विभागों में कार्यपालिका और न्यायपालिका की अपेक्षा व्यवस्थापिका अधिक महत्वपूर्ण स्थिति रखती है। व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों के आधार पर ही प्रशासन किया जाता है

---

1 "The theory of separation of power throws the government into alternating conditions of coma and convulsions." —Finer

और इन्हीं कानूनों के आधार पर न्यायपालिका न्याय प्रदान करने का कार्य करती है। प्रो लास्की का कथन है कि "कार्यपालिका और न्यायपालिका के अधिकारों की सीमा व्यवस्थापिका द्वारा घोषित की गयी इच्छा मे निहित होती है।"[1] सिद्धान्त की इस आधारभूत मान्यता के गलत होने के कारण भी इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(6) नेतृत्व का अभाव—आधुनिक युग मे शासन की जटिलताओं को सुलझाने के लिए कुशल, दृढ और अखण्ड नेतृत्व की आवश्यकता होती है, लेकिन शक्ति विभाजन के सिद्धान्त को अपनाने पर व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का नेतृत्व विभाजित हो जाता है और यह नेतृत्वविहीन व्यवस्था की स्थिति उत्पन्न कर देता है। व्यवहार में यह इसका एक प्रमुख दोष है।

(7) स्वतन्त्रता के लिए शक्ति पृथक्करण आवश्यक नहीं—यह विचार भी सर्वथा भ्रमात्मक है कि जनता की स्वतन्त्रता के लिए शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त का पालन आवश्यक है। वर्तमान समय मे तो ऐसा समझा जाता है कि मानवीय स्वतन्त्रता के लिए शक्ति पृथक्करण के स्थान पर 'विधि का शासन' और 'अधिकारों की सवैधानिक घोषणा' अधिक महत्व रखती है। इसके अतिरिक्त, मानवीय स्वतन्त्रता तो जनता की जागरूकता और स्वतन्त्रता के प्रति मानवीय प्रेम पर निर्भर करती है। वाशिंगटन के शब्दो मे, "निरन्तर जागरूकता ही स्वतन्त्रता का सच्चा मूल्य है।" रूसो ने भी इसी बात पर बल दिया है।

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के प्रति की गयी इन आलोचनाओं के कारण ही यह कहा जाता है कि "[illegible] ही वांछनीय है।"

सिद्धान्त का महत्व—यद्यपि इस सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ की गयी हैं, किन्तु इन आलोचनाओं के कारण इस सिद्धान्त को महत्वहीन नही कहा जा सकता। शक्ति विभाजन सिद्धान्त के महत्व को निम्नलिखित रूपो मे स्पष्ट किया जा सकता है

प्रथमतः, इस सिद्धान्त की आलोचना से सम्बन्धित बहुत सी बातें उन बुद्धिमान व्यक्तियों के मस्तिष्क की उपज हैं, जिन्होंने जान-बूझकर अथवा अनजाने में माण्टेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की गलत व्याख्या की है। माण्टेस्क्यू स्वय सरकार के तीन विभागों के बीच कठोर पृथक्करण नहीं चाहता था। वह तो जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शासन की निरकुशता और शक्तियों का केन्द्रीयकरण समाप्त करना चाहता था। इसलिये उसने शासन को तीन विभागों मे विभाजित करने की बात कही है।

---

[1] "The powers both of executive and judiciary find their limit in the declared will of legislative organ." —Laski

द्वितीयतः, शक्ति विभाजन सिद्धान्त को नितान्त महत्वहीन नहीं माना जा सकता। मेडीसन के इस कथन में महान् सत्य छिपा हुआ है कि "एक ही हाथों में समस्त शक्तियों का एकीकरण आततायीतन्त्र की ही परिभाषा है।"

तृतीयतः, शक्ति विभाजन सिद्धान्त सही रूप मे न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करता है। नागरिकों की स्वतन्त्रता और उनके अधिकारों की रक्षा न्यायपालिका की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता पर निर्भर करती है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए न्यायपालिका कार्यपालिका से स्वतन्त्र होनी चाहिए।

चतुर्थतः, शासन की प्रशासनिक क्षमता मे सुधार करने के लिए भी शक्ति विभाजन सिद्धान्त को आंशिक रूप मे अपनाना नितान्त आवश्यक है। जब एक विभाग एक विशेष प्रकार के कार्य मे ही सलग्न रहता है तो इस विशेषीकरण के लाभ प्राप्त होते हैं और कार्यकुशलता मे वृद्धि होती है। इस बात को तो माण्टेस्क्यू भी स्वीकार करता है कि अपनी अपनी सीमाओं मे रहते हुए शासन के विभिन्न विभागों द्वारा सहयोग रखा जाना चाहिए।

पचम, माण्टेस्क्यू के विचारों ने फ्रांस की क्रान्ति को जन्म दिया और अमरीका की स्वतन्त्रता की घोषणा को बल प्रदान किया। यह तो एक तथ्य है कि राजनीतिक क्षेत्र की इन क्रान्तियों ने ही प्रजातन्त्र का वर्तमान शक्ति प्रदान की है।

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में माण्टेस्क्यू और उसके शक्ति विभाजन सिद्धान्त को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

विश्व के प्रमुख संविधानों में शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का प्रयोग—विश्व के अनेक संविधानों में शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को अपनाने का प्रयत्न किया गया है, लेकिन इस सिद्धान्त के साथ-ही-साथ व्यवहार मे 'नियन्त्रण एव सन्तुलन सिद्धान्त' (Theory of Checks and Balance) का भी आश्रय लिया गया है। इस सम्बन्ध मे इगलैण्ड, भारत, आदि राज्यों की स्थिति निम्न प्रकार है

इगलैण्ड में शक्ति पृथक्करण—माण्टेस्क्यू के कथनानुसार उसने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन ही इंगलैण्ड की शासन व्यवस्था के आधार पर किया है। लेकिन इस सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि माण्टेस्क्यू ने ब्रिटिश शासन पद्धति को समझने में गम्भीर त्रुटि की है। इगलैण्ड की ससदात्मक शासन-व्यवस्था मे पूर्ण पृथक्करण सम्भव ही नहीं है क्योंकि शासन का यह प्रकार तो व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के घनिष्ट सहयोग पर आधारित है। इगलैण्ड मे तो न्याय विभाग भी अन्य विभागों से पृथक नहीं है। व्यवस्थापिका के उच्च सदन हाउस ऑफ लार्ड्स की प्रिवी कौंसिल ही इगलैण्ड के सर्वोच्च न्यायालय के रूप मे कार्य करती है।

इगलैण्ड मे लॉर्ड चान्सलर का पद तो शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के नितान्त विपरीत है। एक ही व्यक्ति शासन की तीनों शक्तियों का उपयोग करता है। हाउस ऑफ लॉर्ड्स का सदस्य होने के नाते वह कानून-निर्माण के कार्यों में भाग लेता है, केबीनेट का सदस्य होने के कारण वह कार्यपालिका की शक्तियों का उपयोग करता है

और प्रिवी कौंसिल का अध्यक्ष होने के कारण वह न्याय विभाग का भी प्रधान बन जाता है। प्रो गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि 'शक्ति विभाजन की यदि सबसे अधिक अवहेलना कोई व्यक्ति करता है तो वह लॉर्ड चांसलर ही है जो मन्त्रिमण्डल का भी सदस्य है और हाउस ऑफ लॉर्ड्स का भी तथा साथ-ही-साथ न्यायविभाग का भी प्रधान है।"

अमरीका में शक्ति पृथक्करण—अमरीकी संविधान निर्माता माण्टेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त से बहुत अधिक प्रभावित थे और इसी प्रभाव के कारण उन्होंने अध्यक्षात्मक शासन को अपनाया था। इतना होने पर भी अमरीका में शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण नहीं पाया जाता है और अमरीका मे शक्ति पृथक्करण के साथ-साथ नियन्त्रण और सन्तुलन सिद्धान्त का भी आश्रय लिया गया है। अमरीकी कांग्रेस कानून का निर्माण करने के साथ-साथ राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्तियों और सन्धियों पर नियन्त्रण रखती और महाभियोग लगाने का न्यायिक कार्य भी करती हैं। कार्यपालिका के प्रधान राष्ट्रपति को कानूनों के सम्बन्ध मे निषेधाधिकार और न्यायिक क्षेत्र मे न्यायाधीशों को नियुक्त करने व क्षमादान का अधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार अमरीका का सर्वोच्च न्यायालय व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका द्वारा किये गये कार्यों की वैधानिकता की जाँच कर सकता है। अतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि अमरीकी संविधान निर्माता माण्टेस्क्यू के विचारों से बहुत प्रभावित थे, लेकिन अमरीकी शासन व्यवस्था मे शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण नहीं है।

भारत में शक्ति पृथक्करण—इंगलैण्ड के समान ही भारत मे भी संसदात्मक व्यवस्था है इसलिये यहाँ पर भी शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण तो सम्भव ही नहीं है। कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका मे से ही किया जाता है और कार्यपालिका व्यवस्थापिका के नेतृत्व का भी कार्य करती है। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका प्रधान और न्यायाधीशों पर महाभियोग लगा सकती है, कार्यपालिका प्रधान विधेयकों पर निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है और न्यायपालिका कानूनों के संविधान विरुद्ध होने पर उन्हें अवैधानिक घोषित कर सकती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भारत में शासन के तीन विभाग हैं, लेकिन प्रशासन के इन तीन विभागों में पूर्ण पृथक्करण नहीं है।

शक्ति पृथक्करण का आधुनिक रूप नियन्त्रण एवं सन्तुलन का सिद्धान्त (Theory of Checks and Balance)—शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण न तो सम्भव है और न ही वांछनीय। शासन के विविध अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध उपयोगी और आवश्यक है। मैकाइवर (MacIver) ने ठीक कहा है कि "समस्या का हल शक्ति पृथक्करण नहीं वरन् इन तीनों में इस ढंग से सम्बन्ध स्थापित करना है कि उत्तरदायित्व का योग्यता से सम्बन्ध विच्छेद न हो जाय।" इस बात को दृष्टि मे रखते हुए वर्तमान समय में शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त ने एक नवीन रूप

ग्रहण कर लिया है, जिसे 'नियन्त्रण और सन्तुलन का सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है।

नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त का आशय यह है कि सरकार के विभिन्न अंग एक-दूसरे की शक्ति पर इस प्रकार से नियन्त्रण स्थापित करें कि शक्तियों का सन्तुलन बना रहे और कोई भी एक विभाग निरंकुश शक्तियों का प्रयोग न कर सके। दूसरे शब्दों में, विभिन्न विभाग पृथक हो तो सकते हैं, पर स्वतन्त्र नहीं। इस प्रकार की व्यवस्था में सरकार के विभिन्न विभाग एक-दूसरे की शक्तियों को नियन्त्रित और प्रतिबन्धित रखते हैं। अमरीकी संविधान निर्माता मॉण्टेस्क्यू के विचारों से प्रभावित थे किन्तु व्यवहार में अमरीकी शासन व्यवस्था 'सन्तुलन और नियन्त्रण' के सिद्धान्त पर ही आधारित है। वहाँ कांग्रेस की कानून-निर्माण की शक्ति पर राष्ट्रपति के निषेधाधिकार और न्यायपालिका की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का प्रतिबन्ध है। इसी प्रकार कार्यपालिका प्रधान द्वारा की गयी नियुक्तियों और सन्धियों पर व्यवस्थापिका के उच्च सदन सीनेट द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है और न्यायपालिका उन्हें अवैधानिक घोषित कर सकती है। व्यवस्थापिका न्यायाधीशों पर महाभियोग लगा सकती है और कार्यपालिका प्रधान द्वारा न्यायाधीशों को नियुक्त और क्षमादान की न्यायिक शक्तियों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार सरकार के तीनों अंग एक-दूसरे की शक्ति को प्रतिबन्धित करते हुए विभिन्न विभागों के बीच एक ऐसा सन्तुलन स्थापित करते हैं कि सरकार का कोई भी अंग निरंकुशतापूर्वक आचरण नहीं कर सकता है। अमरीकी शासन व्यवस्था अपने व्यावहारिक रूप में नियन्त्रण और सन्तुलन सिद्धान्त का श्रेष्ठ रूप कही जा सकती है।

प्रश्न

1 शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की व्याख्या तथा आलोचना कीजिए।
2 शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए यह सिद्धान्त कहाँ तक आवश्यक है?
3 "पूर्ण शक्ति पृथक्करण न केवल अव्यावहारिक वरन् अवांछनीय भी है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
4 'नियन्त्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त' (Theory of Checks and Balances) पर टिप्पणी लिखिए।

18
व्यवस्थापिका
[LEGISLATURE]

"राज्य की इच्छाओं की पूर्ति जिस सगठन या एजेन्सी के द्वारा होती है, उसका नाम सरकार है।"[1] —डॉ गार्नर

सरकार—राज्य एक ऐसी निराकार सत्ता होती है, जिसके द्वारा स्वय कोई कार्य नहीं किया जा सकता है। सरकार राज्य का अत्यन्त आवश्यक तत्व होता है और राज्य अपनी सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग सरकार के माध्यम से ही करता है। सोल्टाऊ (Soltau) के शब्दों मे, 'सरकार से हमारा तात्पर्य उन सब व्यक्तियों, सस्थाओं एव साधनों से होता है, जिनके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है तथा उसे क्रियान्वित किया जाता है।" इसी प्रकार बर्क ने कहा है कि, "सरकार मानव बुद्धि का आविष्कार है जिसके द्वारा मनुष्य की इच्छाएँ पूर्ण की जाती हैं।"

सरकार का अग—राजनीति विज्ञान के सभी विद्वानों द्वारा सरकार को एक से अधिक अगों मे विभाजित करने की आवश्यकता अनुभव की गयी है। कुछ व्यक्तियो द्वारा तो सरकार के केवल दो ही विभाग—व्यवस्थापिका और कार्यपालिका—बतलाये गये हैं तो कुछ अन्य व्यक्तियो द्वारा सरकार के 5 या 6 अग बतलाये गये हैं। किन्तु राजनीति विज्ञान के विद्वानों की सामान्य धारणा यह है कि सरकार के प्रमुख रूप से तीन अग होते हैं—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका।

व्यवस्थापिका

व्यवस्थापिका, सरकार का वह अग है जो राज्य की इच्छा को अभिव्यक्त करता एव जनता के हित और कल्याण को दृष्टि मे रखकर राज्य की नीति का निर्माण करता है। सरकार का यह अग जिस रूप में राज्य की इच्छा को व्यक्त करता है, उसे ही कानून कहते हैं।

---

[1] 'Government is the organization, through which the state manifests its will, issues its commands and conducts its affairs'
—Garner, *Political Science and Government*, p 278

व्यवस्थापिका विभाग का महत्व—यद्यपि सरकार के तीनों ही अगों द्वारा महत्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं, लेकिन इन तीनों अगो मे व्यवस्थापन विभाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। व्यवस्थापन विभाग ही उन कानूनों का निर्माण करता है, जिनके आधार पर कार्यपालिका शासन करती है और न्यायपालिका न्याय प्रदान करने का कार्य करती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के कार्य के लिए आवश्यक आधार प्रदान करती है और इन दोनों विभागों के कार्य का मार्ग निश्चित करती है। व्यवस्थापन विभाग केवल कानूनों का ही निर्माण नहीं करता वरन् प्रशासन की नीति भी निश्चित करता है और ससदात्मक शासन व्यवस्था मे तो कार्यपालिका पर प्रत्यक्ष रूप मे नियन्त्रण भी रखता है। सविधान मे सशोधन का कार्य भी व्यवस्थापिका के द्वारा ही किया जाता है। अत यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापन विभाग सरकार के दूसरे दो अगों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थिति रखता है। गिलक्राइस्ट ने व्यवस्थापिका की महत्ता स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "विधायी सत्ता सरकार के प्रमुख आधार का निर्माण करती है, न्यायपालिका छोटे आधार का और कार्यपालिका अन्त का। जिस प्रकार प्रमुख आधार छोटे आधार या अन्त से महत्वपूर्ण होता है उसी प्रकार व्यवस्थापिका न्यायपालिका और कार्यपालिका से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है।"

व्यवस्थापिका विभाग के कार्य—व्यवस्थापिका के कार्य बहुत कुछ सीमा तक शासन के रूप पर निर्भर करते हैं। एकतन्त्र, राजतन्त्र या अधिनायकवाद और बहुत-कुछ सीमा तक कुलीनतन्त्र के अन्तर्गत भी व्यवस्थापिका विभाग की शक्ति और कार्य नगण्य होते हैं किन्तु लोकतन्त्रात्मक राज्यों मे व्यवस्थापिका की शक्ति और महत्ता बहुत अधिक होती है। लोकतन्त्रात्मक राज्यों मे भी ससदात्मक एव अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका की स्थिति अलग अलग प्रकार की रहती है। ससदात्मक शासन मे व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है, जैसा कि अध्यक्षात्मक शासन मे सम्भव नहीं है। सामान्य रूप से लोकतन्त्रात्मक राज्यों मे व्यवस्थापिका के निम्नलिखित कार्य कहे जा सकते हैं

(1) कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य—व्यवस्थापिका का सबसे मुख्य एव महत्वपूर्ण कार्य कानूनों का निर्माण करना होता है और सभी प्रकार की शासन व्यवस्थाओं मे व्यवस्थापिका के द्वारा यह कार्य किया जाता है। प्रत्येक देश में कानून निर्माण की जो प्रक्रिया होती है, उसके अनुसार ही कानून का निर्माण किया जाता है। यह विभाग कानून का प्रारूप अर्थात विधेयक तैयार करता, उस पर बहस करता और फिर उन्हें स्वीकृत कर कानून का रूप प्रदान करता है।

(2) सविधान सशोधन का कार्य—प्राय सभी देशों मे व्यवस्थापिका सविधान में सशोधन का कार्य करती है, यद्यपि विभिन्न देशों मे व्यवस्थापिका के द्वारा यह कार्य भिन्न भिन्न प्रक्रियाओं के आधार पर किया जाता है। उदाहरणार्थ, इगलैण्ड मे 'पार्लियामेण्ट' अपने सामान्य बहुमत से ही सविधान मे किसी भी प्रकार का सशोधन

कर सकती है लेकिन अमरीका में कांग्रेस अपने दोनों सदनों के दो तिहाई मतों से संविधान में किसी विशेष संशोधन के लिए प्रस्ताव रख सकती है और वह संविधान के साधारण संशोधन के लिए एक महासभा बुला सकती है। भारत में संसद दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास कर संविधान के अधिकांश भाग में संशोधन कर सकती है।

(3) *विमर्शात्मक कार्य*—वर्तमान समय में व्यवस्थापन विभाग के लिए सामान्यतया जिस पार्लियामेण्ट (Parliament) शब्द का प्रयोग किया जाता है वह फ्रेंच शब्द पार्लमेण्ट से लिया गया है जिसका अर्थ विचार के लिए सभा है। व्यवस्थापिका में विभिन्न समुदायों, स्वार्थों और दृष्टिकोणों के प्रतिनिधियों के बीच विस्तृत एवं स्वतन्त्र विचार विनिमय होता है और अपने इस कार्य के आधार पर व्यवस्थापिका को लोकमत का दर्पण कहा जा सकता है। व्यवस्थापिका विचारों के आदान प्रदान का यह कार्य किन्हीं निश्चित नियमों के आधार पर करती है जिन्हें व्यवस्थापिका के कार्य संचालन के नियम कहा जा सकता है।

(4) *राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण*—वर्तमान समय में व्यवस्थापिका कानूनों के निर्माण के साथ ही साथ राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण रखने का कार्य भी करती है। बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं (No Taxation without Representation) का सिद्धान्त वित्तीय क्षेत्र में व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता का प्रतीक है। वास्तव में जनता की प्रतिनिधि व्यवस्थापिका द्वारा जनता के धन अर्थात राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण रखना स्वाभाविक ही है। अपनी इसी शक्ति के अन्तर्गत व्यवस्थापिका यह निश्चित करती है कि किन साधनों से धन प्राप्त किया जाय और इस धन को जनहितकारी कार्यों पर किस प्रकार से खर्च किया जाय।

(5) प्रशासन पर नियन्त्रण—यद्यपि व्यवस्थापिका प्रशासनिक कार्यों में सीधे तौर पर भाग नहीं लेती लेकिन प्रशासन पर कुछ-न-कुछ नियन्त्रण अवश्य ही रखती है। व्यवस्थापिका द्वारा प्रशासन सम्बन्धी कार्य संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक शासन पद्धतियों में भिन्न भिन्न रूप में किया जाता है

(अ) संसदीय शासन में—संसदीय शासन में व्यवस्थापिका का कार्यपालिका पर नियन्त्रण होता है। व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका पर यह नियन्त्रण प्रश्न पूरक प्रश्न *स्थगन प्रस्ताव (adjournment motion)* निन्दा प्रस्ताव बजट में कटौती आदि प्रभावशाली विधियों द्वारा रखा जाता है और अन्तिम रूप में व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पास कर कार्यपालिका को पदच्युत कर सकती है।

(ब) अध्यक्षात्मक शासन में—अमरीका जैसी अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में भी व्यवस्थापिका (कांग्रेस) प्रशासन के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण शक्तियों का उपभोग करती है।

प्रथम राष्ट्रपति द्वारा की गयी सन्धियों और नियुक्तियों के लिए सीनेट, जो कि कांग्रेस का उच्च सदन है की स्वीकृति आवश्यक है। द्वितीय सीनेट, के द्वारा और

समितियों (Investigation Committees) की नियुक्ति करके प्रशासन के विभिन्न विभागों के कार्यों की जाँच की जा सकती है। इन समितियों का महत्व इस बात से ही स्पष्ट है कि अमरीका में इन समितियों को 'मछली पकड़ने का जाल' (fishing trips) कहा जाता है। तृतीय, अमरीकी व्यवस्थापिका युद्ध और शान्ति की घोषणा करती है।

(6) न्याय सम्बन्धी कार्य—अधिकांश देशों में व्यवस्थापिका कुछ न्याय सम्बन्धी कार्य भी करती है। इंगलैण्ड में तो व्यवस्थापिका का उच्च सदन 'लॉर्ड सभा' उच्चतम अपील न्यायालय के रूप में ही कार्य करता है। फ्रांस की 'गणतन्त्र परिषद' (Council of Republic), अमरीका की कांग्रेस और भारत की संसद को भी उच्च कार्यपालिका पदाधिकारियों पर महाभियोग लगाने और उनका निर्णय करने का अधिकार प्राप्त है।

व्यवस्थापिका के द्वारा व्यवस्थापिका ने सदस्यों तथा निजी व्यक्तियों पर सदन की निन्दा करने पर अभियोग लगाया जा सकता है। ऐसे विषयों के सम्बन्ध में सदन न्यायालय के रूप में कार्य करता है और सदन के द्वारा न केवल सदन-सदस्यों वरन् निजी व्यक्तियों को भी सदन की अवमानना के आरोप में दण्डित किया जा सकता है।

(7) निर्वाचन सम्बन्धी कार्य—अधिकांश देशों में व्यवस्थापिकाएँ निर्वाचन सम्बन्धी कुछ कार्य भी करती हैं। उदाहरणार्थ, स्विट्जरलैण्ड की व्यवस्थापिका मन्त्रिपरिषद के सदस्यों, न्यायाधीशों तथा प्रधान सेनापति का चुनाव करती है, सोवियत संघ में व्यवस्थापिका मन्त्रिपरिषद के सदस्यों और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है। भारत में भी संघीय व्यवस्थापिका तथा राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा राष्ट्रपति का निर्वाचन किया जाता है।

(8) समितियों और आयोगों की नियुक्ति—विधानमण्डल समय समय पर किन्हीं विशेष कार्यों की जाँच करने के लिए समितियों और आयोगों की नियुक्ति का कार्य करता है। अमरीका में व्यवस्थापिका के दूसरे सदन सीनेट के द्वारा जाँच समितियों की नियुक्ति की जाती है, जो कि कार्यपालिका की शक्ति पर प्रभावशाली नियन्त्रण सिद्ध हुई है। भारत में भी संसद समय समय पर आयोगों की रचना करती है। वित्त आयोग और प्रशासनिक सुधार आयोग इसका अच्छा उदाहरण है। भारत में अमरीका और इंगलैण्ड के आदर्श पर सरकारी निगमों की रचना की गयी है। भारत में इन निगमों की गतिविधियों और कार्यों पर संसद का पूरा नियन्त्रण रहता है।

(9) जन भावनाओं की अभिव्यक्ति (Ventilation of Grievances)—लोकतन्त्र में व्यवस्थापिका एक ऐसा स्थान है जहाँ पर जनता के प्रतिनिधि सरकार का ध्यान जनता के कष्टों के प्रति आकर्षित करते हैं और शासन को जनहित में कार्य

करने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार व्यवस्थापिका को जनता का रंगमंच कहा जा सकता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका विधि निर्माण का ही एकमात्र कार्य नहीं करती वरन् वह अन्य क्षेत्रों में भी प्रभावशाली कार्य करती है। डॉ॰ गार्नर ने बिल्कुल ठीक ही कहा है, 'अधिकांश देशों में व्यवस्थापिका केवल विधि निर्माण करने वाला अंग ही नहीं, प्रत्युत साथ-ही साथ वह अन्य विभिन्न कार्य भी करता है जैसे निर्वाचन सम्बन्धी न्यायिक, निर्देशक व कार्यपालिका सम्बन्धी।'[1]

व्यवस्थापिका का संगठन

व्यवस्थापिका का संगठन दो रूपों में किया जा सकता है। व्यवस्थापिका का या तो एक सदन हो सकता है या दो सदन। लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के प्रारम्भ में अधिकांश देशों में एकसदनात्मक व्यवस्थापिका ही थी, किन्तु बाद में यह अनुभव किया गया कि प्रथम सदन की शक्ति पर अंकुश रखने और प्रथम सदन द्वारा किये गये कार्यों पर पुनर्विचार करने के लिए व्यवस्थापिका के दो सदन होने चाहिए। वर्तमान समय में कुछ छोटे देशों को छोड़कर प्रायः सभी महत्वपूर्ण देशों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिकाएँ विद्यमान हैं। व्यवस्थापिका एकसदनात्मक होनी चाहिए या द्विसदनात्मक—यह प्रश्न पर्याप्त विवादग्रस्त रहा है और राजनीति विज्ञान के विभिन्न विद्वानों द्वारा इस पर अपने विचार व्यक्त किये गये हैं। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष और विपक्ष का विवेचन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क—वास्तव में वर्तमान समय में द्विसदनात्मक पद्धति अधिक लोकप्रिय है। इस पद्धति के पक्ष में प्रमुख रूप से निम्न लिखित युक्तियाँ दी जाती हैं

(1) **प्रथम सदन की स्वेच्छाचारिता पर रोक**—यह एक सामान्य तथ्य है कि शक्ति भ्रष्ट करती है और बिना किसी प्रतिबन्ध के दी गयी शक्ति मनुष्यों को नितान्त भ्रष्ट कर देती है। द्वितीय सदन प्रथम सदन की मनमानी पर अंकुश रखता है, जिसके अभाव में व्यवस्थापिका नितान्त भ्रष्ट हो जायेगी। लेकी कहते हैं 'शासन के उन सब रूपों में, जो मनुष्य के लिए सम्भव हैं मैं किसी ऐसे शासन को नहीं जानता जो एक अकेले सर्वशक्तिशाली लोकतन्त्रीय सदन के शासन से बुरा हो।'[2] व्यवस्थापिका के सदस्य अत्याचारी भ्रष्ट व स्वेच्छाचारी न होने पायें, इसके लिए

---

[1] 'In most countries the leg slature is not merely the law making organ but at the same time it exercises a variety of other functions electoral, judicial directorial and executive '

—Garner *Political Science and Government* p 540.

[2] 'Of all the forms of Go ernment that are possible among mankind I do not know any whi h is likely to be worse than the government of a single omn potent democratic chamber "

—Lecky *Civil Liberty and Self Government*, p 170.

दो सदन होने आवश्यक हैं। डॉ. गार्नर के शब्दों में, "द्वितीय सदन की विद्यमानता स्वतन्त्रता की गारण्टी व कुछ सीमा तक अत्याचार की सुरक्षा भी है।"[1]

(2) जल्दबाजी व अविचारपूर्ण कानून-निर्माण पर रोक—दूसरा सदन पहले सदन को जल्दबाजी और अविचारपूर्ण कानूनों पर रोक लगाने का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन है। जनता के प्रतिनिधि भावुक, क्रान्तिकारी और अव्यावहारिक हो सकते हैं और अनेक बार ऐसे क्रान्तिकारी कानून बनाने के लिए उद्यत हो जाते हैं जिनमें लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होती है। द्वितीय सदन इस प्रकार के अविचारपूर्ण कानूनों पर रोक लगाकर अत्यन्त उपयोगी कार्य करता है। इस सम्बन्ध में लैकी ने कहा है, "नियन्त्रक, संशोधक एवं बाधक प्रभाव के रूप में द्वितीय सदन की आवश्यकता ने प्रायः एक सर्वमान्य तथ्य का स्थान ले लिया है।"[2]

कानून निर्माण का कार्य विचारों के आदान प्रदान के आधार पर किया जाता है और इस सम्बन्ध में जितने अधिक पक्षों द्वारा विचारों के आदान-प्रदान में भाग लिया जाय, उतने ही पूर्ण कानूनों के निर्माण की आशा की जाती है। दो सदनों की उपयोगिता बताते हुए ब्लटशली ने ठीक ही कहा है कि, "दो आँखों की अपेक्षा चार आँखें सदा अच्छा देखती हैं विशेषतः जब किसी प्रश्न पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना आवश्यक हो।"

(3) सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व—द्विसदनात्मक प्रणाली विभिन्न वर्गों और हितों को प्रतिनिधित्व प्रदान करती है। प्रथम सदन के अन्तर्गत शक्तिशाली राजनीतिक हितों से सम्बन्धित निम्न एवं मध्यम वर्ग के सदस्यों को ही प्रतिनिधित्व प्राप्त हो पाता है। लेकिन लोकतन्त्र का आदर्श सभी वर्गों को व्यवस्थापिका में स्थान प्रदान करना है, अतः कुलीन वर्ग को द्वितीय सदन में प्रतिनिधित्व प्रदान किया जा सकता है।

दूसरे सदन में विशेष वर्गों, अल्पसंख्यकों एवं विद्या, ज्ञान और अनुभव की दृष्टि से योग्य व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व सुरक्षित रखा जा सकता है, अतः प्रतिनिधित्व की उत्तमता की दृष्टि से दो सदनों की व्यवस्था ही श्रेष्ठ है।

(4) कार्य विभाजन से लाभ—जनकल्याणकारी राज्य के विचार को अपना लेने के कारण वर्तमान समय में व्यवस्थापिका के कार्य बहुत अधिक बढ़ गये हैं। व्यवस्थापिका के दो सदन होने पर इन बढ़े हुए कार्यों का विभाजन किया जा सकता है और इससे व्यवस्थापिका की कार्यक्षमता बढ़ जाती है। वे विधेयक, जिनपर विशेष मतभेद नहीं होता, सर्वप्रथम द्वितीय सदन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं और प्रथम सदन अपना ध्यान अधिक महत्वपूर्ण समस्याओं की ओर केन्द्रित कर सकता है।

---

[1] "The existence of a second chamber is thus a guarantee of liberty as well as in some extent, safeguard against tyranny." —Garner, *Ibid.*, p. 551.

[2] "The necessity of second chamber to increase a controlling modifying and retarding influence has required almost the position of an axiom."—*Lecky*

द्वितीय सदन को विशेष कार्य भी सौंपे जा सकते हैं। जैसे अमरीका मे सीनेट को महाभियोग की जाँच का कार्य और इगलैण्ड मे लॉर्ड सभा को अपील के सर्वोच्च न्यायालय का कार्य भी सौंपा गया है।

(5) जनमत निर्माण मे सहायक—व्यवस्थापिका के दो सदन होने पर एक सदन द्वारा विधेयक पारित कर दिये जाने पर उसे दूसरे सदन मे भेजा जाता है। इसी समय प्रेस के माध्यम से निर्वाचकमण्डल को आवश्यक जानकारी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की बाधा के कारण होने वाली देरी निर्वाचकमण्डल को भी अपनी सम्मति प्रकट करने योग्य बनाती है।

(6) सार्वजनिक मत का सही मापयन्त्र—द्विसदनात्मक पद्धति सार्वजनिक मत का सही मापयन्त्र भी होती है। एकसदनात्मक विधानमण्डल अपने कार्यकाल की समाप्ति के पूर्व ही असामयिक हो सकता है और अनेक बार जनमत का प्रतिनिधित्व नही करता। किन्तु यदि व्यवस्थापिका के दो सदनो का भिन्न समयो पर और विभिन्न अवधियों के लिए चुनाव किया जाय, तो इस प्रकार की त्रुटि दूर हो जाती है। इस प्रकार द्विसदनात्मक पद्धति मे व्यवस्थापिका सदैव ही जनमत की प्रतिनिधि रहेगी।

(7) कार्यपालिका की स्वतन्त्रता की सुरक्षा—गैटेल का कथन है कि, "दो सदन एक-दूसरे पर रुकावट का काम करके कार्यपालिका को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं और अन्त मे इससे लोकहित की बढ़ोत्तरी होती है।" कई बार मन्त्रियों को अपनी सही नीति के लिए भी प्रथम सदन में पर्याप्त समर्थन नही मिल पाता। ऐसी स्थिति मे यदि उन्हे द्वितीय सदन मे पर्याप्त समर्थन मिल जाय, तो उनकी स्थिति काफी दृढ हो जाती है।

इसके अतिरिक्त, भारत और अमरीका जैसे राज्यो मे राष्ट्रपति महाभियोग द्वारा पदच्युत किया जा सकता है। यहाँ पर एक सदन आरोप लगाता है और दूसरा सदन इन आरोपो की जाँच करता है। ऐसी स्थिति मे यदि एक सदन हो तो आरोपों की जाँच कौन करेगा और राष्ट्रपति विधानमण्डल के इस सदन की दया पर निर्भर हो जायेगा।

(8) संघात्मक राज्य के लिए आवश्यक—एक संघ के अन्तर्गत जो विभिन्न इकाइयाँ होती हैं, उनमें साधारणतया क्षेत्र और जनसख्या की दृष्टि से बहुत अधिक अन्तर होता है। ऐसी स्थिति मे संघ की सभी इकाइयो को सन्तुष्ट रखने के लिए द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका आवश्यक है। दो सदन होने पर प्रथम सदन में जनसंख्या के आधार पर और दूसरे सदन मे इकाइयों की समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की जा सकती है। बाउस तथा फ्रेडरिक इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि "राज्यो के साथ होने वाले अन्याय को रोकने के लिए दूसरा सदन आवश्यक समझा जाता है और विशेषकर संघ की छोटी इकाइयों के लिए जरूरी होता है, क्योंकि प्रथम सदन में उनका प्रतिनिधित्व सीमित होता है।"[1]

[1] Bowie and Friedrich, *Studies in Federalism*, p. 4.

(9) अनुभवी लोगों का सदन—यदि इंगलैण्ड, अमरीका, भारत, कनाडा, आदि देशों के उच्च सदनों पर दृष्टि डाली जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन देशों के उच्च सदनों के सदस्य राजनीतिक दृष्टि से बहुत अधिक अनुभवी होते हैं। ये अनुभवी व्यक्ति राजनीति में परिपक्वता, गम्भीरता और आवश्यक अनुदारता का प्रवेश कराते हैं तथा देश को अपने अनुभव से लाभान्वित करते हैं। इन अनुभवी व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त करने का अवसर द्वितीय सदन के पक्ष में एक प्रभावशाली तर्क है।

(10) ऐतिहासिक अनुभव - उपर्युक्त सभी तर्कों के अतिरिक्त ऐतिहासिक अनुभव भी अधिकतर दूसरे सदन के पक्ष में है। इंगलैण्ड में गृहयुद्ध के पश्चात् क्रामवेल के समय (1649-1660) और अमरीका में स्वतन्त्रता के पश्चात प्रसंधान के समय (1777-1778) व्यवस्थापिका का एक ही सदन था। किन्तु इसका अनुभव ठीक नहीं रहा और इस थोड़े से समय के बाद यहाँ द्विसदनीय व्यवस्था को अपना लिया गया। फ्रांस में भी एकसदनीय विधानमण्डल का प्रयोग असफल रहा और वहाँ अब एकसदनीय विधानमण्डल की कोई बात ही नहीं करता। यही कारण है कि आजकल विश्व के लगभग सभी देशों में, चाहे वे साम्यवादी हों या उदार लोकतन्त्रात्मक, द्विसदनीय विधानमण्डल ही पाया जाता है।

विपक्ष में तर्क—द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में प्रतिपादित इन विचारों से अनेक विद्वान सहमत नहीं हैं और वे एकसदनात्मक व्यवस्थापिका को ही श्रेष्ठ समझते हैं। उनके द्वारा निम्नलिखित तर्कों के आधार पर द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का विरोध किया जाता है

(1) द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका अलोकतन्त्रात्मक—ऐसा माना जाता है कि प्रभुता अविभाज्य होती है और लोकतन्त्र का यह आधारभूत सिद्धान्त है कि प्रभुता जनसाधारण में निवास करती है। इसलिये यह कहा जाता है कि सर्वसाधारण जनता द्वारा निर्वाचित एकसदन ही सर्वसाधारण की इच्छा का प्रतिनिधित्व कर सकता है और दूसरा सदन अलोकतन्त्रीय होता है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक अबे-सीज ने लिखा है कि 'किसी भी विषय पर लोकमत एक ही हो सकता है, दो नहीं, इसलिये जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक ही सदन होना चाहिए, दूसरे सदन की आवश्यकता नहीं।'[1] वे आगे लिखते हैं, "यदि दूसरा सदन पहले सदन का विरोध करता है तो दुष्ट है और यदि सहमत हो जाता है तो व्यर्थ है।'[2]

---

[1] "The law is the will of the people, the people cannot at the same time have two different wills on the same subject, therefore the legislative body which represents ought to be essentially one."

[2] "If the upper chamber agrees with first chamber it is superfluous, if it disagrees with the first, it is mischievous."

(2) प्रथम सदन की निरकुशता को नहीं रोकता—प्रत्यक्ष निर्वाचन और अन्य बातों के कारण सामान्यतया प्रथम सदन दूसरे सदन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है इसलिये दूसरे सदन के लिए प्रथम सदन पर नियन्त्रण रख सकना सम्भव नही है। इसके अतिरिक्त महत्वपूर्ण बात यह है कि प्राय दोनो सदनो मे दल होते हैं और म न के सदस्यो द्वारा अपना मत सम्भीय आधार पर नही वरन दलीय आधार पर व्यक्त किया जाता है। इसलिये दूसरे सदन द्वारा प्रथम सदन की मन मानी पर रोक लगाने का प्रश्न ही नहा उठता। एक सदन की स्वेच्छाचारिता को तो कायपालिका का निषेधाधिकार अथवा उसी सदन म कुछ समय पश्चात पुन मतगणना द्वारा अधिक अच्छे प्रकार से रोका जा सकता है।

(3) कानूनो पर पुनर्विचार के लिए आवश्यक नहीं—यह कहा जाता है कि आवेश तथा जल्दबाजी म किये गये व्यवस्थापन पर रोक लगाने के लिए द्वितीय सदन आवश्यक है किन्तु वास्तविकता यह नही होती है। वतमान समय मे एक सदन द्वारा पारित कानून न तो कुविचारित होता है और न ही जल्दबाजी का परिणाम। प्राय प्रत्येक विधेयक विवाद और विश्लेषण की लम्बी प्रक्रिया को पार करने के बाद ही कानून का रूप ग्रहण कर पाता है। इस सम्बन्ध म लास्की ने लिखा है आधुनिक युग में व्यवस्थापन एकाएक कानून की पुस्तक पर नहीं आ जाता। प्राय प्रत्येक विधयक विचार और विश्लेषण की लम्बी प्रक्रिया के फलस्वरूप कानून बनता है। अत जल्दबाजी के व्यवस्थापन को रोकने की दृष्टि से राजनीति की वतमान दशा मे दूसरे सदन का महत्व अत्यन्त कम हो गया है।[1]

(4) दोनों सदनों में गतिरोध की आशका—अनुभव के आधार पर ऐसा देखा गया है कि व्यवस्थापिका के दो सदन होने पर इन दोनो सदनो म लगभग सदैव ही गतिरोध बना रहता है जिसका शासन व्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है अमरीकी सविधान सभा के एक सदस्य बेन्जामिन फ्रेंकलिन का विचार है कि दो सदन रखना ठीक ऐसा ही है जैसे एक गाड़ी के दोनो तरफ घोड़े जोत दिये जायें और वे विरोधी दिशाओं में जाने का प्रयत्न करें।

(5) रूढ़िवादिता का गढ़—क्योकि द्वितीय सदन के सदस्य आयु की दृष्टि से बड़े होते हैं और उनके द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन मनोनयन या उत्तराधिकार के आधार पर अपना पद प्राप्त किया जाता है इसलिये वह रूढ़िवादिता का गढ बन जाता है और देश मे प्रगतिशील सुधार करने के इच्छुक निम्न सदन के माग म रुकावट डालता है। द्वितीय सदन के आलोचको का विचार है कि ऐसे रूढ़िवादी तत्वो को प्रतिनिधित्व देने का परिणाम देश का अहित ही होता है।

---

[1] Leg slat on does not suddenly finds ts wa) to the statute book A most every measure, that is ena ted becomes la as a re u t of a long pro ess of discuss on and nalys s so that the importance of se ond chamber as exerc s ng check on hasty leg slat on is generally lessened by the modern cond t ons of pol t cs —Laski, *Gramn ar of Pol t cs*, p 330

(6) अल्पमतों को प्रतिनिधित्व देने हेतु अन्य सन्तोषजनक प्रबन्ध सम्भव—द्वितीय सदन के आलोचक कहते हैं कि यह जरूरी नहीं है कि अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए दूसरे सदन की व्यवस्था की जाय। अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए संविधान में दूसरे उपाय किये जा सकते हैं जिस तरह भारती संविधान में आंग्ल भारतीय समुदाय अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों और कबीलों के लिए सन् 1990 तक सुरक्षित स्थान रखे गये हैं।

(7) द्वितीय सदन के संगठन की समस्या—द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का इस कारण भी विरोध किया जाता है कि द्वितीय सदन के संगठन के विषय में कोई भी एकमत नहीं है। संगठन के सम्बन्ध में असहमति स्वतः इसके विरुद्ध एक तर्क है। व्यवहार में, दो सदनों की व्यवस्था वाले सभी देशों में यह समस्या उत्पन्न हुई है। उदाहरणार्थ, हाउस ऑफ लार्ड्स को सदैव असंगत कहा जाता है क्योंकि यह कुलीन वर्ग को छोड़कर अन्य किसी का प्रतिनिधित्व नहीं करता। कनाडा में सीनेट के सदस्यों को मनोनीत करने की जो व्यवस्था है, उसके विरुद्ध यह तर्क है कि शासन अपने समर्थकों को उसमें भर लेता है। यदि प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर द्वितीय सदन का निर्माण किया जाय तो वह प्रथम सदन की पुनरावृत्ति ही हो जाता है और अप्रत्यक्ष निर्वाचन को अपनाया जाय तो उसे भ्रष्टता का जनक कहा जाता है। दोनों सदनों की शक्ति की दृष्टि से भी द्विसदनीय व्यवस्थापिका आलोचना का विषय बन जाती है। इस प्रकार पूर्ण सन्तोषप्रद द्वितीय सदन का निर्माण स्वयं में एक विकट समस्या है।

(8) अपव्यय—द्विसदनीय प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक विषय पर दो-दो बार विचार होता है जिसका अर्थ है समय की क्षति और राजकोष पर अनावश्यक बोझ। जब एक सदन द्वारा व्यवस्थापन का कार्य सम्पन्न हो सकता है तो दूसरे सदन का अस्तित्व स्पष्टतया धन का अपव्यय है।

(9) संघ राज्य के लिए आवश्यक नहीं—आलोचकों का कथन है कि संघ राज्य के लिए भी दूसरे सदन का अस्तित्व न तो उपयोगी है और न ही आवश्यक। व्यवहार में ऐसा देखा जाता है कि दूसरे सदन के सदस्य इकाइयों का प्रतिनिधित्व करने के बजाय उन राजनीतिक दलों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनकी सहायता से वे निर्वाचित होते हैं। दलीय अनुशासन के कारण भी ऐसा करना आवश्यक होता है। इसलिये लास्की ने कहा है कि, "यह गलत है कि संघ की रक्षा के लिए दूसरा सदन कोई प्रभावशाली गारण्टी है।" संघ की इकाइयों के हितों की रक्षा वस्तुतः वैधानिक संरक्षणों तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका द्वारा ही हो सकती है, दूसरे सदन के अस्तित्व द्वारा नहीं।

निष्कर्ष—इस प्रकार की आलोचनाओं के होते हुए भी वर्तमान समय में प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र के लिए द्विसदनात्मक विधानमण्डल नितान्त आवश्यक माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि द्वितीय सदन पूर्ण आवश्यकता के साथ प्रथम

सदन द्वारा पारित विधेयकों का परीक्षण और उन पर पुनर्विचार करे, तो लोकप्रिय सदन की जल्दबाजी और मनमानी पर उपयोगी एवं आवश्यक प्रतिबन्ध लगा सकता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व दिये जाने पर कानून-निर्माण का कार्य अधिक पूर्णता के साथ किये जाने की आशा की जाती है। यही कारण है कि केवल कुछ छोटे छोटे राज्यों को छोड़कर शेष सभी राज्यों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका पायी जाती है। लेकिन इसके साथ ही द्वितीय सदन का अस्तित्व उसी समय उपयोगी हो सकता है जबकि वह विधेयकों पर स्वतन्त्र रूप से विचार करे। द्वितीय सदन न तो प्रथम सदन की हां में हां मिलाने वाला (rubber stamp) होना चाहिए और न ही उसके द्वारा 'विरोध के लिए ही विरोध' की प्रवृत्ति अपनायी जानी चाहिए।

दोनों सदनों का पारस्परिक सम्बन्ध

उन्नीसवीं सदी के अन्त तक सामान्यतया व्यवस्थापिका के दोनों सदनों की शक्तियाँ समान हुआ करती थी, किन्तु कालान्तर में इस विचार का प्रतिपादन किया गया है कि प्रथम या निम्न सदन प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होने के कारण जन हितों का अधिक अच्छे रूप में प्रतिनिधित्व करता है और इसलिये प्रथम सदन को द्वितीय सदन की तुलना में अधिक शक्तियाँ प्राप्त होनी चाहिए। संयुक्त राज्य अमरीका जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर विश्व के लगभग सभी देशों में ऐसी स्थिति है। यदि दोनों सदनों में गतिरोध उत्पन्न हो जाय, तो उसे दूर करने के लिए विभिन्न राज्यों में अलग-अलग तरीके अपनाये गये हैं

(1) जिस विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदनों के मध्य विवाद है उसे दूर करने के लिए दोनों सदनों की एक छोटी सी 'संयुक्त समिति' नियुक्त की जाय, जो गतिरोध दूर करने का प्रयत्न करे, लेकिन यदि इस समिति को अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त न हो, तो विधेयक को समाप्त कर दिया जाय। संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसी ही व्यवस्था है।

(2) जिस विधेयक पर दोनों सदनों के बीच विवाद है, उसे लोकनिर्णय के लिए जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया जाय। स्विट्जरलैण्ड में यही व्यवस्था है

(3) दोनों सदनों का सम्मिलित अधिवेशन बुलाकर बहुमत से विवादग्रस्त विधेयक पर निर्णय कर लिया जाय। भारत, आस्ट्रेलिया, आदि देशों में ऐसी ही व्यवस्था है।

(4) यदि द्वितीय सदन प्रथम सदन के निर्णय से असहमत हो, तो संविधान द्वारा निश्चित की गयी अवधि के बाद प्रथम सदन द्वारा उस विधेयक को पारित कर देना है और अब वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है। इंगलैण्ड में ऐसी ही स्थिति है।

(5) उपर्युक्त रूपों से भिन्न, रूस में ऐसी व्यवस्था है कि दोनों सदनों में गतिरोध उत्पन्न होने पर विवादग्रस्त विधेयक 'समाधान आयोग' या समझौता आयोग

(Conciliation Commission) के पास भेजा जाता है जिससे दोनों सदनों के बराबर की संख्या में सदस्य होते हैं। यदि आयोग गतिरोध दूर करने में असफल रहे, तो दोनों सदनों में गतिरोध दूर करने के लिए दुबारा विचार किया जाता है। यदि फिर भी विवाद हल न हो तो प्रेजीडियम, सर्वोच्च सोवियत (रूस की संघीय व्यवस्थापिका) को भंग कर देता है।

दोनों सदनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में सामान्यतया यह बात कही जा सकती है कि द्वितीय सदन को केवल पुनर्विचार सदन का ही स्थान प्राप्त होना चाहिए, किसी भी स्थिति में उसकी शक्तियाँ प्रथम या लोकप्रिय सदन के समकक्ष नहीं होनी चाहिए। कानून निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति लोकप्रिय सदन के ही हाथों में रहनी चाहिए।

प्रत्यक्ष व्यवस्थापन
(DIRECT LEGISLATION)

प्रत्यक्ष व्यवस्थापन—प्रत्यक्ष व्यवस्थापन का तात्पर्य यह है कि कानूनों के निर्माण अथवा उसकी स्वीकृति में जनता द्वारा भाग लिया जाय। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में तो जनता के द्वारा ही कानूनों का निर्माण किया जाता है और इस प्रकार पूर्णतया प्रत्यक्ष व्यवस्थापन होता है। अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में जनता प्रत्यक्ष व्यवस्थापन का कार्य अपने प्रतिनिधियों की कानून निर्माण की शक्ति पर नियन्त्रण रखते हुए कर सकती है। जनता के द्वारा कानून निर्माण के सम्बन्ध में निषेधात्मक या सकारात्मक दोनों प्रकार की शक्तियों का प्रयोग करते हुए जो कार्य किये जाते हैं, वही 'प्रत्यक्ष व्यवस्थापन' है।

प्रत्यक्ष व्यवस्थापन की आवश्यकता- वर्तमान समय में लगभग सभी पक्षों द्वारा इस बात को स्वीकार कर लिया जाता है कि शासन के सभी प्रचलित रूपों में लोकतन्त्र सबसे अधिक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था है। लोकतन्त्रीय शासन के दो रूप होते हैं—*प्रत्यक्ष लोकतन्त्र और अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र।* लोकतन्त्रीय शासन के इन दो रूपों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र अपेक्षाकृत श्रेष्ठ होते हुए भी वर्तमान समय के क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से विशाल राज्यों में व्यावहारिक नहीं रहा है और विश्व के लगभग सभी राज्यों द्वारा अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र को अपनाया गया है। अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र में जनता अपने जिन प्रतिनिधियों को चुनती है, उनसे इस बात की आशा की जाती है कि वे जनता की इच्छाओं को ही कानून का रूप प्रदान करेंगे। लेकिन व्यवहार में यह देखने में आता है कि अनेक बार जन प्रतिनिधि ऐसे विधेयक पारित कर देते हैं जो जन इच्छाओं के विरुद्ध होते हैं या उनके द्वारा जन हितों की रक्षा के लिए आवश्यक कानूनों का निर्माण नहीं किया जाता। ऐसी प्रत्येक स्थिति में, जन-प्रतिनिधियों की कानून निर्माण की शक्ति पर जन नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है और यह जन नियन्त्रण 'प्रत्यक्ष व्यवस्थापन' की व्यवस्था के आधार पर ही रखा जा सकता है।

प्रत्यक्ष व्यवस्थापन या प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के साधन

वर्तमान समय के अधिकांश राज्यों में अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र होते हुए भी इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि महत्वपूर्ण कानूनों के निर्माण या स्वीकृति में जनता प्रत्यक्ष रूप से भाग ले। जनता को इस प्रकार की शक्ति प्रारम्भिक सभाएँ, लोकनिर्णय, आरम्भक और प्रत्यावर्तन की पद्धतियों द्वारा ही प्रदान की जा सकती है और इन पद्धतियों को ही 'प्रत्यक्ष व्यवस्थापन के साधन' कहा जाता है। क्योंकि इन पद्धतियों के आधार पर जनता को शासन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण बातों के सम्बन्ध में निर्णय की शक्ति प्राप्त हो जाती है, इसलिये इन पद्धतियों को ही प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के साधन' भी कहा जाता है। प्रत्यक्ष व्यवस्थापन के इन साधनों द्वारा प्रतिनिध्यात्मक शासन के दोषों को दूर करने, शासन को व्यवहार में जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने तथा निर्वाचक और उसके प्रतिनिधि के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य किया जाता है।

(1) लैण्डसजिमेण्डी अथवा प्रारम्भिक सभा (Landsgemeinde or Primary Assembly)—लैण्डसजिमेण्डी अथवा प्रारम्भिक सभाओं की व्यवस्था प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के अन्तर्गत ही होती है। स्विट्जरलैण्ड के ग्लेरस, अपनजेल और अण्टरवाल्डेन कैण्टनों (राज्य या प्रान्त) में इनका प्रचलन है। इन कैण्टनों में सम्बन्धित स्थान के सभी मतदाता एक स्थान पर एकत्रित होकर अपना एक सभापति चुनते हैं और इस सभा द्वारा अपने कैण्टन के लिए कानूनों का निर्माण किया जाता है, बजट पास किया जाता है, कार्यपालिका व अन्य अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं और इसे कैण्टन के संविधान में संशोधन की शक्ति भी प्राप्त होती है। इस प्रकार इसे कैण्टन के सम्बन्ध में सर्वशक्तिसम्पन्न संस्था कहा जा सकता है। प्रो. ब्रुक्स ने लैण्डसजिमेण्डी या प्रारम्भिक सभा को स्विट्जरलैण्ड और सम्भवत विश्व की सर्वाधिक आकर्षक संस्था बताया है।[1] लायड के शब्दों में, "लैण्डसजिमेण्डी वाले कैण्टनों में लोकतन्त्र का शुद्धतम रूप है, जिसमें लोग एकत्रित होकर सरकार के कठिन कार्यों में अपनी प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग करते हैं और यह उस व्यवस्था का उदाहरण है जिसे रूसो और अन्य दार्शनिक लोकतन्त्र का एकमात्र रूप मानते हैं।"[2]

(2) लोक निर्णय (Referendum)—लोक निर्णय इस विचार पर आधारित है कि प्रत्येक कानून आवश्यक रूप से जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होना चाहिए और इसलिये जनता को व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों पर निषेधा-

---

1 'Landsgemeinde is the most picturesque and fascinating of all political institutions in Switzerland and perhaps in the world " —*Prof Brooks*

2 "The Landsgemeinde cantons have the purest form of democracy in which the sovereign power of true people is directly exer ised in all the critical acts of government by the full assembly of citizens forming the largest and most conspicuous example of what Rousseau and certain other political philosophers regard as the only democracy." —*Prof Llyod*

धिकार प्राप्त होना चाहिए। लोक निर्णय का तात्पर्य यह है कि विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक उस समय तक कानून का रूप ग्रहण नही कर सकता, जब तक कि जनता उसे स्वीकृति प्रदान न करे अर्थात यदि जनता विधेयक को अस्वीकृत कर दे, तो उसे रद्द समझा जायगा। लोक निर्णय के दो रूप होते हैं—अनिवार्य और ऐच्छिक।

अनिवार्य लोक निर्णय—इसका आशय यह है कि विधानमण्डल द्वारा पारित सब विधेयकों पर लोक निर्णय आवश्यक है और बिना जनता की स्वीकृति के ये विधेयक कानून का रूप ग्रहण नहीं कर सकते। संयुक्त राज्य अमरीका के अधिकांश राज्यों, स्विट्जरलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया मे समस्त संवैधानिक संशोधनों को आवश्यक रूप से जनता के सामने मतदान हेतु रखा जाता है।

ऐच्छिक लोक निर्णय—इसका तात्पर्य यह है कि यदि संविधान द्वारा निर्धारित जनता की एक निश्चित संख्या, निश्चित समय के भीतर विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक पर लोक निर्णय की माँग करे तभी वह उसके लिए प्रस्तुत किया जायगा, अन्यथा नही। यदि जनता द्वारा इस प्रकार की माँग नहीं की जाय तो विधेयक बिना लोक निर्णय के ही स्वीकृत समझ लिया जाता है। स्विट्जरलैण्ड मे ऐसी व्यवस्था है कि जिस विधानमण्डल द्वारा विधेयक पारित करने के तीन माह के अन्दर 30 हजार नागरिक या 8 कैण्टन इस प्रकार की माँग करें तो लोक निर्णय किया जाता है।

(3) आरम्भक (Initiative)—लोक निर्णय जनता को कानूनों के सम्बन्ध मे निषेधात्मक शक्ति प्रदान करता है, लेकिन प्रायः व्यवस्थापन की इस शक्ति को पर्याप्त नही समझा जाता। यह कहा जाता है कि जनता को व्यवस्थापिका मे कानून प्रस्ताव रखने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए, जिससे वह अपनी इच्छानुसार कानूनों के निर्माण का कार्य करवा सके। आरम्भक के द्वारा जनता को अधिकार दिया जाता है कि वह किसी विधेयक का प्रारूप तैयार कर अथवा प्रस्ताव मे विधान मण्डल से इस बात की माँग कर सकती है कि या तो विधानमण्डल उस प्रस्ताव के आधार पर कानून का निर्माण करे अथवा उस पर लोक निर्णय लिया जाय। आरम्भक के दो प्रकार होते हैं—सविन्यासित आरम्भक और अविन्यासित आरम्भक।

सविन्यासित आरम्भक (Formulated Initiative) —इसके अन्तर्गत जनता स्वयं ही विधानमण्डल के सम्मुख विधेयक का पूर्ण प्रारूप प्रस्तुत करती है और विधानमण्डल इस प्रारूप को बिना किसी संशोधन के जनता के सम्मुख अन्तिम निर्णय हेतु प्रस्तुत करती है।

अविन्यासित आरम्भक (Unformulated Initiative)—इसमें विधानमण्डल के सम्मुख जनता कुछ निश्चित सिद्धान्त रखती है। यदि विधानमण्डल इन सिद्धान्तों मे सहमत होता है तो उनके आधार पर विधेयक निर्मित करता है और यदि विधान-मण्डल इन सिद्धान्तो से असहमत हो तो इन सिद्धान्तों को जनमत जानने के लिए

प्रस्तुत किया जाता है। जनमत संग्रह मे जनता द्वारा इन सिद्धान्तों को स्वीकृत कर लिये जाने पर विधानमण्डल उनके आधार पर विधेयक का प्रारूप तैयार करता है और इस प्रारूप पर पुन जनमत संग्रह किया जाता है।

(4) प्रत्यावर्तन (Recall)—इनका उद्देश्य विधायकों और मन्त्रियों को अपने कर्तव्यों के प्रति सजग रखना और उन्हे जन सेवक बनाये रखना है। इनके द्वारा जनता को यह अधिकार प्राप्त होता है कि यदि उसके प्रतिनिधि—विधायक या मन्त्री—अपने कर्तव्यों और लोक कल्याण के प्रति विमुख या उदासीन हो तो जनता उन्हे उनके पद से हटा सकती है। लीकॉक ने प्रत्यावर्तन या वापस बुलाने की पद्धति के बारे में लिखा है कि "पद ग्रहण करने वाले सब व्यक्तियों को तभी तक पद ग्रहण करना चाहिए जब तक कि लोग उनको पदावधि को स्वीकृति दें, किसी भी समय जब मतदाताओं का बहुमत चाहे, अधिकारियों को अपने पद से हटा दिया जाए।"[1]

प्रत्यक्ष व्यवस्थापन की पद्धति के गुण-दोष

प्रत्यक्ष व्यवस्थापन के गुण—प्रत्यक्ष व्यवस्थापन के प्रमुख गुण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं

(1) कानूनी प्रभु पर प्रतिबन्ध—लोक निर्णय तथा आरम्भक व्यवस्थापिका के मनमाने कार्यों पर एक जनप्रिय प्रतिबन्ध होता है। लोकतन्त्र में व्यवस्थापिकाओं मे यह आशा की जाती है कि वे कानून निर्माण का कार्य जनता की इच्छानुसार करेंगी, लेकिन वह सदैव ही ऐसा नही करती हैं। अत लोक निर्णय और आरम्भक अपनी इच्छा लागू करने के लिए जनता के हाथ मे एक आवश्यक अस्त्र है।

(2) लोकनिर्णय शासन की त्रुटियों का उपचार—अनेक बार व्यवस्थापिका जनता के हितों को भुलाकर दोषपूर्ण कानून बनाने का प्रयत्न करती है लेकिन यदि लोकनिर्णय की व्यवस्था हो तो व्यवस्थापिका को ये विधेयक मतदान के लिए जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने पड़ेंगे और जनता इन्हें अस्वीकार कर शासन की त्रुटियो को दूर कर देगी।

(3) आरम्भक शासन की भूलों का उपचार—अनेक बार जन प्रतिनिधि चुनाव के समय तो जनता के हित मे कार्य करने के अनेक वायदे करते हैं लेकिन चुने जाने के बाद इन वायदों को पूरा करने के लिए आवश्यक कानूनो का निर्माण करना भूल जाते हैं। ऐसी स्थिति मे यदि आरम्भक की व्यवस्था हो तो जनता व्यवस्थापिका पर जन हितकारी कानूनों का निर्माण करने के लिए दबाव डाल सकती है।

---

[1] "The system means that all persons who hold office must do so only so long as their tenure of office is sanctioned by the will of the people at any time when the majority of the voters desire it, the office holder is removed from his function" —Leacock, *Elements of Politics*, p 172.

(4) प्रत्यावर्तन प्रतिनिधियों को सही मार्ग पर रखेगा—अनेक बार चुने जाने के बाद जन प्रतिनिधि मनमाने आचरण की प्रवृत्ति अपना लेते हैं लेकिन यदि प्रत्यावर्तन की व्यवस्था हो तो वे ऐसा करने का साहस नहीं कर सकेंगे और उनमें जनता के प्रति उत्तरदायित्व की भावना सदैव विद्यमान रहेगी।

(5) राजनीतिक दलों का महत्व कम होना—जब कोई विधेयक सीधे तौर पर जनता के सामने रखा जाना होता है और जब जनता को अपनी ओर से कानून निर्माण का कार्य करने का अधिकार होता है तो स्वाभाविक रूप से राजनीतिक दलों का महत्व कम हो जाता है। इस प्रकार इन पद्धतियों को अपनाकर राजनीतिक दलों की बुराइयाँ कम की जा सकती हैं।

(6) जनता में राजनीतिक विषयों के प्रति जागरूकता—जब जनता को कानूनों के सम्बन्ध में निषेधात्मक और सकारात्मक शक्ति प्राप्त होती है तो स्वाभाविक रूप से जनता को सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने की अधिक प्रेरणा प्राप्त होती है और उन्हें आवश्यक राजनीतिक शिक्षा भी मिलती रहती है। इस सम्बन्ध में बेंजोर (Banjour) ने लिखा है कि "यह निश्चित ही व्यक्तिगत निर्वाचकों की राजनीतिक शिक्षा में वृद्धि करता है और आरम्भक के साथ सलग्न कर देने से क्रान्ति के विरुद्ध वास्तविक सुरक्षा प्रदान करता है।"

(7) जनता और प्रतिनिधियों में सम्बन्ध स्थापित करना—अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र एक निश्चित समय के बाद ही जनता को अपना मत व्यक्त करने का अवसर प्रदान करता है और अनेक बार चुनाव के बाद जनता और उनके प्रतिनिधियों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। लेकिन प्रत्यक्ष व्यवस्थापन की पद्धतियाँ इस दोष को दूर कर देती हैं। ब्राइस के शब्दों में "प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की पद्धतियाँ निर्वाचन के अतिरिक्त अन्य समयों में जन प्रतिनिधियों का जनता से सम्पर्क बनाये रखने का श्रेष्ठतम साधन हैं। यह दलीय प्रभाव के विध्वंसात्मक एवं अनुचित भावना को दूर करती है।"

(8) कानूनों को नैतिक शक्ति प्राप्त होना—कानूनों का जनता द्वारा समर्थन किये जाने पर उन्हें अधिक नैतिक शक्ति प्राप्त हो जाती है जिसके आधार पर उनका पालन अधिक अच्छे प्रकार से हो सकता है। ब्राइस कहते हैं, "लोगों की स्वीकृति के कारण कानून अधिक शक्ति और सम्मान प्राप्त कर लेता है और जनता इसका पालन करना तथा करवाना अपना परम कर्त्तव्य समझती है।"[1]

(9) विधायक कर्त्तव्य के प्रति सजग—इन पद्धतियों का सीधा प्रभाव यह होता है कि विधायक अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग हो जाते हैं और अपने कार्यों को अधिकाधिक श्रेष्ठ रूप में करने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्यावर्तन के द्वारा विधायकों

---

[1] "A law receives greater weight and strength because of the approval of the people they themselves feel it their duty to obey it and get it obeyed."

—Bryce, *Modern Democracies*, Vol. II, p 467.

और मन्त्रियों की मनमानी, भ्रष्टाचार एवं तानाशाही मनोवृत्ति पर नियन्त्रण लग जाता है।

(10) देशभक्ति की भावना में वृद्धि—प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रात्मक पद्धतियों के आधार पर जनता को अधिक राजनीतिक शक्ति प्रदान की जाती है तो वे समझते हैं कि देश उनका अपना है और उनमें देशभक्ति तथा राष्ट्रवाद की भावना बढ़ती है।

(11) क्रान्ति की आशंका कम—क्रान्ति जन असन्तोष के परिणामस्वरूप होती है लेकिन जब प्रत्यक्ष प्रजातान्त्रिक पद्धतियाँ होती हैं तो जनता में असन्तोष उत्पन्न नहीं हो पाता। इस प्रकार क्रान्ति की आशंका पूर्णतया समाप्त हो जाती है।

(12) कानून जनमत का दर्पण—जनता के प्रत्यक्ष सहयोग से निर्मित कानून जनता की इच्छाओं और भावनाओं को श्रेष्ठ रूप में व्यक्त करते हैं और ऐसी पद्धतियों के आधार पर निर्मित कानून जनमत के यथार्थ दर्पण का कार्य करते हैं।

(13) विधानमण्डल का उत्तरदायित्व कम नहीं होता—इन पद्धतियों के विरुद्ध प्रायः यह कहा जाता है कि इनसे विधानमण्डल का महत्व और उत्तरदायित्व घट जाता है, परन्तु यह सर्वथा गलत है। इसका कारण यह है कि विधानमण्डल जब यह जानता है कि कभी कानून पर लोक निर्णय की माँग हो सकती है या जनता आरम्भक के आधार पर कानून निर्माण का कोई प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकती है तो वह कानून-निर्माण से सम्बन्धित सभी विषयों पर बहुत अधिक सोच-विचार कर कार्य करता है। इस विषय पर प्रसिद्ध विद्वान कुर्टी ने ठीक ही लिखा है कि "ये पद्धतियाँ उस भलाई को, जो हम करना चाहते थे, बहुत थोड़ा रोकती हैं, परन्तु हमें अन्य मामलों में चेतावनी देकर बहुत सी बुराइयों को दूर कर देती हैं।"

(14) व्यवस्थापिका के दोनों सदनों में गतिरोध का अन्त—अन्त में यह भी कहा जा सकता है कि लोक निर्णय दोनों सदनों के बीच गतिरोध को दूर करने का भी श्रेष्ठ साधन है।

इन पद्धतियों के गुणों का वर्णन करते हुए ब्राइस कहते हैं "जिस प्रकार लोक निर्णय विधानमण्डल की त्रुटियों से जनता की रक्षा करता है उसी प्रकार आरम्भक उनकी भूलों का उपचार है।"[1]

दोष—सैद्धान्तिक रूप में प्रशंसनीय होते हुए भी प्रत्यक्ष व्यवस्थापन की ये पद्धतियाँ व्यवहार में अनेक दृष्टियों से दोषपूर्ण हैं। इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित कहे जा सकते हैं

---

1 'As the referendum protects the people against the legislature's sins of commission the initiative is a remedy for their omission." —*Bryce*

(1) साधारण जनता कानून निर्माण का जटिल कार्य करने योग्य नहीं—वर्तमान समय में विधेयकों का प्रारूप तैयार करने और इन विधेयकों पर विचार करने का कार्य इतना जटिल हो गया है कि साधारण जनता इन कार्यों को करने की योग्यता नहीं रखती है। इसके अतिरिक्त साधारण व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं का सर्वोत्तम निर्णायक भी नहीं होता है। जब साधारण योग्यता वाले इन व्यक्तियों के हाथ में कानून निर्माण की शक्ति आ जाती है तो आवश्यक रूप से इस शक्ति का दुरुपयोग ही होता है। डॉक्टर फाइनर ने लिखा है कि "बुद्धिहीन व अशिक्षित लोगों ने प्रगतिशील कानून को प्रायः नष्ट किया है।"

(2) व्यवस्थापिका के सम्मान में कमी—जब कानून निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति व्यवस्थापिका के हाथ में नहीं होती तो व्यवस्थापिका के सम्मान में बहुत कमी हो जाती है और ऐसी स्थिति में अधिक योग्य व्यक्ति व्यवस्थापिका की सदस्यता प्राप्त करने के इच्छुक नहीं रहते। ड्यूग्स के शब्दों में, इन पद्धतियों को अपनाने पर व्यवस्थापिका एक परामर्शदात्री संस्था बनकर रह जाती है।"[1]

(3) व्यवस्थापिका अनुत्तरदायी और लापरवाह हो जाती है—प्रत्यक्ष व्यवस्थापन विधानसभाओं के उत्तरदायित्व की भावना को बहुत अधिक निर्बल कर देता है। जब प्रतिनिधि जानते हैं कि अन्तत उनके कार्य में परिवर्तन हो सकता है तो वे अपने कार्य में पूरी रुचि नहीं ले पाते और लापरवाह हो जाते हैं। ब्राइस ने विधानमण्डलों पर प्रत्यक्ष व्यवस्थापन के प्रभावों का सार बताते हुए कहा है कि "इससे विधानमण्डल की जिम्मेदारी कम हो जाती है और कई बार यह ऐसे कानून पास कर देता है जिसको वह पसन्द नहीं करता परन्तु समझता है कि जनता इनको अस्वीकार कर देगी। कई बार जनमत के भय से ऐसे कानून पास कर देता है, जिनकी यह बहुत कम आवश्यकता अनुभव करता है।"

(4) जनता की उदासीनता—जनता का बार-बार लोक कार्य में भाग लेना उनमें एक 'निर्वाचकीय थकावट' (electoral fatigue) पैदा कर देता है। इस प्रकार के कार्यों में भाग लेने के लिए अधिकांश जनता को न तो समय ही मिलता है और न उनमें रुचि ही होती है। इसलिये जो निर्णय होते हैं, वे अल्पमत के ही होते हैं। विश्व के सबसे अधिक राजनीतिक जागरूकता सम्पन्न देश स्विट्जरलैण्ड में भी औसतन 55% मतदाता ही इस प्रकार के मतदान में भाग लेते हैं।

(5) समय और धन का अपव्यय—लोक निर्णय के परिणामस्वरूप अनेक आवश्यक कानून के निर्माण में बहुत अधिक देर लग जाती है और अनेक बार कानून उस समय निर्मित हो पाते हैं जबकि वे कालातीत (out of date) हो जाते हैं। बार-बार के इन मतदानों में बहुत अधिक व्यय भी होता है क्योंकि साधारण-

1 "If you introduce the referendum, parliament becomes merely a consultative body" —M. Dubbs

तथा लोक-निर्णय के अन्तर्गत विधेयक की लाखों प्रतियाँ जनता में वितरित करनी होती हैं।

(6) राजनीतिक दल या अवांछित तत्वों का शक्तिशाली होना—प्रत्यक्ष व्यवस्थापन राजनीतिक दल के प्रभाव में कमी नहीं करता। इसके विपरीत, बार-बार के मतदान के कारण राजनीतिक दल अधिक क्रियाशील हो जाते हैं। इन पद्धतियों के अन्तर्गत अनुत्तरदायी और दम्भी व्यक्तियों को जनता की अज्ञानता का लाभ उठाने का अवसर मिल जाता है। स्विस संघीय परिषद के सदस्य हिल्टी (*Hilty*) का मत है कि "आरम्भक के द्वारा असंगत समूह शासन के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाता है।" इसी प्रकार डॉ फाइनर ने भी कहा है कि "मानव स्वभाव की निम्नतम भावना को उभारकर दम्भीय संगठित अल्प समुदाय विजय प्राप्त कर लेते हैं।"[1]

(7) जनता स्पष्ट आदेश देने में असमर्थ—स्विस विचारक डिप्लॉमजी का मत है कि लोक निर्णय कोई स्पष्ट आदेश देने में सफल नहीं होता, क्योंकि जनता का निर्णय विचारशील विवेचना के परिणामस्वरूप नहीं अपितु अनेक बाहरी प्रभावों के परिणाम होते है। मनोवैज्ञानिकों ने इस बात की पुष्टि की है। ब्राइस ने ठीक ही कहा है कि "लोक निर्णय के परिणाम सदा जन-इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं करते, क्योंकि जनता मुहावरों और नारों द्वारा आकर्षित हो जाती है, अप्रासंगिक विषयों के वाद-विवाद में पड जाती है, विधेयक में होने वाले विभिन्न विचारों की संख्या के चक्कर में पड जाती हैं और इस प्रकार वह किसी एक विचार से असहमत होने पर सम्पूर्ण प्रस्ताव को अस्वीकार करने के स्थान पर उसका समर्थन कर देती है।"

(8) लोक निर्णय में संशोधन सम्भव नहीं—लोक-निर्णय का एक दोष यह है कि इसके अन्तर्गत कानून को या तो पूर्ण रूप से स्वीकार करना होता है या पूर्ण रूप से अस्वीकार। इसके अन्तर्गत कानून में संशोधन नहीं हो सकता।

(9) प्रत्यावर्तन से षड्यन्त्रों में वृद्धि—यदि प्रत्यावर्तन (Recall) की पद्धति को लागू किया जाय तो इसके परिणामस्वरूप षड्यन्त्रों में वृद्धि हो जायगी। निर्वाचन में हार जाने वाले उम्मीदवार सदैव ही इस प्रकार के षड्यन्त्रों में लिप्त रहेंगे। इस सम्बन्ध में स्ट्रांग ने कहा है कि "यदि इसे विधायकों पर लागू किया जाय तो प्रतिनिधि केवल एक प्रत्यायुक्त (delegate) बनकर रह जायेगा, वह षड्यन्त्रकारियों के समूह के भ्रष्टाचारमय आक्रमणों का शिकार बन जायगा और ऐसी स्थिति में सार्वजनिक भावना वाले लोग सार्वजनिक जीवन से निकल जायेंगे।"[2]

(10) रूढ़िवाद को प्रोत्साहन—सामान्य व्यक्ति रूढ़िवादी होता है और उसके लिए प्रगतिशील कानून को स्वीकार करना बहुत कठिन होता है। ऐसी स्थिति में लोक निर्णय को अपनाने का परिणाम रूढ़िवादिता को प्रोत्साहन ही होगा।

---

1 "The demagogues or an organized minority very often carry the day by an appeal to the lowest human nature" —*Finer*

2 C. F. Strong, *Modern Political Constitutions*, p. 288

(11) अनावश्यक—वर्तमान समय में मंच और प्रेस, आदि साधनों का विकास हो गया है जिनके आधार पर जनता की इच्छा को सरकार तक पहुँचाया जा सकता है। वास्तव में, विज्ञान के आधुनिक विकास के कारण लोक निर्णय, आरम्भक, आदि साधन अनावश्यक हो गये हैं।

(12) बड़े देशों में सम्भव नहीं—प्रत्यक्ष व्यवस्थापन बड़े आकार तथा अधिक जनसंख्या वाले देशों में उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता। ये ऐसी पद्धतियाँ हैं, जो केवल छोटे राज्यों के लिए ही उपयुक्त हो सकती हैं। ए बी कीथ ने ब्रिटेन में लोकनिर्णय के विरुद्ध तर्क देते हुए एक बार लॉर्ड सभा में कहा था, "यह ब्रिटेन जैसे बड़े क्षेत्रों के लिए उचित नहीं है क्योंकि विभिन्न भागों के लिए भिन्न-भिन्न कानूनों की आवश्यकता पड़ सकती है।"[1]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यद्यपि प्रत्यक्ष व्यवस्थापन की ये पद्धतियाँ जनता को वास्तविक राजनीतिक शक्ति प्रदान करती हैं, लेकिन इसके साथ ही साथ इनमें अनेक दोष भी हैं। इसके अतिरिक्त, सैद्धान्तिक रूप से यह पद्धतियाँ चाहे कितनी ही श्रेष्ठ क्यों न हों, व्यवहार में क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से विशाल राज्यों में इनको अपनाया नहीं जा सकता है। इन पद्धतियों का प्रयोग तो स्विट्जरलैंड जैसे देश में ही सफलतापूर्वक किया जा सकता है, जहाँ पर जनसंख्या कम है, व्यक्ति व्यावहारिक, विवेकशील और राजनीतिक दृष्टि से जागरूक हैं एवं उनमें गम्भीर सामाजिक और आर्थिक भेदों का अभाव है।

व्यवस्थापिका का गठन

राजनीति विज्ञान के विद्वानों द्वारा सर्वसम्मति से यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रथम सदन की रचना जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर की जानी चाहिए, किन्तु उच्च सदन की रचना के सम्बन्ध में गम्भीर मतभेद हैं। साधारणतया उच्च सदन की रचना के सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है :

वंशानुगत सिद्धान्त—इस पद्धति के अन्तर्गत वंश के आधार पर किन्हीं व्यक्तियों को उच्च सदन की सदस्यता प्रदान की जाती है। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन में द्वितीय सदन (लॉर्ड सभा) की रचना इसी आधार पर की जाती है, लेकिन वर्तमान समय में इस पद्धति को सन्तोषजनक नहीं माना जाता है।

नाम निर्देशन का सिद्धान्त—इस पद्धति के अन्तर्गत द्वितीय सदन के सदस्यों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा एक निश्चित समय या जीवन भर के लिए की जाती है। जापान, इटली, कनाडा, आदि राज्यों में ऐसी ही व्यवस्था है। इसके विरुद्ध आपत्ति यह है कि कार्यपालिका द्वारा योग्य और निपुण व्यक्तियों की नियुक्ति न की जाकर सत्तारूढ़ दल की सिफारिशों और सेवाओं के आधार पर ही नियुक्ति की जा सकती है।

---

[1] "It is unsuited to large areas as the United Kingdom for different parts may require different legislation."

—A B Keith, *British Cabinet System*, p. 344.

प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष निर्वाचन—इस पद्धति मे द्वितीय सदन के सदस्यों का सामान्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष निर्वाचन किया जाता है। अमरीका और आस्ट्रेलिया मे द्वितीय सदन के सदस्यो का प्रत्यक्ष निर्वाचन किया जाता है तो भारत, ब्राजील आदि राज्यो मे अप्रत्यक्ष। इस पद्धति के विरुद्ध आपत्ति यह है कि प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित द्वितीय सदन तो प्रथम सदन का ही दूसरा रूप ग्रहण कर लेता है और दोनो सदनों मे सवैधानिक गतिरोध की आशका बहुत रहती है। द्वितीय सदन का अप्रत्यक्ष निर्वाचन होने के कारण भ्रष्टाचार की आशका बहुत रहती है। लॉस्की ने कहा है कि 'भ्रष्टाचार को प्रोत्साहित करने की सब विधियों मे परोक्ष निर्वाचन सबसे खराब है।

जॉन स्टुअर्ट मिल ने राजनीतिक अनुभव और शिक्षण के आधार पर निर्वाचक मण्डल का सुझाव रखा गया था लेकिन अनुभव और शिक्षण का कोई मापदण्ड न होने के कारण यह योजना व्यावहारिक नही है। वर्तमान समय मे नार्वे मे प्रचलित पद्धति के आधार पर ली स्मिथ (Lee Smith) ने यह सुझाव रखा है कि द्वितीय सदन, निम्न सदन द्वारा ही निर्वाचित एक छोटी सी सस्था होनी चाहिए जिसका एकमात्र कार्य स्थगित करना हो, लेकिन यह पद्धति भी सन्तोषजनक नही है।

द्वितीय सदन की रचना के सम्बन्ध मे सर्वोत्तम व्यावहारिक पद्धति मिश्रविक द्वारा सुझायी गयी है जिसमे अप्रत्यक्ष निर्वाचन और नाम निर्देशन के मिश्रण का सुझाव रखा गया है। उनका कथन है कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन उस सदन को किसी सीमा तक प्रतिनिधि रूप प्रदान करता है और नाम निर्देशन योग्य और अनुभवी लोगों को व्यवस्थापिका मे लाने का अवसर प्रदान करता है। भारत मे द्वितीय सदन (राज्य सभा) के गठन के सम्बन्ध मे यही पद्धति अपनायी गयी है।

विशेष बात यह है कि व्यवस्थापिका को पूर्ण प्रतिनिधि बनाने के लिए दोनों सदनो मे सैद्धान्तिक मतभेद होने चाहिए। ऐसा न होने पर द्वितीय सदन की रचना का उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा। सीवर के शब्दों में, 'यदि दोनों सदन एक ही निर्वाचक द्वारा एक ही अवधि के लिए निर्वाचित किये जाते हैं तो वे दोनों सदन एक ही सदन की दो समितियाँ मात्र होंगे।

यद्यपि अमरीका मे द्वितीय सदन (सीनेट) को लोकप्रिय सदन (प्रतिनिधि सभा) से भी महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है लेकिन फिर भी इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि द्वितीय सदन को लोकप्रिय सदन से कम शक्तियाँ प्राप्त होनी चाहिए और द्वितीय सदन द्वारा प्रथम सदन से सघर्ष करने का प्रयत्न नही किया जाना चाहिए। द्वितीय सदन को सशोधनकारी सदन और निम्न सदन को निर्णयकारी सदन का स्थान प्राप्त होना चाहिए।

व्यवस्थापिकाओं का पतन या अवनति
(THE DECLINE OF LEGISLATURES)

आजकल यह माना जाता है कि ससद या विधायिकाओं का पतन हो रहा

है। लार्ड ब्राइस ने तो सन 1925 मे अपनी पुस्तक 'माडर्न डेमोक्रेसीज' में 'व्यवस्थापिकाओं के पतन' (Decline of Legislatures) की चर्चा की थी। ब्राइस ने अपनी पुस्तक में 'व्यवस्थापिकाओ का रोग विज्ञान' (Pathology of Legislatures) समझाने का प्रयास किया है अर्थात् उमने उन रोगों व कारणों की खोज का प्रयास किया है जिससे व्यवस्थापिकाएँ पीड़ित होकर पतन की ओर जा रही हैं। आज अक्सर यह कहा जाता है कि ससदों का युग लद गया है, नौकरशाही की विजय हो रही है और कार्यपालिका या केबिनेट की तानाशाही स्थापित हो चुकी है।

व्यवस्थापिकाओं के पतन से क्या तात्पर्य है? के सी ह्वीयर के अनुसार "व्यवस्थापिकाओं ने अपनी शक्तियाँ, कार्यकुशलता व सम्मान को बनाये रखा हो या इनमे वृद्धि तक कर ली हो ऐसा सम्भव है फिर भी उनका अन्य सस्थाओ से सापेक्ष रूप मे इन सभी पहलुओं मे पतन हुआ है क्योंकि अन्य सस्थाओ ने अपनी शक्तियाँ बढ़ाकर अपना दर्जा सुधार लिया है।"

यदि विधायिकाओं के स्थान और कार्य प्रणाली का सामान्य सर्वेक्षण किया जाये तो सहज ही मे कहा जा सकता है कि कार्यपालिका की शक्तियो के सदर्भ मे इनकी काफी अवनति हुई है। वतमान शताब्दी का एक लक्षण और प्रवृत्ति यह रही है कि राजनीतिक सस्थाओं का विकास इस तरह हो रहा है जिससे कार्यपालिका शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि हो गयी है। इसमे विश्वयुद्धों की आशकाओं, आर्थिक सकटों, सामूहिक, समाजवादी या लोककल्याणकारी नीतियों के अपनाने और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के बराबर बने रहने का काफी योगदान है। अब कार्यपालिकाएँ अनेक ऐसे कार्य करने लगी हैं जो वे पहले नहीं करती थीं। कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि का कारण यह नही है कि इसने व्यवस्थापिका से कुछ शक्तियाँ छीन ली हैं। वास्तव मे आधुनिक व्यवस्थापिकाएँ तो पहले से कहीं अधिक कार्य करने लगी हैं तथा लम्बे-लम्बे अधिवेशनो मे बैठने लगी हैं। अत के सी ह्वीयर ने लिखा है कि "निरपेक्ष दृष्टि से तो व्यवस्थापिका की शक्तियों में वृद्धि हुई है किन्तु कार्यपालिका के सापेक्ष, या मुकाबले में उनकी शक्तियाँ करीब-करीब सभी पहलुओं मे कम हुई हैं।"

विधानमण्डलों की अवनति या पतन के कतिपय सामान्य कारण निम्नलिखित हैं

(1) कार्यपालिका के कार्यों में अभूतपूर्व वृद्धि—अपने परम्परागत कार्यों के अतिरिक्त आजकल कार्यपालिकाएँ कुछ ऐसे कार्य भी करने लगी हैं जिससे उनकी शक्तियों में वृद्धि हुई है। आर्थिक नियोजन व योजनाओं का सचालन कार्यपालिका का प्रमुख दायित्व बन गया है। आधुनिक समय में 95 प्रतिशत विधेयक ससदीय शासन व्यवस्थाओं में प्रत्यक्ष रूप से तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों में अप्रत्यक्ष रूप से कार्यपालिका द्वारा ही प्रस्तुत होते हैं।

(2) प्रदत्त व्यवस्थापन की प्रथा—प्रदत्त व्यवस्थापन के विकास के कारण कार्यपालिका द्वारा व्यापक रूप से नियम निर्माण की शक्ति का प्रयोग करना इस बात

की पुष्टि है कि विधान मण्डल सारे कानून या कम से कम सभी महत्वपूर्ण कानून बनाने का कार्य भी नहीं करते हैं। अब व्यवहार में कार्यपालिकाएँ ही अनेक कानून, प्रदत्त व्यवस्थापन की प्रथा के अन्तर्गत बनाने लगी हैं। इस तरह, प्रदत्त व्यवस्थापन से कार्यपालिका विधान मण्डल की सी संस्था बन गयी है।

(3) रेडियो और टेलीविजन—संचार के इन साधनों के विकास ने कार्यपालिका अध्यक्ष को जनता के सामने लाकर खड़ा कर दिया है। अब कार्यपालिका संसद की परवाह किये बिना सीधा जन-सम्पर्क व जनता से आमना सामना कर सकती है। फ्रांस के राष्ट्रपति दिगाल अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन, भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने टेलीविजन को जनमत को पक्ष में करने में महत्वपूर्ण समझा।

(4) विशेषज्ञों की परिषदों व समितियों का विकास—आजकल विधेयकों का प्रारूप तैयार करने से लेकर समिति स्तर तक विशेषज्ञों की सलाह ली जाती है और उसके बाद सम्बन्धित विषय, विधान मण्डल में अनुमोदन के लिए सम्पन्न कार्य (fait accompli) के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अगर विधायक उस पर प्रश्न करते हैं या उसमें संशोधन प्रस्तुत करते हैं तो उन्हें यह कहकर हताश कर दिया जाता है कि इस पर विशेषज्ञों, सलाहकारों और सम्बन्धित विभागों द्वारा बारीकी से विचार और छानबीन की जा चुकी है।

(5) सेनाओं पर कार्यपालिका का नियन्त्रण—राज्य का मुख्य कार्यपालक ही सर्वोच्च सेनापति होता है। देश की सैन्य शक्ति के संचालन में वह करीब-करीब पूर्ण स्वतन्त्र रहता है। इस कार्य में व्यवस्थापिका कुछ कर ही नहीं सकती है। अतः युद्ध या सैनिक संकटों व मुठभेड़ों में कार्यपालिका सर्वेसर्वा हो जाती है। ऐसी परिस्थितियों में तुरन्त निर्णय की आवश्यकता होती है। अमरीका के राष्ट्रपति ने वियतनाम युद्ध के संचालन में कई बार कांग्रेस की अवहेलना की है। कार्यपालिका की इस शक्ति में आणविक व अन्य विनाशक अस्त्र शस्त्रों के विकास के कारण और भी वृद्धि हो गयी है।

(6) विदेश सम्बन्धों की प्रधानता—ऐसा कहा जाता है कि ज्यों ज्यों देश विदेशी मामलों में उलझता जाता है त्यों त्यों कार्यपालिका शक्तिशाली होती जाती है। विदेश सम्बन्धों का संचालन ही ऐसा है कि इसमें व्यवस्थापिकाएँ यदा-कदा ही अपनी भूमिका निभा सकती हैं।

(7) सकारात्मक राज्य का उदय—अब राज्य कल्याणकारी बन गये हैं और जनता के लिए सब प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध कराना सरकारों का कार्य बन गया है। जनता को हर चीज तुरन्त व सही समय पर मिल सके इसकी व्यवस्था कार्यपालिका को ही करनी होती है। इससे कार्यपालिका का कार्य अत्यधिक विस्तृत हो गया है।

(8) बड़े-बड़े अनुशासित दलों का विकास—व्यवस्थापिका की शक्ति को कार्यपालिका ने सही अर्थों में राजनीतिक दल के माध्यम से छीना है। दल के समर्थन

के आधार पर कार्यपालिका व्यवस्थापिका से सब कुछ करा लेती है। इसी कारण संसदीय प्रणाली 'प्रधानमन्त्रीय प्रणाली' में परिवर्तित होती जा रही है।

एक सामान्य प्रवृत्ति—संसद का ह्रास
(A GENERAL TREND THE DECLINE OF THE LEGISLATURES)

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में वर्तमान समय में व्यक्तिवादी विचारधारा को त्याग कर जनकल्याणकारी राज्य के विचार को अपना लिया गया है। जनकल्याणकारी राज्य की विचारधारा का स्वाभाविक परिणाम राज्य के कार्यों में वृद्धि हुई है और जैसा कि लिप्सन लिखते है, "राज्य के कार्यों में प्रत्येक वृद्धि ने कार्यपालिका के कार्यों और शक्ति में वृद्धि की है।"[1] वर्तमान की सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओं ने व्यवस्थापिका के स्वरूप को ही बदल दिया है। व्यवस्थापिकाओं के सदस्य न तो समस्याओं की जटिलताओं को समझ पाते हैं और न वे स्वयं कानून बनाते हैं। कानून प्रशासकों के कमरों में बनते हैं और संसद तो 'हाँ' या 'ना' करने वाली संस्था रह गयी है। कार्यपालिका के नेतृत्व, बहुमत एवं शक्ति के कारण संसद 'ना' भी नहीं कर सकती। व्यक्तिवाद का सिद्धान्त 'राज्य के हस्तक्षेप' के सिद्धान्त में परिवर्तित हो गया जिसके परिणामस्वरूप कार्यपालिका की शक्तियाँ और अधिक बढ़ गयी हैं।[1] आज समाज में सरकार सबसे बड़ा सार्वजनिक उद्योग बन गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सरकार कार्यरत है, फलस्वरूप कार्यपालिका के सन्दर्भ में व्यवस्थापिकाओं की शक्तियों को ग्रहण लग गया है।

प्रश्न

1. वर्तमान प्रजातन्त्र में व्यवस्थापिका सभा के प्रमुख कार्यों और शक्तियों का वर्णन कीजिए।
2. द्वितीय सदन के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिए। क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि संघीय व्यवस्था में द्वितीय सदन आवश्यक है, कारण दीजिए।
3. द्विसदनात्मक व्यवस्था के प्रमुख लाभ क्या बताये जाते हैं? आपके विचार में द्वितीय सदन के गठन का सर्वश्रेष्ठ ढंग क्या हो सकता है और दोनों सदनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या होना चाहिए?
4. *प्रत्यक्ष विधि निर्माण का क्या अर्थ है? इसके गुण दोष स्पष्ट कीजिए।*
5. आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्यों में व्यवस्थापिका के कार्यों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। क्या इन कार्यों से व्यवस्थापिका की भूमिका के पतन का संकेत मिलता है?

---

[1] Every new service that the voters thrust upon the state, every additional power that the Government sought redounded to the advantage of the executive —Lipson, *The Great Issue of Politics*, p 283

19
कार्यपालिका
[EXECUTIVE]

"कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो कानून के रूप में अभिव्यक्त जनता की इच्छा को कार्य में परिणत करता है। यह वह धुरी है, जिसके चारों ओर राज्य का वास्तविक प्रशासनिक यन्त्र घूमता है।"[1]
—गिलक्राइस्ट

कार्यपालिका विभाग का महत्व

सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण अंग कार्यपालिका होती है। सरकार के इस अंग का महत्व प्राचीन काल से ही बहुत अधिक रहा है। प्राचीनकाल के अलोकतन्त्रीय देशों में तो कार्यपालिका की सत्ता ही सर्वोपरि होती थी, यद्यपि वर्तमान समय की लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका का महत्व अपेक्षाकृत कम हो गया है, फिर भी शासन के इस अंग की कार्यक्षमता जितनी समझी जाती है, उससे बहुत अधिक होती है। व्यवहार में तो राज्य में समस्त विभागों का उत्तरदायित्व शासन विभाग पर ही होता है। व्यवस्थापन विभाग द्वारा पास किये गये कानूनों और वार्षिक बजट को प्रस्तावित करने का कार्य कार्यपालिका ही करती है और न्याय विभाग की व्यवस्था का अन्तिम उत्तरदायित्व भी कार्यपालिका का होता है। डॉ फाइनर ठीक ही कहते हैं कि 'व्यवस्थापिका और न्यायपालिका में शक्तियों का बँटवारा हो चुकने के बाद शेष सभी शक्तियाँ कार्यपालिका के पास रहती हैं।" कार्यपालिका का महत्व इस बात से ही स्पष्ट है कि यद्यपि कार्यपालिका सरकार का एक अंग मात्र ही है, लेकिन व्यवहार में प्रायः सरकार शब्द का प्रयोग कार्यपालिका के लिए ही किया जाता है। कोरी ने सरकार के इस अंग का महत्व बताते हुए लिखा है, "कार्यपालिका सरकार का सार है। व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका इसके संवैधानिककरण के यन्त्र मात्र हैं।"[2]

---

1 "The Executive is that branch of government which carries out or executes the will of the people as formulated in law. It is the pivot around which the actual administration of the State revolves and includes all officials engaged in administration." —Gilchrist, *Principles of Political Science.*

2 Corry, *Democratic Government and Politics*, p. 148.

कार्यपालिका का अर्थ—कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जिसका कार्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों को कार्यरूप में परिणित करना और उनके आधार पर प्रशासन का संचालन करना होता है। राष्ट्रपति से लेकर साधारण पुलिसमैन तक प्रशासन से सम्बन्धित प्रत्येक कर्मचारी कार्यपालिका का ही अंग होता है। डॉ० गार्नर कहते हैं कि "विस्तृत एवं सामूहिक अर्थ में कार्यपालिका अंग में उन सब कार्यकर्ताओं तथा संस्थाओं के समूह सम्मिलित हैं, जो राज्य की उस इच्छा को कार्यान्वित करते हैं जो कानून के रूप में निर्मित कर व्यक्त की गयी है।"[1] वस्तुतः कार्यपालिका सरकार का केन्द्रबिन्दु होती है। कार्यपालिका के मुख्यतया दो भाग होते हैं—(1) राजनीतिक कार्यपालिका, और (2) स्थायी लोक सेवाएँ।

राजनीतिक कार्यपालिका विधियों के आधार पर प्रशासन से सम्बन्धित विभिन्न विभागों के सम्बन्ध में नीति निर्माण करती है और स्थायी सेवा वर्ग नीति-निर्माण में सहायता देता और प्रमुख रूप से नीति को क्रियान्वित करता है। राजविज्ञान में संकुचित अर्थ में कार्यपालिका शब्द का प्रयोग राजनीतिक कार्यपालिका के लिए ही किया जाता है।

कार्यपालिका के प्रकार

आधुनिक कार्यपालिका पर भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से विचार किया गया है। विश्व के विभिन्न देशों में प्रचलित कार्यपालिका के विभिन्न प्रकारों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है

(1) नाममात्र की व वास्तविक कार्यपालिका (Nominal and Real Executive)—नाममात्र की कार्यपालिका का तात्पर्य उस पदाधिकारी से होता है, जिसे संविधान के द्वारा समस्त प्रशासनिक शक्ति प्रदान की गयी हो, लेकिन जिसके द्वारा व्यवहार में उस प्रशासनिक शक्ति का प्रयोग अपने विवेक के अनुसार न किया जा सके। यद्यपि प्रशासन का सम्पूर्ण कार्य उसी के नाम पर होता है किन्तु व्यवहार में इन कार्यों को वास्तविक कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि नाममात्र की कार्यपालिका प्रधान राज्य करता है, शासन नहीं। इंगलैण्ड का सम्राट और भारत का राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका के ही उदाहरण हैं।

संसदात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत संविधान द्वारा नाममात्र की कार्यपालिका को जो प्रशासनिक शक्ति प्रदान की जाती है, व्यवहार में इस शक्ति का प्रयोग जिन पदाधिकारियों के द्वारा किया जाता है, उसे वास्तविक कार्यपालिका कहा जाता है। व्यवहार में सम्पूर्ण प्रशासनिक शक्ति इस वास्तविक कार्यपालिका के हाथ

---

1 "In a broad and collective sense the executive organs embraces the aggregate or totality of all the functionaries and agencies which are concerned with the execution of the will of the state that will has been formulated and expressed in terms of law."

—Garner, *Political Science and Government*, p. 617.

मे ही केन्द्रित होती है। ब्रिटेन और भारत की मन्त्रिपरिषद इस प्रकार की वास्तविक कार्यपालिका के ही उदाहरण हैं। नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका का यह भेद केवल ससदात्मक शासन व्यवस्था मे ही पाया जाता है। अमरीका जैसे अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था वाले देश मे तो राष्ट्रपति ही कार्यपालिका का नामधारी और वास्तविक प्रधान होता है।

(2) एकल और बहुल कार्यपालिका (Single and Plural Executive)—सगठन की दृष्टि से कार्यपालिका दो प्रकार की होती है—एकल कार्यपालिका और बहुल कार्यपालिका।

एकल कार्यपालिका का तात्पर्य कार्यपालिका के ऐसे सगठन से है जिसके अन्तर्गत निर्णयात्मक और अन्तिम रूप म कार्यपालिका की समस्त शक्ति किसी एक व्यक्ति के हाथों मे केन्द्रित होती है। शासन प्रबन्ध को सुविधा के लिए कार्यपालिका शक्ति का विभाजन अवश्य ही किया जाता है, किन्तु अन्तिम रूप मे सम्पूर्ण शासन-*व्यवस्था के लिए कोई एक व्यक्ति ही उत्तरदायी होता है। वतमान समय मे अमरीका* का राष्ट्रपति एकल कार्यपालिका का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसके अतिरिक्त, इगलैण्ड व भारत, आदि ससदीय शासनो की कार्यपालिका भी एकल कार्यपालिका के ही उदाहरण हैं। यद्यपि इन देशो मे कार्यपालिका शक्ति मन्त्रिमण्डल के हाथो मे होती है जो स्पष्ट रूप से अनेक व्यक्तियो की एक सस्था है, किन्तु यह मन्त्रिपरिषद सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर एक इकाई की भाँति कार्य करती है और प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष तथा प्रभावशाली नियन्त्रणकर्ता होता है अत *प्रधानमन्त्री को कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान कहा जा सकता है।* इस प्रकार ससदीय शासन एकल कार्यपालिका का ही उदाहरण है।

बहुल कार्यपालिका का तात्पर्य कार्यपालिका के ऐसे प्रकार से है जिसके अन्तगत अन्तिम रूप मे कार्यपालिका शक्ति किसी एक व्यक्ति मे निहित न होकर व्यक्तियो के एक समुदाय मे निहित होती है। प्राचीन एथेन्स और स्पार्टा मे इस प्रकार की बहुल कार्यपालिका थी और वतमान काल मे स्विट्जरलैण्ड तथा सोवियत रूस मे इसी प्रकार की बहुल कार्यपालिका है। स्विट्जरलैण्ड मे कार्यपालिका सत्ता 7 सदस्यों की एक 'सघीय परिषद (Federal Council) मे निवास करती है और यह परिषद सामूहिक रूप से राज्य कार्यपालिका प्रधान के रूप मे कार्य करती है। इस परिषद का ही एक सदस्य वरिष्ठता के क्रम से एक वर्ष के लिए उसका अध्यक्ष चुन लिया जाता है, परन्तु अध्यक्ष का कार्य केवल परिषद की बैठको का सभापतित्व करना मात्र है। उसकी शक्ति और स्थिति परिषद के अन्य सदस्यो के समान ही होती है। इसी प्रकार सोवियत रूस मे सर्वोच्च कार्यपालिका परिषद के रूप मे 'प्रेजीडियम' के द्वारा कार्य किया जाता है जिसके 39 सदस्य होते हैं। यद्यपि प्रेजीडियम का एक सभापति होता है, किन्तु प्रेजीडियम के सभापति को दूसरे सदस्यों की अपेक्षा कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होते और इसलिये इसे 'सामूहिक कार्यपालिका'

कहना ही उचित है। स्टालिन इसे 'सामूहिक राष्ट्रपति' (Collegiate Executive President) भी कहा करता था।

जहाँ तक गुणावगुण का प्रश्न है, बहुल कार्यपालिका के अनेक गुण बताये गये हैं। इसके अन्तर्गत किसी भी एक व्यक्ति के निरंकुश होने की आशंका नहीं रहती और न शक्ति का कभी दुरुपयोग ही हो सकता है। यह शासन कार्य में अधिक कुशल भी कही जाती है।

किन्तु बहुल कार्यपालिका के ये लाभ सैद्धान्तिक और विशेष परिस्थितियों की उपज ही अधिक प्रतीत होते हैं। कार्यपालिका का सर्वप्रमुख कार्य प्रशासन करना होता है और इस कार्य को कुशलतापूर्वक करने के लिए अविलम्ब निर्णय, उद्देश्य की सच्चाई, कार्य करने की शक्ति और अनेक बार कार्यविधि की गुप्तता भी आवश्यक होती है। ये गुण उसी समय प्राप्त हो सकते हैं जबकि कार्यपालिका के संगठन में एकता हो। नेपोलियन ने एक बार कहा था कि "दो अच्छे सेनापतियों की अपेक्षा एक बुरा सेनापति श्रेष्ठ होता है।"[1] प्रशासनिक कार्य युद्ध जैसा ही होने के कारण प्रशासन पर यह बात पूर्णतया चरितार्थ होती है। हैमिल्टन ने एक कुशल कार्यपालिका के लिए एकता और पारस्परिक सहयोग पर अत्यधिक जोर दिया था लेकिन बहुल कार्यपालिका कभी कभी इन दोनों ही गुणों से रहित हो जाती है। वूल्जे का कथन है कि "कार्यपालिका का एक ही प्रधान होने के लाभ नितान्त स्पष्ट हैं वह सरकार में एकता और योग्यता लाने की क्षमता रखता है और अकेला होने के कारण वह या उसका मन्त्रिमण्डल उत्तरदायी होता है। किन्तु इसके विपरीत, जहाँ दो प्रधान होंगे वे यदि भिन्न दलों के होंगे तो एक-दूसरे के अवरोधक होंगे और यदि उसी दल के होंगे तो ईर्ष्यालु और प्रतिद्वन्द्वी होंगे।[2] अमरीकन न्यायाधीश स्टोरी ने भी इस बात का समर्थन करते हुए कहा है कि 'कार्यपालिका को एकात्मक और व्यवस्थापिका को बहुसदस्यात्मक होना चाहिए।"[3]

जहाँ तक दोनों की व्यावहारिकता का प्रश्न है, केवल सोवियत रूस तथा स्विट्जरलैण्ड में बहुलकार्यपालिका को अपनाया गया है। सोवियत रूस में तो सरकार का सम्पूर्ण संगठन ही एक दिखावा मात्र है और व्यवहार में सम्पूर्ण शक्ति साम्यवादी दल और दल के महासचिव के हाथों में केन्द्रित है। स्विट्जरलैण्ड में बहुल कार्यपालिका की सफलता का कारण उस देश की श्रेष्ठ परम्पराएँ हैं जो कि स्विट्जरलैण्ड की भूमि और वातावरण की विशेष उपज हैं। वस्तुतः एक देश की सफलता के आधार

---

[1] "One bad general is better than good ones" —Napolean

[2] "The advantages of single chief are obvious, he is able to bring unity and efficiency into the government and being alone, he or his ministry is responsible, whereas two presidents would be apt to checkmate one another, if they were different parties would by zealous and rivals, if they were of the same party." —Woolsey

[3] "There ought to be a single executive and numerous legislature."—Storey

पर बहुल कार्यपालिका को श्रेष्ठ नही माना जा सकता है। आज के युग में बहुल कार्यपालिका सफल नही हो सकती। एकल कार्यपालिका ही श्रेष्ठ और व्यावहारिक है और इसी कारण विश्व के लगभग सभी देशों मे एकल कार्यपालिका ही विद्यमान है।

(3) संसदीय और अध्यक्षात्मक कार्यपालिका (Parliamentary and Presidential Executive)—कार्यपालिका के व्यवस्थापिका के साथ सम्बन्ध के आधार पर दो प्रकार की कार्यपालिकाएँ होती हैं–संसदीय कार्यपालिका और अध्यक्षात्मक कार्यपालिका।

संसदीय कार्यपालिका में कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के साथ अपूर्व गठबन्धन रहता है और इसके अन्तर्गत कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका (संसद) में से ही होता है। इस व्यवस्था मे मन्त्रिमण्डल ही कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होता है, इसलिये इसे मन्त्रिमण्डलात्मक कार्यपालिका भी कहते हैं। मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और वे व्यवस्थापिका के लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी होते हैं। लोकप्रिय सदन द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर वास्तविक कार्यपालिका को पदच्युत किया जा सकता है। इस पद्धति मे एक संवैधानिक प्रधान भी होता है, जिसके नाम पर वास्तविक कार्यपालिका अपनी शक्तियों का प्रयोग करती है। संसदीय कार्यपालिका के अन्तर्गत कार्यपालिका कानून निर्माण सम्बन्धी कार्यों और व्यवस्थापिका प्रशासन सम्बन्धी कार्यों मे महत्त्वपूर्ण रूप से भाग लेती है। इंगलैण्ड और भारत आदि देशो मे इस प्रकार की कार्यपालिका पायी जाती है।

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका उसे कहते हैं जो व्यवस्थापिका से बिलकुल पृथक रहती है। संविधान के द्वारा दोनों की शक्तियाँ बँटी रहती हैं और वे एक-दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करतीं। इस प्रकार की कार्यपालिका मे शासन की समस्त शक्तियाँ राज्याध्यक्ष या राष्ट्रपति मे निहित होती हैं, जो राज्य का संवैधानिक व कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होता है। राष्ट्रपति अपने मन्त्रियों की सहायता से शासन का कार्य संचालन करता है। राष्ट्रपति अथवा मन्त्री व्यवस्थापिका के सदस्य नही होते और न उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। व्यवस्थापिका अविश्वास का प्रस्ताव पास कर कार्यपालिका को पदच्युत नही कर सकती। अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का उदाहरण संयुक्त राज्य अमरीका है। वहाँ राष्ट्रपति तथा उसके सचिव काँग्रेस से पूर्णतया पृथक तथा स्वतन्त्र हैं।

संसदीय कार्यपालिका का सबसे बडा गुण कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के साथ सहयोग और इसका दोष प्रशासन मे अस्थिरता बताया जाता है। इसी प्रकार अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का सबसे बडा गुण स्थायित्व और दोष व्यवस्थापिका के साथ सहयोग का अभाव तथा अनुत्तरदायित्व बताया जाता है। इन दोनों प्रकार की कार्यपालिकाओं में संसदीय कार्यपालिका लोकतन्त्र की धारणा के अधिक निकट है।

(4) पैतृक और निर्वाचित कार्यपालिका (Hereditary and Elective Executive)—जहाँ पर राजा राज्य का प्रधान होता है और उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र या उसका उत्तराधिकारी गद्दी पर आसीन होता है, उस पद्धति को पैतृक कार्यकारिणी कहा जाता है। इंगलैण्ड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हॉलैण्ड, बेल्जियम, जापान, नेपाल, अफगानिस्तान तथा इथोपिया में पैतृक कार्यपालिका है।

जहाँ पर राज्य का अध्यक्ष जनता द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है, उसे निर्वाचित कार्यपालिका कहा जाता है। भारत, फ्रांस, इटली, अमरीका आदि देशों में इसी प्रकार की कार्यपालिका है।

मुख्य कार्यपालिका-प्रधान को चुनने की विधि
(MODE OF APPOINTMENT OF CHIEF EXECUTIVE)

वर्तमान समय में कार्यपालिका प्रधान की नियुक्ति विभिन्न देशों में अलग अलग पद्धतियों से की जाती है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित चार पद्धतियाँ प्रमुख है :

(1) वंशानुगत पद्धति—इस पद्धति का सम्बन्ध राजतन्त्रीय शासन से है। इसमें पद की अवधि आजीवन है और उत्तराधिकार ज्येष्ठाधिकार कानून द्वारा शासित होता है। प्राचीन और मध्य युग में कार्यपालिका के निर्माण की यह सर्वाधिक प्रचलित परम्परा रही है। यद्यपि वर्तमान समय में यह पद्धति लोकप्रिय नहीं है किन्तु ब्रिटेन, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क आदि राज्यों में नाममात्र की कार्यपालिका की नियुक्ति इसी पद्धति के आधार पर की जाती है।

(2) जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन—कुछ राज्यों में कार्यपालिका प्रधान का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। यह पद्धति वंशानुगत विधि के नितान्त विपरीत और लोकतन्त्र के अनुकूल है। ऊपर से देखने पर यह पद्धति आकर्षक है किन्तु जनता द्वारा सीधे चुने जाने पर अयोग्य व्यक्ति चुने जा सकते हैं। बोलिविया, मैक्सिको, ब्राजील, पेरू आदि राज्यों में राष्ट्रपति को सर्वसाधारण जनता ही निर्वाचित करती है।

(3) जनता द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन—इस पद्धति के अन्तर्गत सर्वसाधारण जनता द्वारा एक निर्वाचक मण्डल का निर्वाचन किया जाता है और इस निर्वाचक-मण्डल द्वारा कार्यपालिका प्रधान का चुनाव किया जाता है। सैद्धान्तिक रूप में अमरीका के राष्ट्रपति के निर्वाचन की यही पद्धति है, किन्तु व्यवहार में राष्ट्रपति के चुनाव ने प्रत्यक्ष चुनाव का रूप ग्रहण कर लिया है।

(4) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन—इस पद्धति में कार्यपालिका को व्यवस्थापिका द्वारा चुना जाता है। सोवियत रूस और स्विट्जरलैण्ड में कार्यपालिका प्रधान के चुनाव की यही पद्धति है। किन्तु इस पद्धति में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ होने के कारण दूसरे देशों द्वारा इस पद्धति को नहीं अपनाया जा सका है।

कार्यपालिका प्रधान की पदावधि और पुनर्निर्वाचन

कार्यपालिका प्रधान के कार्यकाल के सम्बन्ध में विद्वानों के विचार में और

व्यवहार में भी बहुत अधिक अन्तर पाया जाता है। अमरीकी संघ की अनेक इकाइयों में कार्यपालिका प्रधान का कार्यकाल केवल एक वर्ष है जबकि फ्रेंच गणराज्य के राष्ट्रपति का कार्यकाल 7 वर्ष है। वास्तव में ये दोनों ही अवधियाँ उचित नहीं कही जा सकतीं। कार्यकाल के बहुत अधिक दीर्घ होने पर शक्तियों के दुरुपयोग की आशंका रहती है। दूसरी ओर कार्यकाल के बहुत ही कम होने पर कार्यपालिका प्रधान दब्बू और साहसहीन हो जाता है और उसके द्वारा ठीक प्रकार से प्रशासनिक कार्य नहीं किया जा सकता। इसलिए सामान्य धारणा यही है कि कार्यकाल न तो बहुत अधिक कम होना चाहिए और न ही बहुत अधिक लम्बा। इस सम्बन्ध में चार या पाँच वर्ष की अवधि ही श्रेष्ठ समझी जा सकती है। भारत, अमरीका आदि अधिकांश देशों में व्यवहार में कार्यकाल यही है।

कार्यपालिका प्रधान के पुनर्निर्वाचन के सम्बन्ध में भी विद्वानों के विचारों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। पुनर्निर्वाचन के सिद्धान्त का स्वीकार करते हुए यह कहा जाता है कि दूसरी अवधि के लिए अयोग्यता कार्यपालिका में स्वतन्त्र प्रवृत्ति पैदा करती है और राज्य के नेता की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं पर अवरोध का कार्य करती है। दूसरी ओर यह कहा जाता है कि पुनर्निर्वाचन की अयोग्यता से इन्कार करना राज्य को बुद्धिमान और अनुभवी राजनीतिज्ञों की सेवा से वंचित करना है। अतः इन परस्पर विरोधी विचारों के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुए यह कहा जा सकता है कि कार्यपालिका प्रधान का कार्यकाल अत्यन्त दीर्घ होने पर तो पुनर्निर्वाचन अत्यन्त अस्वाभाविक हो जाता है किन्तु सामान्य कार्यकाल (4 या 5 वर्ष) होने पर एक पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था अवश्य ही होनी चाहिए। व्यवहार में अमरीका में कानूनी तौर पर और भारत में परम्परा के आधार पर इस प्रकार की व्यवस्था है।

कार्यपालिका के कार्य

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में वर्तमान समय में व्यक्तिवादी विचारधारा को त्यागकर जनकल्याणकारी राज्य के विचार को अपना लिया गया है। जनकल्याणकारी राज्य की विचारधारा का स्वाभाविक परिणाम राज्य के कार्यों में वृद्धि हुआ है और जैसा कि लिप्सन लिखते हैं, "राज्य के कार्यों में प्रत्येक वृद्धि ने कार्यपालिका के कार्यों और शक्ति में वृद्धि की है।"[1] वर्तमान समय में कार्यपालिका के प्रमुख कार्य निम्न लिखित कहे जा सकते हैं :

(1) प्रशासन सम्बन्धी कार्य—प्रत्येक राज्य राजनीतिक रूप में संगठित समाज है और इस संगठित समाज की सर्वप्रथम आवश्यकता शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना होता है और यह कार्यपालिका ही करती है। इसके अतिरिक्त व्यापार

---

1 "Every new service that voters thrust upon the state, every additional power that the Government sought, redounded to the advantage of the executive." —Lipson, *The Great Issues of Politics*, p. 283

और यातायात, शिक्षा और स्वास्थ्य से सम्बन्धित सुविधाओं की व्यवस्था और कृषि पर नियन्त्रण, आदि कार्य भी कार्यपालिका द्वारा ही किये जाते हैं। इन कार्यों के सम्पादन हेतु कार्यपालिका द्वारा बहुत बड़ी संख्या में राजनीतिक तथा प्रशासनिक नियुक्तियाँ की जाती हैं तथा इन अधिकारियों की पदोन्नति, अवनति तथा पदच्युति का कार्य भी कार्यपालिका ही करती है। पदाधिकारियों की नियुक्ति और उन्हें निर्देश देने के कार्य के माध्यम से कार्यपालिका वास्तविक प्रशासन पर बहुत अधिक नियन्त्रण रखती है।

(2) वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन—वर्तमान समय में वैज्ञानिक प्रगति तथा राजनीतिक चेतना ने वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन को अत्यधिक महत्वपूर्ण बना दिया है और राज्य की ओर से वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन कार्यपालिका के द्वारा ही किया जाता है। अपने इस कार्य के अन्तर्गत कार्यपालिका विदेशों में अपने देश के प्रतिनिधि नियुक्त करती है, दूसरे राज्यों के साथ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक सन्धियाँ सम्पन्न करती है, और विविध अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेती है। यद्यपि वर्तमान समय की प्रवृत्ति के अनुसार सामान्यतया व्यवस्थापिका विदेश नीति पर नियन्त्रण रखती है, किन्तु वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में विशेषज्ञता, गुप्तता और वैयक्तिक चातुर्य की आवश्यकता होने के कारण सामान्यतया व्यवस्थापिका वैदेशिक सम्बन्धों के वास्तविक संचालन में बहुत ही कम भाग ले सकती है।

(3) सैनिक कार्य—सामान्यतया राज्य की कार्यपालिका का प्रधान सेनाओं के सभी अंगों (थल, जल और वायु) के प्रधान के रूप में कार्य करता है और विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करना कार्यपालिका का महत्वपूर्ण कार्य है। अपने इस कार्य के अन्तर्गत कार्यपालिका आवश्यकतानुसार युद्ध अथवा शान्ति की घोषणा कर सकती है। चान्सलर कैंट (Chancellor Kint) का कथन है कि "सैन्य बल का नियन्त्रण एवं प्रयोग, शान्ति की स्थापना और बाहरी आक्रमण से रक्षा स्वभावतः कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य हैं।"

(4) विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य—कार्यपालिका के विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य बहुत कुछ सीमा तक शासन-व्यवस्था के स्वरूप पर निर्भर करते हैं। सभी प्रकार की शासन व्यवस्थाओं में कार्यपालिका को विधानमण्डल का अधिवेशन बुलाने और स्थगित करने का अधिकार होता है। संसदात्मक शासन में तो कार्यपालिका विधि निर्माण के क्षेत्र में व्यवस्थापिका का नेतृत्व करती है और विशेष परिस्थितियों में लोकप्रिय सदन को भंग करते हुए नव निर्वाचन का आदेश दे सकती है। वर्तमान समय में तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका की स्वीकृति से कानूनों का निर्माण करती है। अध्यक्षात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका प्रत्यक्ष रूप से विधि निर्माण कार्य को प्रभावित कर सकती है। दोनों ही व्यवस्थाओं में कार्यपालिका प्रधान को विधियों के सम्बन्ध में निषेधाधिकार प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त, जिस समय व्यवस्थापिका अधिवेशन में नहीं होती, उस

समय आवश्यकता पड़ने पर कार्यपालिका अध्यादेश जारी कर सकती है, जो विधि के समान ही प्रभावी होते हैं। वर्तमान समय में कार्यपालिका को 'प्रदत्त व्यवस्थापन' (Delegated Legislation) के माध्यम से भी बहुत अधिक शक्ति प्राप्त हो गयी है।

(5) वित्तीय कार्य—यद्यपि वार्षिक बजट स्वीकृत करने का कार्य व्यवस्थापिका द्वारा किया जाता है किन्तु इस बजट का प्रारूप तैयार करने का कार्य कार्यपालिका ही करती है। कार्यपालिका या वित्त विभाग आय के विभिन्न साधनों द्वारा प्राप्त आय के उपयोग पर विचार करता है।

(6) न्याय सम्बन्धी कार्य—प्राय: प्रत्येक राज्य में कार्यपालिका को कुछ न्याय सम्बन्धी शक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। सभी देशों में कार्यपालिका प्रधान को क्षमादान का अधिकार प्राप्त होता है जिसके अनुसार कार्यपालिका न्यायपालिका द्वारा दण्डित व्यक्तियों पर दया करके उनके दण्ड को कम कर सकती या उन्हें क्षमा प्रदान कर सकती है। सर्वक्षमा (amnesty) की शक्ति के अन्तर्गत कार्यपालिका एक ही अपराध से सम्बन्धित अनेक अपराधियों को एक साथ क्षमा प्रदान कर सकती है। कार्यपालिका को क्षमादान की यह शक्ति मानवीय आधार पर राजनीतिक और व्यावहारिक कारणों से प्रदान की जाती है।

देश के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति भी कार्यपालिका का प्रधान ही करता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में कार्यपालिका के सामान्य निरीक्षण के अन्तर्गत कार्य करने वाले सरकारी विभागों को अर्द्ध-न्यायिक कोटि के व्यापक अधिकार प्रदान किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में स्वास्थ्य मन्त्रालय अपने प्रशासनिक कार्यों के सिलसिले में लोगों पर जुर्माने कर सकता है और हर्जाना वसूल कर सकता है। इंग्लैण्ड में हैवर्ट (Hewart) जैसे आलोचक प्रशासनिक निर्णय को नयी निरंकुशता (New despotism) कहकर उसकी निन्दा करते हैं।

(7) अन्य कृत्य—उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य देशों में कार्यपालिका को उपाधियाँ वितरण का अधिकार भी होता है। कुछ देशों में विशिष्ट सेवा के बदले पेंशन या अन्य प्रकार से सहायता देने का अधिकार भी कार्यपालिका को होता है। वस्तुतः जनकल्याणकारी राज्य की विचारधारा के कारण कार्यपालिका के कार्यों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है।

व्यवस्थापिका की सत्ता का ह्रास और कार्यपालिका की सत्ता में वृद्धि—प्रमुख रूप से निम्नलिखित कारणों से व्यवस्थापिका सत्ता का ह्रास और कार्यपालिका सत्ता में बहुत वृद्धि हो गयी है :

(1) जनकल्याणकारी राज्य की धारणा—जनकल्याणकारी योजनाएँ कार्यपालिका को व्यापक शक्तियाँ देने के लिए बाध्य करती हैं। जिन राज्यों के द्वारा समाज कल्याण की धारणा को अपना लिया गया है, वहाँ पर सामाजिक और

आर्थिक सुधारों से सम्बन्धित व्यवस्थापन ने कार्यपालिका को बहुत अधिक शक्ति प्रदान कर दी है।

(2) दलीय पद्धति—दलीय पद्धति के विकास ने भी कार्यपालिका की शक्ति में बहुत अधिक वृद्धि कर दी है। संसदात्मक लोकतन्त्र में बहुमत दल के समर्थन पर टिकी हुई कार्यपालिका अधिनायकवादी शक्तियाँ ग्रहण कर लेती हैं और इसके साथ ही ऊँचे स्वर में घोषणा कर सकती है कि वह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी है।

(3) प्रदत्त व्यवस्थापन—वर्तमान समय में कानून निर्माण का कार्य बहुत अधिक बढ़ जाने और इस कार्य के जटिल हो जाने के कारण व्यवस्थापिका के द्वारा अपनी ही इच्छा से कानून-निर्माण की शक्ति कार्यपालिका के विभिन्न विभागों को सौंप दी जाती है। इसे ही प्रदत्त व्यवस्थापन कहते हैं और प्रदत्त व्यवस्थापन के कारण भी कार्यपालिका की शक्ति में बहुत वृद्धि हो गयी है।

(4) आधुनिक समस्याओं की जटिलता—वर्तमान समय में राज्य को अत्यधिक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता है और इन समस्याओं को हल करने के लिए जिस विशेष ज्ञान, अनुभव और योग्यता की आवश्यकता होती है वे कार्यपालिका के सदस्यों के पास ही होते हैं, व्यवस्थापिका के सामान्य योग्यता वाले सदस्यों के पास नहीं। व्यवस्थापिका के सदस्य स्वयं अपनी असमताओं से परिचित होते हैं, इसलिये आमतौर पर वे कार्यपालिका की बढ़ती हुई शक्ति का स्वागत ही करते हैं।

(5) नियोजन—वर्तमान समय के अधिकांश प्रगतिशील देशों द्वारा आर्थिक विकास के लिए 'नियोजन' (Planning) की पद्धति को अपनाया गया है। इस पद्धति के अन्तर्गत योजनाएं तैयार करने व इन योजनाओं को कार्य रूप में परिणित करने का कार्य कार्यपालिका के द्वारा ही किया जाता है और उसकी शक्तियों में वृद्धि हो जाती है।

(6) अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध एवं विदेशी व्यापार—वर्तमान समय में अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध और विदेशी व्यापार का संचालन शासन के बहुत अधिक महत्वपूर्ण कार्य हैं तथा इनका संचालन कार्यपालिका के द्वारा किया जाता है। इस आधार पर भी कार्यपालिका को सरकार के अन्य अंगों पर कुछ शक्ति प्राप्त हो ही जाती है।

(7) मन्त्रिपरिषद् द्वारा व्यवस्थापिका के विघटन की शक्ति—वर्तमान समय के संसदीय शासन में कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व तो नाममात्र के लिए ही रह गया है, अपितु वास्तविक तो मन्त्रिपरिषद् द्वारा व्यवस्थापिका के निम्न सदन को विघटित करने की शक्ति है। मन्त्रिपरिषद् की इस शक्ति के कारण भी संसदीय शासन में कार्यपालिका की सत्ता में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है।

वस्तुतः कार्यपालिका की सत्ता में निरन्तर विस्तार होता जा रहा है और फिस्नर के शब्दों में कहा जा सकता है कि "मतदाताओं द्वारा राज्य को सौंपा गया

प्रत्येक नया कर्तव्य और शासन द्वारा प्राप्त की गयी प्रत्येक अतिरिक्त शक्ति ने कार्यपालिका की सत्ता और महत्व में वृद्धि की है।"

कुछ व्यक्तियों के द्वारा कार्यपालिका सत्ता की इस वृद्धि को बहुत अधिक भय की दृष्टि से देखा जाता है और वे ऐसी आशका व्यक्त करते हैं कि इससे लोकतान्त्रिक व्यवस्था सकट में पड़ जायगी। लेकिन, वास्तव में, कार्यपालिका सत्ता के इस विस्तार की न तो निन्दा की जानी चाहिए और न ही इसे भय की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। वास्तव में, प्रत्येक प्रजातन्त्रात्मक देश के अन्दर विरोधी राजनीतिक दल, समय समय पर होने वाले चुनाव, जागरूक प्रेस और स्वतन्त्र न्यायपालिका के रूप मे ऐसी शक्तियाँ विद्यमान हैं जिनके द्वारा कार्यपालिका को मनमानी करने से रोकने का कार्य किया जाता है। अत. कार्यपालिका के अनाचार (tyranny) की बात करना निरर्थक है।

कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका का सम्बन्ध

व्यवस्थापिका और कार्यपालिका—सरकार के इन दोनों अगों के पारस्परिक सहयोग के अभाव में शासन के द्वारा कोई भी कार्य सम्पन्न किया ही नहीं जा सकता—इसलिये चाहे ससदात्मक शासन हो चाहे अध्यक्षात्मक शासन—शासन के ये दोनों अग कुछ न कुछ सीमा तक परस्पर सम्बन्धित होते हैं।

ससदात्मक शासन का तो आधार ही व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का घनिष्ट सम्बन्ध होता है। मन्त्रिमण्डल के सदस्य अनिवार्य रूप से विधानमण्डल के सदस्य होते हैं। वे विधानमण्डल में बैठते हैं, विचार विमर्श में भाग लेते हैं, भाषण देते हैं, विधेयक प्रस्तुत करते हैं और जिस सदन के सदस्य होते हैं, वहाँ मत भी दे सकते हैं। इसके साथ ही कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। विधानमण्डल के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं, निन्दा, आलोचना या कामरोको प्रस्ताव पेश कर सकते हैं तथा विधानमण्डल का निम्न सदन अविश्वास का प्रस्ताव पास करके मन्त्रिमण्डल को हटा सकता है। कार्यपालिका को भी ससद के निम्न सदन को भग करने का अधिकार होता है।

विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक कार्यपालिका प्रधान के हस्ताक्षर से ही अधिनियम बनते हैं और कार्यपालिका प्रधान इन विधेयकों पर निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है। विधानमण्डल के अधिवेशन कार्यपालिका द्वारा ही बुलाये और समाप्त किये जाते हैं। कार्यपालिका प्रधान विधानमण्डल में भाषण दे सकता और अपना लिखित सन्देश भी भेज सकता है। इग्लैण्ड में सम्राट और भारत मे राष्ट्रपति को विधानमण्डल के उच्च सदन में कुछ सदस्य मनोनीत करने का अधिकार भी प्राप्त है। कार्यपालिका को 'प्रदत्त व्यवस्थापन' की शक्ति विधानमण्डल द्वारा ही प्रदान की जाती है। अधिकाश राज्यो में कार्यपालिका प्रधान अध्यादेश जारी कर सकता है और कार्यपालिका प्रधान द्वारा सविधान की सीमाओं का उल्लघन किये

जाने पर विधानमण्डल कार्यपालिका प्रधान पर महाभियोग लगाकर उसे हटा सकता है।

अध्यक्षात्मक शासन यद्यपि शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित होता है, किन्तु इसके अन्तर्गत भी कार्यपालिका और विधानमण्डल परस्पर सम्बन्धित होते ही हैं, यद्यपि विधानमण्डल अविश्वास का प्रस्ताव पास कर कार्यपालिका को नहीं हटा सकता और न कार्यपालिका विधानसभा को भंग कर सकती है, परन्तु अमरीका में, जहाँ अध्यक्षात्मक शासन है, राष्ट्रपति के द्वारा की गयी नियुक्तियों और सन्धियों की स्वीकृति व्यवस्थापिका के उच्च सदन (सीनेट) से लेनी पड़ती है। विधानमण्डल राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाकर हटा सकता है। राष्ट्रपति संसद में भाषण दे सकता है और सन्देश भेज सकता है, आदेश जारी कर सकता है और विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयकों पर निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार अध्यक्षात्मक शासन में भी व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक-दूसरे से सहयोग करते हैं और एक-दूसरे पर प्रतिबन्ध भी रखते हैं।

कार्यपालिका तथा न्यायपालिका

आधुनिक प्रजातन्त्र का यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि न्यायपालिका स्वतन्त्र और पक्षपातरहित होनी चाहिए। इसके अन्तर्गत यह बात सम्मिलित है कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक रखा जाना चाहिए। कार्यपालिका तथा न्यायपालिका को पृथक-पृथक रखने के सम्बन्ध में भारतीय संविधान के नीति निर्देशक तत्वों में निर्देश भी दिया गया है परन्तु इनके अलग होने के बावजूद ये आपस में कुछ सम्बन्ध रखते ही हैं। सामान्यतया, उच्च श्रेणी के न्यायालयों के न्यायाधीशों को कार्यपालिका प्रधान के द्वारा ही नियुक्त किया जाता है। कार्यपालिका प्रधान न्यायालय द्वारा दण्डित व्यक्तियों पर क्षमादान की शक्ति का प्रयोग भी कर सकता है। इसी प्रकार, यदि व्यवस्थापिका किसी ऐसे कानून का निर्माण करे या कार्यपालिका कोई ऐसा आदेश जारी करे, जो संविधान की सीमाओं के बाहर हो, तो न्यायपालिका द्वारा ऐसे कानून या आदेश को अवैध घोषित किया जा सकता है। न्यायपालिका की इस शक्ति को 'न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति' (Power of Judicial Review) के नाम से जाना जाता है।

प्रश्न

1. शासन की कार्यपालिका शाखा के विभिन्न कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. कार्यपालिका के निर्माण की विविध पद्धतियों का वर्णन कीजिए। सुव्यवस्थित कार्यपालिका के लिए किन किन बातों का होना आवश्यक है?
3. कार्यपालिका के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए। यह क्या-क्या विभिन्न कार्य करती है?

20

न्यायपालिका
[JUDICIARY]

"सरकार के जितने भी मुख्य कार्य हैं, उनमें निस्सन्देह न्याय कार्य अति महत्वपूर्ण है क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध नागरिकों से होता है। चाहे कानून के निर्माण की-मशीनरी कितनी भी विस्तृत और वैज्ञानिक हो, चाहे कार्यपालिका का संगठन कितना भी पूर्ण हो परन्तु फिर भी नागरिक का जीवन दु:खी हो सकता है और उसकी सम्पत्ति को खतरा उत्पन्न हो सकता है, यदि न्याय करने में देरी हो जाय या न्याय में दोष रह जाय अथवा कानून की व्याख्या पक्षपात पूर्ण या भ्रामक हो।"[1] —मैरीयट

न्यायपालिका का महत्व

व्यक्ति एक विवेकशील प्राणी है और इसके साथ ही-साथ प्रत्येक व्यक्ति के अपने कुछ विशेष स्वार्थ भी होते हैं। व्यक्ति के विचारों और उसके स्वार्थों में इस प्रकार का भेद होने के कारण उनमें परस्पर संघर्ष नितान्त स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय में व्यक्तियों द्वारा व्यक्तियों पर शासन किया जाता है और इस बात की आशंका रहती है कि शासक वर्ग अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर सकता है। ऐसी स्थिति में सदैव ही एक ऐसी सत्ता की आवश्यकता रहती है जो व्यक्तियों के पारस्परिक विवादों को हल कर सके और शासक वर्ग को अपनी सीमाओं में रहने के लिए बाध्य कर सके। इन कार्यों को रोकने वाली सत्ता का नाम ही न्यायपालिका है।

राज्य के आदिकाल से लेकर आज तक किसी न किसी रूप में न्याय विभाग का अस्तित्व सदैव ही रहा है और सामान्य जनता के दृष्टिकोण से न्यायिक कार्य का

---

1 "It matters not how elaborate the machinery of legislation may be how scientific the product how perfect the organization of the executive, the life of the individual citizen may nevertheless be rendered miserable, his person and property will be alike insecure if there be any defect or delay in the administration of justice or any partiality or ambiguity in the interpretation of law."

—*Marriot* (Quoted from Bryce's *Modern Democracies* Vol II, p. 421),

सम्पादन सदैव ही महत्व रखता है। राज्य में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की व्यवस्था चाहे कितनी ही पूर्ण और श्रेष्ठ क्यों न हो, परन्तु यदि न्याय करने में पक्षपात किया जाता है, अनावश्यक व्यय और विलम्ब होता है या न्याय विभाग में अन्य किसी प्रकार का दोष है तो जनजीवन नितान्त दुःखपूर्ण हो जायगा। डा गार्नर ने ठीक ही लिखा है कि "न्याय विभाग के अभाव में एक सभ्य राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई भी समाज बिना विधानमण्डल के रहता है, यह बात समझ में आ सकती है, लेकिन किसी भी समय ऐसे राज्य की कल्पना हो नहीं की जा सकती जिसमें न्यायपालिका की कोई व्यवस्था न हो।" न्याय विभाग के महत्व के सम्बन्ध में ब्राइस ने भी अपनी श्रेष्ठ शब्दावली में कहा है कि "न्याय विभाग की कुशलता से बढ़कर सरकार की उत्तमता की दूसरी कोई भी कसौटी नहीं है क्योंकि किसी और चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता है जितना कि उसके इस ज्ञान से कि वह एक निश्चित, शीघ्र व अपक्षपाती न्याय शासन पर निर्भर रह सकता है।"[1]

अन्य शासन व्यवस्थाओं की तुलना में प्रजातन्त्र में न्यायपालिका का महत्व अधिक होता है। प्रजातन्त्र अपने स्वभाव से ही मर्यादित शक्तियों वाला शासन होता है और शासन को इस प्रकार की मर्यादा में रखने का कार्य न्यायपालिका के द्वारा ही किया जाता है। इसके अतिरिक्त, प्रजातन्त्र को जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए शासन कहा जाता है लेकिन जब तक निष्पक्ष, शीघ्र और सर्वजन-सुलभ न्याय की व्यवस्था नहीं होती जनता का शासन एक मिथ्या धारणा बनकर ही रह जाता है।

वर्तमान समय की प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्थाओं में सामान्यतः संविधान के द्वारा ही नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं और शासन से अपेक्षा की जाती है कि वह नागरिकों के इन अधिकारों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। व्यवहार में नागरिकों के अधिकार की रक्षा के लिए न्यायपालिका का अस्तित्व आवश्यक है। उसके अभाव में नागरिकों के अधिकार निरर्थक हो जाते हैं।

संघात्मक शासन में विशेष महत्व—इन सब के अतिरिक्त प्रजातन्त्र के एक रूप संघात्मक शासन में तो न्यायपालिका का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है क्योंकि इस शासन व्यवस्था में अन्तर्गत न्यायपालिका अभियोगों के निर्णय के साथ-ही-साथ संविधान की व्याख्या और रक्षा का कार्य भी करती है। न्यायपालिका केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों को उनकी निश्चित सीमाओं में रखने का कार्य

---

[1] "There is no better test of the excellence of a government than the *efficiency of its judicial system*, for nothing more nearly touches the welfare and security of average citizen than this *sense that he can* on the certain prompt and administration of justice."

—Bryce, *Modern Democracies*, Vol II, p 421.

करती हैं और यदि इनमें से कोई भी एक पक्ष संविधान द्वारा निश्चित सीमाओं के उल्लंघन का प्रयत्न करे, तो न्यायपालिका उनके कार्यों को अवैध घोषित कर सकती है। न्यायपालिका की इस शक्ति को 'न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति' Power of Judicial Review) के नाम से पुकारा जाता है। अमरीका में तो अपनी इस शक्ति के आधार पर न्यायपालिका ने बहुत ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है और अमरीकी न्यायाधीश ह्यूज तो यहाँ तक कहते हैं कि अमरीकी संविधान वैसा ही है, जैसा कि न्यायाधीश कहते हैं। यद्यपि भारत की संघात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत न्यायपालिका को अमरीकी व्यवस्था जितना अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है लेकिन फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि सभी शासन-व्यवस्थाओं में, विशेषतया संघात्मक शासन-व्यवस्था में न्यायपालिका की स्थिति बहुत ही अधिक महत्वपूर्ण होती है।

न्याय विभाग के कार्य

न्यायपालिका व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों के आधार पर न्याय प्रदान करने का कार्य करती है। न्यायपालिका ही नागरिक अधिकारों की रक्षा, स्वतन्त्रता की वृद्धि अपराधों पर नियन्त्रण व समाज में सुरक्षा की भावना बनाये रखती है। न्यायपालिका द्वारा प्रमुख रूप से निम्नलिखित कार्य किये जाते हैं

(1) अभियोगों का निर्णय—व्यक्तियों में विचार भेद, स्वार्थों की भिन्नता, फौजदारी और माल सम्बन्धी विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। न्याय विभाग का सर्वप्रथम कार्य विद्यमान कानूनों के आधार पर इन विवादों का निर्णय करना होता है। प्राचीनकाल से ही सभी देशों में न्याय-विभाग के द्वारा इस प्रकार का कार्य किया जाता है।

(2) कानूनों की व्याख्या—कानूनों की भाषा सदैव ही स्पष्ट नहीं होती और अनेक बार कानूनों की भाषा के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विवाद उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार की प्रत्येक परिस्थिति में कानूनों की अधिकारपूर्ण व्याख्या करने का कार्य न्यायपालिका के द्वारा ही किया जाता है। न्यायालयों द्वारा की गयी इस प्रकार की व्याख्याओं की स्थिति कानूनों के ही समान होती है। इस प्रकार न्यायपालिका कानून विषयक सन्देहपूर्ण परिस्थितियों की निश्चित व्याख्या देकर तथा उनका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करके कानून का क्षेत्र व्यापक बना सकती है।

(3) औचित्य (Equity) के आधार पर कानून-निर्माण—कानूनों का स्वरूप चाहे कितना ही विस्तृत क्यों न हो, न्यायालय में अनेक ऐसे विवाद उपस्थित होते हैं जिनका निर्णय वर्तमान कानून द्वारा नहीं किया जा सकता है। न्यायालयों के द्वारा इस प्रकार के विवादों का निपटारा विवेक, औचित्य व स्वाभाविक न्याय के सिद्धान्त का आश्रय लेकर किया जाता है। भारत के प्राचीन विधिशास्त्रियों ने इसी को धर्म व न्याय के नाम से पुकारा है। न्यायाधीश औचित्य, धर्म व न्याय के आधार पर जो निर्णय करते हैं, वह एक परम्परा को उत्पन्न कर देता है और यदि अन्य न्यायाधीश

भी समान परिस्थितियों में इसी प्रकार का निर्णय करें तो परम्परा के आधार पर एक नवीन कानून का निर्माण हो जाता है, जिसे 'केस लॉ' (Case Law) या न्यायालयों द्वारा निर्मित कानून' कहते हैं। न्यायालय के इन निर्णयों के सम्बन्ध में लीकॉक ने लिखा है कि, "इस प्रकार न्यायाधीशों द्वारा दिया गया निर्णय अप्रत्यक्ष रूप से कानून का पूरक होता है। इस दृष्टि से न्यायालय अर्द्ध-विधानमण्डल का रूप धारण करके कई वर्तमान कानूनों का निर्माण करता है।'

(4) व्यक्ति स्वातन्त्र्य एवं अधिकारों की रक्षा—व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में दो तरफ से बाधा उपस्थित हो सकती है—अन्य व्यक्तियों द्वारा या राज्य द्वारा। न्याय विभाग इन दोनों ही बाधाओं को दूर करते हुए व्यक्तियों की स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा करता है। यदि शक्तिशाली व्यक्ति किसी दूसरे की स्वतन्त्रता को नष्ट करने का प्रयत्न करता है तो पीड़ित पक्ष न्यायालय की शरण लेकर शक्तिशाली व्यक्ति को ऐसा कार्य करने से रोक सकता है और उसके द्वारा किये गये अनुचित कार्यों के लिए दण्ड दिलवा सकता है। वर्तमान समय की प्रवृत्ति यह है कि व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध को संविधान द्वारा ही मर्यादित कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका या किन्हीं पदाधिकारियों द्वारा संवैधानिक या कानूनी मर्यादा भंग करने पर व्यक्ति न्यायालय की शरण लेकर उनको ऐसा कार्य करने से रोक सकता है। इस प्रकार न्याय विभाग व्यक्तियों की स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा का कार्य करता है।

(5) घोषणात्मक निर्णय (Declaratory Judgments) प्रदान करना—कभी कभी जाने या अनजाने में व्यवस्थापिका ऐसे कानूनों का निर्माण कर देती है जो अस्पष्ट या पूर्व-निर्धारित कानूनों के विरुद्ध होते हैं। न्यायालयों को ऐसे कानूनों के सम्बन्ध में घोषणात्मक निर्णय देने का अधिकार होता है। अनेक राज्यों में इस प्रकार की भी व्यवस्था है कि बिना किसी प्रकार के विशेष मुकदमे के ही व्यक्ति कानूनों का स्पष्टीकरण या उसके औचित्य एवं अनौचित्य के सम्बन्ध में निर्णय माँग सकते हैं। न्यायालयों द्वारा दिये गये इस प्रकार के निर्णय भी घोषणात्मक निर्णयों के अन्तर्गत ही आते हैं।

(6) संविधान के रक्षण का कार्य—न्याय विभाग संविधान की पवित्रता तथा उसमें प्रतिपादित व्यवस्था की रक्षा का कार्य भी करता है। वर्तमान समय में अधिकांश राज्यों के संविधान कठोर हैं, उनमें साधारण कानून और संवैधानिक कानून में अन्तर किया जाता है और संविधान द्वारा व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका की शक्तियों को सीमित कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में यदि व्यवस्थापिका या कार्यपालिका संविधान के प्रतिकूल कोई कार्य करती है तो न्यायपालिका इस प्रकार के कानूनों या कार्यों को अवैधानिक घोषित करते हुए संविधान की रक्षा का कार्य करती है। संघात्मक राज्य में तो संविधान द्वारा ही केन्द्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारों के बीच शक्ति-विभाजन भी किया जाता है और न्यायपालिका इस बात का ध्यान

रखती है कि केन्द्रीय सरकार या सरकारें संविधान द्वारा किये गये इस शक्ति-विभाजन के विरुद्ध कोई कार्य न करें।

(7) परामर्श सम्बन्धी कार्य—अनेक राज्यों में इस प्रकार की व्यवस्था है कि न्यायपालिका निर्णय देने के साथ साथ कानूनी प्रश्नों पर परामर्श देने का कार्य भी करती है, यदि व्यवस्थापिका या कार्यपालिका द्वारा इस प्रकार का परामर्श मांगा जाय। उदाहरणार्थ, इगलैण्ड में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति से सरकार प्राय वैधानिक और कानूनी प्रश्नों पर परामर्श लेती है। कनाडा में सर्वोच्च न्यायालय का एक कार्य यह है कि वह गवर्नर-जनरल को कानूनी परामर्श दे। आस्ट्रिया, पनामा, बलगारिया, स्वीडन, भारत आदि देशों में भी इस प्रकार की व्यवस्था है।

(8) विविध कार्य—उपर्युक्त के अतिरिक्त न्यायालय अन्य विविध कार्यों का भी सम्पादन करते हैं।

सोवियत रूस जैसे समाजवादी राज्यों ने न्यायाधिकारी वर्ग द्वारा 'क्रान्ति के रक्षक' का महान कार्य किया जाता है।

न्यायालयों को प्रतिबन्धात्मक आदेश (injunctions) देने का अधिकार होता है। वे किसी व्यक्ति अथवा सस्था को कह सकते हैं कि जब तक उनके द्वारा अभियोग की पूरी जाँच न हो अथवा निर्णय न हो, तब तक वे इस सम्बन्ध में कोई कार्य न करें। इस आदेश के उल्लघन को न्यायालय का अपमान समझा जाता है।

वे कुछ विभागीय अथवा प्रशासनिक कार्य करते हैं, जैसे अपने लिपिकों की नियुक्ति अथवा निचली अदालतों का निरीक्षण।

न्यायालयों के और कई कृत्य हैं जैसे—अनुज्ञा-पत्र प्राप्त करना, विदेशियों को नागरिकता प्रदान करना, नागरिक विवाह की स्वीकृति देना, अल्पसख्यकों के सरक्षक तथा सम्पत्ति के प्रबन्धकर्ता नियुक्त करना, आदि। वे किसी के वसीयतनामे को प्रमाणित करने का आज्ञा-पत्र जारी करते हैं। वर्तमान समय में न्यायालयों द्वारा एक महत्वपूर्ण कार्य निर्वाचन सम्बन्धी मामलों के निर्णय का किया जाता है। इस प्रकार के विवादों का निबटारा सामान्यतया उच्च स्तर के न्यायालयों द्वारा ही किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वर्तमान समय में न्याय विभाग अनेक महान कार्यों का सम्पादन करता है। भारत और सयुक्त राज्य अमरीका जैसे राज्यों में जहाँ पर कि 'न्यायिक पुनर्विलोकन' (Judicial review) की व्यवस्था है, न्यायपालिका के कार्य और शक्तियाँ निस्सन्देह बहुत ही अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

न्यायपालिका की स्वाधीनता व इस स्वाधीनता प्राप्ति के साधन—न्यायपालिका का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और उसके द्वारा विविध प्रकार के कार्य किये जाते हैं। लेकिन न्यायपालिका इस प्रकार के विविध कार्यों को उसी समय कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर सकती है जबकि न्यायपालिका स्वतन्त्र हो। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के महत्व पर प्रकाश डालते हुए अमरीकन राष्ट्रपति टाफ्ट ने कहा है कि

"सभी मामलों में चाहे वे व्यक्ति तथा राज्य के बीच में हों, चाहे अल्पमत और बहुमत के बीच हों, चाहे आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से शक्तिशाली और निर्बल के बीच में हों, न्यायपालिका को निष्पक्ष रहना चाहिए और बिना किसी भय या पक्षपात के निर्णय देना चाहिए।"[1] डॉ॰ गार्नर ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'यदि न्यायाधीशों में प्रतिभा, सरलता और निर्णय देने की स्वतन्त्रता न हो, तो न्यायपालिका का सारा ढाँचा खोखला प्रतीत होगा और उस ऊँचे उद्देश्य की सिद्धि नहीं होगी, जिसके लिए उसका निर्माण किया गया है।"[2] न्यायपालिका की स्वतन्त्रता से हमारा तात्पर्य यह है कि न्यायाधीशों को कानूनों की व्याख्या करने और न्याय प्रदान करने के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिए और उन्हें अपने कर्तव्य पालन में किसी से अनुचित तौर पर प्रभावित नहीं होना चाहिए।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए निम्नलिखित उपायों को अपनाया जा सकता है

(1) न्यायाधीशों की नियुक्ति का ढंग—न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन विधियाँ प्रचलित हैं—(अ) जनता द्वारा चुनाव, (ब) व्यवस्थापिका सभा द्वारा चुनाव, और (स) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति।

(अ) जनता द्वारा निर्वाचन—माण्टेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त से प्रभावित होने के कारण सर्वप्रथम फ्रांस में न्यायाधीशों के जनता द्वारा निर्वाचित होने की पद्धति को अपनाया गया था और वर्तमान समय में यह पद्धति स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैण्टनों और अमरीकी संघ के कुछ राज्यों में प्रचलित है। न्यायाधीशों के जनता द्वारा निर्वाचन की इस पद्धति के पक्ष में प्रमुख रूप से निम्नलिखित बातें कही जाती हैं

(i) यह प्रणाली शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त के अनुकूल है, क्योंकि इसके अन्तर्गत न्यायाधीश नियुक्ति के आधार पर व्यवस्थापिका या कार्यपालिका के दबाव में नहीं रहते।

(ii) इस प्रणाली को लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था के अनुकूल बताते हुए कहा जाता है कि यह प्रणाली जनता को न्यायपालिका पर नियन्त्रण की शक्ति प्रदान कर देती है।

---

1 "As between the individual and the State, as between the majority and the minority, as between the powerful and the weak financially, politically, socially, courts must hold an even hand and give judgement without fear or favour." —President Taft (Cited in Willoughby's *The Govt. of Modern State*, p. 443).

2 "If the judges lack wisdom probity and freedom of decision the high purposes for which the judiciary is established cannot be realized." —Garner, *Political Science and Government*, p. 722.

विपक्ष में तर्क— जनता द्वारा न्यायाधीशों के निर्वाचन' की पद्धति के पक्ष की अपेक्षा विपक्ष अधिक सबल है। यह पद्धति प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारों पर दोषपूर्ण कही जाती है :

(i) शक्ति विभाजन के सिद्धान्त का तात्पर्य यह नहीं है कि सरकार के तीनों अंग एक दूसरे से किसी प्रकार का सम्बन्ध रखे ही नहीं। यदि शक्ति विभाजन सिद्धान्त को इस रूप मे ग्रहण करने का प्रयत्न किया जाय, तो फिर शासन द्वारा किसी भी कार्य का सम्पादन सम्भव होगा ही नहीं। इसी प्रकार लोकतन्त्र का तात्पर्य यह नही है कि जनता को ऐसे कार्यों के सम्बन्ध मे शक्ति प्रदान कर दी जाय जिन कार्यों को वह ठीक प्रकार से कर ही नहीं सकती। इस प्रकार 'न्यायाधीशों के जनता द्वारा निर्वाचन' के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क अपना कोई महत्व नहीं रखते।

(ii) यह एक तथ्य है कि यदि जनता द्वारा न्यायाधीशों के निर्वाचन की पद्धति को अपना लिया गया तो योग्य व्यक्ति न्यायाधीश के पद पर आसीन नही हो पायेंगे। योग्यता और लोकप्रियता दो पृथक चीजें हैं और चुनावों मे विजय लोकप्रियता के आधार पर प्राप्त की जाती है, योग्यता के आधार पर नहीं। जनता न्यायाधीश के पद के उम्मीदवारो के गुणो से अपरिचित होती है और जनता द्वारा दम्भी और बकवासी व्यक्तियो को न्यायाधीश के पद पर निर्वाचित किया जा सकता है।

(iii) यदि न्यायाधीशो का जनता द्वारा निर्वाचन हो, तो योग्य एव प्रतिष्ठित व्यक्ति चुनाव और दलबन्दी के पचडे म नही पडना चाहेंगे तथा व न्यायाधीश बनने के लिए आगे नही बढेंगे। ऐसी स्थिति मे अप्रतिष्ठित और अपेक्षाकृत बहुत कम योग्यता वाले व्यक्ति न्यायाधीश बन बैठेंगे और न्याय प्रशासन उचित रूप मे कार्य नही कर सकेगा।

(iv) वर्तमान समय मे प्रत्येक प्रकार का निर्वाचन अनिवार्य रूप से दलबन्दी के साथ जुड़ा हुआ होता है। न्यायाधीश जब राजनीतिक दल की सहायता से चुनाव लड़कर अपना पद प्राप्त करेंगे, तो स्वाभाविक रूप से उनमे दलीय आधार पर पक्षपात करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायेगी और वे कभी भी निष्पक्षतापूर्वक न्याय प्रदान करने का कार्य नहीं कर सकेंगे।

(v) निर्वाचित न्यायाधीश पुनर्निर्वाचन की सम्भावनाओ को उज्ज्वल बनाये रखने के लिए सदा इसी प्रयत्न मे रहेंगे कि वे अपने मतदाताओ को प्रसन्न रखें। न्यायाधीश अपराधी व्यक्तियों के प्रति भी आवश्यक कठोरतापूर्ण रुख नहीं अपना सकेंगे, जिसके परिणामस्वरूप अपराध बढ़ते जायेंगे और न्याय प्रशासन कठपुतली बन जायगा।

न्यायपालिका अपना कार्य ठीक प्रकार से कर सके इसके लिए आवश्यक है कि न्यायाधीश योग्य, विधि के ज्ञाता और निष्पक्ष हो। लेकिन जनता द्वारा निर्वाचित

न्यायाधीशों में इनमे से एक भी गुण नहीं होगा। ये निर्वाचित न्यायाधीश तो न्यायाधीश कम और राजनीतिज्ञ अधिक होंगे। लॉस्की ने ठीक ही कहा है कि "न्यायाधीशों की नियुक्ति की समस्त पद्धतियों में जनता द्वारा निर्वाचन की पद्धति निर्विवाद रूप से सबसे अधिक बुरी है।"[1] इसी प्रकार गार्नर ने भी लिखा है कि "न्यायाधीशों के निर्वाचन से न्यायपालिका का चरित्र गिर जाता है। न्यायाधीश राजनीतिज्ञ बन जाते हैं। उनके न्यायिक मस्तिष्क पर ऐसा कुप्रभाव पड़ता है कि वे उससे अपने आपको बचा नहीं सकते।"

(ब) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन—सोवियत रूस तथा उसके संघ एवं स्वायत्त राज्यों के सर्वोच्च न्यायालयों तथा स्विट्जरलैण्ड के संघ न्यायालय के न्यायाधीशों का चुनाव व्यवस्थापिका द्वारा होता है। यह प्रणाली क्रान्ति के पश्चात कुछ समय तक अमरीका में भी लागू रही, किन्तु अब इस बात को दोषपूर्ण समझा जाता है और इसकी निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है

(i) इसके द्वारा शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की अवहेलना होती है।

(ii) यह जरूरी नहीं है कि विधानमण्डल के सदस्य न्यायाधीश पद के विभिन्न उम्मीदवारों की योग्यताओं से परिचित हों।

(iii) जब विधानमण्डल न्यायाधीशों को निर्वाचित करेगा, तो उनके द्वारा दलीय प्रभाव और हितों के आधार पर कार्य किया जायेगा।

(iv) विधानमण्डल द्वारा निर्वाचित होने वाले न्यायाधीश, विधानमण्डल के अधीन रहकर उसकी कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहेंगे। उनका पुनर्निर्वाचन भी व्यवस्थापिका सभा की इच्छा और सहायता पर निर्भर करेगा। इस प्रकार न्यायाधीश विधानमण्डल के हाथों में कठपुतली बनकर रह जायेंगे।

(v) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित होने वाले न्यायाधीश राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेंगे, जिसके परिणामस्वरूप उनकी योग्यता निम्न स्तर की हो जायगी और वे न्यायाधीश पद के कर्तव्यों का उचित रूप में निर्वाह नहीं कर सकेंगे।

चांसलर केण्ट ने इस पद्धति की बुराइयों का वर्णन करते हुए कहा है "इसमें स्थानीय हितों, दलीय पक्षपात और षड्यन्त्रों के लिए इतने प्रलोभन तथा अवसर प्राप्त होंगे कि न्याय के सदस्यों की अच्छी तरह प्राप्ति और उन्नति असम्भव हो जायगी।"

(स) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति—इस पद्धति में न्यायाधीशों को कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किया जाता है और विश्व के लगभग सभी राज्यों में यही पद्धति प्रचलित

[1] "Of all the methods of appointment, that of election, by the people at Large is without exception, the worst"

—Laski, *Grammar of Politics*, p. 545.

है। सिद्धान्त रूप में शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के विरुद्ध होने पर भी व्यवहार मे यही पद्धति श्रेष्ठ है। कार्यपालिका द्वारा अपनी इस शक्ति का दुरुपयोग न किया जा सके इसके लिए यह प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है कि कार्यपालिका सर्वमान्य न्यायिक योग्यता वाले व्यक्तियों या स्थायी न्यायिक समिति के परामर्श के आधार पर ही न्यायाधीशों की नियुक्ति करे। लास्की ने लिखा है कि, 'इस विषय मे सभी बातों को देखते हुए न्यायाधीशों की कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति के परिणाम सबसे अच्छे रहे हैं। परन्तु यह अति आवश्यक है कि न्यायाधीशों के पदों को राजनीतिक सेवा का फल नहीं बनाया जाना चाहिए।"[1]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए उनकी नियुक्ति न्यायिक योग्यता वाले व्यक्तियों के परामर्श के आधार पर कार्यपालिका द्वारा ही की जानी चाहिए।

(2) लम्बी पदावधि—न्यायाधीशों की पदावधि के सम्बन्ध मे दो विचारधाराएँ हैं। प्रथम यह है कि न्यायाधीशो की नियुक्ति निश्चित अवधि के लिए ही की जानी चाहिए। दूसरी पद्धति यह है कि न्यायाधीश सदाचार पर्यन्त अपने पद पर बने रहें। अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनमे द्वितीय पद्धति ही श्रेष्ठ है। इसके अन्तर्गत दीर्घ कार्यकाल के कारण न्यायाधीश अपने कार्य का अनुभव प्राप्त करके अधिक कुशल बन जाते हैं और पद की सुरक्षा प्राप्त होने के कारण वे निर्भीकता, स्वतन्त्रता और निष्पक्षतापूर्वक अपना कार्य कर सकते हैं। हैमिल्टन का कथन है, "न्यायाधीशों का सदाचार पर्यन्त अपने पद पर बने रहने का नियम शासन के प्रयोगों में एक बहुमूल्य सुधार है। किसी भी शासन मे कानूनों को निष्पक्ष, स्थायी और उचित रीति से लागू करने का यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है।"

(3) पद की सुरक्षा—न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीशों को पद की सुरक्षा प्राप्त हो और कार्यपालिका अपनी इच्छानुसार उन्हें न हटा सके। यदि न्यायाधीश को यह भय हो कि सरकार के विरुद्ध निर्णय देने पर उन्हें अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ेगा, तो वे संविधान या नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए भी ऐसा करने का साहस न कर सकेंगे। इसलिये विश्व के प्रगतिशील राज्यो में न्यायाधीशो को पद की सुरक्षा प्राप्त होती है और ऐसी व्यवस्था की जाती है कि न्यायाधीशो को भ्रष्टता या अयोग्यता की स्थिति मे केवल व्यवस्थापिका के द्वारा विशेष बहुमत से महाभियोग का प्रस्ताव पास करके ही हटाया जा सकता है। महाभियोग का प्रस्ताव पास करने की प्रक्रिया पर्याप्त कठिन होने के कारण व्यवहार मे, न्यायाधीशों को पद की सुरक्षा प्राप्त रहती है। भारत, इंगलैण्ड और अमरीका में ऐसी ही व्यवस्था है।

---

[1] "Appointment by the executive has on the whole, produced the best result But it is, I think urgent to present judicial office being made the reward for political services" —Laski, *Grammar of Politics*, p 302.

(4) पर्याप्त वेतन—हैमिल्टन ने अपनी पुस्तक 'राजनीति के तत्व' (*Elements of Politics*) में लिखा है कि "यह मानव स्वभाव है कि जो व्यक्ति अपनी आजीविका की दृष्टि से शक्ति-सम्पन्न है, उसके पास संकल्प शक्ति का भी बड़ा बल होता है।" यह कथन पूर्ण सत्य है और इसके आधार पर कहा जा सकता है कि न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता के लिए उन्हें निश्चित और पर्याप्त वेतन दिया जाना चाहिए। अल्प वेतनभोगी न्यायाधीशों के भ्रष्टाचार का शिकार होने की आशंका सदैव बनी रहती है। इसके अतिरिक्त, यह भी व्यवस्था होनी चाहिए कि न्यायाधीशों की पदावधि में उनके वेतन में अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सके।

(5) उच्च योग्यताएँ—न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीशों का पद केवल ऐसे ही व्यक्तियों को प्रदान किया जाय जिनकी व्यावसायिक कुशलता और निष्पक्षता सर्वमान्य हो। इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि राज्य के निर्माण में न्यायाधिकारी वर्ग का बहुत अधिक महत्व होता है और अयोग्य न्यायाधीश इस महत्व को नष्ट कर देंगे।

(6) न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्करण—न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक-दूसरे से पृथक रखा जाना चाहिए। एक ही व्यक्ति या सत्ता अभियोक्ता (prosecutor) और साथ साथ न्यायाधीश होने पर स्वतन्त्र न्याय की आशा नहीं की जा सकती है। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए भारतीय संविधान के नीति निर्देशक तत्वों में कार्यपालिका और न्यायपालिका को एक दूसरे से पृथक रखने की बात कही गयी है और भारतीय संघ की कुछ इकाइयों में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक कर दिया गया है।

(7) अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत निषेध—शक्ति के दूषित प्रयोग को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि न्यायाधीशों को अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत करने के लिए निषेध किया जाय। इस सम्बन्ध में इतनी व्यवस्था तो अवश्य ही की जानी चाहिए कि एक व्यक्ति जिन न्यायालयों में न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुका हो, कम-से-कम उन न्यायालयों या उनके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत अन्य न्यायालयों में वकालत का कार्य न कर सकें। अन्त में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को सार्थक बनाने के सम्बन्ध में विलोबी के कथन को उद्धृत करना उपयुक्त होगा। उसने लिखा है कि "न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय उनके राजनीतिक सम्बन्धों पर लेशमात्र भी ध्यान नहीं देना चाहिए—एक बार नियुक्ति के बाद दीर्घकाल तक उन्हें पद पर आसीन रखना चाहिए—अपने जीवनपर्यन्त या जब तक वे सदाचारी रहें कार्यपालिका को उन्हें पदच्युत करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। गम्भीर भ्रष्टाचार या कदाचार के लिए ही महाभियोग या व्यवस्थापिका के दोनों सदनों की प्रार्थना पर उन्हें पदच्युत किया जाना चाहिए। उनके पदकाल में उनके वेतन को कम या बन्द नहीं किया जाना चाहिए।"

उपर्युक्त व्यवस्थाएँ की जाने पर ही इस बात की आशा की जा सकती है कि न्यायाधीश स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन कर सकेंगे। भारत मे उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए इन सभी बातों को अपनाया गया है। फलत हमारे देश मे न्यायपालिका पूर्णतया स्वतन्त्र है और अनेक बार सविधान तथा मौलिक अधिकारों की रक्षा हेतु न्यायपालिका शासन के विरुद्ध निर्णय देकर व कानूनों को अवैधानिक घोषित करके अपनी स्वतन्त्रता का प्रत्यक्ष परिचय दे चुकी है।

प्रश्न

1 लोकतन्त्रात्मक राज्य मे स्वतन्त्र न्यायपालिका का क्या महत्व है? सघ राज्य मे न्यायपालिका के कार्यों का वर्णन कीजिए।
2 न्यायपालिका की स्वतन्त्रता से आप क्या समझते हैं? यह कैसे प्राप्त की जाती है?
3 निर्वाचित न्यायपालिका के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क दीजिए।
4 न्यायपालिका की नियुक्ति की विभिन्न पद्धतियों का समीक्षात्मक वर्णन कीजिए। इनमे से किस पद्धति द्वारा उनकी निष्पक्षता और कुशलता सुनिश्चित हो सकती है?

21

दलीय व्यवस्था

[PARTY-SYSTEM]

"प्रजातन्त्रीय सरकार के सिद्धान्त के साथ इसका (दलीय व्यवस्था) विरोध होने के स्थान पर यही एक ऐसी चीज है जो प्रजातन्त्रीय सरकार को व्यावहारिक बनाती है क्योंकि अकेले रहकर व्यक्तियों के लिए शासन करना असम्भव है। आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य इस कृत्रिम तथापि आवश्यक यन्त्र के बिना व्यक्तिगत मतों का समूहमात्र बनकर रह जायगा।"[1]
—लीकॉक

राजनीतिक दलों का महत्व

वर्तमान समय में शासन के विभिन्न रूपों में प्रजातन्त्र सर्वाधिक लोकप्रिय है और प्रजातन्त्रीय शासन के दो प्रकार होते हैं—(1) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र, और (2) अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र। राज्यों की बृहत् जनसंख्या और क्षेत्र की विशालता के कारण वर्तमान समय में विश्व के लगभग सभी राज्यों में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था ही प्रचलित है। इस शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनती है और इन प्रतिनिधियों के द्वारा शासन कार्य किया जाता है। जनता द्वारा अपने अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन और प्रतिनिधियों द्वारा शासन व्यवस्था के संचालन की इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था लोकमत पर आधारित होती है और राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन होते हैं। मुनरो ने ठीक ही कहा है कि "बिना दलीय संगठन के किसी सिद्धान्त का एक होकर प्रकाशन नहीं हो सकता,

---

[1] "Far from being in conflict with the theory of democratic government, it is the only thing which renders the later feasible. For it is impossible for all the people to rule all the time taken singly . A modern democratic state without this somewhat artifical and yet essential unanimity would become a brawling chaos of individual opinion."
—Leacock, *Elements of Politics*, p. 313.

किसी भी नीति का क्रमबद्ध विकास नहीं हो सकता, संसदीय चुनावों की वैधानिक व्यवस्था नहीं हो सकती और न ऐसी मान्य संस्थाओं की व्यवस्था ही हो सकती है, जिनके द्वारा कोई भी दल शक्ति प्राप्त करता और स्थिर रखता है।"[1] इसी प्रकार ब्राइस ने लिखा है कि "राजनीतिक दल अनिवार्य हैं कोई भी बड़ा स्वतन्त्र देश उनके बिना नहीं रह सका है। किसी व्यक्ति ने यह नहीं बताया कि प्रजातन्त्र उनके बिना कैसे चल सकता है। ये मतदाताओं के समूह की अराजकता में से व्यवस्था उत्पन्न करते हैं। यदि दल कुछ बुराइयाँ उत्पन्न करते हैं तो वे दूसरी बुराइयों को दूर या कम भी करते हैं।"

साधारणतया एक देश के विधान या कानून के अन्तर्गत राजनीतिक दलों का उल्लेख नहीं होता है किन्तु व्यवहार में राजनीतिक दलों का अस्तित्व भी उतना ही आवश्यक और उपयोगी होता है जितना कि विधान या कानून। अमरीकी संविधान-निर्माता अपने देश में किसी भी रूप में राजनीतिक दलों को पनपने नहीं देना चाहते लेकिन संविधान को लागू किये जाने के साथ ही दलीय संगठन अमरीकी राजनीतिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता बन गयी।

प्रजातन्त्रीय शासन के अन्तर्गत केवल शासक दल का ही नहीं, वरन् विरोधी दल का भी महत्व होता है। विरोधी दल शासन करने वाले राजनीतिक दल को मर्यादित तथा नियन्त्रित रखने का कार्य करता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आधुनिक राजनीतिक जीवन के लिए दलीय संगठनों का बड़ा महत्व है और इसके बिना लोकतन्त्र की सफलता सम्भव ही नहीं है। बर्क के शब्दों में कहा जा सकता है कि "दलीय प्रणाली चाहे पूर्ण रूप से भले के लिए हो या बुरे के लिए, प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के लिए अपरिहार्य है।"

राजनीतिक दल की परिभाषा

मानव एक विवेकशील प्राणी है और मानव की इस विवेकशीलता के कारण एक ही प्रकार की समस्याओं के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न प्रकार से विचार किया जाता है। विचारों की इस भिन्नता के साथ ही साथ अनेक व्यक्तियों में आधारभूत बातों के सम्बन्ध में विचारों की साम्यता भी पायी जाती है। विचारों की समानता रखने वाले ये व्यक्ति अपनी सामान्य विचारधारा के आधार पर शासन शक्ति प्राप्त करने और अपनी नीति को कार्यरूप में परिणत करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर उनके द्वारा जिन संगठनों का निर्माण किया जाता है, उन्हें ही राजनीतिक दल कहा जाता है। राजनीतिक दल की परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने अलग अलग विचार व्यक्त किये हैं।

---

1 "Without such party organization, there can be no unified statement of principles, no orderly evolution of policy no regular resort to constitutions by means of which a party seeks to gain or maintain power."

—MacIver, *The Modern State*, p 399.

एडमण्ड बर्क के मतानुसार, "राजनीतिक दल ऐसे लोगों का एक समूह होता है जो किसी ऐसे सिद्धान्त के आधार पर, जिस पर वे एकमत हों, अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए एकता मे बँधे होते हैं।"[1]

गैटल के अनुसार, "राजनीतिक दल न्यूनाधिक संगठित उन नागरिकों का समूह होता है जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और जिनका उद्देश्य अपने मतदान बल के प्रयोग द्वारा सरकार पर नियन्त्रण करना व अपनी सामान्य नीतियों को क्रियान्वित करना होता है।"[2]

गिलक्राइस्ट के शब्दों में, राजनीतिक दल की परिभाषा उन नागरिकों के संगठित समूह के रूप में की जा सकती है जो राजनीतिक रूप से एक विचार के हों और जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य कर सरकार पर नियन्त्रण करना चाहते हों।"[3]

राजनीतिक दल के आवश्यक तत्व

एडमण्ड बर्क, गैटल, गिलक्राइस्ट, मैकाइवर, आदि विद्वानों द्वारा राजनीतिक दल की जो परिभाषाएँ दी गयी हैं, उनके आधार पर इन दलों के निम्नलिखित आवश्यक तत्व बताये जा सकते हैं -

(1) संगठन—राजनीतिक दल का प्रथम आवश्यक तत्व यह है कि वे संगठित होने चाहिए। आधारभूत समस्याओं के सम्बन्ध में एक ही प्रकार का विचार रखने वाले व्यक्ति जब तक संगठित न हों उस समय तक उन्हें राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता। राजनीतिक दलों की शक्ति उनके संगठन पर निर्भर करती है और संगठन के आधार पर ही उनके द्वारा शासन शक्ति प्राप्त कर अपनी नीति को कार्य रूप में परिणित करने का प्रयत्न किया जा सकता है।

(2) सामान्य सिद्धान्तों की एकता—राजनीतिक दल का संगठित रूप से कार्य करना उसी समय सम्भव है जबकि राजनीतिक दल के सदस्य किन्हीं सामान्य सिद्धान्तों के सम्बन्ध में एक ही प्रकार का विचार रखते हों। मूल प्रश्नों पर इस प्रकार की एकमतता के अभाव में वे परस्पर सहयोग कर नहीं सकते। यदि कुछ व्यक्ति अपने किन्हीं विशेष स्वार्थों के आधार पर संगठन की स्थापना कर भी लेते हैं,

---

1 "A body of men united for the purpose of promoting by their joint endeavours the public interest upon some principle on which they are agreed"
—*Edmund Burke*

2 "A political party consists of a group of citizens, more or less organized who act as a political unit and who, by the use of their voting power, aim to control the government and carry out their general principles"
—Gettell, *Political Science*, p. 289

3 "A political party may thus be defined as an organized group of citizens, who profess to share the same political views and who by acting as a political unit, try to control the government."
—Gilchrist, *Principles of Political Science* p. 327

तो इस प्रकार के सिद्धान्तहीन संगठनों को राजनीतिक दल न कहकर गुट ही कहा जा सकता है।

(3) संवैधानिक साधनों में विश्वास—राजनीतिक दल के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी नीति या विचारों को कार्यरूप में परिणित करने के लिए संवैधानिक मार्ग का अनुसरण करे। मतदान और मतदान के निर्णय में उनका आवश्यक रूप से विश्वास होना चाहिए। गुप्त उपाय या सशस्त्र क्रान्ति जैसे असवैधानिक साधनों में विश्वास रखने वाले संगठनों को राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता।

(4) शासन पर प्रभुत्व की इच्छा—राजनीतिक दल का एक तत्व यह होता है कि उनका उद्देश्य शासन पर प्रभुत्व स्थापित कर अपने विचारों और नीतियों को कार्यरूप में परिणित करना होता है। यदि कोई संगठन शासन के बाहर रहकर कार्य करना चाहता है, तो इसे राजनीतिक दल नही कहा जा सकता।

(5) राष्ट्रीय हित—राजनीतिक दल के लिए यह आवश्यक है कि उनके द्वारा किसी विशेष जाति, धर्म या वर्ग के हित को दृष्टि में रखकर नहीं वरन् सम्पूर्ण राज्य के हित को दृष्टि मे रखकर कार्य किया जाना चाहिए। बर्क ने राजनीतिक दल की परिभाषा करते हुए उन्हें "राष्ट्रीय हित की वृद्धि के लिए संगठित राजनीतिक समुदाय' ही कहा है।

उपर्युक्त तत्वों के आधार पर राजनीतिक दल की अपने शब्दों में परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "राजनीतिक दल आधारभूत समस्याओं के सम्बन्ध में विचारों की एकता पर आधारित ऐसे संगठित समुदाय होते हैं जिनके द्वारा अपने विचारों को कार्यरूप में परिणित करने के लिए केवल संवैधानिक साधनों को ही अपनाकर शासन शक्ति पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है और जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय हित में वृद्धि होती है।"

दलों की उत्पत्ति या राजनीतिक दलों के आधार

(THE ORIGIN OF PARTIES OR BASIS OF POLITICAL PARTIES)

ब्राइस ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक प्रजातन्त्र' में लिखा है कि 'राजनीतिक दल जनतन्त्र से कहीं अधिक प्राचीन हैं।"[1] लेकिन इस प्रकार का मत व्यक्त करते हुए ब्राइस के द्वारा प्राचीन समय मे स्थापित क्लब घर, राजनीतिक समाज और संसदीय गोष्ठियों को राजनीतिक दल मान लिया गया है। यद्यपि इन संस्थाओं द्वारा राज्य विषयक अनेक बातों के सम्बन्ध में लोकमत का प्रकाशन किया जाता था, किन्तु शासन व्यवस्था से मूल रूप मे सम्बन्धित न होने के कारण ये संस्थाएँ राजनीतिक दल नहीं थीं। आधुनिक समय के राजनीतिक दल वर्तमान युग की ही उपज हैं और आधुनिक राजनीतिक दलों का विकास जनतन्त्र और मताधिकार के साथ-साथ ही

---

1 "Political parties are far older than democracy"
—Bryce, *Modern Democracies* Vol. I, p. 125.

हुआ है। राजनीतिक दलों के उदगम के सम्बन्ध में प्रमुख रूप से निम्नलिखित विचारों का प्रतिपादन किया जाता है

(1) मानव स्वभाव का सिद्धान्त—मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर राजनीतिक दलों को मानव स्वभाव में निहित मूल प्रवृत्तियों पर आधारित कहा जाता है। कुछ लोग स्वभाव से ही रूढ़िवादी होते हैं और किसी प्रकार का परिवर्तन पसन्द नहीं करते, कुछ लोग शनैः शनैः परिवर्तन चाहते हैं और कुछ लोग तुरन्त आमूलचूल परिवर्तन के पक्ष में होते हैं। परिस्थितियों में परिवर्तन और आयु में वृद्धि के साथ भी मानव स्वभाव में इस प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है। इस स्वभाव भेद के आधार पर मनुष्य में विचार भेद पाया जाता है और इस प्रकार के विचार भेद राजनीतिक दलों को जन्म देते हैं।

(2) आर्थिक हित और विचार—राजनीतिक दल आर्थिक विचार भेद के भी परिणाम होते हैं और वर्तमान समय के तो सभी राजनीतिक दल आर्थिक विचारों पर आधारित हैं। आर्थर होलकोम्ब (Arthur Holcombe) ने ठीक ही कहा है कि, "राष्ट्रीय दल क्षणिक आवेगों या अस्थायी आवश्यकताओं के आधार पर नहीं चल सकते उन्हें स्थायी सामुदायिक हितों विशेषतः आर्थिक हितों, पर आधारित होना चाहिए।" सर्वसाधारण में सम्पत्ति विषयक भेदभाव, उनके आर्थिक दृष्टिकोण और उनकी आर्थिक समस्याएँ मुख्य रूप से राजनीतिक दलों के निर्माण में सहायक होती हैं और उन्हें स्थायित्व भी प्रदान करती हैं।

(3) वातावरण सम्बन्धी प्रभाव—सामान्यतया कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति धार्मिक संस्कारों के समान ही राजनीतिक संस्कार भी साथ ही लेकर उत्पन्न होता है। अपने इन राजनीतिक संस्कारों के आधार पर वह किसी विशेष राजनीतिक दल से सम्बद्ध होता है। अनेक बार एक व्यक्ति के पारिवारिक सदस्य और उसके मित्र भी उसके लिए राजनीतिक दल का मार्ग खोजते हैं। लेकिन राजनीतिक चेतना के विकास के साथ साथ वातावरण सम्बन्धी प्रभाव कम होता जा रहा है।

(4) धार्मिक और साम्प्रदायिक भावनाएँ—पाश्चात्य देशों के नागरिकों में धार्मिक और साम्प्रदायिक भावनाएँ बहुत अधिक बलवती न होने के कारण धार्मिक और साम्प्रदायिक भावनाओं पर आधारित राजनीतिक दल नहीं पाये जाते हैं किन्तु भारत और पूर्व के कुछ देशों में इस प्रकार के साम्प्रदायिक दल विद्यमान हैं। वस्तुतः ये दल सम्पूर्ण राज्य के हितों से सम्बन्धित नहीं होते और इस कारण इन्हें विशुद्ध राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता है।

मानव स्वभाव तथा मूलभूत राजनीतिक और आर्थिक विचारों पर आधारित राजनीतिक दलों को ही स्वस्थ राजनीतिक दल कहा जा सकता है और प्रजातन्त्र के लिए इस प्रकार के राजनीतिक दल ही उपयोगी हो सकते हैं।

लोकतन्त्र मे राजनीतिक दलो के कार्य या भूमिका

(1) लोकमत का निर्माण—वर्तमान समय मे राज्य सम्बन्धी विषय बहुत अधिक जटिल और व्यापक होते हैं और साधारण व्यक्ति के लिए इस प्रकार के विचार विषय का चुनाव और उसे समझ सकना सम्भव नही होता है। ऐसी स्थिति मे राजनीतिक दल सार्वजनिक समस्याओं को जनता के सम्मुख इस रूप मे प्रस्तुत करते हैं कि साधारण जनता उन्हे समझ सके। जब विविध राजनीतिक दल समस्याओ के सम्बन्ध मे अपने दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हैं, तो साधारण जनता इन समस्याओ को भली प्रकार समझकर निर्णय कर सकती है और लोकमत का निर्माण हो सकता है। ब्राइस के शब्दो मे, "लोकमत को प्रशिक्षित करने, उसके निर्माण और अभिव्यक्ति मे राजनीतिक दलों के द्वारा अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है।"[1] एक अन्य स्थान पर ब्राइस लिखते हैं कि, जिस प्रकार ज्वार भाटा महासागर के जल को ताजा और तरंगित रखता है उसी प्रकार राजनीतिक दल राष्ट्र के दिमाग को ताजा और तरंगित रखते हैं।"

(2) चुनावों का संचालन—जब मताधिकार बहुत अधिक सीमित था और निर्वाचको की संख्या कम थी, तब स्वतन्त्र रूप से चुनाव लडे जा सकते थे, लेकिन अब वयस्क मताधिकार के प्रचलन के कारण स्वतन्त्र रूप से चुनाव लडना लगभग असम्भव हो गया है। ऐसी स्थिति मे राजनीतिक दल अपने दल की ओर से उम्मीदवारो को खडा करते और उनके पक्ष में प्रचार करते हैं। चुनाव के समय होने वाला भारी खर्च भी इन राजनीतिक दलों द्वारा ही किया जाता है। यदि राजनीतिक दल न हो तो आज के विशाल लोकतन्त्रात्मक राज्यो मे निर्वाचन का संचालन लगभग असम्भव ही हो जाय। चुनावो के संचालन मे राजनीतिक दलो का महत्व स्पष्ट करते हुए डॉ फाइनर ने लिखा है कि, 'राजनीतिक दलो के बिना निर्वाचक या तो नितान्त असहायक हो जायेंगे या उनके द्वारा असम्भव नीतियों को अपनाकर राजनीतिक यन्त्र को नष्ट कर दिया जायगा।'

(3) सरकार का निर्माण—निर्वाचन के बाद राजनीतिक दलों के द्वारा ही सरकार का निर्माण किया जाता है। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति अपने विचारो से सहमत व्यक्तियों की मन्त्रिपरिषद का निर्माण कर शासन का संचालन करता है। संसदात्मक शासन में जिस राजनीतिक दल को व्यवस्थापिका मे बहुमत प्राप्त हो उसके प्रधान द्वारा मन्त्रिपरिषद का निर्माण करते हुए शासन का संचालन किया जाता है। मन्त्रिपरिषद व्यवस्थापिका में अपने राजनीतिक दल के समर्थन के आधार पर ही शासन कर सकता है। इस प्रकार संसदात्मक और अध्यक्षात्मक दोनों ही प्रकार की शासन व्यवस्थाओ में सरकार का निर्माण और शासन व्यवस्था का

---

1 Pol tical parties go a great way in helping to educate, formulate and organize public opinion " —Bryce

सचालन, राजनीतिक दलों के आधार पर ही किया जा सकता है। राजनीतिक दलों के अभाव में तो व्यवस्थापिका के सदस्यों द्वारा 'अपनी-अपनी डफली अपना अपना राग' का रुख अपनाया जा सकता है, जिसके कारण शासन सम्भव ही नहीं होगा। इस सम्बन्ध में ब्राइस ने ठीक ही कहा है कि "अनियन्त्रित प्रतिनिधियों द्वारा शासन-व्यवस्था के सचालन का प्रयत्न वैसा ही है जैसा कि कम्पनी के अधिक साझेदारों के *मतों द्वारा रसमालों का प्रबन्ध किया जाय अथवा किसी जहाज के यात्रियों के मतों* द्वारा जहाज का मार्ग निश्चित किया जाय।"[1]

(4) शासन सत्ता को मर्यादित करना—शासन-व्यवस्था में बहुसख्यक राजनीतिक दल के साथ-ही-साथ अल्पसंख्यक राजनीतिक दल भी बहुत अधिक महत्त्व रखते हैं। यदि बहुसख्यक राजनीतिक दल शासन सत्ता के सचालन का कार्य करता है, तो अल्पसख्यक दल विरोधी दल के रूप में कार्य करते हुए शासन शक्ति को सीमित रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। सगठित विरोधी दल के अभाव में शासक दल अधिनायकवादी रूप अपना सकता है।

(5) सरकार के विभिन्न विभागों में समन्वय और सामंजस्य—सरकार के द्वारा उसी समय ठीक प्रकार से कार्य किया जा सकता है, जबकि शासन के विविध अग परस्पर सहयोग करें और यह सहयोग राजनीतिक दलों द्वारा ही सम्भव होता है। ससदीय शासन में तो सामान्यतया कानून-निर्माण और प्रशासन की शक्ति एक ही राजनीतिक दल के हाथ में होती है और दलीय अनुशासन के कारण कार्यपालिका व्यवस्थापिका से अपनी इच्छानुसार कानूनों का निर्माण करवा सकती है। अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था वाले सयुक्त राज्य अमरीका जैसे देशों में, जहाँ पर कि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शासन के दो बिलकुल पृथक अग होते हैं, राजनीतिक दलों की सहायता के बिना शासन का भली प्रकार सचालन सम्भव हो ही नहीं सकता। अमरीका में दलीय व्यवस्था ने ही व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच सहयोग स्थापित कर सविधान की कमी को दूर कर दिया है।

(6) राजनीतिक चेतना का प्रसार—राजनीतिक दल नागरिक चेतना और राजनीतिक शिक्षा के अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन के रूप में कार्य करते हैं। सार्वजनिक समस्याओं के सम्बन्ध में किये गये निरन्तर प्रचार और वाद-विवाद के आधार पर वे *सामान्य जनता में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि जाग्रत करते हैं। उनका उद्देश्य* अपनी लोकप्रियता बढ़ाकर शासन शक्ति पर अधिकार करना होता है; इसलिये वे प्रेस, प्लेटफार्म और अन्य साधनों के आधार पर अपनी विचारधारा का अधिक-से-अधिक प्रचार करते हैं और उदासीन मतदाता को भी सार्वजनिक जीवन का कुछ ज्ञान तो प्रदान कर ही देते हैं। लावेल ने ठीक ही कहा है कि 'राजनीतिक दल राजनीतिक 'विचारों के दलाल' (broker of ideas) के रूप में कार्य करते हैं।"

(7) जनता और शासन के बीच सम्बन्ध—प्रजातन्त्र का आधारभूत सिद्धान्त जनता और शासन के बीच सम्पर्क बनाये रखना है और इस प्रकार का सम्पर्क

स्थापित करने का सबसे बड़ा साधन राजनीतिक दल ही है। प्रजातन्त्र मे जिस दल के हाथ मे शासन शक्ति होती है उसके सदस्य जनता के मध्य सरकारी नीति का प्रचार करते हैं तथा जनमत को अपने पक्ष में रखने का प्रयत्न करते हैं। विरोधी दल शासन के दोषों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं। इसके अतिरिक्त, ये सभी दल जनता की कठिनाइयों एव शिकायतों को शासन के विविध अधिकारियो तक पहुँचाकर उन्हे दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

इस प्रकार राजनीतिक दलों द्वारा शासन व्यवस्था से सम्बन्धित सभी प्रकार के कार्य किये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध मे प्रो मैरियम (Merriam) अपनी पुस्तक 'American Party System मे लिखते हैं कि **"राजनीतिक दलों का कार्य अधिकारी वर्ग का चुनाव करना, लोकनीति का निर्धारण करना, सरकार को चलाना और उसकी आलोचना करना राजनीतिक शिक्षण और व्यक्ति एव सरकार के बीच मध्यस्थता का कार्य करना है।"**

वस्तुत राजनीतिक दल प्रजातान्त्रिक शासन की धुरी के रूप मे कार्य करते हैं और प्रजातन्त्र शासन के सचालन के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व नितान्त अनिवार्य है। प्रजातन्त्र म राजनीतिक दलों के महत्व को स्पष्ट करते हुए हूबर (Huber) के शब्दो मे कहा जा सकता है कि **"प्रजातन्त्रीय यन्त्र के चालन में राजनीतिक दल तेल के तुल्य है।"**

दल प्रणाली का मूल्याकन

राजनीतिक दलो के मूल्याकन के सम्बन्ध मे विचारकों मे पर्याप्त मतभेद हैं। यदि एक ओर दलीय व्यवस्था के समर्थकों द्वारा इन्हें मानव स्वभाव पर आधारित नितान्त स्वाभाविक वस्तु और लोकतन्त्र का मूलाधार कहा जाता है तो दूसरी ओर एलेक्जेण्डर पोप जैसे विद्वान इसे **'कुछ व्यक्तियों के लाभ के लिए बहुतों का पागलपन** (Madness of the many for the gain of the few) कहते हैं।

दलीय व्यवस्था के गुण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं ·

(1) मानवीय स्वभाव के अनुकूल—प्रकृति की तरह ही विभिन्न व्यक्तियों के स्वभाव और विचारो मे भी बहुत भिन्नता पायी जाती है। स्वभाव से ही कुछ लोग उदार विचारों के होते हैं कुछ अनुदार विचारों के होते हैं और कुछ के स्वभाव में ही विद्रोह की भावना विद्यमान होती है। विचारों और स्वभाव की यह भिन्नता विभिन्न राजनीतिक दलों के द्वारा ही प्रकट हो सकती है इसलिये राजनीतिक दलों को मानवीय प्रकृति के नितान्त अनुकूल कहा जा सकता है।

(2) लोकतन्त्र के लिए आवश्यक—वर्तमान समय में विश्व के अधिकाश देशों में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था प्रचलित है। इस शासन-व्यवस्था में जनता अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करती है और इन प्रतिनिधियों द्वारा शासन कार्य किया जाता है। इस प्रकार के सभी कार्य राजनीतिक दल प्रणाली की सहायता से ही सम्पन्न हो सकते हैं। इस सम्बन्ध मे मैकाइवर का कहना है कि 'राजनीतिक दलों

के बिना सिद्धान्त का एक-सा विवरण, नीति का व्यवस्थित विकास और संसदीय चुनावों की वैधानिक विधि का नियमन नहीं हो सकता और न ही किसी प्रकार की स्वीकृत सस्थाएँ हो सकती हैं जिनके आधार पर कोई दल शक्ति प्राप्त कर सके या उसे स्थिर कर सके।"

(3) शासन को दृढ़ता प्रदान करना—दलीय प्रणाली इस सत्य को प्रकट करती है कि 'सगठन मे ही शक्ति होती है' और यह प्रणाली शासन को शक्ति प्रदान करती है जिससे शासन व्यवस्था कुशलता और दृढ़तापूर्वक चल सके। यदि जनता का प्रत्येक प्रतिनिधि व्यक्तिगत रूप से कार्य करे तो न सरकार स्थायी हो सकती है और न ही शासन में उत्तरदायित्व निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार के अनिश्चय और अविश्वास के वातावरण में शासन कार्य बहुत अधिक कठिन हो जाता है। लेकिन एक राजनीतिक दल के सदस्यों मे शासन सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध मे एकता होती है, अतः शासन में दृढ़ता रहती है। डॉ फाइनर के शब्दों मे, "बिना सगठित राजनीतिक दलों के निर्वाचकगण या तो पगु हो जायेंगे या विनाशकारी और ऐसी नीतियाँ ग्रहण करेंगे कि सारी शासन-व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो जायेगी।"[1]

(4) सार्वजनिक शिक्षा का साधन—राजनीतिक दल जनता को सार्वजनिक शिक्षा प्रदान करने के अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन हैं। राजनीतिक दलों का उद्देश्य अपनी लोकप्रियता बढ़ाकर शासन शक्ति पर अधिकार करना होता है और इसलिये वे प्रेस और प्लेटफार्म और अन्य साधनों के माध्यम से अपनी विचारधारा का अधिकाधिक प्रचार करते हैं। इस प्रकार और वाद-विवाद के परिणामस्वरूप सर्वसाधारण जनता सार्वजनिक समस्याओं का कुछ ज्ञान तो प्राप्त कर ही लेती है। डॉ फाइनर का मत है कि "राजनीतिक दल इस प्रकार कार्य करते हैं कि प्रत्येक नागरिक को सम्पूर्ण राष्ट्र का ज्ञान प्राप्त हो जाय जो समय और प्रदेश की दूरी के कारण अन्यथा असम्भव है।"

(5) शासन की निरकुशता पर नियन्त्रण—दलीय व्यवस्था के अन्तर्गत बहुसख्यक दल द्वारा शासन कार्य और अल्पसख्यक दल द्वारा शासन के विरोधी दल के रूप में कार्य किया जाता है। विरोधी दल शासन की स्वेच्छाचारिता पर रोक लगाते हुए शासन मे सन्तुलन बनाये रखता है। विरोधी दल का अस्तित्व राज्य को विद्रोह से भी रक्षा करता है क्योंकि यदि जनता मे सरकार के विरुद्ध अविश्वास फैल जाता है तो विरोधी दल दूसरी सरकार बनाने हेतु तत्पर रहता है। लास्की ने ठीक ही कहा है कि "एक मान्यता प्राप्त विरोधी दल की स्थायी उपस्थिति से निरकुशता के मार्ग

---

1 "Without parties an electorate would be either impotent or destructive by embarking on impossible policies that would only wreck the political machine." —Dr Finer

में बाधा पड़ती है।"[1] इसी प्रकार लॉस्की ने कहा है कि "राजनीतिक दल ही देश में तानाशाही के उदय से हमारी रक्षा का सबसे बड़ा साधन है।"[2]

(6) श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण—श्रेष्ठ कानूनों का निर्माण तभी सम्भव है जबकि कानूनों के गुणों व दोषों पर उचित रीति से विचार हो। व्यवस्थापिका में मौजूद विरोधी दल के सदस्य शासक दल द्वारा प्रस्तुत सभी विधेयकों की बाल की खाल उधेड़ने के लिए तत्पर रहते हैं। इस प्रकार के वाद-विवाद से विधेयकों के सभी दोष सामने आ जाते हैं और श्रेष्ठ कानून का निर्माण सम्भव होता है।

(7) शासन के विभिन्न अंगों में समन्वय और सामंजस्य—राजनीतिक दल सरकार के विभिन्न अंगों में आपसी विरोध को दूर करके उनमें पारस्परिक सहयोग और सद्भावना उत्पन्न करते हैं। संसदात्मक शासन में तो राजनीतिक दलों के आधार पर ही व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं। शक्ति विभाजन सिद्धान्त पर आधारित अध्यक्षात्मक शासन का एक बड़ा दोष व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में गतिरोध होता है। किन्तु अमरीका जैसे राज्य में राजनीतिक दलों द्वारा इस दोष को दूर कर शासन के दोनों अंगों के बीच अच्छे सम्बन्धों की व्यवस्था की गयी है। गिलक्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि "राजनीतिक दल वास्तव में एक ऐसी पद्धति है जिसने अमरीकी संविधान की अत्यधिक कठोरता के दोष को बहुत अधिक सीमा तक दूर कर दिया है।"[3]

(8) विभिन्न मतों का संगठन—विवेकशीलता के कारण मनुष्यों में मतभेदों का होना नितान्त स्वाभाविक है और इसके साथ ही आधारभूत समस्याओं के सम्बन्ध में अनेक व्यक्तियों के एक ही प्रकार के विचार भी होते हैं। राजनीतिक दलों द्वारा इस प्रकार की आधारभूत एकता रखने वाले व्यक्तियों को संगठित करने का उपयोगी कार्य किया जाता है, ताकि वे एक ही इकाई के रूप में कार्य कर सकें। राजनीतिक दलों के अभाव में विभिन्न संघर्षात्मक विचार-समूह होंगे, जिनमें सामंजस्य के लिए ऐसी कोई सर्वमान्य बात नहीं होगी, जो इकट्ठे मिलकर प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य करने योग्य बनाये। राजनीतिक दल सदस्यों को अनुशासित रखने का कार्य करते हैं और दलों में आन्तरिक एवं विभिन्न दलों के बीच जो वाद विवाद होते हैं उससे मनुष्यों में परस्पर विचारों का सहयोग, सहिष्णुता और उदारता बढ़ती है।

(9) राष्ट्रीयता एकता का साधन—राजनीतिक दल की परिभाषा करते हुए बर्क ने इन्हें 'राष्ट्रीय हित की वृद्धि के लिए संगठित राजनीतिक समुदाय कहा' है।

---

1 "The constant presence of a recognized opposition is an obstacle to despotism" —Lowell

2 'The parties are our best defence against the growth of Caesarism in the country.' —Laski

3 "Party system is really a method whereby the too great rigidity of the American Constitution has broken down." —Laski

दल प्रणाली व्यक्तियों को संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाकर देश और राष्ट्र के कल्याण के सम्बन्ध में विचार के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार यह समाज में उस व्यापक दृष्टिकोण की सृष्टि करने में सहायक होती है जिससे राष्ट्रीय एकता के बन्धन दृढ़तर हो जाते हैं। पैटरसन के शब्दों में "राजनीतिक दल राष्ट्रीय एकता का विकास करने और उसे बनाये रखने में सहायक होते हैं।"

(10) सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास—राजनीतिक दल अनेक बार सामाजिक सुधार एवं सांस्कृतिक विकास के भी अनेक कार्य करते हैं जैसे स्वतन्त्रता से पूर्व गाँधीजी के नेतृत्व में भारत में कांग्रेस ने हरिजनों की स्थिति को ऊँचा उठाने और मद्यपान का अन्त करने का प्रयत्न किया। विभिन्न राजनीतिक दल पुस्तकालय, वाचनालय एवं अध्ययन केन्द्र स्थापित करके बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विकास में भी योग देते हैं।

लार्ड ब्राइस का मत है "दल राष्ट्र के मस्तिष्क को उसी प्रकार क्रियाशील रखते हैं जैसे लहरों की हलचल से समुद्र की खाड़ी का जल स्वच्छ रहता है।" लॉवेल ने ठीक ही कहा कि "राजनीतिक दलों के कारण जनता का भावावेश कानून का रूप धारण नहीं कर पाता है। राजनीतिक दल अधिनायकवाद के मार्ग की सबसे बड़ी रुकावट है और उनका सबसे बड़ा गुण यह है कि वे जनता को अपने विवेक के प्रयोग का अवसर प्रदान करते हैं।" संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि प्रतिनिध्यात्मक शासन की वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दल सबसे अधिक प्रभावपूर्ण तथा सामंजस्यकारी तत्व हैं।

दलीय पद्धति के दोष—यद्यपि प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र में राजनीतिक दलों के द्वारा अनेक उपयोगी कार्य किये जा सकते हैं, किन्तु वर्तमान समय के लोकतन्त्रीय राज्यों में राजनीतिक दल जिस प्रकार से कार्य करते हैं उसे सर्वथा दोषहीन नहीं कहा जा सकता है। व्यवहार में, राजनीतिक दलों के इन दोषों को देखकर ही अमरीकी संविधान के निर्माताओं ने सभी राजनीतिक दलों को बुराई माना और वाशिंगटन ने अपने विदाई भाषण में चेतावनी दी थी कि राजनीतिक दल लोकप्रिय शासन के सबसे बड़े शत्रु हैं। हैमिल्टन ने भी राजनीतिक दलों को बुरा कहा था और रूसो ने भी इस सम्बन्ध में टिप्पणी की थी कि 'सामान्य इच्छा या सच्चा लोकमत ऐसे देश में व्यक्त नहीं हो सकता, जिसमें राजनीतिक दल या वर्ग विद्यमान हैं।" संक्षेप में *राजनीतिक दलों के निम्नलिखित दोष कहे जा सकते हैं*

(1) लोकतन्त्र के विकास में बाधक—लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आधारित होती है, लेकिन राजनीतिक दल इस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अन्त कर लोकतन्त्र के विकास में बाधक बन जाते हैं। राजनीतिक दल के सदस्यों को सार्वजनिक क्षेत्र में अपने व्यक्तिगत विचार को त्यागकर दल की बातों का समर्थन करना पड़ता है। इस प्रकार व्यक्ति दलीय यन्त्र के चक्र का एक ऐसा भाग बनकर रह जाता है जो पहिये के साथ ही चल सकता है, स्वयं नहीं। लीकॉक ने कहा है कि

"राजनीतिक दल उस व्यक्तिगत विचार तथा कार्य सम्बन्धी स्वतन्त्रता का अन्त कर देते हैं जिसे लोकतन्त्रात्मक शासन का आधारभूत सिद्धान्त समझा जाता है।"[1] न केवल सामान्य जनता वरन् जनता के प्रतिनिधि की विचार स्वतन्त्रता भी समाप्त हो जाती है। इस स्थिति को व्यक्त करते हुए गिलबर्ट ने कहा है कि 'मैंने हमेशा दल की पुकार पर ही मतदान किया और अपने सम्बन्ध में विचार करने के लिए कतई नहीं सोचा।"[2]

(2) राष्ट्रीय हितों को हानि—राजनीतिक दल की परिभाषा करते हुए इसे राष्ट्रीय हितों की वृद्धि के लिए संगठित समुदाय कहा जाता है, किन्तु व्यवहार में व्यक्ति अनेक बार अपने राजनीतिक दल के इतने अधिक भक्त हो जाते हैं कि वे जाने-अनजाने में दल के हितों को राज्य के हितों से प्राथमिकता दे देते हैं, जिससे राष्ट्रीय हितों को अपार हानि पहुँचती है। इस सम्बन्ध में मैरीयट ने कहा है कि 'दलभक्ति के आधिक्य से देश भक्ति की आवश्यकताओं पर पर्दा पड़ सकता है। मत प्राप्त करने के धन्धे पर अत्यधिक ध्यान देने से दलों के नेता और उनके प्रबन्धक देश की उच्चतम आवश्यकताओं को भूल सकते हैं अथवा टाल सकते हैं।"[3]

(3) शासन कार्य में सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की उपेक्षा—शासनकार्य मानव जीवन की सर्वोच्च कला है और देश के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा ही यह कार्य किया जाना चाहिए। किन्तु दलीय-व्यवस्था के कारण देश सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की सेवा से वंचित रह जाता है। सर्वोत्तम व्यक्ति न तो जी हजूरी कर सकते हैं और न ही विचार एवं कार्य की स्वतन्त्रता को छोड़ सकते हैं। इस कारण दलीय राजनीति में उनके लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। इस प्रकार राजनीति में योग्य व्यक्तियों की अपेक्षा होती है और अयोग्य व्यक्तियों को प्रशासनिक ढांचे में स्थान मिल जाता है, जिससे सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था में गिरावट आ जाती है।

(4) भ्रमात्मक राजनीतिक शिक्षा प्रदान करना—राजनीतिक दलों को सार्वजनिक शिक्षा का साधन कहा जाता है किन्तु व्यवहार में राजनीतिक दल जनता को सही राजनीतिक शिक्षा प्रदान न करके झूठे भाषणों और बकवास के द्वारा भोली भाली जनता को धोखे में डालने की चेष्टा करते हैं। अपने स्वार्थ के लिए झूठ को सच और सच को झूठ कहना उनका परम कर्तव्य हो जाता है। गिलक्राइस्ट ने तो यहाँ तक

---

1 "Party system suppresses that very freedom of individual opinion and action which is mean to be the vital principle of democratic government" —Leacock

2 "I always voted at my party call and never thougnt of thinking for myself at all" —Gilbert

3 "Party allegiance, if carried to excess, may easily obscure the claims of patriotism Concentration upon the business of votecatching may tempt party leaders and party managers to ignore or postpone the higher call of the country," —Marriot

कह दिया है कि 'राजनीतिक दल अपने विचारों की सत्यता और दूसरों के विचारों की असत्यता के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित करने की सदा ही चेष्टा करते रहते हैं और इस प्रकार दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता प्रकट करने के अपराध के दोषी होते हैं।"

(5) सामान्य नैतिक स्तर में गिरावट—व्यवहार मे, राजनीतिक दलों का एकमात्र उद्देश्य 'येन केन प्रकारेण शासन शक्ति पर अधिकार करना होता है और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उनके द्वारा नैतिक, अनैतिक सभी प्रकार के उपाय अपना लिये जाते हैं। चुनाव के समय विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा एक-दूसरे के विरुद्ध जिस प्रकार का विषैला प्रचार किया जाता है, उम्मीदवारों के व्यक्तिगत जीवन पर आक्षेप किये जाते हैं और झूठे वायदे किये जाते हैं, इससे सामान्य जनता के नैतिक स्तर पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक दलों के इन कुकृत्यों के कारण ही राजनीति बुराई की पर्यायवाची बन गयी है।

(6) जनता मे मतभेदों को प्रोत्साहन—राजनीतिक दल मतभेदों को दूर करने के स्थान पर प्रोत्साहन करते हैं। सार्वजनिक जीवन को कटुतापूर्ण बना देते हैं। व्यवस्थापिका तो विरोधी वर्गों मे विभाजित हो ही जाती है, दूसरी ओर देश भी ऐसे विरोधी पक्षों मे विभाजित हो जाता है जो एक दूसरे से ईर्ष्या करते, परस्पर आक्षेप लगाते और लड़ते हैं। डॉ बेनीप्रसाद के शब्दों मे, "राजनीतिक दल समाज के विभाजनों को अधिक विस्तृत बना देते हैं और सामान्य सहयोग के मार्ग मे बाधक बनते हैं।"

(7) राजनीति मे भ्रष्टाचार—राजनीतिक दल नीचे से लेकर ऊपर तक सुव्यवस्थित रूप म संगठित होते हैं और चुनाव के समय दल की स्थानीय शाखाएँ बहुत अधिक सक्रिय हो जाती हैं। जब एक राजनीतिक दल का उम्मीदवार विजयी हो जाता है तो उस दल के स्थानीय नेता, राजकीय पद, ठेके या इनाम के रूप में अनुचित लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। इन बुराइयों का उत्तरदायित्व राजनीतिक दलों पर ही आता है क्योंकि यदि राजनीतिक दल न हों तो निर्वाचक अपने मताधिकार का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करेंगे और ये बुराइयाँ उत्पन्न नहीं होंगी। इसके अतिरिक्त, चुनावों मे विजय प्राप्त करने के लिए राजनीतिक दलों को बहुत अधिक धन की आवश्यकता होती है और इस प्रकार की धनराशि दान, आदि के रूप मे धनी व्यक्तियों से प्राप्त की जाती है। स्वाभाविक रूप से जब इस राजनीतिक दल को शक्ति प्राप्त होती है तो वह इन धनी व्यक्तियों के हित मे कानूनों का निर्माण करता है। इस प्रकार इन दलों के कारण सम्पूर्ण राजनीति एक प्रकार का व्यवसाय बन जाती है।

(8) समय और धन का अपव्यय—दलीय व्यवस्था के कारण व्यवस्थापिका सभाओं में विरोधी दल 'विरोध के लिए विरोध' की प्रवृत्ति अपना लेता है और इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप अमूल्य समय और अत्यधिक धन का अपव्यय होता है।

दलीय ढाँचे के कारण जितनी बड़ी मात्रा में धनराशि का अपव्यय होता है, उसे यदि राष्ट्रहित के कार्यों में व्यय किया जाय तो देश बहुत अधिक उन्नति कर सकता है।

(9) राजनीतिक दलों में सत्ता का केन्द्रीयकरण—राजनीतिक दलों के सम्बन्ध में अनेक प्रभावशाली लेखकों द्वारा एक गम्भीर आक्षेप यह किया जाता है कि राजनीतिक दलों का वास्तविक संचालन गुट विशेष के थोड़े-से नेताओं द्वारा किया जाता है, जो अपने समर्थकों पर कठोर नियन्त्रण रखते हैं। विल्फ्रेड परेरो और रॉबर्ट माइकेल्स ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि राजनीतिक दलों का ढाँचा वास्तव में वर्गतन्त्रीय होता है जिसके अन्तर्गत कुछ गिने चुने व्यक्तियों द्वारा मनमाने प्रकार से कार्य किया जाता है। इस प्रकार प्रजातन्त्र वर्गतन्त्र के रूप में परिणत होकर रह जाता है।[1]

निष्कर्ष—राजनीतिक दलों के अनेकानेक दोष गिनाये जा सकते हैं, लेकिन वास्तव में ये दोष मानवीय दुर्बलताओं और परिस्थितियों की अपूर्णताओं के ही प्रतिबिम्ब हैं। ऐसी स्थिति में हमारे द्वारा मानवीय चरित्र को उन्नत कर परिस्थितियों को सुधार कर राजनीतिक दलों के दोषों को बहुत अधिक सीमा तक दूर किया जा सकता है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इन सभी दोषों और कमियों के बावजूद राजनीतिक दल प्रजातन्त्र के लिए अपरिहार्य हैं। अत जैसा कि लावेल ने लिखा है, राजनीतिक दल अच्छे हैं या बुरे—इस सम्बन्ध में सूचना एकत्र करना वैसा ही है जैसा इस सम्बन्ध में विचार करना कि हवाएँ और ज्वार-भाटे अच्छे होते हैं या बुरे।"[2]

दलीय पद्धति के दोषों को दूर करने के उपाय

निस्सन्देह दलीय पद्धति में कुछ दोष हैं किन्तु इन दोषों के कारण दलीय पद्धति को समाप्त करने का विचार नहीं किया जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि दलीय पद्धति के दोषों को दूर कर उनमें सुधार लाने की चेष्टा की जाय। दलीय पद्धति के दोषों को दूर करने के कुछ उपाय निम्न प्रकार हैं

(1) दलों के निर्माण का आधार वर्ण वर्ग या धर्म न होकर आर्थिक और राजनीतिक विचारधारा तथा कार्यक्रम होना चाहिए। (2) शिक्षित जनता ही राजनीतिक समस्याओं को ठीक प्रकार से समझ सकती है तथा दल की नीतियों और कार्यक्रमों का सही मूल्यांकन कर सकती है। इसलिये जनता को शिक्षित करने और आर्थिक असमानता दूर कर सामान्य जनता की आर्थिक स्थिति को सुधारने की चेष्टा की जानी चाहिए जिससे सामान्य जनता अपने राजनीतिक दायित्वों का भली प्रकार

---

1 Robert Micheals *Iron Law of Oligarchy* (Macridis of Ward ed *Comparative Politics—Notes and Readings*, pp 213 20)

2 "To ask the question, whether parties are good or bad, seems very like making the same inquiry—about winds and the tides"

—Lowell, *Government and Parties in Continental Europe—Preface*

पालन कर सके । (3) दलीय नेताओं और कार्यकर्ताओं को स्वार्थ त्यागकर सच्चाई से देश हित के कार्य करने चाहिए । दलों के द्वारा अपने स्वार्थों और हितों की अपेक्षा राष्ट्रीय हितों को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए और दलीय अनुशासन की कठोरता में कमी की जानी चाहिए । (4) विभिन्न दलों के द्वारा परस्पर सहिष्णुता और सहनशीलता के आधार पर व्यवहार किया जाना चाहिए । बहुमत दल के द्वारा अपने प्रत्येक कार्य में समस्त सामाजिक हितों को दृष्टि में रखा जाना चाहिए । बहुमत दल द्वारा विरोधी दलों को उचित आदर दिया जाना चाहिए और विरोधी दलों द्वारा 'विरोध के लिए 'विरोध' की प्रवृत्ति नहीं अपनायी जानी चाहिए । (5) सभी राजनीतिक दलों द्वारा नैतिक नियमों और व्यावहारिक राजनीति पर आधारित 'आचार संहिता (code of conduct) का पालन किया जाना चाहिए और राजनीतिक दल-बदल जैसे अनैतिक कार्य को प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए । (6) इन सबके अतिरिक्त दलों की अनुचित कार्यवाहियों को रोकने के लिए शासन की ओर से नियन्त्रक और प्रतिबन्धक कानून होने चाहिए ।

यदि उपर्युक्त शर्तों का पालन किया जाय तो दलीय पद्धति के अधिकांश दोषों को दूर कर उन्हें उपयोगी बनाया जा सकता है । जनतन्त्र के लिए दलों का अस्तित्व अनिवार्य है, इसलिये उनका अन्त तो किया ही नहीं जा सकता, केवल उनके दोषों को दूर करने के प्रयत्न किये जा सकते हैं, और किये जाने चाहिए ।

दलविहीन प्रजातन्त्र की अव्यावहारिकता—दलीय व्यवस्था के विरुद्ध जो तर्क दिये जाते हैं उनमें बहुत कुछ सत्यता है और यह कहा जा सकता है कि जहाँ कहीं दलीय सरकार स्थापित हुई है, वहाँ दलीय संघर्ष दलबन्दी की भावना और वर्गीय विधान निर्माण होता ही है । दलीय व्यवस्था की इन बुराइयों को दृष्टि में रखते हुए अनेक विद्वानों द्वारा 'दल विहीन लोकतन्त्र' (Partyless Democracy) के विचार का प्रतिपादन किया गया है । भारत में श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा प्रजातन्त्र के इसी रूप का प्रतिपादन किया गया । इन विद्वानों का विचार है कि दलविहीन लोकतन्त्र में ही लोकतन्त्र के वास्तविक आदर्श की सिद्धि सम्भव है । किन्तु दलविहीन लोकतन्त्र का यह विचार जितना आकर्षक प्रतीत होता है, उतना क्रियात्मक और व्यावहारिक नहीं है । एक आदर्श के रूप में दलविहीन लोकतन्त्र चाहे कितना ही श्रेष्ठ क्यों न उसका व्यावहारिक मूल्य शून्य है । व्यवहार में किसी भी देश में दलविहीन लोकतन्त्र को नहीं अपनाया जा सका है ।

दल प्रणाली के रूप
(FORMS OF PARTY SYSTEM)

दल प्रणाली के प्रमुखतया तीन रूप प्रचलित हैं—(1) एक-दलीय प्रणाली, (2) द्विदलीय प्रणाली, और (3) बहुदलीय प्रणाली ।

(1) एकदलीय प्रणाली (One Party System)—जिस देश में केवल एक ही दल हो और शासन शक्ति का प्रयोग करने वाले सभी सदस्य इस एक ही राज-

नीतिक दल के सदस्य हों, तो वहाँ की दल प्रणाली को एकदलीय कहा जाता है। कुछ व्यक्तियों के द्वारा यह समझा जाता है कि वर्तमान समय में एकदलीय प्रणाली केवल साम्यवादी राज्यों में ही है, लेकिन वस्तुत साम्यवादी राज्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक राज्यों में भी इसका प्रचलन है। वर्तमान समय में 49 एकदलीय व्यवस्था वाले राज्य हैं।"[1]

इस एकदलीय प्रणाली को कभी तो संविधान से ही मान्यता प्राप्त होती है, जैसे कि सोवियत रूस और अन्य साम्यवादी राज्यों के संविधानों में साम्यवादी दल का उल्लेख करते हुए अन्य दलों के संगठनों का निषेध कर दिया गया है। अनेक बार ऐसा होता है कि संविधान के द्वारा तो अन्य राजनीतिक दलों का निषेध नहीं किया जाता, लेकिन शासक दल संविधानेतर (Extra-constitutional) उपायों से अन्य राजनीतिक दलों का दमन कर शासन शक्ति पर एकाधिकार स्थापित कर लेता है। इसके अतिरिक्त, यदि किसी राज्य में एक से अधिक राजनीतिक दल हों, लेकिन राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से अन्य राजनीतिक दलों की स्थिति नगण्य हो अर्थात् वैसी ही हो जैसी स्थिति द्विदलीय प्रणाली वाले राज्यों में दो के अतिरिक्त अन्य राजनीतिक दलों की होती है, तो इसे भी एकदलीय प्रणाली वाला राज्य ही कहा जायगा।

एकदलीय प्रणाली को सामान्यतया सर्वाधिकारवादी और जनहित विरोधी समझा जाता है किन्तु सदैव ही ऐसा होना आवश्यक नहीं है और उद्देश्य की दृष्टि से भी एकदलीय प्रणाली के विभिन्न रूप हो सकते हैं। हिटलर और मुसोलिनी की एकदलीय प्रणाली का उद्देश्य सत्ता हस्तगत करना और उस पर अपना अधिकार बनाये रखना ही था, लेकिन टर्की में मुस्तफा कमालपाशा की एकदलीय पद्धति निश्चय ही जन हितैषी थी। वर्तमान समय में मैक्सिको और मेडागास्कर, आदि राज्यों की एकदलीय व्यवस्था को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। सोवियत रूस और अन्य साम्यवादी राज्यों की एकदलीय प्रणाली को भी सामान्य जन के हित पर आधारित होने के कारण बहुत कुछ सीमा तक इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

2. द्विदलीय प्रणाली (Two Party System)—जब एक देश की राजनीति में केवल दो ही प्रमुख राजनीतिक दल होते हैं, तो उसे द्विदलीय प्रणाली कहते हैं। द्विदलीय प्रणाली वाले राज्यों में दो से अधिक राजनीतिक दलों के गठन पर कोई वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं होता, दो से अधिक राजनीतिक दल हो सकते हैं, लेकिन वे इतने छोटे होते हैं कि राजनीति पर उनका विशेष प्रभाव नहीं होता और उन्हें शासन में भागीदारी प्राप्त नहीं होती। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड में अनुदार दल और श्रमिक दल दो प्रमुख राजनीतिक दल हैं, इनके अतिरिक्त उदार दल और स्काटलैण्ड तथा वेल्स के राष्ट्रवादी दल भी हैं, लेकिन उनका राजनीति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं है। इसी प्रकार अमरीका में द्विदलीय प्रणाली है और वहाँ के दो प्रमुख

---

1 "Jean Blondell, *An Introduction to Comparative Government*, p 143,

राजनीतिक दल (रिपब्लिकन दल और डेमोक्रेटिक दल) हैं। संसदात्मक व्यवस्था में द्विदल प्रणाली के अन्तर्गत सामान्यतया एक ही राजनीतिक दल के मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जाता है और दूसरा राजनीतिक दल विरोधी दल के रूप में कार्य करता है।

द्विदलीय प्रणाली के लाभ—द्विदलीय प्रणाली के समर्थकों में लास्की, हरमन फाइनर, ब्राइस, आदि विद्वान प्रमुख हैं। इन विद्वानों द्वारा द्विदलीय प्रणाली के प्रमुख रूप से निम्नलिखित लाभ बताये जाते हैं

(1) वास्तविक प्रतिनिधि सरकार की स्थापना—प्रजातन्त्र का वास्तविक अभिप्राय यह है कि जनता के द्वारा ही सरकार का निर्माण किया जाय। लेकिन बहुदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार का निर्माण जनता द्वारा नहीं वरन् राजनीतिक दलों के पारस्परिक समझौतों द्वारा होता है। केवल द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत ही सरकार जनता की इच्छाओं का प्रत्यक्ष परिणाम होती है। इसके अन्तर्गत वही दल शासन का संचालन करता है जिसे मतदाताओं का बहुमत प्राप्त हो। स्वाभाविक रूप से यह व्यवस्था प्रजातान्त्रिक धारणा के अनुकूल होती है। जनसंख्या का बहुमत इस प्रणाली से अत्यन्त प्रसन्न रहता है और शासन के निर्णयों का प्रसन्नता से पालन किया जाता है।

(2) सरकार का निर्माण सरल—संसदीय शासन वाले देश में यदि केवल *दो ही राजनीतिक दल हों तो मन्त्रिमण्डल का निर्माण सरलतापूर्वक किया जा सकता* है बहुमत दल को सरकार के निर्माण का कार्य सौंपा जाता है और जब यह दल अविश्वसनीय हो जाता है या आगामी चुनावों में हार जाता है तो शासन की शक्ति उस दल के हाथ में आ जाती है जो पहले विरोधी दल के रूप में कार्य कर रहा था।

(3) शासन में स्थायित्व और निरन्तरता—शासन में सबसे अधिक आवश्यक तत्व सुदृढ़ एवं स्थायी शासन होता है और इन गुणों को द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत ही प्राप्त किया जा सकता है। मन्त्रिमण्डल को व्यवस्थापिका में एक शक्तिशाली दल का समर्थन प्राप्त होता है और इस समर्थन के आधार पर मन्त्रिमण्डल दृढ़ता के साथ शासन कार्य का संचालन कर सकता है। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत सामान्यतया सरकारें स्थायी होती हैं और इनके द्वारा अपने कार्यक्रम और नीति को विश्वासपूर्वक कार्यरूप में परिणित किया जा सकता है।

अमरीका में अध्यक्षात्मक शासन की सफलता का रहस्य भी द्विदलीय प्रणाली में ही निहित है। अमरीकी संविधान के अनुसार तो व्यवस्थापिका और कार्यपालिका परस्पर सम्बन्ध नहीं रखती, लेकिन व्यवहार में राजनीतिक दलों के माध्यम से इनमें सम्बन्ध स्थापित हो गया है। *साधारणतया राष्ट्रपति जिस राजनीतिक दल का होता* है, उसी राजनीतिक दल को व्यवस्थापिका में भी बहुमत प्राप्त होता है। अतः शासन कार्य सुगमतापूर्वक चलता रहता है लेकिन बहुदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रपति

को सदैव ही व्यवस्थापिका के विरोध का सामना करना पड़ता है। वर्तमान समय में द्विदलीय व्यवस्था के कारण केवल कभी कभी ही इस प्रकार के विरोध की स्थिति उत्पन्न होती है।

(4) संवैधानिक गतिरोध की आशंका नहीं—बहुदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि कोई भी राजनीतिक दल अकेले या पारस्परिक समझौते के आधार पर सरकार का निर्माण नहीं कर पाता और सर्वैधानिक गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। लेकिन द्विदलीय प्रणाली में कभी भी संवैधानिक गतिरोध पैदा नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक समय विरोधी दल वर्तमान शासन का अन्त कर *शासन-व्यवस्था पर अधिकार प्राप्त करने के लिए तत्पर* रहता है।

(5) शासन में एकता और उत्तरदायित्व की व्यवस्था—शासन कार्य सफलतापूर्वक करने के लिए 'सत्ता का एकत्रीकरण' नितान्त आवश्यक होता है और शासन व्यवस्था में इस प्रकार की एकता द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत ही सम्भव है। इसके अतिरिक्त द्विदलीय प्रणाली में शासन की कुशलता अकुशलता का उत्तरदायित्व आसानी से स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि जो राजनीतिक दल बहुमत में होता है, शासन सम्बन्धी सभी कार्यों का उत्तरदायित्व उसी पर होता है। बहुदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत किसी भी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न होने के कारण शासन का उत्तरदायित्व निश्चित नहीं होता है।

(6) सुगठित विरोधी दल—राजनीतिक दल, शासन संचालन का कार्य ही नहीं, वरन् शासन को नियन्त्रित रखने का कार्य भी करते हैं। शासन को नियन्त्रित रखने का कार्य उसी समय भलीभाँति किया जा सकता है जबकि विरोधी राजनीतिक दल सुसंगठित और पर्याप्त शक्तिशाली हो। द्विदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत विरोधी दल सदैव ही इस स्थिति में होता है।

वस्तुत प्रतिनिधि शासन के संचालन के लिए द्विदलीय प्रणाली ही सर्वाधिक उपयुक्त है। द्विदलीय प्रणाली के लाभों का वर्णन करते हुए लॉस्की लिखते हैं कि 'यही एकमात्र प्रणाली है जिसके द्वारा जनता निर्वाचन के समय अपने शासन का प्रत्यक्ष चुनाव कर सकती है। यह उस शासन को अपनी नीति के अनुसार कानून बनाने की क्षमता प्रदान करती है यह उसकी असफलता के परिणामों को समझ में आने वाले रूप में सामने लाती है। यह दूसरे दल के शासन की अविलम्ब स्थापना भी कर सकती है।'[1] इसी प्रकार डॉ. फाइनर ने भी लिखा है, "हर स्थान पर दो दलों का ही अस्तित्व अच्छा होता है। जहाँ दो दलों में संघर्ष रहता है, *वहाँ गलतियाँ*

[1] "It is the only method by which the people can at the electoral period directly choose its government It enables that goverement to *drive its* policy to the statute book It makes known and intellig ble the result of its fa lure It brings an alternative into immediate being " —*Laski*

आसानी से पकड़ी जा सकती हैं, सार्वजनिक इच्छाओं का दमन कम हो जाता है और पूर्ण विनाश की सम्भावनाएँ भी कम हो जाती हैं।"

<u>द्विदलीय प्रणाली के दोष</u>—यद्यपि द्विदलीय प्रणाली शासन-व्यवस्था को स्थायित्व और निरन्तरता प्रदान करती है और यही ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत शासन में एकता होती है तथा उत्तरदायित्व निश्चित होता है, लेकिन इतना होने पर भी द्विदलीय प्रणाली पूर्णतया दोषमुक्त नहीं है। रेम्जे म्योर (Ramsay Muir) ने अपनी पुस्तक 'How Britain is Governed' में द्विदलीय प्रणाली की कटु आलोचना की है। द्विदलीय प्रणाली के प्रमुख दोष निम्नलिखित कहे जा सकते हैं

(1) <u>मतदान की स्वतन्त्रता सीमित</u>—द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत नागरिकों की मतदान की स्वतन्त्रता बहुत अधिक सीमित हो जाती है। उन्हें दो में से एक दल को अपना मत देना ही होता है, चाहे वे दोनों दलों के उम्मीदवारों या दलों की नीतियों से असहमत ही क्यों न हों। व्यवहार में एक समस्या के दो से अधिक पक्ष होने सम्भव हैं और ऐसा हो सकता है कि मतदाताओं का एक बड़ा भाग दोनों राजनीतिक दलों में से किसी भी राजनीतिक दल की विचारधारा से सहमत न हो। ऐसे व्यक्तियों को विवश होकर या तो राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता में तटस्थ रहना पड़ता है या छोटी बुराई को छाँटना पड़ता है। मैकाइवर के शब्दों में, "इस पद्धति में मतदाता की पसन्दगी अत्यधिक सीमित हो जाती है और यह स्वतन्त्र जनमत के निर्माण में भी बाधक होती है।"[1]

(2) <u>राष्ट्र का विभाजन</u>—बहुधा ऐसा देखा गया है कि द्विदलीय व्यवस्था के कारण समस्त राष्ट्र ऐसे दो दलों में विभक्त हो जाता है जिसमें समझौते की कोई सम्भावना नहीं रहती, लेकिन बहुदलीय प्रणाली राष्ट्र को आपस में न मिल सकने वाले समूहों में विभाजित नहीं होने देती। लोग अपने सिद्धान्तों के आधार पर ही बिना किसी प्रकार के गम्भीर समझौते किये परस्पर मिल सकते और सहयोग कर सकते हैं।

(3) <u>बहुमत की निरंकुशता</u>—द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत एक ही राजनीतिक दल के हाथ में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका सम्बन्धी शक्ति होती है और इसके परिणामस्वरूप एक ऐसे निरंकुश बहुमत का जन्म होता है जो सदा ही अल्पमत को कुचलता रहता है और उसकी माँग की अवहेलना करता रहता है।

(4) <u>व्यवस्थापिका के महत्व और सम्मान में</u> कमी—द्विदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवस्थापिका के महत्व में कमी हो जाती है क्योंकि व्यवस्थापिका का बहुमत

---

[1] "Certainly the two party system pay a price for the more stable government which it provides. The citizen has a narrower choice. The dual principle hampers the free expression of political opinion."

—R. M. MacIver *The Modern State*, p. 240.

दल सदैव ही मन्त्रिमण्डल का समर्थन करता रहता है, अतः समष्टि रूप से व्यवस्थापिका की सत्ता सीमित हो जाती है। द्विदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवस्थापिका 'मात्र रिकार्ड करने वाली संस्था' (Recording Institution) और दल के सदस्य कार्यपालिका की इच्छानुसार मत देने वाले यन्त्र मात्र बनकर रह जाते हैं।

(5) मन्त्रिमण्डलीय तानाशाही—कुछ विद्वानों का मत यह है कि द्विदलीय प्रणाली से मन्त्रिमण्डल की तानाशाही का विकास होता है। दलीय अनुशासन के कारण व्यवस्थापिका को सदैव ही मन्त्रिपरिषद का समर्थन करना होता है। इसके अतिरिक्त प्रधानमन्त्री दल का नेता भी होता है और व्यवस्थापिका के साधारण सदस्य दल के नेता की बात का विरोध नहीं कर पाते। दल के सदस्य अपने दल की मन्त्रिपरिषद् का इस कारण भी विरोध नहीं कर पाते हैं कि कहीं विरोधी दल की सरकार न बन जाए। इंगलैण्ड में मन्त्रिमण्डल के प्रभाव और सम्मान में वृद्धि और लोक सदन (House of Commons) के सम्मान में कमी होने का एक प्रमुख कारण यह द्विदलीय प्रणाली ही है।

(6) अनावश्यक विरोध—द्विदलीय प्रणाली में सरकार और विरोधी दल दोनों ही पर्याप्त शक्तिशाली होते हैं। इन दोनों राजनीतिक दलों में दूरियाँ भी बहुत अधिक होती हैं, जिसके परिणामस्वरूप शासन दल के द्वारा हठधर्मी और विरोधी दल द्वारा विरोध करने के लिए विरोध करने की प्रवृत्ति को पसन्द किया जाता है।

(7) अनेक हित बिना प्रतिनिधित्व के—देश की राजनीति में जब केवल दो ही राजनीतिक दल होते हैं तो अनेक हितों और वर्गों को व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व ही प्राप्त नहीं हो पाता। यह स्थिति प्रजातन्त्र के लिए उचित नहीं कही जा सकती।

बहुदलीय प्रणाली (Multi Party System)

यदि किसी देश की राजनीति में काफी बड़ी संख्या में राजनीतिक दल हों, तो उसे बहुदलीय प्रणाली कहा जाता है। महाद्वीपीय यूरोप के अधिकांश देशों में, विशेषतया फ्रांस और इटली में, बहुदलीय प्रणाली है। फ्रांस में कभी-कभी राजनीतिक दलों की संख्या 17 से 20 तक हो जाती है। इस सम्बन्ध में फ्रांस के बाद भारत का स्थान है। लेकिन इस सम्बन्ध में भारत की स्थिति फ्रांस और अन्य कुछ राज्यों से भिन्न है। भारत की बहुदलीय व्यवस्था में एक राजनीतिक दल को प्रधानता की स्थिति प्राप्त है और इसी कारण इसे 'एक राजनीतिक दल की प्रधानता वाली बहुदलीय प्रणाली' कहा जा सकता है।

बहुदलीय प्रणाली वाले देश में जब संसदात्मक व्यवस्था को अपनाया जाता है तो कोई भी राजनीतिक दल अकेले ही मन्त्रिमण्डल का निर्माण करने की स्थिति में नहीं होता और मिले जुले मन्त्रिमण्डल (Coalition Government) का निर्माण किया जाता है। इस सम्बन्ध में भारत उपर्युक्त वर्णित विशेष स्थिति के कारण अवश्य ही एक अपवाद रहा है।

बहुदलीय व्यवस्था के लाभ—यद्यपि आलोचकों ने बहुदलीय प्रणाली के प्रायः

दोष ही निकाले हैं, फिर भी इसके कुछ गुण बताये जा सकते हैं। वास्तव में द्विदलीय प्रणाली के दोष ही बहुदलीय प्रणाली के लाभ हैं, जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

(1) मतदाताओं को अधिक स्वतन्त्रता—जहाँ दलों की संख्या अधिक होती है, वहाँ मतदाताओं को स्वाभाविक रूप से चयन की अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है, क्योंकि वे कई दलों में से अपने ही समान विचार रखने वाले किसी दल का समर्थन कर सकते हैं।

(2) मन्त्रिमण्डल की तानाशाही सम्भव नहीं—बहुदलीय पद्धति में सामान्यतया व्यवस्थापिका में किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो पाता, अतः मिले-जुले मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जाता है। ये मिले-जुले मन्त्रिमण्डल कभी भी स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते, क्योंकि सरकार में साझीदार विभिन्न दलों में से किसी एक दल की असन्तुष्टि सरकार के अस्तित्व को खतरे में डाल देती है।

(3) सभी विचारधाराओं का व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व—जहाँ बहुदलीय पद्धति होती है, वहाँ व्यवस्थापिका में सभी विचारधाराओं के लोगों को प्रतिनिधित्व मिल जाता है और राष्ट्र के सभी वर्गों के विचार सुने जा सकते हैं।

(4) राष्ट्र दो विरोधी गुटों में नहीं बँटता—जहाँ बहुदलीय पद्धति होती है वहाँ दलीय भावना प्रबल नहीं हो पाती और विभिन्न दलों के द्वारा कुछ सीमा तक पारस्परिक सहयोग का मार्ग अपनाया जा सकता है। इस प्रकार राष्ट्र दो विरोधी वर्गों में बँट जाने से बच जाता है।

(5) व्यक्तित्व बनाये रखने का अवसर—यह व्यक्ति को कुछ सीमा तक अपना व्यक्तित्व बनाये रखने का अवसर देती है। यदि एक दल उनके विचारों के अनुकूल नहीं रहता, तो वह दूसरे दल को अपना सकता है और उसे अपना व्यक्तित्व इस भय से एक दल में नहीं खो देना पड़ता कि दूसरा दल उसके विचारों का पूर्णतया विरोधी है। इस प्रकार व्यक्ति की विचार स्वतन्त्रता और उसके व्यक्तित्व की रक्षा सम्भव होती है।

बहुदलीय पद्धति के दोष—बहुदलीय पद्धति के दोष उसके गुणों की संख्या से अधिक है और उनका उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है :

(1) शासन में अस्थिरता—बहुदलीय व्यवस्था मिले-जुले मन्त्रिमण्डलों को जन्म देती है जो कि बहुत अधिक अस्थिर होते हैं। जहाँ कहीं शासन में साझीदार राजनीतिक दलों के हित परस्पर टकराते हैं, वहीं विवाद उत्पन्न हो जाता है जिसका परिणाम शासन का पतन होता है। बहुत जल्दी जल्दी बदलने वाली ये सरकारें जनता के हित पर विचार ही नहीं कर पातीं। बहुदलीय व्यवस्था के कारण ही फ्रांस को एक लम्बे समय तक राजनीतिक अस्थिरता के दौर से गुजरना पड़ा था। फ्रांस के विदेश मन्त्री एम ब्रियां (M. Briand) ने एक अवसर पर कहा था कि

"फ्रांस में जिस दिन प्रधानमन्त्री पद ग्रहण करता है, उसी दिन उसके किसी साथी के द्वारा उसके पतन के लिए कार्य करना प्रारम्भ कर दिया जाता है।"

(2) नीति की अनिश्चितता—सरकारों के शीघ्र परिवर्तन के कारण नीति की अनिश्चितता उत्पन्न होती है जिसका शासन के समस्त स्वरूप पर बुरा प्रभाव पडता है। सरकार मे होने वाले ये निरन्तर परिवर्तन दीर्घकालीन योजना को व्यावहारिक रूप मे असम्भव बना देते हैं।

(3) शक्तिशाली विरोधी दल का अभाव—बहुदलीय पद्धति मे एक व्यवस्थित तथा शक्तिशाली विरोधी दल का जो कि संसदीय प्रजातन्त्र का आधार है, विकास सम्भव नहीं हो पाता। शक्तिशाली विरोधी दल के अभाव मे जनहितों की अवहेलना की आशका बनी रहती है।

(4) कार्यपालिका की निर्बल स्थिति—बहुदलीय पद्धति मे वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल और प्रधानमन्त्री की स्थिति बहुत निर्बल रहती है क्योंकि प्रधानमन्त्री को हमेशा ही इन अलग अलग राजनीतिक दलों को प्रसन्न रखना पडता है। ऐसी कार्यपालिका की स्थिति शोचनीय ही होती है जिसके सिर पर सदैव अविश्वास के प्रस्ताव की तलवार लटकी रहती हो।

(5) स्वार्थी राजनीतिज्ञों का प्रमुख—बहुदलीय पद्धति मे सरकार जनता के निर्णय का परिणाम नहीं होती, वरन् यह तो चालाक और स्वार्थी राजनीतिज्ञो के पारस्परिक गँठजोड का परिणाम होती है।

(6) कार्यकुशलता में कमी—बहुदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत राजनीतिक दलों के नेताओं का ध्यान सरकार तोडने, गँठजोड़ करने तथा किसी भी प्रकार से सरकार बनाने की ओर रहता है। ऐसी स्थिति मे प्रशासनिक कार्यकुशलता मे बहुत अधिक कमी हो जाती है।

(7) दीर्घकालीन नियोजन सम्भव नहीं—बहुदलीय पद्धति में जब जल्दी-जल्दी सरकारो मे परिवर्तन होता है तो लम्बे समय को ध्यान मे रखकर देश की प्रगति के लिए किसी भी प्रकार की योजना का निर्माण सम्भव नहीं हो पाता। इस प्रकार बहुदलीय पद्धति देश की प्रगति मे बाधक होती है।

निष्कर्ष—द्विदलीय और बहुदलीय पद्धति के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता हैं कि 'बहुदलीय व्यवस्था में गम्भीर दोष और भयकर आशकाएँ हैं।' बहुदलीय व्यवस्था मिली जुली सरकारों को जन्म देती है जो बहुत अधिक कमजोर और अस्थायी होती है और जिन्हें जनहित के स्थान पर अपने अस्तित्व को बनाये रखने की चिन्ता सदैव बनी रहती है। वस्तुत: बहुदलीय प्रणाली के चाहे जो भी गुण बताये जाते हो और लोक भावना के वास्तविक विभाजन को चाहे वह कितने ही सही रूप मे प्रकट करती हो, व्यावहारिक आदर्श के रूप में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। प्रशासन की सबसे बडी आवश्यकता स्थायित्व, अनिश्चितता का अभाव, एकता और उत्तरदायित्व की निश्चितता है और इन गुणों को द्विदलीय

प्रणाली के अन्तर्गत ही प्राप्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में डॉ. फाइनर ने ठीक ही लिखा है कि "राष्ट्रों की प्रसन्नता और उनके कर्तव्यपालन के लिए बहुदलीय व्यवस्था की अपेक्षा द्विदलीय व्यवस्था अधिक उचित है और यदि दो ही दल हमेशा चुनाव प्रतियोगिता में उतरें, तो असत्यों और त्रुटियों को हर स्थान पर चुनौती दी जा सकती है।"[1] केवल डॉ. फाइनर ही नहीं, वरन् अधिकांश राजनीतिक विचारक द्विदलीय व्यवस्था का ही पक्ष ग्रहण करते हैं और वास्तव में, यही व्यवस्था अधिक व्यावहारिक और लाभकारी सिद्ध हुई है।

भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों में फरवरी 1967 के चतुर्थ आम चुनाव के बाद जिन मिले-जुले मन्त्रिमण्डलों का निर्माण हुआ, उनसे भी निर्बलता, असमता और अत्यधिक अस्थिरता का ही परिचय मिला। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रजातन्त्र, विशेषतया संसदीय शासन व्यवस्था की सफलता, द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत ही सम्भव है।

प्रश्न

1 राजनीतिक दल की परिभाषा कीजिए और लोकतन्त्र में राजनीतिक दल के संगठन तथा कार्यों की व्याख्या कीजिए।
2 आधुनिक राज्यों, विशेषतया लोकतन्त्र में, राजनीतिक दलों के महत्व पर प्रकाश डालिए। एक समुचित दलीय-व्यवस्था के क्या-क्या लक्षण होने चाहिए।
3 क्या प्रजातान्त्रिक शासन के लिए राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं? दल पद्धति के कौन-कौन गुण तथा अवगुण हैं?
4 द्विदलीय और बहुदलीय प्रणाली के गुण-दोषों का वर्णन करिए।
5 'बहुदलीय पद्धति दलीय शासन के लिए अभिशाप है।' इस कथन को दृष्टि में रखते हुए बहुदलीय व्यवस्था के गुण दोषों की विवेचना कीजिए।

---

[1] Hermann Finer, *Theory and Practice of Modern Government*, p. 360.

22

दबाव समूह
[PRESSURE GROUPS]

"लोकतान्त्रिक संस्कृति के लिए इससे अधिक घातक और कुछ नहीं हो सकता कि राष्ट्रीय हित की ऐसी अवधारणा को अपनाया जाय, जिसमें विशेष हितों को सौदेबाजी का अवसर देने, अपनी बात कहने और राजनीतिक प्रक्रिया की नीतियों तथा मांगों के प्रवाह में रचनात्मक भूमिका निभाने से वंचित कर दिया गया हो।"

—मायनर वीनर[1]

राजनीतिक दल व्यक्ति और शासन के बीच सम्पर्क-सूत्र के रूप में कार्य करते रहे हैं लेकिन बीसवीं सदी की बदलती हुई परिस्थितियों में आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन से जुड़े हुए हितों और गतिविधियों ने बहुत अधिक विविधता की स्थिति को प्राप्त कर लिया और राजनीतिक दलों के लिए इस बात को नितान्त असम्भव बना दिया कि वे विविध हितों का समुचित प्रतिनिधित्व कर सकें। अतः राज-व्यवस्था में इन हितों और गतिविधियों का उचित प्रतिनिधित्व करने के उद्देश्य से दबाव समूहों का उदय और विकास हुआ। राज-व्यवस्था में दबाव समूहों का अस्तित्व कोई नूतन तथ्य नहीं है। सदैव से, सभी प्रकार के समाज और शासन व्यवस्थाओं में दबाव समूह विद्यमान रहे हैं। वर्तमान में दबाव समूहों के प्रसंग में नवोदित तत्व और तथ्य केवल यही है कि वे राजनीति में एक संस्था के रूप में कार्यरत हैं।

1908 में जब आर्थर बेण्टले का ग्रन्थ 'Process of Government' प्रकाशित हुआ और तदुपरान्त डेविड बी ट्रूमैन ने अपने ग्रन्थ 'Government Process' में उस पर सुधार किया, तभी से दबाव समूहों का अध्ययन एक महत्वपूर्ण विषय बन

---

1 "Nothing can be more destructive of democratic culture than a conception of national interest which deprives special interests of the opportunity to bargain to be heared to enter creatively into the flow of demands and policies of the political process."

—Myron Weiner *Politics of Scarcity* (Bombay, 1963), p. vi.

गया है। वी ओ के (जूनियर) के ग्रन्थ 'Politics, Parties and Pressure Groups' का इस प्रसंग में ऐतिहासिक योगदान रहा, जिसके परिणामस्वरूप अनेक विद्वानों ने अध्ययन के इस महत्वपूर्ण क्षेत्र (दबाव समूहों) की ओर देखना प्रारम्भ कर दिया, जिसे प्रो एस ई फाइनर ने 'अज्ञात साम्राज्य' (Anonymous Empire) की संज्ञा दी है। प्रारम्भ में संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और इटली आदि पाश्चात्य लोकतन्त्रीय देशों के सम्बन्ध में विपुल साहित्य का प्रकाशन हुआ और तदुपरान्त विकासशील देशों में भी दबाव गुटों की स्थिति का अध्ययन किया गया। इन सभी अध्ययनों में एक बात समान रूप से पायी गयी कि राजनीतिक व्यवस्था और प्रक्रिया में दबाव समूहों की जो भूमिका सोची जाती है, वस्तुत दबाव समूह उसकी तुलना में बहुत अधिक महत्वपूर्ण भूमिका सम्पादित करते हैं।

दबाव समूह परिभाषा और लक्षण

दबाव समूह विशेष हितों के साथ जुड़े हुए ऐसे शक्ति सगठन होते हैं जो अपने सदस्यों के हितों की रक्षा हेतु सार्वजनिक नीतियों को प्रभावित करने की चेष्टा करते रहते हैं। दबाव समूहों की कुछ परिभाषाएँ निम्न हैं

ओडीगार्ड के अनुसार, "दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक सगठन है जिसके एक अथवा अधिक सामान्य उद्देश्य या स्वार्थ होते हैं और जो घटनाओं के क्रम को, विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और प्रशासनिक कार्यों को इसलिये प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि कर सकें।"[1]

मायरन वीनर के शब्दों में, हित या दबाव समूहों से हमारा तात्पर्य शासन के ढाँचे के बाहर स्वैच्छिक रूप से सगठित ऐसे समूहों से होता है जो प्रशासनिक अधिकारियों की नामजदगी और नियुक्ति, विधि निर्माण और सार्वजनिक नीति के क्रियान्वयन को प्रभावित करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।"[2]

प्रो मदन गोपाल गुप्ता के अनुसार, 'दबाव समूह वास्तव में एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा सामान्य हित वाले व्यक्ति सार्वजनिक मामलों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इस अर्थ में ऐसा कोई भी सामाजिक समूह जो प्रशासकीय और विधायी दोनों ही प्रकार के निर्णयकर्ताओं को, सरकार पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण प्राप्त करने की चेष्टा किये बिना ही प्रभावित करना चाहता है, दबाव समूह कहलायेगा।"[3]

सीधे-सादे शब्दों में इन दबाव गुटों को सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने के उद्देश्य से निर्मित 'गैर सरकारी समूह' कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक, व्यवसायी, वाणिज्यिक, श्रमिक और अन्य वर्गों के समूह विधि निर्माण

---

1 Odegard and others, *American Government*, p 149-50.

2 Myron Weiner, *Politics of Scarcity*, p 200.

3 Gupta, Madan Gopal *Modern government—Theory and Practice*

और प्रशासनिक कार्यों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं जिनसे कि वे अपने हितो मे कानून बनवा सकें या अपने हितो को हानि पहुँचाने वाले विधेयकों को वापस लेने के लिए अथवा उनमे आवश्यक परिवर्तन करवाने के लिए प्रयत्न कर सकें तथा प्रशासनिक कार्यों को प्रभावित कर सकें। इस प्रकार दबाव समूह अपने सदस्यों के आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक और धार्मिक, विशेषतया उनके आर्थिक और व्यावसायिक हितो की रक्षा तथा वृद्धि मे सलग्न रहते हैं।

दबाव समूह के लक्षण

दबाव समूह के सम्बन्ध मे व्यक्त उपर्युक्त विचारो के आधार पर दबाव समूह के निम्नलिखित लक्षण बताये जा सकते हैं

(1) सीमित उद्देश्य—दबाव समूह के एक या विशेष कुछ निश्चित लक्ष्य होते हैं और दबाव समूह के द्वारा अपनी गतिविधियाँ सामान्यतया इस विशेष लक्ष्य तक सीमित रखी जाती हैं।

(2) औपचारिक या अनौपचारिक रूप में सगठित—दबाव समूह के लिए राजनीतिक दल के समान औपचारिक रूप मे सगठित होना आवश्यक नहीं है, ये अर्द्ध-औपचारिक रूप मे सगठित हो सकते हैं, या पूर्णतया अनौपचारिक सगठन भी हो सकते हैं, जिन्हे सामान्य व्यक्ति असगठित कहते हैं। उदाहरण के लिए, भारत की वर्तमान राजनीति मे अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस एक औपचारिक रूप मे सगठित दबाव समूह है और जाति एक बहुत अधिक शक्तिशाली, लेकिन अनौपचारिक दबाव समूह।

(3) सीमित एव परस्पर व्यापी सदस्यता—दबाव समूहों का सामान्यतया वर्गीय हितो से सम्बन्ध होता है और स्वाभाविक रूप से इनकी सदस्यता सीमित ही होती है। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (INTUC) की सदस्यता मात्र श्रमिक वर्ग को और वाणिज्य मण्डल की सदस्यता मात्र व्यापारिक वर्ग को ही प्राप्त रहती है।

दबाव समूह की सदस्यता परस्पर व्यापी भी होती है। एक व्यक्ति एक ही समय पर अनेक दबाव समूहों का सदस्य हो सकता है। उदाहरण के लिए, वह जातिगत समूहों, उपभोक्ता समूहों, मोहल्ला सघ और शिक्षक सघ या श्रमिक सघ का सदस्य हो सकता है।

(4) सवैधानिक और असवैधानिक साधनो का प्रयोग—विशेष हितों की पूर्ति ही सबसे प्रमुख लक्ष्य होने के कारण दबाव समूह के द्वारा आवश्यकतानुसार उचित और अनुचित, सवैधानिक और असवैधानिक सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता है।

(5) राजनीति और प्रशासन मे परोक्ष भूमिका—दबाव समूह का शासन पर अधिकार स्थापित करने का कोई लक्ष्य नही होता, इसलिये वे राजनीति और प्रशासन में प्रत्यक्ष भूमिका नही निभाते हैं। इस आधार पर कई बार ये समूह अपने

आपको 'गैर राजनीतिक और गैर सरकारी संगठन' बताते हैं, लेकिन वस्तुत दबाव समूह राजनीति और प्रशासन से अलग नहीं होते, वे पर्दे के पीछे रहकर राजनीति, राजनीतिक निर्णयों और प्रशासनिक कार्यों को प्रभावित करने की निरन्तर चेष्टा करते हैं। ये समूह चुनाव नहीं लड़ते और न ही चुनाव में औपचारिक रूप में उम्मीदवार खड़े करते हैं, किन्तु वे दलों द्वारा चुनाव में उम्मीदवारों के नामांकन को प्रभावित करते हैं तथा अपने हितों के समर्थक उम्मीदवारों को धनराशि देकर तथा अन्य प्रकार से सहयोग देते हैं। वे विधायक नहीं बनना चाहते, परन्तु विधायकों के मतों को प्रभावित करते हैं। वे शासन से बाहर रहकर प्रशासनिक अधिकारियों के निर्णयों को प्रभावित करते हैं। अपने हितों की रक्षा के लिए कभी तो उनके द्वारा निश्चित राजनीतिक वफादारी और कभी अस्थिर राजनीतिक वफादारियों का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार दबाव समूह 'राजनीतिक और गैर-राजनीतिक, इन दो स्थितियों के मध्य में स्थित' होते हैं। हैरी एक्सटीन के अनुसार, दबाव समूहों की राजनीतिक गतिविधियों के आधार पर उनका रूप पूर्णतया अराजनीतिकृत समूह से कम तथा पूर्णतया राजनीतिकृत समूह से अधिक होता है, यह स्थिति वस्तुत राजनीतिक और अराजनीतिक स्तरों के बीच की गतिविधियों की होती है।"[1] प्रो जोहरी के अनुसार दबाव समूह राजनीति के साथ लुका छिपी का खेल (Game of hide and seek) खेलते हैं, वे राजनीति में हैं भी और नहीं भी हैं। वस्तुत दबाव समूहों की 'अराजनीतिक स्थिति की बात' मात्र सैद्धान्तिक और सतही स्थिति ही है। व्यवहार में दबाव समूह 'राजनीतिक क्रिया अभिमुखी' ही होते हैं। दबाव समूह बिना उत्तरदायित्व ग्रहण किये सत्ता के मधर्ष और सत्ता के लाभों के लिए सचेष्ट रहते हैं, इस कारण कुछ आलोचकों द्वारा इन्हें 'अनुत्तरदायी राजनीतिक दल' भी कहा गया है।

(6) अनिश्चित कार्यकाल—दबाव समूह बनते और समाप्त होते रहते हैं। किसी हित विशेष की पूर्ति के लिए अस्तित्व में आने के कारण हित की पूर्ति के साथ ही इनका समाप्त हो जाना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक समाज की प्रकृति परिवर्तनशील होती है, अत एक विशेष दबाव समूह की स्थापना के कुछ समय बाद अनुपयोगी समझकर भी उसे भंग किया जा सकता है।

(7) सार्वभौमिक प्रकृति—दबाव समूह सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं में पाये जाते हैं, यहाँ तक कि सर्वाधिकारवादी और स्वेच्छाचारी राज व्यवस्थाओं में भी। इनकी सर्वव्यापकता को स्वीकार करते हुए रावर्ट सी बोन लिखते हैं, 'दबाव समूह सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में, यहाँ तक कि सर्वाधिकारवादी राज्यों में भी

---

[1] "Pressure Group politics "representing something less than the full politicization of groups and something more than utter depoliticization, it constitutes an intermediate level of activity between the political and a non political" —Herry Eckstein *Pressure Group Politics*, p 9

पाये जाते हैं''''''· केवल यह तथ्य कि दबाव समूह साम्यवादी राज्यों में भी होते हैं, इनकी सर्वव्यापकता का प्रमाण है।"[1]

इस सर्वव्यापकता के बावजूद यह तथ्य है कि सर्वाधिकारवादी राज्यों में दबाव समूहों की गतिविधियाँ बहुत सीमित होती हैं और सामान्यतया गुप्त रूप में सम्पादित होती हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में दबाव समूह खुले रूप में कार्य करते हैं और सामान्यतया उनकी गतिविधियों का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है।

दबाव समूहों का स्वरूप किसी देश विशेष की सामाजिक और राजनीतिक विकास की स्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। इनके विकास का एक क्रम होता है और ज्यों ज्यों समाज अविकसित अवस्था से विकसित अवस्था की ओर बढ़ता जाता है, त्यों त्यों सामाजिक या साम्प्रदायिक (Communal) समूहों की तुलना में समुदायात्मक समूहों (Associational Groups) का विस्तार बढ़ता जाता है।

राजनीतिक दल और दबाव समूह : सम्बन्ध और अन्तर

राजनीतिक दल और दबाव गुट दोनों ही संविधानेत्तर तत्व हैं जो संविधान और शासन द्वारा स्थापित विभिन्न संस्थाओं के प्रेरक तत्व के रूप में कार्य करते हैं। दोनों ही राजनीतिक प्रक्रिया के सुदृढ़ अंग हैं जो शासन की नीतियों को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल और दबाव गुट में यद्यपि कुछ बातों में समान हैं, किन्तु इनमें भिन्नताएँ भी इतनी ही महत्वपूर्ण हैं, जो इस प्रकार हैं :

(1) राजनीतिक दल का सर्वप्रमुख और घोषित उद्देश्य शासन सत्ता पर नियन्त्रण स्थापित करना होता है। अत वे चुनाव में उम्मीदवार खड़े करते हैं, उन्हें विजयी बनाने का प्रयत्न करते हैं और यदि सम्भव हो तो शासन सत्ता प्राप्त कर सार्वजनिक नीतियों को स्वयं निर्धारित एवं कार्यान्वित करते हैं। लेकिन दबाव समूह शासन सत्ता प्राप्त करने का प्रयास नहीं करते। वे तो विधेयकों, निर्वाचित पदाधिकारियों, प्रशासनिक अधिकारियों तथा कर्मचारियों पर दबाव डालकर सार्वजनिक नीति और शासन को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल स्वयं अपने लिए सत्ता प्राप्त करना चाहता है। लेकिन दबाव समूह औपचारिक रूप में शासन से बाहर रहकर शासन को प्रभावित करने की चेष्टा में लगे रहते हैं।

(2) राजनीतिक दल का सम्बन्ध राष्ट्रीय हित की सभी समस्याओं और प्रश्नों से रहता है, अत स्वाभाविक रूप से उनका बहुत अधिक व्यापक कार्यक्रम होता है। किन्तु दबाव समूह एक विशेष वर्ग के हितों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं और उनके द्वारा इस वर्ग-विशेष के हितों से सम्बन्धित समस्याओं पर ही अपना ध्यान

---

[1] Robert C. Bone : *Action and Organization—An Introduction to Contemporary Political Science*, p 81.

केन्द्रित किया जाता है। अतः दबाव समूहों का कार्यक्रम अपेक्षाकृत सीमित और संकुचित होता है।

(3) विचारधारा और कार्यक्रम की दृष्टि से दबाव समूह राजनीतिक दल की तुलना में अधिक संयुक्त और सजातीय समूह होते हैं। दबाव समूह उन्हीं व्यक्तियों का समूह होता है, जिनके विशेष विषय या मसले के सम्बन्ध में समान हित और समान रुचि होती है, अतः विचारों की यह संगति दबाव समूह को एकता और सजातीयता प्रदान करती और राजनीतिक दृष्टि में प्रभावी बनाती है। लेकिन राजनीतिक दल व्यापक सामाजिक और राजनीतिक कार्यक्रम पर आधारित होते हैं, उनके उद्देश्य और कार्य बहुरूपी होते हैं, अतः उनमें उस सीमा तक सजातीयता और एकता की स्थिति नहीं होती, जो दबाव समूहों में देखी जाती है।

(4) राजनीतिक दल बहुत बड़े संगठन होते हैं जो लाखों तथा भारत, अमरीका आदि देशों में करोड़ों मतदाताओं का समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु दबाव समूह आकार तथा सदस्यता की दृष्टि से अपेक्षाकृत छोटे होते हैं।

सदस्यता की दृष्टि से इनमें एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि दबाव समूह की सदस्यता परस्पर व्यापी होती है। एक व्यक्ति एक ही समय पर अपने विविध हितों के आधार पर अनेक दबाव समूहों की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति एक साथ जातिगत समूह, उपभोक्ता संघ, मोहल्ला संघ और श्रमिक संघ आदि का सदस्य बन सकता है। इस प्रकार दबाव समूहों के सदस्यों की अपने समूहों के प्रति भक्ति विभाजित होती है ये समूह ढीले संगठन होते हैं और सदस्यों की स्वतन्त्रता बनी रहती है। इसके विपरीत, कोई व्यक्ति एक समय पर एक ही दल का सदस्य हो सकता है। अतः राजनीतिक दल सुदृढ़ संगठन होते हैं और दल के प्रति सदस्यों की भक्ति एकाग्र होती है।

(5) राजनीतिक दल अनिवार्यतया औपचारिक रूप से संगठित होते हैं, किन्तु दबाव समूह औपचारिक रूप से संगठित या असंगठित दोनों ही स्थितियों में हो सकते हैं। अनेक बार शक्तिशाली दबाव समूह भी औपचारिक रूप से असंगठित स्थिति में होते हैं।

(6) राजनीतिक दलों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए केवल संवैधानिक साधनों को ही अपनायेंगे, लेकिन दबाव समूह के द्वारा आवश्यकतानुसार संवैधानिक और असंवैधानिक सीमाओं के बाहर सभी प्रकार के साधन अपनाये जा सकते हैं।

वस्तुतः दबाव समूहों के सबसे अधिक घनिष्ठ और उलझे हुए सम्बन्ध यदि किसी अन्य संगठन से होते हैं, तो वह निश्चित रूप से राजनीतिक दल ही है। संवैधानिक स्तर पर राजनीतिक दल और दबाव गुट में भले ही भेद किया जाता हो राजनीतिक स्तर पर ये परस्पर पूरक संगठन हैं। राजनीतिक दल अपने लिए अधिकाधिक लोकप्रियता प्राप्त करने के उद्देश्य से श्रमिक, युवक, नारी और दलित आदि

सभी वर्गीय सगठनों मे रुचि लेते हैं और परोक्ष ही सही, लेकिन इन वर्गीय सगठनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दूसरी ओर वर्गीय सगठन भी इस बात से परिचित होने हैं कि वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में राजनीतिक दल बहुत अधिक सहायक सिद्ध हो सकते है। अत वे राजनीतिक दल के कार्य संचालन मे पूरी रुचि रखते हैं और राजनीतिक दल की नीति तथा कार्य सचालन को प्रभावित करने की पूरी चेष्टा करते हैं। व्यवहार मे एक विशेष दबाव समूह कभी तो अनिवार्य रूप से किसी एक राजनीतिक दल के साथ बँध जाता है और कभी उसके द्वारा राजनीतिक दलों के प्रति 'अस्थिर तथा बदलती हुई वफादारियों की नीति' अपनायी जाती है अर्थात् अपने हितो के आधार पर एक विशेष मुद्दे तथा समय पर एक राजनीतिक दल और अन्य मुद्दे तथा समय पर दूसरे राजनीतिक दल को समर्थन देने की नीति।

दबाव समूह और राजनीतिक दल के आपसी सम्बन्ध का एक पक्ष यह है कि कभी तो दबाव समूह राजनीतिक दल को जन्म देते हैं और अनेक बार राजनीतिक दल दबाव समूह के गठन मे पहल करते हैं। ब्रिटन के श्रमिक दल का निर्माण अनेक *श्रमिक सगठनों के सयुक्त सघ के रूप मे हुआ और भारत के 'स्वतन्त्र दल' को जन्म* देने मे उद्योगपतियो के एक दबाव समूह 'Forui for Free Enterprise' की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण थी। दूसरी ओर राजनीतिक दल अपने लिये विविध वर्गों का समर्थन प्राप्त करने हेतु दबावसमूहों की स्थापना मे पहल करते हैं। भारत के प्रमुख श्रमिक सघों—इण्टक, एटक, सीटू, भारतीय मजदूर सघ आदि की स्थापना विविध राजनीतिक दलो की प्रेरणा और पहल से ही हुई है। दबाव समूहो के आधार पर निर्मित दल जब तक अपने लिये स्वतन्त्र आधार नही खोज लेते, अपने प्रेरक दबाव समूहों पर निर्भर करते हैं, लेकिन यह स्थिति राजनीतिक दल की शक्ति और प्रभाव के बढने मे बाधक होती है और सामान्यतया अधिक समय तक नही रहती, दबाव समूहों को अनेक बार बहुत लम्बे समय तक अपने राजनीतिक दल पर निर्भर देखा जाता है। ऐसे दबाव समूह पर एक विशेष राजनीतिक दल का बिल्ला लग जाता है और उसकी स्थिति आश्रित सगठन' जैसी हो जाती है। व्यवहार के अन्तगत ऐसे दबाव समूह अपने वर्गीय हितो का उचित प्रनिनिधित्व नही कर पाते। वस्तुत राजनीतिक दल की एक श्रेणी विशेष के दबाव समूहो पर निर्भरता या दबाव समूह की एक ही राजनीतिक दल पर निर्भरता उचित स्थितियाँ नहीं हैं। ये स्थितियाँ राजनीतिक दल और दबाव समूह की प्रभावशीलता पर विपरीत प्रभाव डालती है। राजनीतिक दल और दबाव समूह मे परस्पर सम्बन्ध तो होगा ही, लेकिन अपने स्वस्थ विकास के हित में उन्हे एक ही श्रेणी के दबाव समूह या एक ही राजनीतिक दल पर निर्भरता की स्थिति से बचना चाहिए। भारत और अन्य अनेक विकासशील देशों में दबाव समूह के सम्बन्ध मे विशेष रूप से यह स्थिति विद्यमान है जो उनके स्वस्थ विकास में बाधक बन रही है।

दबाव समूहों का वर्गीकरण

दबाव समूहों का वर्गीकरण किसी एक नहीं, वरन् अनेक आधारों पर किया जाता है और इसी कारण इनका वर्गीकरण एक कठिन कार्य हो गया है। सामान्य रूप से ये वर्गीकरण समूहों के लक्ष्य, उनके संगठन की प्रकृति, उनके अस्तित्व की *अवधि और कार्यक्षेत्र आदि के आधार पर किया जाता है।* लक्ष्यों की दृष्टि से दबाव समूह 'स्वार्थी' और 'लोकार्थी', इन दो श्रेणियों में रखे जा सकते हैं। श्रमिक संघ, व्यापारी संघ आदि वर्ग विशेष के हितों की साधना करते हैं अतः उन्हें 'स्वार्थी समूह' कहा जाता है दूसरी ओर गो सेवा संघ, भारत सेवक समाज या नारी कल्याण संघ 'लोकार्थी समूह' कहे जाते हैं। संगठन की दृष्टि से समूहों के दो भेद बताये जाते हैं *औपचारिक और अनौपचारिक। औपचारिक समूह वे होते हैं जिनके संगठन* का कोई विधान और निश्चित कार्य प्रणाली होती है, विधान और निश्चित कार्य-प्रणाली से रहित समूह अनौपचारिक समूह कहे जाते हैं। अस्तित्व की अवधि की दृष्टि से *अल्पकालिक समूह और दीर्घकालिक समूह होते हैं।* इसी प्रकार कार्यक्षेत्र के आधार पर जो समूह अत्यन्त सीमित क्षेत्र में कार्य करते हैं उन्हें स्थानीय तथा *जिनका क्षेत्र अखिल देशीय होता है, उन्हें 'देशव्यापी समूह' कहते हैं।*

वर्तमान काल में राजनीति विज्ञान के कुछ विद्वानों द्वारा भी दबाव समूहों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया गया है इनमें प्रमुखतया दो वर्गीकरण सामने आते हैं: **प्रथम ब्लोण्डेल का वर्गीकरण और द्वितीय आमण्ड का वर्गीकरण।**

ब्लोण्डेल (Blondel) ने दबाव समूहों का वर्गीकरण उनके निर्माण के प्रेरक तत्वों के आधार पर किया है। उनके अनुसार प्रमुख रूप से दो प्रकार के दबाव समूह होते हैं, प्रथम सामुदायिक दबाव समूह और द्वितीय संघात्मक दबाव समूह। वे समूह जिनकी स्थापना के मूल में व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्ध होते हैं, सामुदायिक दबाव समूह कहे जाते हैं तथा वे समूह जिनकी स्थापना के पीछे किसी विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति प्रेरक तत्व होता है, संघात्मक समूह कहे जाते हैं। ब्लोण्डेल ने इनमें से प्रत्येक को पुनः दो रूपों में विभाजित किया है। सामुदायिक समूह के दो रूप हैं: प्रथम रूढ़िगत और द्वितीय संस्थात्मक (Institutional), इसी प्रकार संघात्मक समूह के दो रूप हैं प्रथम संरक्षणात्मक और द्वितीय उत्थानात्मक।

आमण्ड ने इन समूहों को 'हित-समूहों' का नाम देते हुए इन समूहों की चारित्रिक विशेषताओं को उनके वर्गीकरण का आधार बनाया है। उनके अनुसार समूहों के चार प्रकार होते हैं (1) संस्थात्मक, (2) असंघात्मक, (3) प्रदर्शनात्मक या अनियमित, और (4) संघात्मक।

ब्लोण्डेल तथा आमण्ड के वर्गीकरण तथा अन्य बातों के आधार पर दबाव समूहों को मुख्यतया निम्न चार भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है:

(1) संस्थात्मक दबाव समूह (The Institutional Pressure Groups)—संस्थात्मक दबाव समूह राजनीतिक दलों, विधान मण्डलों, सेना, नौकरशाही इत्यादि

म सक्रिय रहते हैं। इनके औपचारिक सगठन होते हैं ये स्वायत्त रूप से नियामीन रहते हैं अथवा विभिन्न सस्थाओं की छत्रछाया में पोषित होते हैं। ये समूह अपने हितों की अभिव्यक्ति के साथ साथ अन्य सामाजिक समुदायों के हितों का भी प्रतिनिधित्व करते है।

(2) समुदायात्मक दबाव समूह (Assoc ational Pressure Groups)—समुदायात्मक दबाव समूह हितों की अभिव्यक्ति के विशेषीकृत मंच होते हैं। इनकी मुख्य विशेषता अपने विशिष्ट हितों की पूर्ति करना होता है। इनमें प्रमुख हैं व्यावसायिक सगठन कृषक सगठन, श्रमिक सगठन और सरकारी कर्मचारियों के सगठन आदि।

(3) असमुदायात्मक दबाव समूह (Non Associational Pressure Groups)—ये व दबाव समूह हैं जो धर्म जाति रक्त सम्बन्ध अथवा अन्य किसी परम्परागत लक्षण पर आधारित होते हैं। ये अनौपचारिक तथा सामान्यतया असगठित होते हैं। सामान्य बोलचाल में असमुदायात्मक समूहों को परम्परागत और समुदायात्मक समूहों को आधुनिक दबाव समूह कहा जाता है।

(4) प्रदर्शनकारी या अनियमित दबाव समूह (Anomic Pressure Groups)—प्रदर्शनकारी समूह व हैं जो अपनी माँग को लेकर गैर सवैधानिक उपायों का प्रयोग करते हुए प्रदर्शनकारी विरोध और प्रत्यक्ष कार्यवाही का मार्ग अपनाते हैं। इस प्रकार की कार्यवाही के कई रूप हैं जैसे जन सभाएँ गली कूचा बैठक रैली विरोध दिवस मनाना हड़ताल, धरना सत्याग्रह अनशन सार्वजनिक सम्पत्ति को हानि पहुँचाना अग्निदाह आवागमन अवरुद्ध करना और घेराव आदि। कभी कभी इनके द्वारा बड़े पैमाने पर हिंसा राजनीतिक हत्या दंगे और अन्य रूपों में आक्रामक रवैया भी अपना लिया जाता है। इन तरीकों को अपनाकर ये सगठित गुट न केवल अपना असन्तोष व्यक्त करते हैं वरन शासन के ढाँचे नीति और कार्य सचालन को भी प्रभावित करते हैं।

दबाव समूह द्वारा अपनाये गये तरीके या कार्य प्रणाली

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दबाव समूहों द्वारा विभिन्न युक्तियाँ या तरीके अपनाये जाते हैं जिनमें प्रमुख निम्न हैं

(1) लाबींग (Lobbying)—लाबींग का सामान्य अर्थ है विधानमण्डल के सदस्यों को प्रभावित कर उनके अपने हित में कानूनों का निर्माण करवाना। लाबींग में व्यवस्थापिका के अधिवेशन के समय किसी विशेष विधेयक को विधि में परिणित करवाने या न करवाने में रुचि ली जाती है। इस उद्देश्य से विधायकों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रतिनिधिमण्डल शिष्टमण्डल पत्र तार टेलीफोन और प्रदर्शन आदि साधनों को भी अपनाया जाता है। दबाव समूह विशेष रूप से पश्चिमी देशों में इस साधन का उपयोग करते हैं। सयुक्त राज्य अमरीका में इसका महत्व इतना बढ़ गया है कि लाबी (गोष्ठी कक्ष) को कभी-कभी

विधान मण्डल का तीसरा सदन' कहते हैं। इस कार्य हेतु अनेक समूहों के बड़े कार्यालय होते हैं और उनमें हजारों अधिकारी तथा कर्मचारी लगे रहते हैं। ये लॉबीस्ट तीन प्रकार के कार्य करते हैं सूचनाएँ प्रसारित करते हैं, अपने नियोजनकर्ता के हितों की रक्षा करते हैं तथा विधियों के राजनीतिक प्रभावों को स्पष्ट करते हैं।

(2) प्रचार व प्रसार के साधन—अपने उद्देश्यों की प्राप्ति, जनता में अपने पक्ष में सद्भावना का निर्माण करने और उद्देश्य प्राप्ति में सहायक सिद्ध होने वाले लोगों के दृष्टिकोण को अपने पक्ष में करने के लिए ये विभिन्न दबाव समूह अथवा वर्गीय या आर्थिक हितों के प्रभावशाली संगठन प्रेस, रेडियो, टेलीविजन और सार्वजनिक सम्बन्धों के विशेषज्ञों की सेवाओं का उपयोग करते हैं।

(3) आँकड़े प्रकाशित करना—नीति-निर्माताओं के समक्ष अपने पक्ष को प्रभावशील ढंग से प्रस्तुत करने के लिए दबाव समूह आँकड़े प्रकाशित करते हैं, ताकि अपनी बात को पूरा करना सकें।

(4) गोष्ठियाँ आयोजित करना—आजकल दबाव समूह विचार-विमर्श तथा वाद विवाद के लिए गोष्ठियाँ, सेमिनार तथा भाषणमालाएँ एवं वार्ताएँ आयोजित करते हैं। गोष्ठियों में विधायिका तथा प्रशासिका के प्रमुख अधिकारियों को आमन्त्रित करते हैं और उन्हें अपने मत से प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

(5) रिश्वत, बेईमानी अथवा अन्य उपाय—अपने ध्येयों की रक्षा के लिए दबाव समूह रिश्वत व घूस देने से भी नहीं कतराते। बेईमानी के तरीकों का भी यथासम्भव प्रयोग करते हैं तथा विरुद्ध हितों को अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए बदनाम भी करवा देते हैं। कहीं कहीं पर तो आवश्यकतानुसार सुरा और सुन्दरी का भी प्रयोग करते हैं। प्रत्येक देश की राजधानी में दबाव समूहों के प्रतिनिधि सक्रिय रूप से क्रियाशील रहते हैं। इन उपायों के प्रयोग में व्यावसायिक दबाव समूह अन्य दबाव समूहों से सदैव आगे रहते हैं।

(6) न्यायालय की शरण—जब दबाव समूह के समस्त प्रयत्नों के बावजूद उनके हितों को आघात पहुँचाने वाला कानून पारित हो जाता है, तब दबाव समूह न्यायालयों में याचिका प्रस्तुत कर अपने पक्ष में निर्णय करवाने का प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में जब 1969 में 14 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया था, तब बैंकों के सचालकों ने अपने हितों की रक्षा हेतु मौलिक अधिकारों का आश्रय लेकर न्यायालय में अपने पक्ष में निर्णय ले लिया था।

(7) संसद सदस्यों के मनोनयन में रुचि—दबाव समूह ऐसे व्यक्तियों को चुनाव में दलीय प्रत्याशी मनोनीत करवाने में मदद देते हैं जो आगे चलकर संसद में उनके हितों की अभिवृद्धि में सहायक हों। ऐसा कहा जाता है कि लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में संसद-सदस्य दबाव समूहों की जेब में होते हैं। चुनावों में संसद-सदस्यों को पैसा चाहिए और अनेक बार यह पैसा दबाव समूह उपलब्ध करवाते हैं।

दबाव समूहों की भूमिका के निर्धारक तत्व

यद्यपि दबाव समूह सर्वव्यापक हैं, लेकिन विभिन्न राज व्यवस्थाओं में उनकी प्रभावशीलता और भूमिका में अन्तर होता है। दबाव समूहों की भूमिका प्रमुखतया निम्न चार तत्वों पर निर्भर करती है

(1) **शासन व्यवस्था का स्वरूप**—लोकतान्त्रिक राज व्यवस्थाओं में जहाँ व्यक्तियों को नागरिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होती हैं, दबाव समूह खुले रूप में और अधिक सक्रियता के साथ कार्य करते हैं। इस प्रकार की शासन व्यवस्थाओं में न केवल दबाव समूहों के अस्तित्व को मान्यता प्रदान की जाती है वरन् उन्हें कार्य करने के लिए अधिकाधिक स्वतन्त्रता और सुविधा प्रदान की जाती है और शासन तथा दबाव समूहों के बीच निरन्तर सम्पर्क की स्थिति होती है। इसके विपरीत, सर्वसत्तावादी और सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाओं में दबाव समूह गुप्त रूप में ही कार्य करते हैं और उनकी भूमिका अत्यन्त सीमित होती है, सामान्यतया शासन द्वारा निर्धारित उद्देश्यों तक।

दबाव समूहों की भूमिका इस बात पर भी निर्भर करती है कि शासन का स्वरूप अध्यक्षात्मक है अथवा संसदात्मक। अध्यक्षात्मक व्यवस्था में व्यवस्थापिका के सदस्यों पर कठोर दलीय अनुशासन नहीं होता और कानून निर्माण के क्षेत्र में कार्यपालिका व्यवस्थापिका का नेतृत्व नहीं करती। अतः कानून निर्माण में विशेष हितों अर्थात् दबाव समूहों का बहुत अधिक प्रभाव देखा जाता है। लेकिन संसदात्मक व्यवस्था में व्यवस्थापिका के सदस्यों पर कठोर दलीय अनुशासन और कानून निर्माण-कार्य में कार्यपालिका के नेतृत्व के कारण दबाव समूहों की सक्रियता कम हो जाती है। संसदात्मक व्यवस्था में दबाव समूह कार्यपालिका और दलीय स्तर पर अपेक्षाकृत अधिक व व्यवस्थापिका के स्तर पर अपेक्षाकृत कम सक्रिय रहते हैं।

(2) **राजनीतिक संस्कृति और सामाजिक स्थिति**—राज संस्कृति और सामाजिक स्थिति दबाव समूह के क्रियाकलाप के महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व हैं। यदि कोई समाज राज संस्कृति की दृष्टि से विकसित, आधुनिकीकृत तथा खुला, सभ्य और औद्योगिक समाज है तो वहाँ दबाव समूह की विशेष सक्रियता और राज-व्यवस्था तथा दबाव समूह में निरन्तर सम्पर्क की स्थिति नितान्त स्वाभाविक है; लेकिन बन्द आधुनिकीकरण से दूर, अर्धसभ्य और कृषक समाज में दबाव समूह अपेक्षाकृत कम सक्रिय होते हैं।

(3) **राजनीतिक दलों की स्थिति (*Stasiology*)**—दबाव समूहों का प्रभाव इस बात पर भी निर्भर करता है कि किसी राजनीतिक व्यवस्था में किस प्रकार की दलीय व्यवस्था विद्यमान है। द्विदलीय व्यवस्था वाले राज्यों में दबाव समूहों का प्रभाव अधिक और बहुदलीय व्यवस्था वाले राज्यों में यह प्रभाव अपेक्षाकृत कम देखा जाता है। बहुदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक बार कुछ दलों का आधार इतना

सीमित और संकुचित होता है कि वे स्वयं दबाव समूहों के ही रूप में कार्य करते हैं।

(4) दबाव समूहों का काम, स्वरूप एवं कार्य संचालन—राज्य व्यवस्था में दबाव समूहों की भूमिका पर्याप्त सीमा तक स्वयं दबाव समूहों के काल, स्वरूप और कार्य संचालन पर निर्भर करती है। यदि दबाव समूह लम्बे समय से चले आ रहे हैं, उनके पास वित्तीय साधन क्षमता संगठन और सुयोग्य नेतृत्व है तो उनका अधिक प्रभावी होना तथा विपरीत परिस्थितियों में उनका कम प्रभावी होना नितान्त स्वाभाविक है।

दबाव समूहों के दोष

परम्परागत रूप में दबाव समूहों को हेय दृष्टि से देखा जाता रहा है। कुछ लेखक दबाव समूहों को ऐसी धारणा के रूप में चित्रित करते हैं जो सार्वजनिक अनैतिकता और भ्रष्टाचार को बढ़ावा देती है और सार्वजनिक हितों की उपेक्षा का कारण बनती है।

दबाव समूहों की आलोचना के प्रमुख आधार निम्न हैं

(1) अप्रजातान्त्रिक—प्रजातान्त्रिक व्यवस्था और प्रतिनिधित्व प्रणाली इस बात की माँग करती है कि जो व्यक्ति, संस्था या समुदाय राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करते हैं, वे जनता के प्रति उत्तरदायी हों। परन्तु दबाव समूह राजनीतिक व्यवस्था में परोक्ष भूमिका निभाते हैं, वे राजनीतिक प्रभाव और शक्ति का प्रयोग तो करते हैं, लेकिन अपनी इस स्थिति के लिए किसी के भी प्रति उत्तरदायी नहीं होते। राजनीतिक दलों के समान उन्हें चुनावों में दण्डित नहीं किया जा सकता। अनुत्तरदायी रूप से राजनीतिक प्रभाव और शक्ति का प्रयोग किये जाने के कारण ही इन्हें अप्रजातान्त्रिक कहा जाता है।

(2) संकीर्णता के प्रतीक—दबाव समूह विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं और आलोचकों के अनुसार इन समूहों द्वारा अपने सदस्यों में संकीर्ण दृष्टिकोण को जन्म देने और बढ़ाने का ही कार्य किया जाता है। संकीर्णता की यह स्थिति राष्ट्रीय और समाज के व्यापक हितों की साधना में बाधक बन जाती है।

(3) सार्वजनिक हितों की उपेक्षा—दबाव गुटों के कारण विभिन्न समूहों के बीच हितों का संघर्ष पनपता है और कभी कभी उनके वर्गीय हितों से सामान्य हितों को हानि पहुँचाने का खतरा बना रहता है। विविध दबाव समूहों के साधन, शक्ति और सदस्य संख्या में बहुत अधिक अन्तर होता है, इस कारण अधिक शक्तिशाली और साधन युक्त दबाव समूह सामूहिक दबाव डालकर अपनी अनुचित माँगें भी मनवा लेते हैं। इसमें उन महत्वपूर्ण सार्वजनिक हितों की उपेक्षा होती है जो संगठन और शक्ति के अभाव में अपनी उचित माँगों के लिए भी आवश्यक दबाव नहीं डाल पाते। हितों के इस कोलाहल और दुराग्रही वातावरण में सार्वजनिक हित कमजोर पड़ जाते हैं।

(4) भ्रष्ट आचरण—आलोचकों के अनुसार दबाव समूह भ्रष्ट आचरण के केन्द्र हैं। दबाव समूहों द्वारा विधायकों को घूँस देने तथा अन्य अनुचित और अनैतिक आचरण के कार्य भी किये जाते हैं जिनका सार्वजनिक जीवन पर बहुत अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है। वी ओ के. के अनुसार, दबाव शब्द का प्रयोग मस्तिष्क में एक ऐसे शैतान 'लोबिइस्ट' (Lobbyist) का चित्र अंकित कर देता है जो उचित पथगामी विधायक को सार्वजनिक हित की धारणा से हटाने के लिए अनुचित दबाव डालने का प्रयास कर रहा है।"[1]

(5) अन्तरराष्ट्रीयता में बाधक—अनेक बार दबाव समूह अन्तरराष्ट्रीय हितों को हानि पहुँचाने का आधार बन जाते हैं। उदाहरण के लिए, पश्चिमी देशों में शस्त्रों के निर्माण और उनके क्रय विक्रय को प्रोत्साहित करने वाले ऐसे कुछ दबाव गुट हैं जो अपने लाभ के लिए तनाव की स्थिति और युद्ध के वातावरण को बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं।

दबाव समूहों के कार्य और उनका महत्व तथा उपयोगिता

(लोकतान्त्रिक व्यवस्था में दबाव समूहों की भूमिका)

प्रारम्भ में दबाव समूहों को अनैतिक संगठन मानते हुए उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था और जनतन्त्रीय धारणा में दबाव समूहों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था। फ्रेडरिक लिखते हैं, "क्या कूड़ा ढोने वाले और क्या राजनीतिशास्त्र के गम्भीर छात्र सभी इन दबाव समूहों को हेय दृष्टि से देखते थे। इन्हें ऐसी पाशविक शक्ति माना जाता था जो प्रजातन्त्र की आधारशिला को नष्ट करने पर तुली हुई हों।"[2]

किन्तु धीरे-धीरे स्थिति में परिवर्तन आया। राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों का महत्व और मूल्य समझा जाने लगा और उन्हें राजनीतिक जीवन के लिए अनिवार्य मान लिया गया। आज तो सभी पक्षों द्वारा इस विचार को अपना लिया गया है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में दबाव समूह न केवल आवश्यक वरन् वांछनीय भी हैं।

आज राजनीति के यथार्थवादी अध्ययनकर्ता इस बात पर बल देते हैं कि यदि किसी राज-व्यवस्था को सांगोपांग समझना है तो इन 'गैर-सरकारी एवं अज्ञात संगठनों' (दबाव समूहों) की गतिविधियों का अध्ययन करना न केवल उपयोगी वरन् अपरिहार्य है। दबाव समूहों का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है और आज उन्होंने राज व्यवस्था में उस स्थिति को प्राप्त कर लिया है जिसे प्रो. एस. ई. फाइनर

---

[1] V O Key *Politics Parties and Pressure Groups*, p 147.

[2] "They (Pressure Groups) were held upto scorn both by muckrakers and by serious students of politics They were the sinister force growing at the foundations of modern democracy and representative government."

—Carl J. Friedrick *Constitutional Government and Democracy*, p. 460

'अज्ञात साम्राज्य' (Anonymous Empire) की संज्ञा देते हैं। पारस्टेम संलिन और रिचर्ड डी सम्बर्ट ने इसे 'अनौपचारिक सरकार' (Unofficial Government) कहा है और डी. डी मंकिन ने इसका नाम 'अदृश्य सरकार' (Invisible Government) रखा है।

दबाव समूहों के कार्यों की विवेचना और उनकी उपयोगिता तथा महत्व के प्रमुख आधार निम्न हैं

(1) जनतान्त्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के साधन—दबाव समूहों को लोकतन्त्र की अभिव्यक्ति का साधन माना जाता है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए लोकमत तैयार करना आवश्यक है ताकि विशिष्ट नीतियों का समर्थन अथवा विरोध किया जा सके। विभिन्न देशों में दबाव गुट विभिन्न तरीकों से अपनी बात मनवाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। लोकमत को शिक्षित करके, आँकड़े इकट्ठे करके, निर्माताओं के पास आवश्यक सूचनाएं पहुँचाकर अपने अभीष्ट की प्राप्ति करना आज जनतान्त्रिक प्रक्रिया का अंग बन गया है।

(2) शासन के लिए सूचनाएँ एकत्रित करने वाले सगठनों के रूप में दबाव समूह—प्रत्येक देश में सरकार तथा शासन के पास आवश्यक सूचनाएँ, पर्याप्त रूप से होनी चाहिए। शासन को सूचनाओं के गैर सरकारी स्रोत के रूप में दबाव समूह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। दबाव समूह आँकड़े इकट्ठे करते हैं, शोध करते हैं तथा सरकार को अपनी कठिनाइयों से परिचित कराते हैं।

(3) शासन को प्रभावित करने वाले सगठनों के रूप में दबाव समूह—आजकल दबाव समूहों का अस्तित्व एक ऐसी सस्था के रूप में है जिनके पास इस दृष्टि से काफी शक्ति होती है कि वह स्वार्थ या हित विशेष की रक्षा के लिए सरकारी मशीनरी पर उपयोगी व सफल प्रभाव डाल सकें।

(4) सरकार की निरंकुशता को सीमित करना—प्रत्येक शासन व्यवस्था में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है और समूची शक्तियाँ सरकार के हाथों में केन्द्रित होती जा रही हैं। दबाव समूह अपने साधनों द्वारा सरकारी निरंकुशता को परिसीमित करते हैं।

(5) समाज और शासन में सन्तुलन स्थापित करना—दबाव समूहों के अस्तित्व का एक लाभ यह है कि विभिन्न हितों के बीच सन्तुलन सा बना रहता है और इस प्रकार कोई भी एकमात्र प्रभावशील सत्ता स्थापित नहीं हो पाती। व्यापारी, श्रमिक, किसान, जातीय समुदाय, स्त्रियाँ और धार्मिक समुदाय आदि सभी अपने स्वय के हितों को प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु उनको एक दूसरे से प्रतियोगिता करने के लिए मजबूर किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप समाज और शासन में सन्तुलन स्थापित हो जाता है और यह सन्तुलनकर्ता प्रवृत्ति समाज को उस स्थिति से बचाती है जिसमें कि व्यक्तिगत समुदाय ही सारी शक्ति को हथिया लेते हैं।

(6) व्यक्ति और सरकार के मध्य संचार के साधन—दबाव समूह लोकतान्त्रिक राज व्यवस्था में व्यक्तिगत हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ सामंजस्य

स्थापित करते हैं। ये समूह नागरिक और सरकार के बीच सचार साधन का कार्य करते हैं। रॉडी के अनुसार, 'निर्वाचित नेता दबाव समूहों के माध्यम से अपने निर्वाचकों की इच्छा-आकांक्षाओं का पता लगा लेते हैं। अत इन्हें "गैर-सरकारी सचार सूत्र कहा जा सकता है।"

(7) क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के पूरक—वर्तमान समय की प्रजातान्त्रिक प्रणाली मे सामान्यतया क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली को अपनाया जाता है। क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व उपयोगी और व्यावहारिक होते हुए भी इसकी एक त्रुटि यह है कि कुछ विशेष प्रकार के व्यवसायों या आर्थिक कार्यों मे सलग्न व्यक्तियो के हितो को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो ही नहीं पाता। ये व्यक्ति अपने हितों की रक्षा और वृद्धि के लिए दबाव गुटो के रूप मे सगठित हो सकते हैं। वी ओ के के शब्दों में 'इस प्रकार ये दबाव समूह दलीय पद्धति मे प्रतिनिधित्व के काय को सम्पन्न करते और क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की कमी को दूर कर देते हैं।[1] क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के तत्व को सम्मिलित कर इनके द्वारा क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के पूरक' की भूमिका निभायी जाती है।

(8) विधानमण्डल के पीछे विधानमण्डल का कार्य—दबाव समूह विधि निर्माण में विधेयकों की सहायता करते हैं। अपनी विशेषता तथा ज्ञानगुरुता के कारण ये गुट विधि निर्माण समितियों के सदस्यों को आवश्यक परामर्श देते हैं। इनका परामर्श और सहायता दोनों ही इतनी उपयोगी होती हैं कि इन्हें विधानमण्डल के पीछे का विधानमण्डल कहा जा सकता है।

वस्तुत दबाव समूह लोकतान्त्रिक व्यवस्था का दूसरा नाम है और इन्हें लोकतान्त्रिक व्यवस्था की प्राणवायु' कहा जाने लगा है।

दबाव समूह के जो दोष बताये जाते हैं, व सैद्धान्तिक ही अधिक हैं। वस्तुत दबाव समूहो को अप्रजातान्त्रिक, राष्ट्रीय हित मे बाधक या सावजनिक हितों की उपेक्षा करने वाले सगठन नहीं कहा जा सकता है। विभिन्न दबाव समूहों के बीच जो क्रिया प्रतिक्रिया होती है उससे अलग-अलग दबाव-समूहों के दृष्टिकोण की सकीर्णता समाप्त होकर सार्वजनिक हित को दृष्टि मे रखने वाला व्यापक दृष्टिकोण तैयार होता है।

वस्तुत दबाव समूह उस आधार को जन्म देते हैं, जिसके बल पर लोकतन्त्र और राष्ट्रीय एकता को प्राप्त किया जा सकता है। दबाव समूहों के बिना जनता और शासन के बीच सम्पर्क सूत्रों का अभाव हो जायगा तथा यह स्थिति लोकतान्त्रिक सस्कृति और राष्ट्रीय हित तथा एकता के लिए घातक होगी। मायरन वीन ने इस आधार पर दबाव समूहों को 'लोकतन्त्र के आवश्यक उपकरण' बतलाया है।

दबाव समूहों ने राजनीतिक व्यवस्था के अपरिहार्य तत्व की स्थिति को प्राप्त

[1] V O Key *Politics Parties and Pressure Groups*, p 154.

कर लिया है और सावेल की शब्दावली को कुछ परिवर्तन के साथ अपनाते हुए कहा जा सकता है कि "दबाव समूह अच्छे हैं या बुरे इस सम्बन्ध में सूचना एकत्र करना वैसा ही है जैसा इस सम्बन्ध में विचार करना कि हवाएँ और ज्वार भाटे अच्छे होते हैं या बुरे।"

प्रश्न

1 दबाव समूह से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए और राजनीतिक दल तथा दबाव समूह में अन्तर बताइये।
2 'दबाव समूह में राजनीतिक दलों के प्रतिद्वन्द्वी नहीं, वरन् उनके पूरक हैं।' इस कथन के सन्दर्भ में दबाव समूहों के कार्यों की विवेचना कीजिए।
3. दबाव समूहों के प्रमुख रूप बताइए और स्पष्ट कीजिए कि दबाव समूह अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए किन तरीकों को अपनाते हैं?
4. "दबाव समूह ऐसी पापात्माएं हैं जो राजनीतिक वातावरण को दूषित करती हैं।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं? वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव समूहों के कार्यों तथा उनके महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

23
लोकमत
[PUBLIC OPINION]

"लोकमत के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को शासन का आधार बनाकर पृथ्वी पर कभी कोई शासन नहीं कर सका है।"[1]

—जोस आर्टीगेग गैसेल

लोकमत का महत्व

साधारण शब्दों में लोकमत का तात्पर्य, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, सामान्य सार्वजनिक समस्याओं के सम्बन्ध में जनता के मत से है। किन्हीं भी व्यक्तियों के द्वारा एक देश की शासन-व्यवस्था का संचालन जनता द्वारा व्यक्त या अव्यक्त स्वीकृति के आधार पर ही किया जा सकता है। इस बात को दृष्टि में रखते हुए हम ने कहा है कि "सभी सरकारें, चाहे वे कितनी ही दूषित क्यों न हों, अपनी शक्ति के लिए लोकमत पर निर्भर करती हैं।"

लेकिन विभिन्न शासन व्यवस्थाओं में लोकमत के महत्व में सापेक्षिक अन्तर अवश्य ही होता है। भिन्न भिन्न शासन व्यवस्थाओं में लोकमत के महत्व का अध्ययन इस प्रकार है :

राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र या अधिनायकतन्त्र में लोकमत का महत्व—यद्यपि सैद्धान्तिक रूप में राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत राजा की इच्छा और कुलीनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था में देश के कुलीन वर्ग की इच्छा सर्वोपरि होती है, लेकिन राजा या कुलीन वर्ग द्वारा किये जाने वाले इस शासन को स्थायित्व उसी समय प्राप्त हो सकता है जबकि शासक वर्ग के द्वारा लोकमत के आधार पर शासन किया जाय। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में शासकों को गुप्तचर, आदि की व्यवस्था करके लोकमत का ज्ञान प्राप्त करने और उसके अनुसार कार्य करने का सुझाव दिया था। अधिनायकवादी व्यवस्था में भी लोकमत का महत्व होता है और इस व्यवस्था

---

1 "Never has anyone ruled on earth by basing his rule essentially on any thing other than Public Opinion."

—Jose Ortegag Gassell, *The Revolt of Messes.*

में स्वय लोकमत को नष्ट करके अधिनायक की राय के अनुकूल लोकमत के निर्माण का जो प्रयास किया जाता है, यह इस बात का प्रमाण है कि अधिनायकवादी शासन मे भी लोकमत अपना प्रभाव रखता है। वस्तुतः सही या गलत तरीकों से लोकमत का समर्थन प्राप्त करके ही महत्वाकांक्षी शासक अधिनायक बन सकते हैं। हिटलर का अधिनायक के रूप मे उदय इसका प्रमाण है। डॉ गोयबल्स ने नाजी जर्मनी मे हिटलर के अधिनायकवाद को बनाये रखने के लिए सुनियोजित आधार पर जिस व्यापक प्रचार का आश्रय लिया वह लोकमत के प्रभाव और महत्व का ही प्रमाण है। केवल इतना ही नहीं, विदेशी शासन भी लोकमत की सहायता के बिना अधिक समय तक नहीं चल सकता है। विभिन्न देशों में उपनिवेशवाद का इतिहास इसका साक्षी है। इस प्रकार राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, अधिनायकतन्त्र और विदेशी शासन के अन्तर्गत भी लोकमत अपना महत्व रखता है, लेकिन इन शासन-व्यवस्थाओं मे लोकमत की शक्ति को सीमित अवश्य ही कर दिया जाता है। इन शासन व्यवस्थाओं मे भी लोकमत के महत्व को दृष्टि मे रखते हुए ही ओस आर्टोगेग गैसेस ने लिखा है कि "लोकमत के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को शासन का आधार बनाकर पृथ्वी पर कभी कोई शासन नहीं कर सका है।"

लोकतन्त्र मे लोकमत का महत्व

यद्यपि अन्य शासन व्यवस्थाओ मे से लोकमत का महत्व होता है, लेकिन लोकमत की सर्वोपरि स्थिति तो लोकतन्त्र मे ही प्राप्त होती है। लोकतन्त्र, जिसे आधुनिक शासन व्यवस्था भी कहा जा सकता है, का मूल आधार लोकमत ही है। गैटल के अनुसार, "लोकतान्त्रिक शासन की सफलता जनमत की सबलता और इस बात पर निर्भर करती है कि लोकमत सरकार के कार्यों और नीतियों को किस सीमा तक नियन्त्रित करता है।"[1]

लोकतन्त्र को निम्नलिखित बातो के आधार पर लोकतन्त्र का प्राण या लोकतन्त्र का मूल आधार कहा जा सकता है .

(1) लोकतन्त्र में सरकार का निर्माण और पतन लोकमत पर ही निर्भर करता है। यदि शासक दल शासन कार्यों में लोकमत का निरन्तर पालन करता रहा है, तो उसके द्वारा पुन सत्ता प्राप्त करने के पर्याप्त अवसर रहते हैं, लेकिन यदि उसके द्वारा लोकमत की अवहेलना की गयी है, तो उसका स्थान विरोधी दल के द्वारा ले लिया जाता है। ई बी गुड्ज के अनुसार, "लोकमत एक प्रबल सामाजिक शक्ति है, जिसकी अवहेलना करने वाला राजनीतिक दल स्वयं अपने लिये सकट आमन्त्रित करता है।"

---

1 "The success of democratic government depends upon the degree to which the public opinion is sound, well developed and effective in controlling the actions and policies of government"

—R. G Gettell, *Political Science*, p. 286.

(2) लोकतन्त्र मे एक वैध सम्प्रभु होता है और दूसरा राजनीतिक सम्प्रभु। लोकतन्त्र सफलतापूर्वक कार्य कर सके, इसके लिए नितान्त आवश्यक है कि वैध सम्प्रभु और राजनीतिक सम्प्रभु के बीच सीधा सम्बन्ध होना चाहिए अर्थात् कानून निर्माण का कार्य सामान्य जनता की इच्छा के अनुसार ही किया जाना चाहिए। वैध और राजनीतिक सम्प्रभु में सम्बन्ध स्थापित करने का यह कार्य लोकमत के द्वारा ही किया जाता है।

(3) लोकमत शासन की निरंकुशता पर नियन्त्रण स्थापित करने की दिशा मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यदि शासक वर्ग मनमानी करने का प्रयत्न करता है, तो प्रबल जनमत के आधार पर उसे ऐसा करने से रोका जा सकता है। लोकमत के आधार पर शासन को सही दिशा मे कार्य करने के लिए भी बाध्य किया जा सकता है।

(4) वर्तमान समय में ऐसा देखा गया है कि प्रशासक वर्ग भी भ्रष्टता और मनमानी की प्रवृत्ति को अपना लेता है। प्रशासक वर्ग की इस प्रवृत्ति पर प्रबल लोकमत जाग्रत करके ही नियन्त्रण रखा जा सकता है।

(5) लोकमत नागरिको मे राजनीतिक चेतना जाग्रत करता और उसका विकास करता है। लोकमत मे प्रेरित यह जागरूकता ही लोकतन्त्र का ठोस आधार होती है।

(6) लोकतन्त्र के अन्तर्गत शासन के द्वारा जिन नवीन कार्यक्रमो और योजनाओं को अपनाया जाता है, उसकी सफलता के लिए जन सहयोग नितान्त आवश्यक होता है। शासन द्वारा अपनी योजनाओं के लिए यह जन-सहयोग लोकमत को जाग्रत करके ही प्राप्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त बातो के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वस्थ लोकमत लोकतन्त्र के वास्तविक स्वरूप को सुरक्षित रखता है और लोकमत का अभाव लोकतन्त्र के व्यावहारिक रूप को विकृत कर देता है। लोकमत के इसी महत्व के कारण लोकतन्त्र मे जनमत निर्माण मे सहायक संस्थाओं को विकसित करने का पर्याप्त प्रयत्न किया जाता है। गैटल के शब्दों मे, "आधुनिक लोकतन्त्रीय राज्यो मे लोकमत के महत्व के कारण ही प्रचार के विभिन्न साधनों पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता है, जिससे जनता के राजनीतिक विचारों का निर्माण एवं निर्देशन किया जा सके।" डॉ. आशीर्वादम के शब्दो मे कहा जा सकता है कि, "जागरूक और सचेत लोकमत स्वस्थ प्रजातन्त्र की प्रथम आवश्यकता है।"[1]

लोकमत की परिभाषा—साधारण शब्दों में और शाब्दिक अर्थ के आधार पर लोकमत जनता का मत कहा जा सकता है, लेकिन इतना कह देने मात्र से ही

---

[1] 'An alert and intelligent public opinion is the first essential of democracy."
—*Dr. Ashirvadam*

लोकमत का अर्थ स्पष्ट नहीं होता क्योंकि जनता का मत स्वयं नितान्त अस्पष्ट धारणा है, इसलिये विद्वानों द्वारा की गयी लोकमत की विवेचना के आधार पर इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। कुछ विद्वानों द्वारा दी गयी लोकमत की परिभाषाएँ इस प्रकार हैं .

ब्राइस के अनुसार, "लोकमत मनुष्यों के उन विभिन्न दृष्टिकोणों का योगमात्र है जो वे सार्वजनिक हित से सम्बद्ध विषयों के बारे में रखते हैं।"[1]

सोल्टाऊ के अनुसार, "इस शब्द का प्रयोग साधारणतया उन विचारों और इच्छाओं के सम्बन्ध में किया जाता है जो जनता अपने सामान्य जीवन के सम्बन्ध में रखती है।"[2]

डूब के शब्दों में, लोकमत का अर्थ है एक सामाजिक समूह के रूप में जनता का किसी प्रश्न या समस्या के प्रति रुख या विचार।"

यद्यपि ब्राइस, सोल्टाऊ और डूब द्वारा की गयी परिभाषाओं में कुछ भेद हैं, लेकिन फिर भी इन विद्वानों के सामान्य विचारों के आधार पर, लोकमत की निम्नलिखित तीन विशेषताएँ कही जा सकती हैं :

(1) जनसाधारण का मत—किसी विशेष वर्ग या व्यक्तियों के मत को लोकमत नहीं कहा जा सकता, लोकमत के लिए यह आवश्यक है कि वह जनसाधारण का मत हो।

(2) सार्वजनिक प्रश्नों से सम्बन्ध—लोकमत का सम्बन्ध अनिवार्यतः सार्वजनिक प्रश्नों एवं समस्याओं से होता है, व्यक्तिगत प्रश्नों से नहीं।

(3) विवेक पर आधारित स्थायी विचार—लोकमत भावनाओं के अस्थिर आवेग या एक समय विशेष में प्रचलित विचार पर आधारित न होकर जनता के विवेक और स्थायी विचारों पर आधारित होता है।

(4) लोक कल्याण की भावना से प्रेरित—लोकमत की यह विशेषता सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और यह कहा जा सकता है कि चाहे दूसरी परिस्थितियाँ विद्यमान हों या न हों, लोकमत आवश्यक रूप से कल्याण की भावना से प्रेरित होता है। डॉ. बेनीप्रसाद ने कहा कि "वही मत वास्तविक लोकमत होता है, जो कल्याण की भावना से प्रेरित हो।" इसी बात को लावेल ने इस प्रकार कहा है कि "लोकमत के लिए केवल बहुमत ही पर्याप्त नहीं होता और न ही एकमत की आवश्यकता होती है। कोई भी मत लोकमत का रूप धारण करने के लिए ऐसा होना

---

1 "Public opinion is the aggregate of the views men hold regarding matters that affect or interest the community." —Bryce

2 "The term is usually applied to what people think and what for their common life." —Soltau

चाहिए, जिसमें चाहे अल्पमत भागीदार न हो, परन्तु भय के कारण नहीं वरन् दृढ़ विश्वास के कारण उसे स्वीकार करता हो।"[1]

(5) व्यावहारिक मत—लोकमत कल्पना की उन्मुक्त उड़ान मात्र ही नहीं होता, वरन् यथार्थ पर आधारित होता है। लोकमत आवश्यक रूप से एक ऐसी व्यावहारिक विचारधारा होती है जिसे कार्यरूप में परिणत किया जा सके। आर० एच० सोल्टाऊ ने तो लोकमत के इस लक्षण पर सबसे अधिक बल दिया है।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर लोकमत की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि 'लोकमत सार्वजनिक प्रश्नों पर सामान्य जनता के स्थायी विचारों पर आधारित वह विवेकपूर्ण और व्यावहारिक विचार होता है, जो आवश्यक रूप से लोक कल्याण की भावनाओं से प्रेरित हो।"

लोकमत को स्पष्ट रूप से समझने के लिए लोकमत का बहुमत और सर्व-सम्मति से अन्तर स्पष्ट करना उपयोगी होगा।

लोकमत और बहुमत— एक देश के बहुसंख्यक व्यक्तियों द्वारा व्यक्त मत को बहुमत का मत कहा जाता है, लेकिन अनेक बार बहुसख्यक व्यक्तियो द्वारा व्यक्त यह मत सम्पूर्ण जनता के हित में नहीं होता और इसमें अल्पसख्यक व्यक्तियों के हितों की उपेक्षा की जाती है लेकिन जहाँ तक लोकमत का सम्बन्ध है, अल्पसख्यक तथा बहु-सख्यक दोनों मे से किसी के द्वारा भी व्यक्त मत उस समय तक लोकमत नहीं हो सकता जब तक कि वह सभी व्यक्तियों के हित से सम्बन्धित न हो। इसके अतिरिक्त बहुमत साधारणतया भावना प्रधान होता है, लेकिन लोकमत सर्वत्र ही विवेक और मानव समुदाय के स्थायी विचारों पर आधारित होता है।

लोकमत और सर्वसम्मति—लोकमत और बहुमत की तरह ही लोकमत और सर्वसम्मति मे भी अन्तर होता है। साधारणतया सर्वसम्मति उस मत को कहते हैं, जिसमें सभी एकमत हों, परन्तु किसी विषय के सम्बन्ध मे लोकमत के लिए इस प्रकार की सम्मति आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त सभी व्यक्तियों द्वारा व्यक्त मत सम्पूर्ण जनता के कल्याण मे ही हों, ऐसा होना आवश्यक नहीं है। सर्वसम्मति में उस प्रकार के स्थायित्व एवं एकता का भी अभाव होता है जिस प्रकार की एकता और स्थायित्व लोकमत का आवश्यक लक्षण है।

लोकमत का निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति
(FORMULATION AND EXPRESSION OF PUBLIC OPINION)

जब देश के समक्ष कोई विशेष प्रकार की समस्या या प्रश्न उपस्थित होता है और उस प्रश्न पर सभी पक्षों की ओर से विचार प्रारम्भ किया जाता है तो इस विचार विमर्श के परिणामस्वरूप उस प्रश्न पर कुछ निश्चित दृष्टिकोण एवं धारणाएँ

---

1 "A majority is not enough and unanimity is not required, but the opinion must be such that, while the minority may not share it, they feel bound by conviction and not by fear to accept." —*Lowell*

बन जाती हैं। कालान्तर में विषय से सम्बन्धित विविध पक्षों में से किसी एक पक्ष का समाज के बहुत बड़े भाग और विशेष रूप से समाज के सभी विवेकशील व्यक्तियों द्वारा समर्थन प्रारम्भ किया जाता है और यही पक्ष लोकमत के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है। उदाहरणार्थ, भारत में विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में एक लम्बे समय तक विचार विमर्श के बाद इस मत का निर्माण हुआ कि भारत में सर्व साधारण जनता के हित में पंचायत और पंचायत समितियाँ जैसी ग्रामीण स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की स्थापना की जानी चाहिए। लोकमत का निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति में अनेक तत्व सहायक रूप में कार्य करते हैं, जिनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं

(1) मानव-तत्व—मानव एक विवेकशील प्राणी है और विवेकशील प्राणी होने के नाते लोकमत के निर्माण मे मानवीय तत्व के द्वारा सबसे अधिक महत्वपूर्ण रूप में कार्य किया जाता है। लेकिन लोकमत के निर्माण मे एक देश के सभी व्यक्तियों द्वारा समान रूप से भाग नहीं लिया जाता, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों की विवेकशीलता और सार्वजनिक क्षेत्र में रुचि का स्तर भिन्न-भिन्न होता है। साधारणतया इस दृष्टि से व्यक्तियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है।

प्रथम श्रेणी में विधायक, समाचार पत्रों के सम्पादक और सम्वाददाता तथा विभिन्न राजनीतिक दलों के महत्वपूर्ण सदस्य, आदि ऐसे व्यक्ति आते हैं जिनके द्वारा प्रमुख रूप से सार्वजनिक क्षेत्र मे ही कार्य किया जाता है। दूसरे व्यक्तियों के विचारों को प्रभावित करते हुए लोकमत के निर्माण में ये व्यक्ति सबसे अधिक प्रमुख रूप में भाग लेते हैं। द्वितीय श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो अपना साधारण कार्य व्यापार करते हुए सार्वजनिक मामलों को समझने और अपने सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियों से विचारों को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। तृतीय श्रेणी में वे व्यक्ति आते हैं जो उपर्युक्त दोनों वर्गों के विचारों से प्रभावित होकर अपने विचारों का निर्माण करते हैं। इस प्रकार लोकमत के निर्माण मे मानवीय तत्व सबसे अधिक क्रियाशील होता है।

(2) चर्चा और गप्प (Hearsay)—भारत जैसे देश में, जहाँ अशिक्षा और अज्ञान का आधिक्य है सार्वजनिक महत्व के सामयिक विषयों पर अधिकांश व्यक्ति जो विचार रखते हैं, उसका आधार प्रायः चर्चा और गप्प होती है। जब कभी सनसनीपूर्ण अफवाहें फैलती हैं तो बाजार और चौराहे सभी स्थानों पर उसकी चर्चा होती है और अधिकांश व्यक्ति उसे सच मान लेते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अधिकांशतया यह चर्चा और गप्प असत्य होती है और जहाँ तक इसके आधार पर लोकमत का निर्माण होता है, वह अति दोषपूर्ण व हानिकारक होता है।

(3) समाचार पत्र व प्रेस—समाचार-पत्र विविध घटनाओं, समस्याओं एवं विचारों के सम्बन्ध में जनता को सूचना प्रदान करने का कार्य करते हैं और साधारणतया समाचार-पत्रों में प्रकाशित सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और अन्तरराष्ट्रीय सूचनाओं के आधार पर ही जनसाधारण सार्वजनिक क्षेत्र से सम्बन्धित विभिन्न

पहलुओं के सम्बन्ध मे अपने विचारों का निर्माण करता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक समाचार-पत्र के सम्पादकीय अश द्वारा पाठको के विचारो को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने का कार्य किया जाता है। समाचार-पत्र जनता की बात को शासन और शासन-सम्बन्धी तथ्यों को जनता तक पहुँचाने का कार्य करते हैं। शिक्षा के प्रचार के साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र मे समाचार-पत्रो का महत्व भी बढ़ने लगा है और वर्तमान समय में समाचार-पत्र लोकमत के निर्माण और अभिव्यक्ति के सबसे अधिक महत्व-पूर्ण साधन बन गये हैं। गैटल ने इसी मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है "लोकमत के निर्माण की सबसे अधिक महत्वपूर्ण एजेंसियों में एक प्रेस भी है और उसमे भी विशेषकर समाचार-पत्र तथा काफी कुछ मात्रा मे पत्रिकाएँ एव पुस्तिकाएँ आती हैं। समाचार-पत्र अपने समाचारों और राजकीय शीर्षको के माध्यम से तथ्यों को वर्णित करते हैं, व्याख्या प्रस्तुत करते हैं एव अपने विचारों का विवरण जनता के सामने रखते हैं। अगर तथ्यों को सही एवं निष्पक्ष रूप से प्रस्तुत किया जाय तो सामयिक समस्याओं से नागरिकों को अवगत कराने मे समाचार-पत्र एक बहुमूल्य सेवा करते हैं।"

(4) रेडियो, टेलीविजन और सिनेमा—सूचना और विचारो के प्रचार-प्रसार से लोकमत के निर्माण के लिए रेडियो और टेलीविजन भी महत्वपूर्ण साधन है। इस साधन का विशेष महत्व यह है कि निरक्षर व्यक्ति बिना किसी प्रकार की सहायता के इस साधन से लाभ उठा सकता है। रेडियो और टेलीविजन जनता और सरकार के बीच सम्पर्क के भी अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन हैं।

रेडियो की भाँति ही सिनेमा भी समाचार, सामान्य ज्ञान व साधारण शिक्षा का महत्वपूर्ण साधन बन सकता है राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक समस्याओ से सम्बन्धित चित्र जनता के विचारो पर प्रभाव डालते और उनमे सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि उत्पन्न करते हैं। लोकमत के निर्माण का यह साधन, यद्यपि अपने स्वस्थ रूप में भारत मे बहुत अधिक विकसित नहीं हो सका है, फिर भी अस्पृश्यता और जाति भेद का अन्त एव स्त्री-उद्धार की दिशा मे विचारो के निर्माण में इससे बहुत कुछ सहायता मिलती है।

(5) मंच या सार्वजनिक सभाएँ (Platform)—लोकमत निर्माण के साधनों मे मच अपना एक विशेष महत्व रखता है। मच के माध्यम से सार्वजनिक क्षेत्र के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा जनता के समक्ष अपने विचार रखे जाते हैं और इस प्रकार की आलोचना-प्रत्यालोचना एव गुण-दोषो की विवेचना से साधारण जनता मे सार्व-जनिक समस्याओं के प्रति रुचि और तत्सम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न होता है। मच के माध्यम से एक ही साथ अनेक व्यक्तियों के प्रमुख विचार रखे जा सकते हैं और इसके साथ ही व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण यह साधन बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है।

(6) शिक्षण संस्थाएं—शिक्षण संस्थाएं ज्ञान प्राप्ति का केन्द्र होती हैं और ये संस्थाएं साधारण जनता को इस योग्य बनाती हैं कि वे राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार कर सकें। शिक्षकों के विचार भी अप्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थियों पर प्रभाव डालते ही हैं और इस सम्बन्ध में शिक्षण संस्थाओं से सम्बन्धित महत्वपूर्ण पत्र पत्रिकाएँ और पुस्तकें भी उपयोगी कार्य करती हैं।

(7) धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक संघ—सार्वजनिक क्षेत्र के अधिकांश प्रश्न धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं से ही सम्बन्धित होते हैं और इन विषयों से सम्बन्धित विचारों के निर्माण मे धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक संघ महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त, राजनीतिक प्रश्न भी किसी-न किसी रूप मे जीवन के दूसरे क्षेत्रों से सम्बन्धित होते हैं, अतः स्वाभाविक रूप से इन समुदायों की रुचि उनमें भी होती है। सभी रोमन कैथोलिक देशों मे गिरजाघरों का और अनेक मुस्लिम देशों में मस्जिदों का लोकमत के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग रहता है। वर्तमान समय मे आर्थिक समुदाय सभी देशों मे बहुत अधिक प्रभावशाली हो गये हैं। विभिन्न प्रकार के व्यवसायों, श्रमिकों, कृषकों आदि के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले इन समुदायों के आर्थिक प्रश्नों पर सरकारी नीति से भिन्न विचार होते हैं तथा मतदाताओं पर दबाव डालने या उनमे अपने विचारों को प्रसारित करने के लिए वे विभिन्न उपायों का प्रयोग करते हैं।

(8) निर्वाचन—वर्तमान समय के प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र के अन्तर्गत जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए विविध राजनीतिक दलों द्वारा अपने विचारों के प्रचार और प्रसार का कार्य किया जाता है। कई देशों मे तो निर्वाचन के समय इस प्रकार का वातावरण निर्मित हो जाता है कि सभी पक्षों का ध्यान राजनीतिक और सार्वजनिक क्षेत्र की ओर केन्द्रित हो जाता है। निर्वाचन के शिक्षणात्मक मूल्य के कारण निर्वाचन को लोकमत निर्माण का साधन कहा जाता है।

(9) व्यवस्थापिका सभाएँ—व्यवस्थापिका सभाओं मे विविध राजनीतिक दलों और वर्गों के प्रतिनिधि आते हैं। जिस समय कोई विधेयक प्रस्तुत होता है, उस समय विधेयक से सम्बन्धित वाद विवाद के अन्तर्गत विभिन्न राजनीतिक दल अपने-अपने विचार प्रस्तुत कर सकते हैं और व्यवस्थापिकाओं मे होने वाला यह विवाद लोकमत के निर्माण में बड़ा सहायक सिद्ध होता है। व्यवस्थापिका सभाओं मे की जाने वाली प्रशासकीय नीति की आलोचना प्रत्यालोचना से भी जनमत निर्माण मे बहुत सहायता मिलती है।

(10) राजनीतिक दल—राजनीतिक दल सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोणों पर आधारित व्यक्तियों के ऐसे व्यवस्थित संगठन होते हैं जो सवैधानिक साधनों के आधार पर शासन शक्ति प्राप्त करके अपने सिद्धान्तों को कार्यरूप मे परिणत करने लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वर्तमान समय के प्रतिनिध्यात्मक

लोकतन्त्र के अन्तर्गत बहुसंख्यक निर्वाचकों को अपने पक्ष में करके ही शासन शक्ति पर अधिकार किया जा सकता है। अतः राजनीतिक दल जनता के समक्ष अपने विचारों का प्रतिपादन करते हैं और उनके प्रचार तथा प्रसार के लिए प्रत्येक प्रकार का प्रयत्न करते हैं। राजनीतिक दलों द्वारा किये जाने वाले इन विविध कार्यों के सम्बन्ध में लॉस्की ने कहा है कि "वह (राजनीतिक दल) जलसे एवं अधिवेशन आयोजित करता है तथा एजेण्ट, व्याख्यानदाताओं और प्रचारकों के माध्यम से जनता को शिक्षित करने का प्रयास करता है। राजनीतिक दल स्थानीय एवं राष्ट्रीय समाचार-पत्रों एवं प्रचार के आधार पर अपनी नीति जनता के सम्मुख रखता है।"

देश की विविध समस्याओं पर राजनीतिक दलों के अलग-अलग विचार होते हैं जब देश के विभिन्न राजनीतिक दल राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को अपने दृष्टिकोण से जनता के सम्मुख रखते हैं तो साधारण जनता मे उन समस्याओं के प्रति रुचि उत्पन्न होती है और जनता उन समस्याओं के प्रति एक निश्चित धारणा बना लेती है। निर्वाचन के समय तो ये राजनीतिक दल अत्यधिक सक्रिय हो जाते हैं। अत ब्राइस के शब्दों मे कहा जा सकता है कि "लोकमत को प्रशिक्षित करने, उसके निर्माण और अभिव्यक्ति में राजनीतिक दल के द्वारा अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य किया जा सकता है।"[1]

स्वस्थ लोकमत के निर्माण मे बाधाएँ

उपर्युक्त साधनों के द्वारा लोकमत के निर्माण का कार्य किया जाता है, किन्तु व्यवहार के अन्तर्गत हमारे सामने जो लोकमत प्रकट होता है, वह सदैव सही नहीं होता। तानाशाही शासन व्यवस्था मे तो लोकमत निर्माण के साधनों पर प्रतिबन्ध होते ही हैं, अन्य प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं मे भी स्वस्थ लोकमत के निर्माण मे अनेक बाधाएँ होती हैं, जिनमे कुछ प्रमुख बाधाएँ इस प्रकार हैं

(1) निर्धनता और भीषण आर्थिक असमानताएँ—जब समाज के कुछ व्यक्ति बहुत अधिक निर्धन होते हैं, तो इनका सारा समय और शक्ति दैनिक जीवन की आवश्यकताओं के साधन जुटाने मे ही चला जाता है और सार्वजनिक हित की बातों के सम्बन्ध मे वे विचार नहीं कर पाते। इसी प्रकार जब समाज के अन्तर्गत भीषण आर्थिक असमानताएँ विद्यमान होती हैं, तो इन असमानताओं के परिणामस्वरूप वर्ग विद्वेष और वर्ग संघर्ष की भावना उत्पन्न हो जाती है और लोकमत बहुत अधिक दूषित हो जाता है।

(2) निरक्षरता और दूषित शिक्षा प्रणाली—स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए यह जरूरी है कि व्यक्ति समाचार-पत्र पढ़ें, विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करें और उनके द्वारा परस्पर विचारों का आदान प्रदान किया जाय। लेकिन ये सभी कार्य

---

1 "Political parties go a great way in helping to educate formulate and organize public opinion" —*Bryce*

पढ़ लिखे व्यक्तियों द्वारा ही ठीक प्रकार से किये जा सकते हैं, इसलिये निरक्षरता लोकमत के निर्माण के मार्ग की एक बहुत बड़ी बाधा है। स्वस्थ लोकमत के निर्माण हेतु न केवल शिक्षित, वरन् ऐसे नागरिक होने चाहिए जो स्वतन्त्र रूप से विचार कर सकें और जिनमें सामान्य सूझ बूझ हो। इस दृष्टि से दूषित शिक्षा प्रणाली भी लोकतन्त्र के मार्ग की उतनी ही बड़ी बाधा है जितना कि निरक्षरता।

(3) पक्षपातपूर्ण समाचार पत्र—समाचार पत्र स्वस्थ लोकमत के निर्माण का कार्य उसी समय कर सकते हैं, जबकि वे निष्पक्ष हों। लेकिन यदि समाचार पत्रों पर सरकार का अधिकार हो अथवा वे किन्हीं धनी व्यक्तियों या राजनीतिक दलों के प्रभाव में हों, तो इन पक्षपातपूर्ण समाचार पत्रों के द्वारा स्वस्थ लोकमत के निर्माण का कार्य ठीक प्रकार से नहीं किया जा सकता है। पक्षपातपूर्ण समाचार-पत्र लोकमत को पूर्णतया विकृत कर देते हैं और लोकमत के लिए अभिशाप के समान होते हैं।

(4) दोषपूर्ण राजनीतिक दल—यदि राजनीतिक दल आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रमों पर आधारित हो, तो ये राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण में बहुत अधिक सहायक होते हैं, लेकिन जब इन राजनीतिक दलों का निर्माण धर्म, जाति और भाषा के प्रश्नों के आधार पर किया जाता है, तो इन दलों के द्वारा धर्म, जाति और भाषा पर आधारित विभिन्न वर्गों के बीच संघर्षों को जन्म देने का कार्य किया जाता है। ये दोषपूर्ण राजनीतिक दल लोकमत के मार्ग को पूर्णतया भ्रष्ट कर देते हैं।

(5) सार्वजनिक जीवन के प्रति उदासीनता और राजनीतिक चेतना का अभाव—स्वस्थ लोकमत के निर्माण हेतु आवश्यक है कि जनता सार्वजनिक जीवन में रुचि ले और जनता द्वारा सार्वजनिक जीवन को अपने पारिवारिक जीवन के समान ही समझा जाए। लेकिन जब जनता सार्वजनिक जीवन में कोई रुचि नहीं लेती, 'कोउ नृप होउ हमें का हानि' का दृष्टिकोण अपना लेती है और अपने अधिकार तथा कर्तव्यों को नहीं समझती, तो ऐसी स्थिति में स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आशा नहीं की जा सकती है।

(6) वर्गीयता तथा साम्प्रदायिकता—स्वस्थ लोकमत के निर्माण हेतु आवश्यक है कि राज्य की समस्त जनता द्वारा सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध में अपने आपको केवल नागरिक मानकर विचार किया जाय और वे अपने आपको किसी वर्ग विशेष या सम्प्रदाय विशेष का सदस्य न समझें। लेकिन जब वर्गीयता या साम्प्रदायिकता की भावना प्रबल हो जाती है, तो नागरिक अपने वर्ग या सम्प्रदाय को ही सब कुछ मान लेते हैं और उनके द्वारा दूषित दृष्टिकोण को अपना लिया जाता है, जिससे स्वस्थ लोकमत के निर्माण में बाधा आती है।

स्वस्थ लोकमत के निर्माण हेतु आवश्यक परिस्थितियाँ

सभी शासन व्यवस्थाएँ किसी न किसी रूप में लोकमत पर ही आधारित

र प्रजातन्त्रात्मक शासन का तो लोकमत प्राण ही है। शासन-व्यवस्था के
आना कर वे सही — चालन के लिए स्वस्थ लोकमत का निर्माण और अभिव्यक्ति नितान्त आवश्यक
कमत के निर्माण और अभिव्यक्ति के लिए भी कुछ परिस्थितियाँ आवश्यक
जिनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(1) सुशिक्षित और समझदार जनता—जनसाधारण के उस विवेकपूर्ण और
ी विचार का नाम लोकमत है जो जन-कल्याण की भावना से प्रेरित हो और
विवेकपूर्ण विचार का निर्माण उसी समय सम्भव है जबकि जनता सुशिक्षित और
समझदार हो। सोल्टाऊ ने ठीक ही कहा है कि 'लोकमत की प्रबुद्धता की मात्रा,
जनता की शिक्षा एवं बुद्धि के सामान्य स्तर पर निर्भर करती है।" शिक्षा नागरिकों
में विभिन्न विचारों को समझने की योग्यता एवं उचित-अनुचित मे भेद करने और
स्वतन्त्र रूप से विचार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है और इस प्रकार के व्यक्तियों
द्वारा ही विचारों का आदान-प्रदान एवं विवेकपूर्ण मार्ग को अपनाने का कार्य किया
जा सकता है। यहाँ पर शिक्षा का तात्पर्य किताबी शिक्षा से नहीं वरन् समस्याओं
को समझने, विचार करने और दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति से है।

(2) गम्भीर आर्थिक विषमताओं का अन्त और न्यूनतम आर्थिक मान की
व्यवस्था—लोकमत के निर्माण मे दूसरी बड़ी बाधा निर्धनता है। इस बाधा को दूर
करने के लिए राज्य द्वारा सभी व्यक्तियों के लिए आर्थिक न्यूनतम की व्यवस्था की
जानी चाहिए। आर्थिक न्यूनतम का तात्पर्य व्यक्तियों की भोजन, वस्त्र, निवास,
शिक्षा और स्वास्थ्य की ऐसी आवश्यकताओं से है, जिसकी पूर्ति के बिना व्यक्ति
अपनी कार्यक्षमता को बनाये नहीं रख सकता। जब बहुसंख्यक जनता अत्यधिक
निर्धन होती है तो उसका धर्म, ईमान और राजनीति सब कुछ रोटी हो जाता है।
न तो उसके पास सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध मे सोचने के लिए समय होता है और
न ही रुचि। परिणामत वह धनिक वर्ग की पिछलग्गू हो जाती है वस्तुत धनिकों का
धन और निर्धन की निर्धनता लोकमत के निर्माण में बाधक होती है। अतः स्वस्थ
लोकमत के निर्माण हेतु गम्भीर आर्थिक भेदों का अन्त किया जाना चाहिए और सभी
व्यक्तियों के लिए आर्थिक न्यूनतम की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(3) स्वतन्त्र प्रेस—प्रेस और समाचार पत्र घटनाओं और समस्याओं की
जानकारी एवं विचारों के प्रचार का कार्य करते हैं और साधारण व्यक्ति समाचार
पत्रों में व्यक्त विचारों के आधार पर ही अपने विचारों का निर्माण करते हैं। इस
प्रकार समाचार-पत्र लोकमत निर्माण के महत्वपूर्ण साधन हैं। प्रेस और समाचार-
पत्रों द्वारा लोकमत निर्माण का यह कार्य उसी समय ठीक प्रकार से किया जा सकता
है जबकि प्रेस पूर्णतया स्वतन्त्र हो। समाचार पत्रों पर सरकारी और गैर सरकारी
किसी भी प्रकार का दबाव नहीं होना चाहिए और उन्हें सार्वजनिक समस्याओं,
सरकार के कार्यों, राजनीतिक दलों की नीतियों व कार्यक्रमों पर विशिष्टतापूर्वक
विचार करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में वेण्डल विल्की (Wandell

Wilkie) ने ठीक ही कहा है कि "समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता सच्चे लोकमत का जीवन ही है।"[1]

(4) स्वस्थ और सुदृढ़ राजनीतिक दल—आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों पर आधारित केवल ऐसे राजनीतिक दलों को स्वस्थ कहा जा सकता है जो किसी एक वर्ग या सम्प्रदाय से सम्बन्धित न हों, और जिनका उद्देश्य सम्पूर्ण राज्य का कल्याण हो। *जाति, भाषा, धर्म और प्रान्त के भेदों पर आधारित राजनीतिक* दल लोकमत के निर्माण में बाधा का कार्य करते हैं। केवल स्वस्थ राजनीतिक दल ही जनता को स्वस्थ राजनीतिक शिक्षण प्रदान कर लोकमत के आधार रूप में कार्य कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, राजनीतिक दल अच्छे प्रकार से संगठित होने चाहिए, क्योंकि असंगठित दलों की अस्पष्ट विचारधाराओं और कार्यक्रम लोकमत निर्माण में सहायक नहीं हो सकते। स्वस्थ लोकमत के निर्माण की दृष्टि से इन दलों की संख्या भी बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए।

(5) साम्प्रदायिकता और संकीर्णता का अभाव—जिस देश के लोग जात-पाँत, धर्म, नस्ल आदि संकीर्ण विचारों को बहुत महत्व देते हैं या भाषा और प्रान्त के प्रति अत्यन्त भक्ति रखते हैं वे किसी भी सार्वजनिक प्रश्न पर सबके हित की दृष्टि से विचार नहीं कर सकते और उनके इस संकीर्ण विचार के कारण स्वस्थ लोकमत का विकास सम्भव नहीं हो पाता। अतः साम्प्रदायिकता और संकीर्णता का पूर्ण अभाव होना चाहिए और नागरिकों द्वारा अपनी भाषा या प्रान्त की अपेक्षा राज्य को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए।

(6) राष्ट्रीय आदर्शों के सम्बन्ध में एकता—मानव एक विवेकशील प्राणी है और इसलिये प्रशासन से सम्बन्धित दैनिक समस्याओं के सम्बन्ध में मतभेद होना नितान्त स्वाभाविक है। लेकिन जनता में आधारभूत राष्ट्रीय आदर्शों के सम्बन्ध में आवश्यक रूप से एकता होनी चाहिए। शासन के उद्देश्य और स्वरूप आदि स्थायी प्रकृति की बातों के सम्बन्ध में यदि जनता में एकता न हो तो स्वस्थ लोकमत का विकास सम्भव नहीं होगा।

(7) न्यायप्रिय बहुमत और सहनशील अल्पमत—यदि बहुमत की प्रवृत्ति सार्वजनिक प्रश्नों पर अपने ही लाभ को ध्यान में रखकर विचार करने की हो जाती है तो अल्पसंख्यकों में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति उदासीनता की प्रवृत्ति आ जाती है और अनेक बार वे असंवैधानिक मार्ग को अपना लेते हैं। इसी प्रकार अल्पसंख्यक वर्ग में बहुमत के निर्णय को स्वीकार करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि यही एकमात्र व्यावहारिक मार्ग है। उसके द्वारा बहुमत के कार्यों में परिवर्तन का प्रयत्न किया जा सकता है, लेकिन यह प्रयत्न संवैधानिक मार्ग के आधार पर ही किया

[1] "Freedom of the press is the stuff of life for any vital public opinion."
—*Wendell Willkie*

जाना चाहिए। स्वार्थी बहुमत और विद्रोही अल्पमत लोकमत के स्वरूप को भ्रष्ट कर देते हैं। अत लोकमत के निर्माण हेतु बहुमत को न्यायप्रिय और अल्पमत को सहनशील होना चाहिए।

(8) विचार अभिव्यक्ति और संगठन आदि की स्वतन्त्रता—विचारों का आदान-प्रदान ही लोकमत के निर्माण की एकमात्र प्रक्रिया है, अत नागरिकों को स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने और अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे वाल्टेयर की यह पंक्ति हमारी मार्गदर्शक होनी चाहिए कि 'मैं चाहे आपके विचारों से सहमत न होऊँ लेकिन आपके विचार स्वातन्त्र्य के अधिकार की रक्षा के लिए मैं अपने प्राण दे दूंगा।"[1] नागरिकों को अपने विचारों के प्रचार और प्रसार के लिए सम्मेलन, सगठन और दूसरी नागरिक स्वतन्त्रताएँ भी प्राप्त होनी चाहिए। इसके साथ ही नागरिकों का यह पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि वे किसी भी प्रकार से इनका दुरुपयोग न करें।

प्रश्न

1. लोकमत किसे कहते हैं? आधुनिक राज्य मे लोकमत के महत्व और उसके निर्माण का वर्णन कीजिए।
2. लोकमत से आप क्या समझते हैं? लोकमत के निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति के प्रमुख साधनों का वर्णन कीजिए और इस सम्बन्ध मे राजनीतिक दलों की भूमिका का परीक्षण कीजिए।
3. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की बाधाओं का वर्णन कीजिए। स्वस्थ लोकमत के निर्माण हेतु किन परिस्थितियों की आवश्यकता है?

---

1 "I may not agree with what you say, but I will die for your right to say it."
—*Voltaire*

24

स्थानीय स्वशासन

[LOCAL SELF GOVERNMENT]

"प्रजातन्त्र का सर्वश्रेष्ठ शिक्षालय और प्रजातन्त्र की सफलता की सबसे बड़ी गारण्टी स्थानीय स्वशासन का चलन ही है।"[1] —ब्राइस

लोकमत की आधारभूत मान्यता है कि प्रभुत्व शक्ति समस्त जनता में निहित होनी चाहिए। यदि प्रभुत्व शक्ति का केन्द्रीयकरण हो तो प्रत्यक्ष रूप में केवल कुछ ही व्यक्तियों द्वारा प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। इसलिये यह आवश्यक समझा जाता है कि प्रभुत्व शक्ति का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए, ताकि अधिकाधिक व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्य से सम्बन्धित हो सकें। यद्यपि मतदान के अधिकार का उद्देश्य भी जनता को शासन कार्य से सम्बन्धित करना होता है लेकिन व्यवहार में, इस सम्बन्ध में स्थानीय शासन संस्थाओं द्वारा अधिक अच्छे प्रकार से कार्य किया जा सकता है क्योंकि इन संस्थाओं का प्रबन्ध नागरिकों को स्वयं करना होता है। इसी कारण इन स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को लोकतन्त्र की ऐसी आधारशिलाएँ कहा जाता है कि जो जनता को लोकतन्त्र का प्रथम पाठ पढ़ाती हैं।

स्थानीय स्वशासन का अर्थ—स्थानीय स्वशासन का तात्पर्य उस शासन से होता है जिसका सम्बन्ध किसी स्थान विशेष से हो और जिसका प्रबन्ध उस स्थान विशेष के निवासियों द्वारा ही किया जाय। दूसरे शब्दों में, स्थानीय समस्याओं के सम्बन्ध में स्थान विशेष के निवासियों द्वारा जो कार्य किये जाते हैं, उसे स्थानीय स्वशासन कहते हैं। व्यवहार रूप में वे सभी कार्य, जिनका सम्पादन आजकल ग्राम पंचायतों, यूनियनों, नगरमहापालिकाओं, बोर्डों तथा निगमों द्वारा होता है, स्थानीय स्वशासन के अन्तर्गत आते हैं। जी माण्टेगू हैरिस (G Montague Harris) ने अपनी पुस्तक 'तुलनात्मक स्थानीय शासन' (Comparative Local Government) में स्थानीय स्वशासन की परिभाषा करते हुए कहा है, 'स्थानीय स्वशासन का अर्थ उन स्थानीय संस्थाओं द्वारा शासन है जो जनता द्वारा चुनी गयी हों तथा जिन्हें राष्ट्रीय सरकार के नियन्त्रण में रहते हुए भी कुछ मामलों में अधिकार और उत्तरदायित्व प्राप्त हों जिनका प्रयोग वे किसी उच्चतर अधिकारी के नियन्त्रण के बिना अपने

---

[1] "The school of democracy and the best guarantee for its success is the practice of local self government." —*J Bryce*

विवेक से कर सकें।" जी॰ डी एच कोल (G D H Cole) के शब्दों में, स्थानीय शासन एक ऐसा शासन है जो अपने सीमित क्षेत्र में प्रदत्त अधिकारों का उपभोग करता हो।' स्थानीय स्वशासन की व्याख्या करते हुए डॉ॰ आशीर्वादम ने लिखा है कि "स्थानीय स्वशासन केन्द्रीय सरकार के अधिनियम द्वारा निर्मित एक ऐसी शासकीय इकाई है जिसमे नगर या ग्राम जैसे एक क्षेत्र की जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं और जो अपने अधिकार क्षेत्र की सीमाओं के भीतर प्रदत्त अधिकारों का प्रयोग लोक-कल्याण के लिए करते हैं।"

स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता

स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था कोई नवीन नहीं है और प्रत्येक प्रकार की शासन व्यवस्था मे किसी न किसी रूप मे स्थानीय स्वशासन प्रचलित रहा है। वर्तमान समय की प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था मे तो स्थानीय स्वशासन एक प्रकार से अपरिहार्य ही है। स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता निम्नलिखित आधारों पर स्पष्ट की जा सकती है

(1) जनता का शासन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने हेतु—वर्तमान समय मे विश्व के अधिकाश देशो मे प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था प्रचलित है। इस शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्य से सम्बन्ध न रखकर अपने प्रतिनिधियो के माध्यम से इस प्रकार का सम्बन्ध रखती है। लेकिन इस प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र के अन्तर्गत देश के अधिक से अधिक व्यक्तियों का शासन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव की जाती है। इस प्रकार की आवश्यकता को स्थानीय स्वशासन द्वारा ही पूरा किया जा सकता है क्योंकि इस व्यवस्था के अन्तर्गत जनता स्वय स्थान विशेष की समस्याओ का प्रबन्ध करती है।

(2) शासन शक्ति के विकेन्द्रीकरण के लिए—वर्तमान समय मे जन-कल्याणकारी राज्य की धारणा को अपना लिये जाने के कारण राज्य के कार्यों मे बहुत अधिक वृद्धि हो गयी है। यदि ये सभी कार्य केन्द्रीय सरकार के द्वारा ही किये जायें तो इसका परिणाम उसकी क्षमता का ह्रास होगा। ऐसी स्थिति मे केन्द्रीय शासन का कार्यभार कम किया जाना बहुत अधिक आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्र की तो आधारभूत मान्यता यही है कि शासन शक्ति का अधिक-से-अधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। शासन शक्ति का यह विकेन्द्रीकरण स्थानीय स्वशासन सस्थाओ द्वारा ही किया जा सकता है।

(3) स्थानीय विषयों के कुशलतापूर्वक प्रबन्ध हेतु—यदि स्थान विशेष से सम्बन्धित विषयो का प्रबन्ध भी केन्द्रीय सरकार द्वारा ही किया जाय, तो यह प्रबन्ध नितान्त अकुशलतापूर्वक होगा। इसका कारण यह है कि केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकार के कर्मचारी न तो स्थान विशेष की समस्याओं और वातावरण से परिचित होने हैं और न ही उस स्थान विशेष की उन्नति मे रुचि रखते हैं। लेकिन यदि स्थानीय विषयो का प्रबन्ध स्थानीय व्यक्तियो द्वारा ही किया जाये तो यह प्रबन्ध आवश्यक रूप से कुशलतापूर्वक होगा। स्थानीय व्यक्ति स्थानीय समस्याओं की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि से परिचित होते हैं और उनका जीवन उस स्थान विशेष से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होने के कारण वे उस स्थान की उन्नति में विशेष रुचि भी रखते हैं।

(4) जनता में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि जाग्रत करने हेतु—प्रजातन्त्र

की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि जनता सार्वजनिक क्षेत्र मे उसी प्रकार रुचि ले जिस प्रकार की रुचि वे अपने पारिवारिक कार्यों मे लेते हैं। इस प्रकार की रुचि स्थानीय स्वशासन संस्थाओं द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती है। यदि किन्हीं व्यक्तियों को स्थानीय प्रबन्ध में किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त न हो और उन्हें राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय विषयों मे रुचि लेने के लिए कहा जाय, तो यह उनका उपहास मात्र होगा। अत जनता में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का अस्तित्व नितान्त आवश्यक है।

(5) नौकरशाही की बुराइयों को सीमित करने हेतु—यदि स्थानीय विषयों का प्रबन्ध भी केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकार द्वारा ही किया जाय तो नौकरशाही की शक्तियाँ बहुत अधिक बढ़ जाती हैं और सामान्य जनता को लालफीताशाही, अनावश्यक देर व भ्रष्टाचार, आदि बुराइयाँ सहन करनी होती हैं। लेकिन स्थानीय संस्थाओं के अन्तर्गत स्थानीय प्रबन्ध जनता के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि ही करते हैं। अत नौकरशाही की बुराइयों को सीमित करने के लिए भी स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता है।

(6) राजनीतिक शिक्षण के लिए—प्रजातन्त्रात्मक शासन की सफलता जनता की राजनीतिक जागरूकता पर निर्भर करती है और राजनीतिक शिक्षण के लिए स्थानीय स्वशासन नितान्त अनिवार्य है। स्थानीय स्वशासन के अन्तर्गत मतदाता अपने मत का प्रत्यक्ष परिणाम देखते हुए इस बात की शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं कि व्यापक क्षेत्र में मताधिकार का किस प्रकार उपयोग किया जाना चाहिए। जनता के प्रतिनिधियों को प्रशासनिक शिक्षण प्रदान करने के लिए भी स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता होती है लास्की ने कहा था, "स्थानीय स्वशासन की संस्था शासन के किसी भी अन्य भाग की अपेक्षा अधिक शिक्षाप्रद है।"[1]

प्रजातन्त्र में स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता और महत्व बताते हुए डी टाकविले का कथन है कि 'नागरिकों की ये स्थानीय सभाएँ स्वतन्त्र राष्ट्रों की शक्ति का निर्माण करती हैं। जो महत्व विज्ञान की शिक्षा के लिए प्राथमिक शालाओं का है, वह स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाने के लिए नगर सभाओं का है। एक राष्ट्र स्वतन्त्र सरकार की पद्धति को भले ही स्थापित करले परन्तु स्थानीय संस्थाओं के बिना उसमें स्वतन्त्रता की भावना नहीं आ सकती।"[2]

स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के कार्य

इन संस्थाओं के कार्य केन्द्रीय या प्रान्तीय और स्थानीय सरकारों के बीच कार्य विभाजन पर निर्भर करते हैं और साधारणतया यह कार्य विभाजन इस आधार पर किया जाता है कि सम्पूर्ण राज्य या प्रान्त से सामान्य रूप से सम्बन्धित कार्य तो केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारों द्वारा किये जाते हैं। वर्तमान समय में स्थानीय स्वशासन

---

1 "The institution of local government is educative in perhaps a higher degree than any other part of government "

—Laski, *Grammar of Politics*, p 441.

2 'These local assemblies of citizens constitute the strength of free nations Town meetings are to liberty what primary schools are to science A nation may establish a system of free government, but without the spirit on municipal institutions. It cannot have the spirit of liberty "—*D Tocqueville*

का प्रबन्ध स्थानीय सरकारों द्वारा किया जाता है। वर्तमान समय में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं द्वारा किये जाने वाले कार्यों का महत्व और उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है। स्थानीय स्वशासन संस्थाओं द्वारा प्रमुख रूप से निम्नलिखित कार्य किये जाते हैं -

(1) सांस्कृतिक विकास के कार्य—इस श्रेणी के अन्तर्गत स्थानीय संस्थाओं द्वारा प्रारम्भिक अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था, यथासम्भव रूप से माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा की व्यवस्था, औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध, अध्ययन केन्द्र, पुस्तकालय, वाचनालय और अजायबघर की स्थापना और सांस्कृतिक विकास के दूसरे सामान्य कार्य किये जाते हैं।

(2) सामाजिक व स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी कार्य—इसके अन्तर्गत स्थानीय संस्थाओं द्वारा दो प्रकार के कार्य किये जाते हैं—(क) रोगों की रोकथाम, (ख) रोगों की चिकित्सा। ये संस्थाएँ रोगों की रोकथाम के लिए सड़कों और नालियों की सफाई, शुद्ध पेय जल की व्यवस्था, स्वास्थ्यकर घरों का निर्माण, सड़े-गले फलों, मिठाइयों और दूषित खाद्य पदार्थों के विक्रय पर प्रतिबन्ध, घुन के कीटाणुओं को नष्ट करना और महामारियों को रोकने के लिए चिकित्सागृह, आदि कार्य करती हैं। इसके अतिरिक्त रोगों की चिकित्सा के लिए चिकित्सागृह प्रसूति गृह, औषधालय, मातृ मन्दिर और शिशुगृहों की स्थापना एवं उनका प्रबन्ध किया जाता है।

(3) सार्वजनिक उपयोगिता के कार्य—इसके अन्तर्गत सड़कों का निर्माण और प्रबन्ध, पानी, बिजली और रोशनी की व्यवस्था और यातायात के विभिन्न साधन जुटाने के कार्य किये जाते हैं।

(4) सार्वजनिक सुविधा—इसके अन्तर्गत स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को सड़क, पुल, ट्राम और छोटी रेल, आदि का प्रबन्ध करना होता है। ये संस्थाएँ जनता के लिए घाट, स्नानगृह, तैरने के तालाब, पार्क, उद्यान, सिनेमा, सर्कस और नाटक जैसे आमोद-प्रमोद के साधनों की व्यवस्था करती हैं।

(5) सार्वजनिक सुधार—इसके अन्तर्गत स्थानीय संस्थाएँ जनता के सुधार का कार्य करती हैं। उदाहरणार्थ, इन संस्थाओं द्वारा समाज विरोधी प्रवृत्तियों का दमन, अपराधों की रोकथाम और नगर पुनर्निर्माण से सम्बन्धित विभिन्न योजनाओं को कार्यरूप में परिणित किया जाता है।

(6) सार्वजनिक सुरक्षा—इसके अन्तर्गत अग्निकाण्ड से बचाव और आग बुझाने की व्यवस्था, मेले में सुरक्षा आदि का प्रबन्ध किया जाता है।

(7) सार्वजनिक लाभ—सार्वजनिक लाभ के अन्तर्गत नागरिक व्यापार के वे कार्य आते हैं जिनके द्वारा नागरिकों को दिन प्रतिदिन के उपयोग की वस्तुएँ सस्ती, शुद्ध एवं गुण की दृष्टि से श्रेष्ठ रूप में प्रदान की जाती हैं। इसी उद्देश्य से अनेक स्थानीय संस्थाएँ कपड़ा, रोटी, सब्जी, दूध आदि का व्यापार करती हैं। इसी प्रकार बिजली, गैस और शीतल तथा गरम जल का भी व्यापार किया जाता है। इसके अतिरिक्त ये संस्थाएँ नागरिकों को प्रोत्साहित करने के लिए कृषि, उद्योग कला, आदि से सम्बन्धित प्रदर्शनियाँ लगवाती हैं। ग्रामीण क्षेत्र में इन्हीं संस्थाओं के द्वारा उचित परामर्श, बढ़िया बीज और खाद, श्रेष्ठ और स्वस्थ बैलों या दूसरे वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करके कृषि की उन्नति का कार्य किया जा सकता है।

स्थानीय संस्थाओं के कार्यों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उनका क्षेत्र

बहुत ही विस्तृत है। वे 'पालने से श्मशान तक' (from cradle to grave) नागरिकों की सेवा करती हैं।

स्थानीय संस्थाओं की आय के साधन—इन कार्यों के सम्पादन के लिए इन संस्थाओं को बड़ी मात्रा में धन की आवश्यकता होती है और धन को प्राप्त करने के लिए अनेक स्थानीय कर लगाये जाते हैं। इन करों में मकान, बिजली, पानी, सड़क, सवारी और बाहर से आने वाले माल पर चुँगी, आदि मुख्य होते हैं। सिनेमा, नाटक घरों, मेलों, आदि मनोरंजनों के साधनों पर भी कर लगाया जाता है। किन्तु इन करों से सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती है और खर्च का एक बड़ा भाग केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकार द्वारा दी गयी आर्थिक सहायता से ही पूर्ण होता है।

स्थानीय स्वशासन के लाभ या स्थानीय स्वशासन का महत्व—स्थानीय स्वशासन के प्रमुख लाभ निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1) स्थानीय विषयों का कुशलतापूर्वक प्रबन्ध—यदि स्थानीय संस्थाएँ न हों तो स्थानीय विषयों का प्रबन्ध केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारों द्वारा किया जायेगा। इन सरकारों से सम्बन्धित कर्मचारी न तो स्थानीय समस्याओं की पृष्ठभूमि से परिचित होते हैं और न ही स्थानीय उन्नति में विशेष रुचि रखते हैं। इसी कारण केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकार द्वारा इनका ठीक प्रकार से प्रबन्ध नहीं किया जा सकता है। लेकिन उस स्थान विशेष के निवासी उन समस्याओं और वातावरण से पूर्णतया परिचित होते हैं। इसके अतिरिक्त उनका स्वयं का जीवन उस स्थान विशेष की उन्नति से सम्बन्धित होने के कारण वे उस स्थान की उन्नति में बहुत अधिक रुचि रखते हैं। इसी कारण स्थानीय संस्थाओं द्वारा स्थानीय विषयों का अत्यन्त कुशलतापूर्ण प्रबन्ध किया जा सकता है।

(2) केन्द्रीय शासन का भार कम होना—वर्तमान समय में लगभग सभी राज्यों द्वारा कल्याणकारी राज्य के विचार को अपना लिये जाने के कारण केन्द्रीय सरकार के कार्य बहुत अधिक बढ़ गये हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि स्थानीय विषयों का प्रबन्ध भी केन्द्रीय सरकार द्वारा ही किया जाय, तो कार्य भार बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण केन्द्रीय सरकार अपने प्रमुख कार्य भी ठीक प्रकार से नहीं कर सकेगी। स्थानीय संस्थाएँ केन्द्रीय सरकार के कार्य भार को कम कर उसे अपने प्रमुख कार्य करने के लिए अधिक योग्य बना देती हैं।

(3) सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि जाग्रत करना—प्रजातन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि सामान्य नागरिक सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यों में उसी प्रकार की रुचि लें जिस प्रकार की रुचि वे अपने पारिवारिक कार्यों में लेते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति इस प्रकार की रुचि स्थानीय संस्थाओं द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती है। सर्वप्रथम नागरिक अपने शहर की सफाई, स्वास्थ्य और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध, आदि कार्यों में रुचि लेता है और इसके बाद ही राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने की योग्यता प्राप्त करता है। बर्क ने कहा है कि "स्थानीय स्वशासन उस शृंखला की प्रथम कड़ी है जो हमें राष्ट्र और मानवता के प्रति प्रेम की ओर अग्रसर करती है।"[1] स्थानीय संस्थाओं द्वारा ही लोकतन्त्र वास्तविक और व्यावहारिक रूप ग्रहण कर सकता है।

---

[1] "It is the first link in the series by which we proceed towards love to our country and mankind." —Burke

(4) स्थायी सरकार का निर्माण—इसमें छोटे छोटे गुटों को प्रतिनिधित्व मिलने की कोई सम्भावना नहीं रहती है। अतः राजनीतिक दलों की संख्या कम रहती है और दृढ़ तथा स्थायी मन्त्रिमण्डल का निर्माण होता है।

(5) सबसे सरल पद्धति—निर्वाचन की यह सबसे सरल पद्धति है और इसे समझने में कोई कठिनाई नहीं होती है।

दोष

(1) रुचि क्षेत्र संकुचित—आलोचकों के अनुसार यह पद्धति रुचि क्षेत्र को संकुचित कर देती है। कई निर्वाचन क्षेत्रों में अयोग्य और भ्रष्ट प्रतिनिधि निर्वाचित हो जाते हैं।

(2) शासक द्वारा अनुचित लाभ की प्राप्ति—इसके अन्तर्गत शासक दल को अपने ही लाभ की दृष्टि से निर्वाचन क्षेत्र बनाने का अवसर मिल जाता है और वह विरोधी दल के समर्थकों को कम-से कम क्षेत्रों में सीमित करके अनुचित लाभ प्राप्त कर लेता है। शासक पक्ष द्वारा अपनाये गये इस तौर-तरीके को राजनीति विज्ञान में 'गैरीमैण्डरीग' (Gerrymandering) के नाम से जाना जाता है।

(3) अल्पमतों की प्राप्ति से विजय सम्भव—इस पद्धति का एक गम्भीर दोष यह है कि इसके अन्तर्गत कई बार ऐसे उम्मीदवार सफल हो जाते हैं जिन्हें कुल मतदाताओं का बहुमत प्राप्त नहीं होता। उदाहरणस्वरूप, एक स्थान पर कुल 1 000 मतों का प्रयोग किया जाता है जिनमें अ को 300, ब को 250, स को 175, द को 100 और इ को 125 मत प्राप्त होते हैं। इस उदाहरण में अ को निर्वाचित घोषित कर दिया जायगा, यद्यपि उसने 1,000 में से केवल 300 मत प्राप्त किये हैं। बहुमत प्राप्त न करने वाले उम्मीदवारों का निर्वाचित होना प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

(4) अल्पसंख्यकों को सन्तोषजनक प्रतिनिधित्व नहीं—एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में अनिवार्य रूप से साधारण बहुमत की पद्धति अपनायी जाती है और साधारण बहुमत की पद्धति में सामान्यतया अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हो पाता है।

बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र

जब सम्पूर्ण राज्य अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से अनेक प्रतिनिधि चुने जाते हैं तो उन्हें बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहते हैं। इस पद्धति में सामान्यतया मतदाता को उतने ही मत देने का अधिकार होता है, जितनी संख्या में प्रतिनिधियों का चुनाव किया जाना हो। एक निर्वाचन क्षेत्र से कितने प्रतिनिधि भेजे जायँ इसका निश्चय क्षेत्रफल अथवा जनसंख्या के आधार पर किया जाता है। इस पद्धति को 'साधारण टिकट प्रणाली' (General Ticket System) भी कहा जाता है। फ्रांस में यह पद्धति राष्ट्रीय निर्वाचन के लिए सन् 1912 में अपनायी गयी थी, किन्तु 1927 में त्याग दी गयी।

(1) श्रेष्ठ व्यक्तियों का निर्वाचन—इसमें निर्वाचन क्षेत्र बड़ा होने के कारण उम्मीदवार चुनने में अधिक स्वतन्त्रता रहती है और इस प्रकार श्रेष्ठ व्यक्ति निर्वाचित किये जा सकते हैं। हैलेट (Hallet) के शब्दों में 'निर्वाचन क्षेत्र बड़ा होने के कारण उम्मीदवार के दृष्टिकोण के विस्तृत होने और उसकी योग्यता के श्रेष्ठतर होने की आशा रहती है।"

(2) राज्य के हितों की उन्नति—इस पद्धति के समर्थकों का कथन है कि बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र किसी विशेष हित का नहीं, अपितु सामान्य हित का प्रतिनिधित्व करता है। बड़े निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित प्रतिनिधि राज्य के सामान्य हितों में रुचि लेते हैं।

(3) अल्पसंख्यकों का उचित प्रतिनिधित्व—इस प्रकार के निर्वाचन क्षेत्र मे अल्पसंख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिल जाता है। बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में सामान्यतया आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाया जाता है जो अल्पसंख्यकों को उनकी संख्या के अनुपात मे उचित प्रतिनिधित्व प्रदान कर देती है।

(4) इसका एक लाभ यह भी बताया जाता है कि इसमें शासक केवल अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए चुनाव क्षेत्रों को तोड़-मरोड़ नहीं सकता।

दोष

(1) विभिन्न दलों की उत्पत्ति और अस्थायी सरकारें—इसमे छोटे-बड़े सभी राजनीतिक दलों को कुछ प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की आशा के कारण देश की राजनीति में अनेक छोटे-छोटे दल और गुट जन्म ले लेते हैं। इन छोटे गुटों के कारण राजनीति दूषित हो जाती है और स्थायी मन्त्रिमण्डल नहीं बन सकता है।

(2) निर्वाचकों और प्रतिनिधियों के बीच सम्बन्ध नहीं—इसके अन्तर्गत निर्वाचन क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत होने के कारण मतदाताओं का प्रतिनिधियों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रह पाता है और इस दृष्टि से यह पद्धति प्रजातन्त्र के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

(3) अनुत्तरदायित्व और उम्मीदवारों का व्यक्तिगत मूल्यांकन कठिन—इसके अन्तर्गत कोई भी निर्वाचित प्रतिनिधि अपने आपको किसी विशेष क्षेत्र के लिए उत्तरदायी नहीं समझता, क्योंकि उस क्षेत्र से व्यवस्थापिका के लिए अनेक प्रतिनिधि निर्वाचित होते हैं। निर्वाचन क्षेत्र विशाल होने के कारण मतदाता के लिए उम्मीदवार का ठीक मूल्यांकन करना भी कठिन होता है और वह वाक्पटु तथा चतुर राजनीतिक नेताओं के प्रचार का शिकार हो जाता है।

(4) निर्धनों के लिए निर्वाचन लड़ना कठिन—बहुत बड़े क्षेत्र में निर्धन उम्मीदवार चुनाव में विजय प्राप्त नहीं कर सकते, चाहे वे कितने ही बुद्धिमान क्यों न हों। इस प्रकार राष्ट्रीय व्यवस्थापिका इन योग्य व्यक्तियों का लाभ उठाने से वंचित रह जाती है।

डॉ फाइनर ने इस निर्वाचन की व्यवस्था के दोष व्यक्त करते हुए लिखा है कि "इस पद्धति के दोष गम्भीर ही नहीं, अपितु वे उन आशाओं का भी अन्त कर देते हैं, जो व्यक्ति प्रतिनिधि शासन से करता है।"[1]

निष्कर्ष—इन दोनों प्रकार के निर्वाचन क्षेत्रों के गुण दोषों के विवेचन के आधार पर कहा जाता है कि एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र बहु सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र से अधिक लाभदायक मितव्ययी तथा प्रजातन्त्र के अनुकूल है। इसी कारण अधिकांश प्रगतिशील देशों में इन्हें ही मान्यता प्राप्त है।

---

[1] "The defects of the system are not only serious they are actually destructive of the value most peop e want representative government."

—Finer, *Theory and Practice of Modern Government*, p. 551.

(4) राजनीतिक शिक्षण का महत्वपूर्ण साधन—स्थानीय स्वशासन राजनीतिक शिक्षण का भी सर्वश्रेष्ठ साधन है। स्थानीय शासन के कार्यों में भाग लेकर जनता स्वयं शासन की रीति नीति को देख और समझ सकती है। इस प्रकार के ज्ञान से नागरिक सार्वजनिक विषयों से परिचित हो जाता है और देश की राजनीति में भली प्रकार से भाग ले सकती है।

स्थानीय सस्थाएँ न केवल सामान्य जनता को वरन् नेतृत्व करने वाले वर्ग को भी प्रशासनिक ज्ञान एव अनुभव प्रदान करती हैं। स्थानीय संस्थाओ के सदस्य इन सस्थाओ के माध्यम से एक प्रतिनिधि सस्था के कार्य, गठन और प्रशासन का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और आवश्यकता के समय इस प्रकार के ज्ञान का उपयोग विस्तृत क्षेत्र मे किया जा सकता है। चर्चिल, सरदार पटेल और श्री नेहरू जैसे सर्वमान्य नेताओं ने अपना सार्वजनिक जीवन स्थानीय सस्थाओ के माध्यम से ही शुरू किया था। लॉस्की ने तो अपनी पुस्तक 'Grammar of Politics' में इस विचार का प्रतिपादन किया है कि केवल उन्हीं व्यक्तियों को केन्द्रीय सरकार या प्रान्तीय सरकार के क्षेत्र में प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए जो इसके पूर्व कम-से-कम तीन वर्ष तक स्थानीय सस्थाओं में प्रतिनिधि के रूप में कार्य कर चुके हों।

(5) स्वतन्त्रता और देशभक्ति की भावना उत्पन्न करना—स्थानीय प्रशासन मे व्यवहार रूप मे भाग लेने से नागरिको मे स्वतन्त्रता के प्रति प्रगाढ प्रेम और देशभक्ति की भावना उत्पन्न होती है। स्थानीय क्षेत्र मे स्वतन्त्रता का आनन्द प्राप्त करने के बाद नागरिक राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी स्वतन्त्रता की प्राप्ति और रक्षा के लिए तत्पर और जागरूक रहते हैं। यही जागरूकता स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र को वास्तविक रूप प्रदान करती है।

(6) नौकरशाही को शक्तियों को सीमित करना—स्थानीय स्वशासन का एक बड़ा लाभ यह होता है कि राज्य कर्मचारियो की शक्ति अधिक नहीं बढ़ने पाती, क्योंकि उनका बहुत-सा कार्य स्थानीय सस्थाओं द्वारा किया जाता है। परिणामत. नौकरशाही की बहुत सी बुराइयाँ कम हो जाती हैं।

(7) मितव्ययता—क्षेत्रीय और स्थानीय समस्याओं से अवगत नागरिक अपनी समस्याओ को अच्छी तरह से ही नही, अपितु अत्यधिक कम खर्च में भी सुलझा लेते हैं। इसके अतिरिक्त जनता के प्रतिनिधियों को किसी प्रकार का वेतन नही देना होता, अत शासन मे होने वाला अपव्यय बच जाता है। इसके साथ ही समय की भी बचत होती है, क्योंकि स्थानीय सस्थाएँ बडी ही शीघ्रता के साथ प्रशासनिक कार्य करती हैं।

(8) शासन में जनसहयोग—लोकतन्त्र मे शासकीय कार्यों मे जनता का सहयोग अनिवार्य होता है। स्थानीय शासन के द्वारा जनता शासन के कार्यों मे सक्रिय भाग लेने लगती है। जब जनता निचले स्तर पर सहयोग प्रारम्भ कर देती है तो केन्द्र और प्रान्त के शासन मे उच्च स्तरीय सहयोग आसान हो जाता है। ब्राइस के शब्दों मे "स्थानीय सस्थाएँ लोगों को न केवल दूसरों के लिए कार्य करना सिखाती हैं वरन उनके साथ मिलकर कार्य करना भी सिखाती हैं।"

(9) केन्द्र और राज्य सरकार को उचित परामर्श—स्थानीय स्वशासन का एक लाभ यह है कि ये संस्थाएँ केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार को आवश्यकता के

समय महत्त्वपूर्ण परामर्श देने का कार्य करती हैं। किसी प्रस्तावित विधि या योजना के सम्बन्ध में केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकार स्थानीय संस्थाओं से महत्त्वपूर्ण जानकारी और उचित परामर्श प्राप्त कर सकती है। भारत में पंचवर्षीय योजना के सम्बन्ध में स्थानीय संस्थाओं से इस प्रकार का परामर्श लिया जाता है।

(10) नागरिक गुणों का विकास—स्थानीय शासन द्वारा नागरिकों में नागरिकता, स्वतन्त्रता तथा स्वशासन की भावना उत्पन्न की जाती है। इससे जनता में संयम और सहयोग का गुण विकसित होता है। ब्राइस ने लिखा है कि "यह नागरिकों में सामान्य समस्याओं में सामान्य रुचि पैदा करती है और योग्यता एवं ईमानदारी से उन मामलों की देख-रेख करने की व्यक्तिगत एवं सामूहिक कर्तव्य की भावना उत्पन्न करता है।"

स्थानीय स्वशासन के इन्हीं गुणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्थानीय स्वशासन ही वह आधार है, जिस पर लोकतन्त्रीय शासन सफल हो सकता है।

स्थानीय स्वशासन के दोष

स्थानीय स्वशासन के इन गुणों के साथ-साथ इसके कुछ दोष भी बताये जाते हैं जो निम्न प्रकार हैं

(1) संकुचित एवं स्वार्थमय प्रवृत्ति को जन्म—अनेक बार स्थानीय शासन संकुचित और स्वार्थमय प्रवृत्ति को जन्म देता है। इसके संकुचित स्थानीयता की निन्दनीय भावना को प्रोत्साहन मिलता है और अनेक बार व्यक्ति अपने स्थान विशेष के हित को देश के हित के ऊपर प्राथमिकता दे देते हैं।

(2) असमता एवं अपव्ययता—यह भी कहा जाता है कि स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था में शासन सम्बन्धी उत्तरदायित्व का विभाजन पदाधिकारियों की संख्या में वृद्धि तथा परिणामस्वरूप व्यय में वृद्धि होती है। इस प्रकार शासन व्यवस्था में अपव्ययता आ जाती है।

(3) स्थानीय पदाधिकारियों के व्यवहार में अत्यधिक पक्षपात और अनुकूलता—प्रो विलोबी के अनुसार स्थानीय स्वशासन का एक बड़ा दोष यह है कि स्थानीय जनता द्वारा निर्वाचित पदाधिकारियों पर स्थानीय प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इन स्थानीय पदाधिकारियों में प्रान्तीय सरकार या केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त पदाधिकारियों की अपेक्षा अधिक पक्षपात की भावना पायी जाती है, क्योंकि व उनके प्रति बहुत कृतज्ञ होते हैं जो उनके निर्वाचन में सहायक हुए थे। चुनाव व्यवस्था के कारण दलबन्दी, स्वार्थ साधना, पक्षपात और बहुमत का शासन जैसे चुनाव के सहगामी दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें

अनेक बार स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर पाती हैं। ये संस्थाएँ जनता की सेवा करने के बजाय दलबन्दी, बेईमानी, जालसाजी, रिश्वत तथा झूठ का साधन बन जाती हैं। इस प्रकार की बुराइयाँ पैदा होने का प्रमुख कारण यह होता है कि इन संस्थाओं की सफलता के लिए आवश्यक वातावरण वहाँ पर विद्यमान नहीं होता है। इन संस्थाओं की सफलता के लिए निम्नलिखित परिस्थितियाँ आवश्यक कही जा सकती हैं

(1) उच्च नैतिक चरित्र—स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए जनता में सदाचार, ईमानदारी तथा सार्वजनिक कर्तव्यों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना होनी चाहिए। जनता को चाहिए कि वह सेवा और समझौते का मूल्य समझे तथा सार्वजनिक प्रश्नों पर एक दूसरे के विचारों का सम्मान करे। उनमे अपने पड़ोसी के हित के लिए सेवा की भावना विद्यमान होनी चाहिए और सार्वजनिक प्रश्नों पर स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने की योग्यता होनी चाहिए।

(2) स्वस्थ जनमत का निर्माण—जनता को चाहिए कि वह इन सस्थाओं की सदा ही रचनात्मक आलोचना करती रहे, जिससे सम्बन्धित व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यों के प्रति उदासीन न हो जाय। इन सस्थाओं को जनता की आवश्यकताओं से भी परिचित कराते रहना चाहिए।

(3) मत का उचित प्रयोग—चुनाव के समय निर्वाचकों के द्वारा प्रतिनिधियो की योग्यता और सार्वजनिक सेवा का ही ध्यान रखा जाना चाहिए और उनके द्वारा जातीय, साम्प्रदायिक या धार्मिक भावनाओं के आधार पर अपने मत का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

(4) प्रशासनिक नियन्त्रण और स्थानीय स्वतन्त्रता के बीच सामञ्जस्य—इस बात को तो सभी व्यक्ति स्वीकार करते हैं कि स्थानीय सस्थाओ पर किसी न किसी रूप में केन्द्रीय या प्रान्तीय शासन का नियन्त्रण होना चाहिए जिससे ये सस्थाएँ कुप्रबन्ध, धन के अपव्यय और शक्ति के दुरुपयोग से बची रहे। लेकिन इसके साथ ही केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकार द्वारा स्थानीय सस्थाओं के कार्य मे कम से कम ही हस्तक्षेप किया जाना चाहिए। हस्तक्षेप केवल उसी दशा मे किया जाना चाहिए, जबकि स्थानीय सस्था का प्रबन्ध इतना दूषित हो जाय कि उसे सुधारने का और कोई उपाय शेष न रहे। इस सम्बन्ध मे लॉस्की ने ठीक ही कहा है कि 'केन्द्रीय शासन द्वारा स्थानीय सस्थाओं के वास्तविक पथ प्रदर्शन की अपेक्षा यह जरूरी है कि वह सलाह, समीक्षा और जाँच करती रहे।"

(5) पर्याप्त वित्तीय साधन—'दाम बनाये काम' (Money makes the mare go) यह एक पुरानी लोकोक्ति है जो स्थानीय स्वशासन की सस्थाओ के लिए भी उचित सिद्ध होती है। इस स्थानीय स्वशासन सस्थाओ के पास पर्याप्त वित्तीय साधन होने पर ही इनके द्वारा सुचारु रूप से कार्य किया जा सकता है।

(6) विशाल दृष्टिकोण—स्थानीय सस्थाओ से सम्बन्धित व्यक्तियों का दृष्टिकोण विशाल होना चाहिए। उनमें व्यापक हितों की साधना के लिए छोटे स्वार्थ का बलिदान करने की क्षमता होनी चाहिए। सकुचित दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उन्हें राष्ट्रीय हितों के प्रति अन्धा नही बन जाना चाहिए।

स्थानीय स्वशासन के सगठन के सिद्धान्त—स्थानीय स्वशासन का सगठन सामान्य रूप से निम्नलिखित सिद्धान्तो के आधार पर किया जाना चाहिए :

(1) स्थानीय स्वशासन सस्थाओं के सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होने चाहिए। प्रत्यक्ष निर्वाचन नागरिकों मे सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति रुचि और प्रजातान्त्रिक नियन्त्रण की व्यवस्था प्रदान करता है।

(2) स्थानीय शासन के चुनावों के लिए क्षेत्र निर्धारित करने में परम्पराएँ, भौगोलिक स्थिति, जनसख्या का घनत्व और अन्य आवश्यक बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए।

(3) केन्द्र को नियन्त्रण और स्थानीय मामलों में हस्तक्षेप की शक्ति प्राप्त होनी चाहिए। किन्तु इस शक्ति का बहुत अधिक सावधानीपूर्वक ही प्रयोग किया जाना चाहिए।

(4) स्थानीय संस्थाओं को अधिक-से-अधिक शक्ति प्रदान की जानी चाहिए। स्थानीय संस्थाओं को विस्तृत कार्यक्षेत्र प्रदान करने की दृष्टि से शासन व्यवस्था में प्रयोग किये जा सकते हैं और स्थानीय व्यक्तियों की योग्यता एवं शक्ति का पूरा पूरा उपयोग किया जा सकता है।

(5) स्थानीय संस्थाओं के अन्तर्गत स्थायी पदों पर नियुक्ति योग्यता के आधार पर ही की जानी चाहिए।

(6) स्थानीय संस्थाओं में विविध विषयों से सम्बन्धित ऐसी परामर्शात्मक समितियाँ होनी चाहिए, जिनके सदस्य उस विषय के विशेषज्ञ हों।

स्थानीय स्वशासन की एक महत्वपूर्ण समस्या : केन्द्रीय सरकार का स्थानीय स्वशासन से सम्बन्ध—स्थानीय स्वशासन के सम्बन्ध में यह समस्या बहुत अधिक महत्वपूर्ण है कि केन्द्रीय सरकार का स्थानीय सरकार से कैसा सम्बन्ध होना चाहिए। इस बात को तो सभी व्यक्ति स्वीकार करते हैं कि स्थानीय स्वशासन संस्थाओं पर केन्द्रीय सरकार को अन्तिम नियन्त्रण प्राप्त होना चाहिए। इन संस्थाओं की संकुचित मनोवृत्ति पर रोक लगाने, विविध स्थानीय संस्थाओं के कार्यों में समन्वय और सामंजस्य स्थापित करने और दूसरी अनेक बुराइयों को रोकने के लिए केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण आवश्यक है। स्थानीय संस्थाओं में दलबन्दी, स्वार्थलिप्सा, भ्रष्टाचार, आतंक और लापरवाही को रोकना केन्द्रीय सरकार का कर्तव्य है, इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता। लेकिन इसके साथ-ही-साथ यह नियन्त्रण इतना कठोर नहीं होना चाहिए कि स्थानीय संस्थाएँ स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य ही न कर सकें क्योंकि केन्द्र के कठोर नियन्त्रण तथा अनुचित हस्तक्षेप से स्थानीय स्वशासन के अस्तित्व का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। इसके साथ-ही-साथ स्थानीय संस्थाओं पर केन्द्रीय नियन्त्रण की मात्रा स्थानीय संस्था की योग्यता के अनुपात में भिन्न-भिन्न होनी चाहिए।

प्रश्न

1. स्थानीय स्वशासन से आप क्या समझते हैं ? लोकतन्त्र में स्थानीय स्वशासन के महत्व का वर्णन कीजिए।
2. लोकतान्त्रिक व्यवस्था में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को सामान्यतया क्या कार्य सौंपे जाते हैं ?
3. स्थानीय स्वशासन के गुण दोषों का वर्णन कीजिए और स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें बताइए।

25
प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त
[THEORIES OF REPRESENTATION]

"लोकतन्त्र मानवीय समानता को स्वयसिद्ध मान लेना है और राजनीतिक समानता तभी आ सकती है जबकि नागरिकों को मताधिकार दिया जाय। सरकार के कानून और नीतियों से सब सम्बन्धित होते हैं और जिस बात का प्रभाव सब पर पड़ता हो उसका निर्णय सबके द्वारा ही होना चाहिए।"[1] —जान स्टुअर्ट मिल

प्रतिनिधिक प्रणाली की आवश्यकता

आधुनिक काल में विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था को अपनाया गया है। प्रजातन्त्रात्मक शासन के दो प्रकार होते हैं—प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र तथा अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र मे जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन मे भाग लेती है। शासन के इस रूप को सबसे अधिक श्रेष्ठ कहा जा सकता है लेकिन वर्तमान समय के क्षेत्र और जनसख्या की दृष्टि से विशाल राज्यों मे शासन का यह रूप व्यावहारिक नहीं रहा है। अत वर्तमान समय मे अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र ही प्रजातान्त्रिक शासन का एकमात्र व्यावहारिक रूप है। इस व्यवस्था मे सामान्य जनता प्रतिनिधि चुनती है और ये प्रतिनिधि शासन का सचालन करते हैं। प्रतिनिधियो को चुनने के इस अधिकार को ही सामान्यत निर्वाचन का अधिकार कहते हैं। निर्वाचन के इस अधिकार को प्रजातन्त्र का आधार कहा जा सकता है क्योंकि यदि सामान्य जनता अपने इस अधिकार का सही रूप मे प्रयोग करती है तो एक श्रेष्ठ सरकार का निर्माण होता है और नागरिको का उत्थान सम्भव हो सकता है अन्यथा सम्पूर्ण व्यवस्था ही दूषित हो जाती है। अत वर्तमान समय के इस प्रतिनिध्यात्मक शासन में प्रतिनिधित्व, निर्वाचन, और निर्वाचन की प्रक्रिया बहुत अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न हो गये हैं। वस्तुत यही वे आधार हैं जिन पर प्रजातन्त्र का सम्पूर्ण भवन खड़ा होता है।

---

1 "Democracy postulate the equalities of man and political equality can be assured only when all citizens are guaranted the right to vote Laws and policies of the government concern all people and what toucheth all should be decided by all." —*John Stuart Mill*

निर्वाचन पद्धति

निर्वाचन पद्धति सामान्यतया दो प्रकार की हो सकती है—प्रत्यक्ष निर्वाचन और अप्रत्यक्ष निर्वाचन।

प्रत्यक्ष निर्वाचन—यदि निर्वाचक प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करें, तो उसे प्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जाता है। यह बिल्कुल सरल विधि है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता निर्वाचन स्थान पर विभिन्न उम्मीदवारों में से किसी एक उम्मीदवार के पक्ष में मतदान करता है और जिस उम्मीदवार को सर्वाधिक मत प्राप्त होते हैं, उसे विजयी घोषित कर दिया जाता है। भारत, इंग्लैण्ड, अमरीका, कनाडा, स्विट्जरलैण्ड आदि देशों में व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के निर्माण हेतु यही पद्धति अपनायी गयी है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन—जब सामान्य मतदाता एक ऐसे निर्वाचक मण्डल का चुनाव करते हैं, जो प्रतिनिधियों का चुनाव करता है तो ऐसी पद्धति को अप्रत्यक्ष पद्धति कहा जाता है। संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति तथा भारत के राष्ट्रपति दोनों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होता है क्योंकि सामान्य मतदाता निर्वाचक मण्डल का निर्वाचन करते हैं और यह निर्वाचक मण्डल राष्ट्रपति का चुनाव करता है। भारत, सोवियत संघ तथा फ्रांस के द्वितीय सदनों के सदस्यों का निर्वाचन भी अप्रत्यक्ष रूप से होता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण

(1) प्रजातन्त्रात्मक धारणा के अनुकूल—यह जनता को प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अवसर देती है, अतः स्वाभाविक रूप से यह पद्धति प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के अनुकूल है।

(2) मतदाता और प्रतिनिधि के मध्य सम्पर्क—इस पद्धति में जनता अपने प्रतिनिधि को प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित करती है, अतः जनता और उसके प्रतिनिधि के बीच सम्पर्क बना रहता है और दोनों एक-दूसरे की भावनाओं से परिचित रहते हैं। इसके अन्तर्गत जनता अपने प्रतिनिधियों के कार्य पर निगरानी और नियन्त्रण भी रख सकती है।

(3) राजनीतिक शिक्षा—जब जनता अपने प्रतिनिधियों को प्रत्यक्ष रूप से चुनती है तो विभिन्न दल और उनके उम्मीदवार अपनी नीति और कार्यक्रम जनता के सामने रखते हैं जिससे जनता को बड़ी भारी राजनीतिक शिक्षा मिलती है और उनमें राजनीतिक जागरूकता की भावना का उदय होता है। इससे सामान्य जनता को अपने अधिकार और कर्तव्यों का अधिक अच्छे प्रकार से ज्ञान भी हो जाता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष

(1) सामान्य निर्वाचक का मत त्रुटिपूर्ण—आलोचकों का कथन है कि जनता में अपने मत का उचित प्रयोग करने की क्षमता नहीं होती। मतदाता अधिक योग्य और शिक्षित न होने के कारण नेताओं के झूठे प्रचार और जोशीले भाषणों के प्रभाव में बह जाते हैं और निकम्मे, स्वार्थी तथा चालाक उम्मीदवारों को चुन लेते हैं।

(2) सार्वजनिक शिक्षा का अर्थ—प्रत्यक्ष निर्वाचन के अन्तर्गत दिया जाने वाला निर्वाचन अभियान शिक्षा अभियान नहीं होता, अपितु यह तो निन्दा, बकवास और झूठ का अभियान होता है। चुनाव में उम्मीदवारों और उनकी नीतियों की ठीक

प्रकार से समझने के बजाय उनके सामने व्यक्तियों और समस्याओं का विकृत चित्र प्रस्तुत किया जाता है, जिससे परिणामस्वरूप मतदाता गुमराह हो जाता है।

(3) बुद्धिमान व्यक्ति निर्वाचनों से दूर—प्रत्यक्ष निर्वाचन में चुनाव अभियान नैतिकता के निम्नतम स्तर तक गिर जाने के कारण बुद्धिमान एवं निष्कपट व्यक्ति निर्वाचन से दूर भागते हैं। जब ऐसे व्यक्ति उम्मीदवार के रूप में आगे नहीं आते तो देश को स्वभावतः हानि पहुँचती है।

(4) अव्यवस्थी और अव्यवस्थापनक—इस प्रकार के चुनाव पर बहुत अधिक खर्च आता है और बड़े पैमाने पर इसका प्रबन्ध करना होता है। अत्यधिक जोश-खरोश के कारण अनेक बार दंगे फसाद भी होते हैं।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण

(1) योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन सम्भव—सामान्य जनता की अपेक्षा जनता द्वारा जब प्रतिनिधियों के निर्वाचन का कार्य एक छोटे से जन समूह पर छोड़ दिया जाता है तो अधिक योग्य व्यक्तियों के निर्वाचन की आशा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त बुद्धिमान व्यक्ति प्रत्यक्ष निर्वाचन से दूर रहते हैं लेकिन अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति पसन्द कर सकते हैं क्योंकि उन्हें निर्वाचक मण्डल के छोटे-से बुद्धिमान सदस्यों से ही सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है।

(2) निर्वाचन पद्धति के दोष कम हो जाना—प्रत्यक्ष निर्वाचन में निर्वाचन व्यवस्था के जो आधारभूत दोष हैं, वे कम हो जाते हैं। इसमें भीड़तन्त्र की बुराई कम हो जाती है और चुनाव में बहुत अधिक झूठा प्रचार नहीं फैलता। इसमें दलबन्दी की भावना भी कुछ कम हो जाती है। इसमें निर्वाचक मण्डल के सदस्यों की संख्या कम होने के कारण प्रचार कार्य में अधिक खर्च नहीं करना पड़ता। इन सबके अतिरिक्त ऐसे चुनावों में हुल्लड़बाजी और दंगे फसाद का भी डर कम हो जाता है।

(3) नव स्थापित प्रजातन्त्रों के लिए श्रेष्ठ—नव स्थापित प्रजातन्त्रों में इस बात का बहुत अधिक डर रहता है कि राजनीतिक जागरूकता का अभाव होने के कारण जनता अयोग्य व्यक्तियों को प्रतिनिधियों के रूप में निर्वाचित कर देगी। सामान्य जनता की अपेक्षा निर्वाचक मण्डल के सदस्य अधिक बुद्धिमान होने के कारण अप्रत्यक्ष निर्वाचन को अपनाकर इस प्रकार के भय को दूर किया जा सकता है और जनता का प्रजातन्त्रवाद में विश्वास जमाये रखा जा सकता है।

(4) बड़े चुनाव क्षेत्रों में लाभप्रद—बड़े चुनाव क्षेत्रों में विशेषतया अप्रत्यक्ष निर्वाचन ही श्रेष्ठ है। इस सम्बन्ध में भारत और संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति के निर्वाचन का उदाहरण लिया जा सकता है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष

इस पद्धति की पर्याप्त आलोचना हुई और इसके निम्नलिखित दोष बताये जाते हैं :

(1) अप्रजातन्त्रात्मक—यह पद्धति पूर्णतया लोकतन्त्रीय नहीं है क्योंकि इसमें मतदाताओं को अपने प्रतिनिधि प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित करने का अधिकार नहीं होता है। अतः सामान्य जन प्रायः इस पद्धति से असन्तोष अनुभव करते हैं। लॉस्कर के शब्दों में, "मेरा विश्वास है कि यदि दोहरी निर्वाचन पद्धति अपना ली जाय, तो अमरीकन व अँग्रेज दोनों मताधिकार को निरर्थक समझने लगेंगे।

(2) सार्वजनिक कार्यों में उदासीनता—यदि जनता को प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार न हो तो सम्भव है कि साधारण जनता सार्वजनिक कार्यों में उदासीन हो जाय और राजनीति में केवल नाममात्र की रुचि ले। इस प्रकार की पद्धति को अपनाने पर जनता की राजनीतिक शिक्षा के अवसर भी कम हो जायेंगे।

(3) रिश्वत की आशंका—*अप्रत्यक्ष निर्वाचन में निर्वाचक मण्डल के सदस्यों* की संख्या कम होने के कारण उम्मीदवार का उन तक पहुँचना और धन के प्रलोभन के आधार पर उन्हें अपनी ओर खींच लेना सरल हो जाता है।

(4) जनता का प्रतिनिधि से सम्पर्क नहीं—अप्रत्यक्ष निर्वाचन में जनता और प्रतिनिधि के बीच निर्वाचक मण्डल की दीवार खड़ी हो जाने के कारण जनता का अपने प्रतिनिधि से कोई सम्पर्क नहीं रहता और निर्वाचन की धारणा आधारभूत रूप से गलत हो जाती है।

(5) दल पद्धति के कुप्रभाव न्यून नहीं—आलोचकों के विचार में अनुभव यह बताता है कि यह पद्धति दल पद्धति के कुप्रभावों को कम करने के बजाय उन्हें बढ़ाने का कार्य करती है। अमरीका के राष्ट्रपति का निर्वाचन इस बात का उदाहरण है। लॉस्की इस बात का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "यह चार माह का राजनीतिक व्यभिचार है।"

निर्वाचन क्षेत्र
(CONSTITUENCIES)

निर्वाचन क्षेत्र प्रमुख रूप से दो प्रकार के होते हैं—एकसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र और बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र।

एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र

जब किसी राज्य को उतने ही निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है जितनी संख्या में प्रतिनिधि चुने जाने हों और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के द्वारा अपना एक प्रतिनिधि चुना जाता है, इसे एकसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहते हैं। वर्तमान समय में विश्व के लगभग सभी प्रजातन्त्रों में ऐसे ही निर्वाचन क्षेत्र हैं।

(1) निर्वाचन और प्रतिनिधि के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध—इसमें निर्वाचन क्षेत्र छोटा होने और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र का एक निश्चित प्रतिनिधि होने के कारण प्रतिनिधि का अपने निर्वाचन क्षेत्र के निवासियों से निरन्तर सम्पर्क रहता है। यह प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्र की आवश्यकताओं से पूर्णतया परिचित होने के कारण व्यवस्थापिका में अपने निर्वाचनक्षेत्र के हितों का बहुत अधिक श्रेष्ठतापूर्वक प्रतिनिधित्व कर सकता है। इसके अन्तर्गत प्रतिनिधि लोगों के प्रति निश्चित रूप से उत्तरदायी और निरन्तर सक्रिय रहता है।

(2) योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन सम्भव—निर्वाचन क्षेत्र प्रायः छोटा होने के कारण मतदाताओं को विविध उम्मीदवारों की योग्यता का ज्ञान होना बड़ा सरल होता है। इसलिये वे अयोग्य और स्वार्थी उम्मीदवारों द्वारा आसानी से बहकाये नहीं जा सकते और सर्वोत्तम व्यक्तियों के चुने जाने की अधिक सम्भावना रहती है।

(3) देश के प्रत्येक भाग का प्रतिनिधित्व—सम्पूर्ण देश को निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर देने के कारण इसमें देश के प्रत्येक भाग को शासन में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है।

मतदान सम्बन्धी विविध प्रश्न

प्रकट अथवा गुप्त मतदान (Open or Secret Ballot)—मतदान के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मतदान प्रकट रूप से होना चाहिए या गुप्त रूप में। 19वीं सदी मे अनेक देशों में प्रकट या खुले रूप में मत देने की प्रणाली प्रचलित थी, कुछ देशो मे तो 20वीं सदी मे भी इसका प्रचलन रहा है। इस सम्बन्ध में यह अनुभव किया गया कि जहाँ प्रकट या खुले मतदान की प्रणाली प्रचलित होती है, वहाँ या तो मतदाता मत देना ही पसन्द नहीं करते या फिर दबाव में आकर अपनी इच्छा के विरुद्ध मत देते हैं। सन् 1903 मे प्रशिया नामक राज्य के चुनाव से इसकी पुष्टि होती है। जर्मन की संघीय व्यवस्थापिका का चुनाव गुप्त मतदान के आधार पर होता था, अत उसमे प्रशिया के 76 प्रतिशत मतदाताओं ने मत दिया। इसके विपरीत, प्रशिया के राजकीय विधानमण्डल के चुनाव मे 23.6% लोगों ने मतदान किया, क्योंकि उसमे प्रकट रूप म मत देने की प्रणाली थी।

वर्तमान समय में अधिकांश राजनीतिज्ञो तथा विद्वानों की यही राय है कि गुप्त मतदान की स्थिति मे ही मतदाता स्वेच्छापूर्ण और स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मत देने के अधिकार का प्रयोग कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक जीवन बहुत अधिक जटिल होता है, कहीं व्यक्ति अपने काम देने वाले मालिक से डरता है, कहीं उस पर मित्रता का दबाव पड़ता है और कहीं रिश्तेदारी का। इसके अतिरिक्त, प्रकट मतदान मे धनी व प्रभावशाली लोग अनुचित प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं जिसस मतदाताओं की स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। ऐसे साहसी व निर्भीक मतदाता हर देश मे कम ही मिलेंगे जो किसी चीज की परवाह न करते हुए स्वेच्छा से और कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर जिसे चाहे मत दे सकते हैं। अत लगभग सभी देशों मे गुप्त मतदान प्रणाली अपनायी गयी है। किन्तु ऐसे भी विचारक हुए हैं जिन्होंने इस प्रणाली का उग्र विरोध किया है। जॉन स्टुअर्ट मिल का विचार था कि मत देना मनुष्य का एक सार्वजनिक कर्तव्य है, अत इसका पालन सार्वजनिक रूप से ही होना चाहिए, *गुप्त मतदान से आत्मसम्मान नष्ट होता है और उत्तरदायित्व की भावना क्षीण होती है।*

किन्तु सैद्धान्तिक स्थिति चाहे कुछ भी हो व्यवहार मे हम प्रत्येक मतदाता से इतने साहस की आशा नहीं कर सकते। इसलिये सब बातों को दृष्टि में रखते हुए गुप्त मतदान प्रणाली ही ठीक प्रतीत होती है। आदर्श रूप में प्रकट मतदान की प्रणाली अच्छी हो सकती है, किन्तु मनुष्य का काम कोरे आदर्शों से नहीं चलता।

अनिवार्य मतदान

मतदाता के सम्बन्ध म प्रचलित विविध विचारो मे से एक महत्वपूर्ण धारणा यह है कि मतदान एक ऐसा सार्वजनिक कर्तव्य है जिसके बिना कोई भी व्यक्ति *अपनी नागरिकता का ठीक से उपयोग नहीं कर सकता है।* इसी के आधार पर अनिवार्य मतदान की धारणा का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि यदि मतदान सार्वजनिक कर्तव्य है तो इसे पूरा करना नागरिक के लिए अनिवार्य होना चाहिए। उनका कथन है कि नागरिको की एक बड़ी संख्या द्वारा मत न दिये जाने से चुनाव का लोकतान्त्रिक रूप नष्ट हो जाता है। अत कुछ देशों मे अनिवार्य मतदान के सिद्धान्त को लागू किया गया है। जैसे बेल्जियम (1893), रूमानिया अर्जेण्टाइना (1912), नीदरलैण्ड्स (1917), चैकोस्लोवाकिया (1920) तथा स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैण्टनों

मे। इनमे से बेल्जियम में तो अनिवार्य मतदान योजना निश्चित रूप से बहुत सफल रही है।

अनिवार्य मतदान सिद्धान्त रूप में श्रेष्ठ प्रतीत होने पर भी व्यवहार मे इसे अपनाना दोषरहित नहीं कहा जा सकता। प्रथमत जो व्यक्ति मत देने नही जाते, उनमे सार्वजनिक जीवन के प्रति न तो कोई रुचि होती है और न ही कोई ज्ञान। अत यदि ऐसे व्यक्तियों को मत देने के लिए बाध्य किया गया तो वह सार्वजनिक कल्याण पर विचार किये बिना इसे एक झझट समझकर मताधिकार का प्रयोग करेगा। ऐसे व्यक्ति को मत देना न देना एक-सा है। द्वितीय, अनिवार्य मतदान मे उदासीन मतों को आसानी से खरीद जाने की भी आशका है, जिसमे जनता म भ्रष्टाचार पनपेगा। तृतीय, इससे मताधिकार का महत्व और राजनीतिक जीवन का स्तर गिर जायेगा। अत अनिवार्य मतदान को अपनाने के बजाय ऐसे प्रयत्न अवश्य ही किये जाने चाहिए, जिससे अधिकाधिक मतदाता अपने मत का प्रयोग करने के लिए प्रेरित हो।

प्रतिनिधियों की स्थिति—प्रतिनिधियों की स्थिति के सम्बन्ध मे मुख्य रूप से एक धारणा का प्रतिपादन किया जाता है जिसे 'निर्देशित प्रतिनिधित्व (Instructed Representation) की धारणा या 'प्रतिनिधित्व का टेलीफोनिक सिद्धान्त' (Telephonic Theory of Representation) कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रतिनिधियों को अपने निर्वाचकों के विचारों और इच्छाओं का ज्यों का त्यो प्रतिनिधित्व करना चाहिए। वे निर्वाचकों से अपने कार्य के सम्बन्ध मे निर्देश लेकर और फिर व्यवस्थापिका मे पहुँचकर उसी के अनुसार कार्य करें। निर्वाचकों को यह अधिकार होना चाहिए कि यदि प्रतिनिधि उनके निर्देशों के अनुसार कार्य न करें तो उन्हे वापस बुला लें, और उनके स्थान पर नये प्रतिनिधि चुनकर भेज दें। प्रसिद्ध विद्वान रूसो और फास की राज्यक्रान्ति के नेता रोबेस्पीयर ने इसी मत का समर्थन किया है। रूसो कहते हैं कि "प्रतिनिधि निर्वाचकों का अभिकर्ता मात्र ही है। अगर वह अपने उत्तरदायित्व को ठीक से नहीं निभाता तो निर्वाचकों को यह अधिकार है कि वे उसे वापस बुला लें।

निर्देशित 'प्रतिनिधित्व' की धारणा के पक्ष मे प्रमुख रूप से निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं

(1) लोकहित का रक्षण—'निर्देशित प्रतिनिधित्व' की धारणा को अपनाने पर प्रतिनिधियो के लिए अपने निर्वाचकों की इच्छा के अनुसार कार्य करना आवश्यक होगा। प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों की इच्छाओं की अवहेलना का साहस नहीं कर सकेगा और इस प्रकार जन प्रभुता के सिद्धात को वास्तविक रूप प्राप्त होगा।

(2) जन इच्छा की अभिव्यक्ति—इसके अन्तर्गत एक निर्वाचन क्षेत्र की जनता की इच्छाओं को अभिव्यक्त किया जा सकेगा और इस प्रकार सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना सम्भव हो सकेगी।

(3) सब वर्गों के लिए श्रेष्ठ—सघ में इकाइयों का समुचित प्रतिनिधित्व और उसके हितों की रक्षा निर्देशित प्रतिनिधित्व की धारणा को अपनाने पर ही सम्भव है।

(4) राजनीतिक शिक्षा—इस प्रणाली से सामान्य जनता को अधिक राज-

नीतिक शिक्षा प्राप्त हो सकेगी, क्योंकि प्रतिनिधि बार-बार विभिन्न समस्याओं पर मतदाताओं से सलाह लेंगे।

(5) दल बदल पर रोक—यह प्रणाली वर्तमान समय में प्रचलित राजनीतिक दल-बदल की कुप्रथा का भी इलाज है।

निर्देशित प्रतिनिधित्व के विपक्ष में तर्क—वर्तमान समय में बहुत ही कम विद्वान निर्देशित प्रतिनिधित्व के दृष्टिकोण से सहमत हैं और उनके द्वारा सामान्यतया इस धारणा का विरोध ही किया गया है। इस सम्बन्ध में एस्मीन, लॉर्ड ब्रोगम और सबसे अधिक महत्वपूर्ण रूप में ब्रिटेन के प्रसिद्ध संसद सदस्य एडमण्ड बर्क के विचार इस प्रकार हैं

एस्मीन के अनुसार, 'एक प्रतिनिधि वह व्यक्ति है जो अपनी वैधानिक सीमाओं में रहते हुए जनता के हित में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य प्राप्त करने हेतु निर्वाचित किया जाता है। उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। अगर उसके कार्य कुछ बंधनों में बंध जाते हैं तो वह अपने उद्देश्य की रक्षा भली प्रकार से नहीं कर पायेगा।'

एडमण्ड बर्क ने अपने प्रसिद्ध 'ब्रिस्टल भाषण' में कहा था कि 'संसद विभिन्न और परस्पर विरोधी हितों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन स्तर नहीं है वरन् यह तो राष्ट्र की एक विचार सभा है जिसका अपना एक राष्ट्रीय हित होता है। ' यह ठीक है कि आप एक प्रतिनिधि का निर्वाचन करते हैं परन्तु जब आपने उसका निर्वाचन कर लिया, तो यह ब्रिस्टल का ही प्रतिनिधि नहीं रह जाता, वह तो संसद का एक सदस्य हो जाता है।"

निर्देशित प्रतिनिधित्व की धारणा के विरोध में प्रमुख रूप से निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं

(1) व्यवस्थापिका के लिए जो प्रतिनिधि चुने जाते हैं, वे स्थानीय नहीं वरन् राष्ट्रीय हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए चुने जाते हैं। यदि उन्हें हर समय अपने निर्वाचकों के आदेशों का पालन करना पड़े, तो वे व्यापक राष्ट्रीय हितों का ध्यान नहीं रख सकेंगे और उनकी सारी शक्ति स्थानीय स्वार्थों को पूरा करने में ही नष्ट हो जायगी।

(2) प्राय प्रतिनिधि निर्वाचकों से योग्य और अनुभवी होते हैं इसलिये उनका कार्य निर्वाचकों की इच्छा का प्रतिनिधित्व मात्र नहीं है, वरन् उनका यह भी कर्तव्य है कि वे निर्वाचकों का पथ प्रदर्शन करें और उन्हें समुचित राजनीतिक शिक्षा दें।

(3) योग्य तथा अनुभवी प्रतिनिधि सदैव अपने निर्वाचकों के आदेशों से बंध कर कार्य नहीं करेंगे। सम्पूर्ण राष्ट्र के हित में उनके अपने विचार हो सकते हैं और वे उन विचारों के अनुसार ही चलना चाहेंगे। ऐसी स्थिति में यदि निर्देशित प्रतिनिधित्व को अपना लिया गया, तो योग्य व्यक्ति प्रतिनिधि निर्वाचित होना पसन्द नहीं करेंगे।

(4) प्रतिनिधियों के लिए प्रत्येक समय अपने निर्वाचकों से निर्देश प्राप्त करना सम्भव नहीं होगा।

(5) वर्तमान समय में चुनाव प्राय. राजनीतिक दलों की नीति और कार्य-

क्रम के आधार पर लड़े जाते हैं और निर्वाचक उसी को ध्यान में रखकर मत देते हैं। इस कारण भी निर्वाचकों से निर्देश प्राप्त करने का कोई कारण और औचित्य नहीं है।

(6) सभी प्रजातान्त्रिक देशों में एक निश्चित समय के बाद चुनाव होते ही हैं। जनता के प्रतिनिधि द्वारा निर्वाचित होने के लिए स्वयं ही लोगों की इच्छाओं और उनके हितों का ध्यान रखते हैं। यदि निर्वाचकगण अपने प्रतिनिधि के कार्य से असन्तुष्ट हैं तो चुनावों में उसके विरुद्ध मत देकर अपना असन्तोष व्यक्त कर सकते हैं।

अतः निर्देशित प्रतिनिधित्व की धारणा का आज कोई औचित्य नहीं रहा है।

राजनीतिक दल-बदल—प्रतिनिधियों की स्थिति के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न राजनीतिक दल-बदल से सम्बन्धित है। वर्तमान समय में प्रतिनिधियों के द्वारा राजनीतिक दलों की नीति और कार्यक्रम के आधार पर चुनाव लड़े जाते हैं और निर्वाचक इस कार्यक्रम को दृष्टि में रखकर ही मत देते हैं। ऐसी स्थिति में हमारा मत यह है कि जो प्रतिनिधि अपने कार्यकाल में जिस राजनीतिक दल से चुना गया है, उसे छोड़कर दूसरे में जा मिले तो उसे वापस बुलाने और नया चुनाव करने का नियम अवश्य ही होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति तो स्पष्टतया अवसरवादी है और अपने निर्वाचकों को धोखा देता है, अतः उसे अपने पद पर बने रहने का अधिकार देना सर्वथा अनुचित है। ब्रिटेन में लगभग इसी प्रकार की परम्परा है और भारत में भी राजनीतिक दल-बदल के गम्भीर दोष दूर करने तथा 'आया राम गया राम' की राजनीति से निष्कासित करने के लिए 1967 से ही 'दल बदल पर कानूनी रोक' की व्यवस्था को अपनाना आवश्यक समझा जा रहा था। अतः 52वें संवैधानिक संशोधन (जनवरी '85) के आधार पर दल बदल पर कानूनी रोक लगाने की व्यवस्था की गयी है।

अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व
(MINORITY REPRESENTATION)

वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश देशों में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था प्रचलित है। इस शासन व्यवस्था की आलोचना करते हुए एक प्रमुख आक्षेप यह किया जाता है कि अपनी बहुमत निर्वाचन पद्धति के कारण यह प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र सम्पूर्ण जनता का शासन न होकर 'बहुमत का शासन' (Rule of the majority) होता है। इसके अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता और बहुमत द्वारा अल्पमतों के हितों की अवहेलना की जाती है। इसी कारण प्रजातन्त्र की आलोचना करते हुए इसे 'बहुमत का अत्याचार' (Tyranny of the Majority) की संज्ञा दी जाती है। अतः इस बात की आवश्यकता अनुभव की जाती है कि प्रजातन्त्र के अन्तर्गत बहुसंख्यकों को ही नहीं, वरन् अल्पसंख्यकों को भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए ताकि प्रजातन्त्र अपने आदर्श रूप यथार्थ में सभी व्यक्तियों का शासन बन सके। जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र' (Representative Democracy) में अल्पसंख्यकों के हितों का सशक्त समर्थन किया है। मिल कहते हैं कि "विद्यमान शासन सभी व्यक्तियों का समान रूप से प्रतिनिधित्व करने वाला शासन नहीं है, वरन् यह तो केवल बहुसंख्यकों का प्रति-

निधि शासन है। एक वास्तविक एवं सर्वसमान लोकतन्त्र मे "प्रत्येक वर्ग को अपनी जनसंख्या के अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए।"[1]

इस प्रकार प्रजातन्त्र को वास्तविक और प्रभावदायक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि अल्पसख्यकों को आवश्यक रूप से उनके अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाय। इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध विद्वान लैकी ने लिखा है "अल्पसख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व देने का महत्व अति महान है। यदि किसी चुनाव-क्षेत्र के दो-तिहाई मतदाता दूसरे दल को मत दें, तो यह स्पष्ट है कि बहुसख्यक वर्ग को दो तिहाई और अल्पसख्यक वर्ग को एक-तिहाई प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए।"

अल्पसख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की पद्धतियाँ

अल्पसख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए समय-समय पर अनेक पद्धतियो का प्रतिपादन किया गया है जिनमे आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति और अल्पसख्यको को प्रतिनिधित्व प्रदान करने की दूसरी पद्धतियो मे प्रमुख अन्तर यह है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अन्तर्गत सभी वर्गों को उनकी मतदान शक्ति के अनुपात के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाता है जबकि अल्पसख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने की अन्य पद्धतियो के अन्तर्गत अल्पसख्यकों के लिए भी कुछ प्रतिनिधित्व का प्रबन्ध किया जाता है, लेकिन यह आवश्यक नहीं होता कि यह प्रतिनिधित्व उनकी मतदान शक्ति के अनुपात मे हो।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व
(PROPORTIONAL REPRESENTATION)

प्रतिनिधित्व की इस पद्धति का प्रतिपादन सर्वप्रथम 18वीं सदी के एक अंग्रेज विचारक थॉमस हेयर (Thomas Haire) ने अपनी पुस्तक 'प्रतिनिधि का चुनाव' मे किया था। अत उन्हीं के नाम पर इस प्रणाली को 'हेयर प्रणाली' भी कहा जाता है। सक्षेप मे, उनकी योजना के अनुसार, इस पद्धति को अपनाने के लिए बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होने चाहिए और ऐसे निर्वाचन क्षेत्र मे प्रत्येक मतदाता को उम्मीदवारों की सख्या के बराबर मत देने का अधिकार होना चाहिए, इस प्रकार के चुनाव के अन्तर्गत उन उम्मीदवारों को विजयी समझा जाना चाहिए जिन्हे अपेक्षाकृत बहुमत नही, वरन् मतदाताओं की एक निश्चित सख्या का समर्थन अर्थात् 'चुनाव कोटा' (Election Quota) प्राप्त हो जाय।

प्रतिनिधित्व की इस 'हेयर प्रणाली' को कार्यरूप मे परिणत करने के लिए विचारकों ने अनेक पद्धतियों का प्रतिपादन किया है जिनमे मुख्य दो हैं '

1. एकल सक्रमणीय मत प्रणाली (Single Transferable Vote System)
2. सूची प्रणाली (List System)

एकल संक्रमणीय मत प्रणाली

सामान्यतया आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को एकल सक्रमणीय मत

---

1 "The existing democracies are not governments of the whole people by the whole people equally represented but Governments of the whole people by a mere majority of the people exclusively represented In a really equal democracy every section would be represented, not disproportionately but proportionately" —J. S. Mill, *Representative Government.*

प्रणाली के आधार पर ही अपनाया जाता है। यह एक जटिल प्रक्रिया है। इस प्रणाली के लिए बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र जरूरी है और एक निर्वाचन क्षेत्र से चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या चाहे कितनी ही हो, प्रत्येक मतदाता को केवल एक ही मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। मत देने की पद्धति यह होती है कि मतपत्र पर निर्वाचन क्षेत्र के सभी उम्मीदवारों के नाम लिखे हुए होते हैं। प्रत्येक मतदाता मतपत्र पर दिये गये सब उम्मीदवारों में से जिसे सबसे अधिक उपयुक्त समझता है, उसके नाम के आगे अपनी पहली पसन्द, अपनी पसन्द के अनुसार उससे कम उपयुक्त उम्मीदवार के नाम के आगे अपनी दूसरी पसन्द और इस प्रकार जितने सदस्य निर्वाचित होने हैं क्रमश उतनी पसन्दें लिख देता है।

पसन्दगियों के उल्लेख की यह व्यवस्था प्रत्येक मतपत्र का उचित उपयोग करने के लिए की जाती है। जब एक उम्मीदवार अपनी लोकप्रियता के कारण निश्चित संख्या (quota) से अधिक मत प्राप्त कर लेता है तो इन अतिरिक्त मतों को मतदाताओं की दूसरी पसन्द के उम्मीदवार को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। इसी प्रकार, यदि किसी उम्मीदवार को इतने कम मत प्राप्त हों कि उसके निर्वाचित होने की सम्भावना न हो, तो मतदाताओं की पसन्द के अनुसार इन मतों को दूसरे उम्मीदवारों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। मत के हस्तान्तरण की इस व्यवस्था के कारण ही इसे 'एकल संक्रमणीय मत प्रणाली' (Single Transferable Vote System) कहा जाता है। इस प्रकार इस मत पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता के मत का उपयोग करने का प्रयत्न किया जाता है।

निश्चित मत संख्या (Election Quota)—आनुपातिक मत प्रणाली के प्रतिपादक हेयर के अनुसार निश्चित मत संख्या निकालने के लिए प्रयुक्त किये गये मतों की संख्या को निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या से विभाजित किया जाना चाहिए अर्थात 7 सदस्यों के निर्वाचन क्षेत्र मे यदि 7,000 मत डाले गये हों तो निश्चित मत संख्या $\frac{7,000}{7} = 1,000$ होगी। किन्तु अनेक बार इस पद्धति के द्वारा निर्वाचन परिणाम सही नहीं निकलते। इसलिये वर्तमान समय में इस पद्धति को त्यागकर ड्रूप द्वारा प्रतिपादित दूसरी पद्धति को अपनाया गया है। ड्रूप द्वारा प्रतिपादित विधि के अन्तर्गत निश्चित मत संख्या निकालने के लिए प्रयुक्त किये गये मतों की संख्या निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या के एक से अधिक से विभाजित किया जाता है और परिणाम में एक जोड़ा जाता है। इस पद्धति के अनुसार यदि 7 सदस्यों वाले निर्वाचन में 7,000 मतों का प्रयोग किया गया हो तो निश्चित मत संख्या $\frac{7000}{7+1} + 1 = 876$ होगी। इस प्रकार वे उम्मीदवार जो पहली पसन्द के अथवा मतों में हस्तान्तरण का लाभ उठाकर उक्त मत संख्या 876 प्राप्त कर लेते हैं, एकल संक्रमणीय प्रणाली के अनुसार निर्वाचित समझे जायेंगे।

मतगणना—चुनाव कोटा निकाल लेने के बाद सब मतपत्र अपनी पहली पसन्द के अनुसार छाँट लिये जाते हैं और जिन उम्मीदवारों को निश्चित संख्या के बराबर या उससे अधिक पहली पसन्द के मत प्राप्त होते हैं वे निर्वाचित घोषित कर दिये जाते हैं। परन्तु यदि इस प्रकार सब स्थानों की पूर्ति नहीं होती है तो

सफल उम्मीदवारो के अतिरिक्त मत (surplus votes) अन्य उम्मीदवारो को हस्तान्तरित करके उन पर अंकित दूसरी पसन्द के अनुसार बाँट दिये जाते हैं। यदि इस पर भी सब स्थानो की पूर्ति नही हो पाती, तो सफल उम्मीदवारो की तीसरी, चौथी और पाँचवी पसन्द भी इस प्रकार हस्तान्तरित की जाती है और यदि इसके बाद भी कुछ स्थान रिक्त रह जाते हैं तो जिन उम्मीदवारो को सबसे कम मत प्राप्त हुए हैं वे क्रम क्रम से पराजित घोषित कर दिये जाते हैं और इनके मतपत्र दूसरी, तीसरी, चौथी आदि पसन्दो के अनुसार हस्तान्तरित कर दिये जाते हैं। यह प्रक्रिया उस समय तक जारी रहती है जब तक सभी स्थानो की पूर्ति नहीं हो जाती है। इस प्रणाली का स्पष्ट उद्देश्य यह है कि एक भी मत व्यर्थ न जाये। इसके अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता को इस बात का आश्वासन रहता है कि यदि उसकी पहली पसन्द के उम्मीदवार को उस मत की आवश्यकता नही है तो उसकी दूसरी तथा अन्य पसन्दें काम आ जायेंगी।

सूची प्रणाली
(LIST SYSTEM)

आनुपातिक मत पद्धति का दूसरा रूप सूची प्रणाली है। इस प्रणाली के अन्तगत भी बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं और एक निर्वाचन क्षेत्र मे 15-20 तक सदस्य चुने जा सकते हैं। इस प्रणाली के अन्तगत जो उम्मीदवार खड़े होते हैं, उनकी उनके दलो के अनुसार अलग-अलग सूचियाँ बना ली जाती हैं। प्रत्येक मतदाता चुने जाने वाली सख्या के बराबर मत दे सकता है, पर एक उम्मीदवार को एक ही मत प्राप्त होता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत उम्मीदवारो को पृथक् पृथक् प्राप्त मतो की गणना नही की जाती, वरन् आनुपातिक प्रणाली की ड्रूप पद्धति के अनुसार निर्वाचन मत सख्या (Election Quota) निकाली जाती है तथा उस मतसख्या के अनुसार प्राप्त मतों के आधार पर प्रत्येक सूची में कितने उम्मीदवार निर्वाचित होने चाहिए, यह निकाल लिया जाता है। प्रत्येक सूची के कौन से उम्मीदवार निर्वाचित माने जायँ इसके लिए उन उम्मीदवारों को निर्वाचित माना जाता है, जिन्होंने उस सूची मे सबसे अधिक मत प्राप्त किये हों इस योजना से सभी दलो को उनकी शक्ति के अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है।

मान लीजिए कि किसी चार सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्र से कांग्रेस भारतीय जनता पार्टी और साम्यवादी दल ने अपने उम्मीदवार खड़े किये हैं और विविध उम्मीदवारो को प्राप्त मतों की सख्या के अनुसार विभिन्न दलो को निम्न प्रकार मत प्राप्त हुए हैं

	दल
कांग्रेस दल	2,200
भारतीय जनता पार्टी	1,500
साम्यवादी दल	1,300
योग	5 000

इस प्रकार कुल 5,000 मतों का प्रयोग किया गया, इसलिये पहले दी हुई विधि के अनुसार निर्वाचन के लिए निश्चित मत सख्या $\frac{5,000}{4+1}+1=1,001$ हुई।

इस निश्चित मत संख्या के अनुसार निर्वाचन का परिणाम यह होगा कि कांग्रेस के 2, भारतीय जनता पार्टी का 1 और साम्यवादी दल का 1 उम्मीदवार निर्वाचित समझा जायगा।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण-दोष

गुण—आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के प्रमुख गुण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं

(1) सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व—इस पद्धति के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। जब व्यवस्थापिका में प्रत्येक वर्ग को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है और देश के प्रत्येक वर्ग को अपने विचार व्यक्त करने का अवसर प्राप्त हो जाता है तो प्रजातन्त्र अपने पूर्ण वास्तविक रूप में प्रकट होता है।

(2) अल्पसंख्यकों में सुरक्षा भावना—अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान कर यह पद्धति बहुसंख्यकों के अत्याचार को रोकती और अल्पसंख्यकों में सुरक्षा भावना उत्पन्न करती है। इस प्रकार सभी वर्गों में राजनीतिक सन्तोष की भावना व्याप्त हो जाती है।

(3) सर्वथा प्रजातन्त्रवादी—प्रजातन्त्र जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए शासन होता है। आधुनिक समय के प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र में प्रत्येक वर्ग के लोगों को राष्ट्रीय व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व प्रदान करने का एकमात्र साधन आनुपातिक प्रतिनिधित्व ही है। लार्ड एक्टन ने ठीक ही कहा है "यह अति प्रजातन्त्रवादी है क्योंकि इससे उन सहस्रों व्यक्तियों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है जिनकी वैसे कोई सुनवाई नहीं होती। यह समानता के सिद्धान्त के निकटतर है क्योंकि किसी भी मत का अपव्यय नहीं किया जाता और प्रत्येक मतदाता का व्यवस्थापिका में सदस्य होता है।"

(4) चुनाव जुआ नहीं रहते—साधारण बहुमत पद्धति के अन्तर्गत चुनाव परिणाम चुनाव के समय की विशेष परिस्थितियों पर ही निर्भर करते हैं और इसी कारण चुनावों को जुआ कहा जाता है। लेकिन आनुपातिक प्रतिनिधित्व में प्रत्येक वर्ग अपनी संख्या के अनुपात के आधार पर प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार चुनाव जुआ नहीं रहते हैं।

(5) नागरिक चेतना का विकास—सभी वर्गों को व्यवस्थापिका में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाने से नागरिक चेतना का विकास होता है और वे सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति उदासीन रहते हैं।

(6) मतदाता को अधिक स्वतन्त्रता—आनुपातिक प्रतिनिधित्व में मतदाता अपने आचरण तथा विकल्पों के प्रयोग में अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता से कार्य करते हैं। वे संकुचित राजनीतिक दलबन्दी से मुक्त रहकर मतपत्र पर उम्मीदवारों के समक्ष क्रमिक रूप में अभिरुचि बताने के लिए स्वतन्त्र रहते हैं। शुल्ज (Schulz) ने उचित ही कहा है कि, "एकल संक्रमणीय मतदान प्रणाली निर्वाचकों को अपनी पसन्द के उम्मीदवार चुनने में सबसे अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है।"

(7) भ्रष्टाचार का अन्त—आनुपातिक प्रतिनिधित्व के पक्ष में एक तर्क यह दिया जाता है कि इसके अन्तर्गत राजनीतिक भ्रष्टाचार का बहुत अधिक सीमा तक अन्त हो जाता है। इस पद्धति को अपनाने पर सामान्यतया विधानमण्डल में किसी

एक राजनीतिक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं हो पाता और इस कारण कोई भी राजनीतिक दल अपने समर्थकों को अनुचित रूप से लाभ नहीं पहुँचा सकता।

(8) न्याय पर आधारित व्यवस्था—आनुपातिक प्रतिनिधित्व को न्याय पर आधारित पद्धति कहा जा सकता है क्योंकि इसके अन्तर्गत सभी वर्गों को उनकी संख्या के अनुपात में उचित प्रतिनिधित्व हो जाता है।

(9) 'गैरीमैण्डरिंग (Gerrymandering) आदि बुराइयों का अन्त—आधुनिक निर्वाचन व्यवस्था की एक बुराई है गैरीमैण्डरिंग जिसका तात्पर्य यह है कि शासक दल द्वारा अपने लाभ की दृष्टि से निर्वाचन क्षेत्र में मनमाने तरीके से अनुचित परिवर्तन कर दिये जाते हैं। गैरीमैण्डरिंग को एकसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में ही अपनाया जा सकता है लेकिन आनुपातिक प्रतिनिधित्व में बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं। स्वाभाविक रूप से आनुपातिक प्रतिनिधित्व में गैरीमैण्डरिंग आदि बुराइयों का अन्त हो जाता है।

दोष—यदि एक ओर आनुपातिक प्रतिनिधित्व के कुछ गुण बताये जाते हैं तो दूसरी ओर दोष भी कम भीषण नहीं हैं। प्रो स्ट्रॉंग लिखते हैं कि सैद्धान्तिक दृष्टि से आनुपातिक प्रतिनिधित्व सभी प्रकार से श्रेष्ठ प्रतीत होता है किन्तु व्यवहार में स्थिति ऐसी नहीं है।[1] आनुपातिक प्रतिनिधित्व के प्रमुख दोष निम्नलिखित प्रकार से बताये जा सकते हैं

(1) अनेक राजनीतिक दलों और गुटों को जन्म—इस पद्धति के द्वारा जब प्रत्येक वर्ग या हित को पृथक प्रतिनिधित्व का आश्वासन प्राप्त हो जाता है तो राजनीतिक दलों और गुटों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है। जर्मनी के वीमर संविधान में आनुपातिक प्रतिनिधित्व को अपनाने का परिणाम यह हुआ कि जर्मन विधानमण्डल में राजनीतिक दलों की संख्या 30 से अधिक हो गयी। जर्मनी में संसदीय शासन के पतन और नाजीवाद के उदय का कारण आनुपातिक प्रतिनिधित्व ही बताया जाता है। इसी कारण बाद के वर्षों में फ्रांस, इटली और प जर्मनी के द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व को ठुकरा दिया गया। लॉस्की ने ठीक ही कहा है कि 'इसके अन्तर्गत अनेक राजनीतिक दलों और गुटों का जन्म हो जाता है।'

(2) मिले जुले मन्त्रिमण्डलों का निर्माण और परिणामतः अस्थायी सरकारें—जब राजनीतिक दलों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है तो साधारणतया कोई एक राजनीतिक दल अकेले ही सरकार का निर्माण करने की स्थिति में नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में मिले जुले मन्त्रिमण्डलों का निर्माण किया जाता है और फ्रांस, आदि देशों के अनुभवों के आधार पर कहा जा सकता है कि ये मन्त्रिमण्डल नितान्त अस्थायी होते हैं और प्रशासन की एकता एवं उत्तरदायित्व को नष्ट कर देते हैं। डा फाइनर के अनुसार 'सामूहिक विभाजनों तथा पृथक्करण को प्रोत्साहित करके यह कार्यकारिणी के स्थायित्व को धक्का पहुँचाती है।

(3) वर्गीय हितों को प्रोत्साहन—इस पद्धति द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिका राष्ट्रीय एकता का साधन न होकर विभिन्न क्षेत्रीय और वर्गीय हितों का संघर्ष स्थल बन जाती है। सभी समस्याओं पर राष्ट्रीय हित की दृष्टि से नहीं वरन् वर्गीय हितों

1 'In theory it has everything in its favour in practice not so much
—Strong, *Modern Political Constitution*, p 197

की दृष्टि से ही विचार किया जाता है। सिजविक (Sidgwick) के शब्दों में "वर्गीय प्रतिनिधित्व आवश्यक रूप से दूषित वर्गीय व्यवस्थापन को प्रोत्साहित करता है।"

(4) **निर्वाचकों और प्रतिनिधियों में सम्पर्क नहीं**—आनुपातिक प्रतिनिधित्व की सभी योजनाओं के अन्तर्गत बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र आवश्यक होते हैं और इन बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों का परिणाम यह होता है कि निर्वाचकों और उनके प्रतिनिधियों में प्रत्यक्ष और निजी सम्पर्क नहीं रहता। प्रतिनिधि, मतदाताओं की अपेक्षा दल के प्रति ही उत्तरदायित्व अनुभव करते हैं। व्यक्तिगत सम्पर्क के अभाव में नितान्त अवांछनीय तत्व ही निर्वाचित हो सकते हैं। डॉ. फाइनर कहते हैं, 'इसे अपनाने पर प्रतिनिधि द्वारा अपने क्षेत्र की देखभाल प्राय: समाप्त हो जायेगी।'[1]

(5) **अत्यधिक जटिल पद्धति**—आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति अत्यन्त जटिल है और साधारण व्यक्ति इसे समझ नहीं सकता। मतों की गणना का कार्य तो और भी अधिक कठिन है और अनेक बार निश्चित संख्या में उम्मीदवार न चुने जा सकने के कारण पुनर्निर्वाचन की भी आवश्यकता होती है।

(6) **राष्ट्रीय एकता के लिए घातक**—आनुपातिक प्रतिनिधित्व में समाज अनेक छोटे-छोटे स्वार्थमूलक गुटों और भागों में विभाजित होता है। इन गुटों के पास राष्ट्रीय स्तर का राजनीतिक एवं आर्थिक कार्यक्रम नहीं होता। अतः ये समाज में गुटबन्दी एवं संकीर्णता का प्रचार करते हैं जिससे राष्ट्रीय एकता को बहुत अधिक आघात पहुँचता है। प्रो. स्ट्रॉंग के शब्दों में, 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व संकीर्ण विचारधारा को जन्म देता है जो अनिवार्य रूप से सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।'[2]

(7) **श्रेष्ठ विधियों का निर्माण सम्भव नहीं**—आनुपातिक प्रतिनिधित्व को अपनाने के परिणामस्वरूप व्यवस्थापिका विभिन्न प्रकार के परस्पर विरोधी विचारों का अखाड़ा बन जाती है। इसका प्रभाव विधि-निर्माण पर भी पड़ता है और विधि निर्माण कार्य सही रूप में सम्पन्न नहीं हो पाता।

(8) **शासन के कार्यों का मूल्यांकन नहीं**—आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति अनेक छोटे छोटे गुटों को जन्म देती है जिसके कारण मिले जुले मन्त्रिमण्डल अपने आप में एक विडम्बना होते हैं। इस प्रकार के मन्त्रिमण्डल में भागीदार मन्त्रिमण्डल की असफलता का भार एक-दूसरे पर डालते हैं। ऐसी स्थिति में निर्वाचकों के लिए यह सम्भव नहीं होता है कि वे शासन में सम्मिलित विभिन्न राजनीतिक दलों के कार्यों का मूल्यांकन कर यह निश्चित कर सकें कि भविष्य में उनके मताधिकार का प्रयोग किस पक्ष में होना चाहिए।

(9) **उपचुनावों के लिए व्यवस्था नहीं**—यह पद्धति इस कारण भी दोषपूर्ण है कि इसमें उपचुनावों के लिए कोई व्यवस्था सम्भव नहीं है। उपचुनाव लोकमत का दर्पण समझे जाते हैं। डा. फाइनर के कथनानुसार "उपचुनावों से यह ज्ञात होता है कि हवा किस ओर बह रही है किन्तु इस प्रकार के उपचुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति में सम्भव नहीं।"

---

[1] Dr. Finer, *Theory and Practice of Modern Government*, Vol. VII

[2] "It encourages minority thinking and break confidence, which may positively inimical to social health." —*Strong*

प्रो एस्मिन ने इस पद्धति की आलोचना करते हुए कहा है कि इस पद्धति को अपनाने का परिणाम अव्यवस्था और व्यवस्थापिका की शक्ति मे अनावश्यक वृद्धि होगी मन्त्रिमण्डल अस्थायी होंगे उनमें एकता का अभाव होगा और सत्तात्मक शासन सम्भव नहीं हो सकेगा। प्रो लास्की भी आनुपातिक पद्धति के एक प्रमुख आलोचक हैं और उनका विचार है कि आधुनिक राज्यो की समस्याएँ निर्वाचन पद्धति के संशोधन से नही सुलझायी जा सकती। इन समस्याओं का समाधान सामान्य जनता के बौद्धिक स्तर को ऊँचा करना तथा आर्थिक स्थिति का संशोधन करना है न कि जनता को अनुपात के अनुसार मतदान देना।

अन्य पद्धतियाँ—अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने की अन्य प्रमुख पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं

(1) एकत्रित मतदान योजना (Cumulative Vote System)—इस निर्वाचन पद्धति के लिए भी बहु सदस्य निर्वाचन क्षेत्र आवश्यक है। प्रत्येक मतदाता को उतने मत देने का अधिकार होता है जितने सदस्य उस क्षेत्र से चुने जाने हों। मतदाता को यह भी अधिकार होता है कि वह चाहे तो अपने सभी मतों को किसी एक उम्मीदवार को ही प्रदान करे या उन्हें विभक्त कर दे। जैसे जयपुर क्षेत्र से कुल 6 सदस्य चुने जाने हों तो मतदाता अपने 6 मत किसी एक ही सदस्य को दे सकता है या अलग अलग उम्मीदवारों को दे सकता है। साधारणतया अल्पसंख्यकों मे बहुसंख्यकों की अपेक्षा वर्गीय भावना अधिक दृढ होती है। इसलिए यह पद्धति अल्पमतों को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने में सहायक होती है। किन्तु यह प्रणाली कुछ जटिल है और इसमे मतगणना मे कठिनाई होती है।

(2) सीमित मतदान योजना (Limited Vote Plan)—सीमित मतदान योजना एकत्रित मतदान योजना के विपरीत है। इस पद्धति में भी ऐसा निर्वाचन क्षेत्र होना आवश्यक होता है जिनमे 3 या 3 से अधिक सदस्य चुने जाते हो इस प्रकार की व्यवस्था होती है कि एक निर्वाचन क्षेत्र मे जितने सदस्य चुने जाने हो प्रत्येक मतदाता को उससे कम मत देने का अधिकार होना है। उदाहरणार्थ जयपुर शहर से 6 प्रतिनिधि चुने जाते हों प्रत्येक मतदाता को अधिक से अधिक 5 मत देने का अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त मतदाता एक ही उम्मीदवार को एक से अधिक मत नही दे सकता है। इस योजना से अल्पसंख्यकों को कुछ प्रतिनिधित्व तो अवश्य ही मिल जाता है किन्तु उन्हें जनसंख्या के अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व नही मिल पाता है केवल बड़े अल्पमत वर्गों को ही प्रतिनिधित्व मिल सकता है।

(3) द्वितीय मतपत्र योजना (Second Ballot System)—प्रतिनिधित्व को व्यापक व न्यायोचित बनाने की एक अन्य प्रणाली द्वितीय मतपत्र योजना है। इसके अन्तर्गत जब एक ही स्थान के लिए दो से अधिक उम्मीदवार खड़े हों और सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार को निरपेक्ष बहुमत (absolute majority) प्राप्त न हो तो पहले चुनाव के प्रथम दो उम्मीदवारों के बीच दुबारा मतदान होता है। इस दूसरे मतदान में प्रथम दो के अतिरिक्त अन्य उम्मीदवारों का चुनाव से बाहर कर दिया जाता है। द्वितीय मतदान मे निरपेक्ष बहुमत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार को निर्वाचित घोषित किया जाता है। उदाहरणार्थ किसी निर्वाचन क्षेत्र से अ ब स तीन उम्मीदवारों ने चुनाव लड़ा और तीनों को क्रमश 3 000 2 500 और 2 000 मत प्राप्त हुए क्योंकि किसी को भी निरपेक्ष बहुमत प्राप्त नहीं हुआ है इसलिये स

को पराजित घोषित कर शेष दो के लिए पुन मतदान होगा और अब दोनों में से जिस उम्मीदवार को अधिक मत प्राप्त होंगे उसे निर्वाचित समझा जायगा। उपर्युक्त उदाहरण में द्वितीय मतदान में अ के स्थान पर ब को भी विजय प्राप्त हो सकती है। गिलक्राइस्ट कहता है कि "जहाँ तीन या उससे अधिक सदस्य एक ही स्थान से चुनाव के लिए खड़े होते हैं, वहाँ पर द्वितीय मतपत्र के द्वारा निर्वाचकों का मत अपेक्षाकृत अच्छी तरह सामने आता है।" द्वितीय निर्वाचन की आवश्यकता होने के कारण व्यवहार में यह प्रणाली कठिन है और इससे आनुपातिक प्रतिनिधित्व भी नहीं मिल पाता है।

(4) पृथक् निर्वाचन प्रणाली या साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था (Separate Electorate System)—इस प्रणाली में धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर निर्वाचन क्षेत्र बनाये जाते हैं। भारत में ब्रिटिश शासन ने सन् 1909 के अधिनियम द्वारा यह प्रणाली प्रचलित की और उसके आधार पर मुसलमानों को अपने पृथक् प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया। इसी प्रकार सन् 1919 में सिखों को पृथक् प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया गया। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक सम्प्रदाय के लिए स्थान सुरक्षित कर दिये जाते थे और उस दृष्टि से उस सम्प्रदाय के लिए उतने ही निर्वाचन क्षेत्र बना दिये जाते थे। एक सम्प्रदाय के लिए रक्षित स्थानों पर उस सम्प्रदाय के व्यक्ति ही उम्मीदवार हो सकते थे और उस सम्प्रदाय के व्यक्तियों द्वारा ही उनका निर्वाचन किया जाता था। इस पद्धति को अपनाने पर अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व तो अवश्य ही मिल जाता है परन्तु इसमें कई गम्भीर दोष हैं। इसमें राष्ट्रीय भावनाओं पर कुठाराघात होता है, संकुचित भावनाएं फैलती हैं तथा धार्मिक और साम्प्रदायिक विद्वेष प्रबल हो जाता है। ब्रिटिश शासन द्वारा यह पद्धति किसी राजनीतिक उपयोगिता की दृष्टि से नहीं वरन् भारत में 'फूट डालो और राज करो' की नीति के अनुसार अपनायी गयी थी। सन् 1947 में भारत का विभाजन इस पद्धति का ही परिणाम था। यह बात स्पष्ट है कि राजनीतिक उपयोगिता की दृष्टि से इस पद्धति को अपनाने की बात सोची ही नहीं जा सकती।

प्रादेशिक तथा व्यावसायिक प्रतिनिधित्व

(TERRITORIAL AND FUNCTIONAL REPRESENTATION)

प्रादेशिक प्रतिनिधित्व—इस पद्धति के अन्तर्गत प्रतिनिधियों का चुनाव प्रादेशिक आधार पर होता है। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त यह मान लेता है कि एक क्षेत्र के निवासियों के कुछ सामान्य हित होते हैं जो अन्य क्षेत्र के निवासियों से स्पष्टतया अलग होते हैं और ये प्रादेशिक हित इतने महत्वपूर्ण होते हैं कि उस क्षेत्र के निवासियों को अपने हित की रक्षा के लिए व्यवस्थापिका में अपना प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होना चाहिए। वर्तमान समय में प्रचलित लगभग सभी निर्वाचन पद्धतियाँ प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर आधारित हैं।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व—प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की आलोचना करते हुए 'व्यावसायिक प्रतिनिधित्व' के रूप में प्रतिनिधित्व की एक नवीन पद्धति का प्रतिपादन किया गया है जिसका तात्पर्य है व्यवसाय के आधार पर प्रतिनिधित्व की व्यवस्था। प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आलोचकों का कथन है कि हितों की वास्तविक एकता का जन्म सामान्य निवास से नहीं वरन् व्यावसायिक हितों की एकता से होता

है। एक ही क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों के सामान्य हित साधारणतया पानी, बिजली आदि से सम्बन्धित होते हैं लेकिन जहाँ तक वास्तविक हितों का सम्बन्ध है बम्बई में रहने वाले एक डॉक्टर के हितों की अपने पड़ौसी मोची के हितों के साथ उतनी समानता नहीं होती जितनी कि कलकत्ता निवासी एक डॉक्टर के साथ। एक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र के सब मतदाताओं की राजनीतिक आवश्यकताओं और धारणाओं की समानता कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। एक व्यक्ति उन सबका उचित प्रतिनिधित्व कभी नहीं कर सकता। अतः प्रतिनिधित्व प्रादेशिक आधार पर न होकर व्यावसायिक आधार पर होना चाहिए। व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के निर्वाचन क्षेत्र देश के भौगोलिक अथवा प्रादेशिक क्षेत्र न होकर उद्योगपति डॉक्टर, वकील, किसान, मजदूर, जमींदार, व्यापारी आदि विभिन्न व्यावसायिक वर्ग होते हैं।

वस्तुतः व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की तुलना में प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था ही श्रेष्ठ और व्यावहारिक है। इस सम्बन्ध में मैरियट ने ठीक ही कहा है, नागरिकता का महत्व डाक्टर वकील, बनिये अथवा लुहार से कहीं अधिक है।"[1]

आदर्श प्रतिनिधित्व के लिए आवश्यक शर्तें

प्रतिनिधित्व के सम्पूर्ण प्रश्न की विवेचना के आधार पर आदर्श प्रतिनिधित्व प्रणाली के लिए निम्नलिखित शर्तें आवश्यक कही जा सकती हैं

(1) सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार—प्रजातन्त्र की सफलता के लिए सभी नागरिकों को समान राजनीतिक शक्ति प्राप्त होनी चाहिए और यह वयस्क मताधिकार की व्यवस्था को अपनाने पर ही सम्भव है। अतः सभी वयस्क व्यक्तियों को बिना किसी प्रकार के भेदभाव के मताधिकार प्राप्त होना चाहिए।

(2) गुप्त मतदान प्रथा—गुप्त मतदान का अर्थ है कि मत देने की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि मतदाता ने अपना मत किसके पक्ष में दिया है, इसकी जानकारी दूसरों को न हो सके। गुप्त मतदान की प्रथा के अन्तर्गत ही मतदाता अपनी इच्छानुसार मत का प्रयोग कर सकता है।

(3) मुख्यतः प्रत्यक्ष और गौण रूप में अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली—प्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति ही प्रजातान्त्रिक धारणा के अनुकूल है अतः सामान्य निर्वाचन प्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति के आधार पर होने चाहिए। लेकिन मतदाताओं की सदैव अज्ञ होने के कारण सदैव ही इसे अपनाना न तो सम्भव है और न ही उचित, अतः कुछ पदों के सम्बन्ध में अप्रत्यक्ष निर्वाचन को भी अपनाया जा सकता है। भारतीय संविधान द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन में श्रेष्ठ समन्वय की व्यवस्था की गयी है। लोकसभा के निर्माण हेतु प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली अपनायी गई है तो राज्यसभा और राष्ट्रपति पद के चुनाव हेतु अप्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति अपनायी गयी है।

(4) मतदाताओं और प्रतिनिधियों के बीच निकट सम्बन्ध—आदर्श प्रतिनिधित्व और प्रजातान्त्रिक आदर्शों की पूर्ति हेतु यह आवश्यक है कि मतदाताओं और प्रतिनिधियों के बीच निकट सम्बन्ध होना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति एक सद-

---

1 "The citizen is more important than the physician or the lawyer, the grocer or the steel worker"

—Marriott · *The Mechanism of the Modern State*, Vol I, p. 505.

स्यीय निर्वाचन क्षेत्रों' (Single member constituencies) को अपनाकर की जा सकती है।

(5) अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व—प्रजातन्त्र को न्यायपूर्ण बनाने हेतु अल्पसंख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त होना नितान्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे पिछड़े हुए वर्गों के लिए सुरक्षित स्थानों की व्यवस्था की जा सकती है और व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन के निर्माण हेतु आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाया जा सकता है।

(6) प्रादेशिक प्रतिनिधित्व—प्रजातन्त्र मे व्यावसायिक प्रतिनिधित्व या साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता, अत प्रादेशिक प्रतिनिधित्व को ही अपनाया जा सकता है।

प्रश्न

1 आधुनिक प्रजातन्त्रीय देशों मे अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व के लिए क्या-क्या पद्धतियाँ सुझायी गयी या अपनायी गयी हैं ? क्या ये राष्ट्रीय हितों के साथ-साथ अल्पसंख्यकों के उचित हितों की पर्याप्त रक्षा करती हैं ?

2 आनुपातिक प्रतिनिधित्व से आप क्या समझते हैं ? इनके गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।

3 प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष चुनाव तथा एकल सदस्यीय और बहुल सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के गुण-दोषों की व्याख्या कीजिए।

4 निम्न पर टिप्पणियाँ लिखिए

(i) निर्देशित प्रतिनिधित्व या प्रतिनिधि की स्थिति।

(ii) प्रादेशिक प्रतिनिधित्व बनाम व्यावसायिक प्रतिनिधित्व।